ाचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

"प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार"

इस ग्रन्थ में उस अमूल्य सामग्री का संकलन है, जो समय समय पर हमारे विद्वानों ने अपने साहित्य में प्रस्तुत की है। सर विलियम जोन्स के भारत में आगमन के बाद पश्चिमी विद्वानों का प्राचीन भारतीय वाङ्ग्मय से परिचय हुआ। उन्होंने हमारे ग्रन्थों के यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद भी किए और हमारी संस्कृति का उदारता से अध्ययन भी किया। बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों से ही भारतीय विद्वानों का भी ध्यान अपने देश की परम्पराओं के अध्ययन की ओर गया। मेरे इस ग्रन्थ में उस सामग्री का प्रचुरता से उपयोग है, जो मूलतः मुझसे पहले के अध्येताओं की प्रस्तुत की हुई हैं। मेरा तो इस संकलन में इतना ही योगदान है – प्रस्तुत करने का मेरा अपना ढंग है ।

इस ग्रन्थ में तेरह अध्याय हैं – प्रथम अध्याय में अग्नि के आविष्कारक अथर्वण और उसकी परम्परा का उल्लेख है। दूसरे अध्याय में यज्ञ मे प्रयुक्त यज्ञशाला के उपकरणों का उल्लेख है। ये उपकरण स्वयं में अनोखे आविष्कार हैं, जिन्होंने यान्त्रिकी की आधारशिला रखी। तीसरा, चौथा अध्याय वैदिक काल गणना, विविध संवत्सरोंऔर नक्षत्र गणना से सम्बन्ध रखता है। पाँचवे, छठे और सातवें अध्याय चिकित्सा और शल्यकर्म से संबंध रखते हैं। आठवें अध्याय में कणाद ऋषि का कारण-कार्य सम्बन्ध और परमाणुवाद है। शेष नवें से तेरहवें अध्यायों की सामग्री अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित और ज्योतिष से संबंध रखती है, जिसके प्रचलन का अधिकतम गौरव प्राचीन भारत को है।

प्राचीन भारत
के
वैज्ञानिक कर्णधार

['फाउण्डर्स आव् साइन्सेज़ इन एन्शेण्ट इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद]

[पुरस्कृत]

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

(भारत सरकार, शिक्षा मन्त्रालय की मानक ग्रन्थों की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत यह अनुवाद और पुनरीक्षण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की प्रेरणा से १९६७ ई० में पहली बार स्वीकृत किया गया था ।)

I S. B N No. 81-85 134-02-2

मूल्य : रु० ३२५.००

पुनर्मुद्रण : १९८८

प्रकाशक
विजय कुमार
पुस्तकायन (सुबोध पॉकेट बुक्स का उपक्रम)
२/४२४० ए, अंसारी रोड, नई दिल्ली-११०००२

मुद्रक :
गायत्री आफसैट प्रेस,
नोएडा

प्राक्कथन

१९४७ में देश के स्वतन्त्र होने के अनन्तर देश में प्रादेशिक शासनों के अन्तर्गत बिहार में **बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्**, और उत्तर प्रदेश में **हिन्दी समिति** नामक अर्ध-सरकारी संस्थायें बनीं। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के अधिकारियों ने मुझे **वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा** पर कतिपय व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया। ये व्याख्यान पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। हिन्दी समिति के लिए मैंने **प्राचीन भारत में रसायन का विकास** नाम से एक बड़ा ग्रन्थ लिखा, जो १९६० ई० में प्रकाशित हुआ। इसके बाद मैंने एक बड़ा ग्रन्थ अंग्रेज़ी में Founders of Sciences in Ancient India नाम से लिखा, जिसका अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे विद्वानों में अच्छा स्वागत हुआ। भारतीय शासन ने इस अंग्रेज़ी ग्रन्थ को अपने उन मानक ग्रन्थों की सूची में स्थान दिया जिनकी संस्तुति हिन्दी भाषा में अनुवाद किए जाने के लिए की गयी थी। भारतीय लेखक का यही एक अंग्रेज़ी ग्रन्थ ऐसा था, जिसे हिन्दी में अनुवाद के लिए मानक माना गया। फलत: "भारत सरकार, शिक्षा मन्त्रालय की मानक ग्रन्थों की प्रकाशन योजना" के अन्तर्गत इसके अनुवाद का कार्य मेरी देख-रेख में श्री राजेन्द्र द्विवेदी (विशेषाधिकारी, शिक्षा मन्त्रालय) और श्री ओमदत्त शर्मा को सौंपा गया। यह ग्रन्थ १९६७ में प्रकाशित हुआ था। लगभग दो दशकों से यह ग्रन्थ जनता को अनुपलब्ध था। प्रसन्नता की बात है कि दिल्ली के विख्यात प्रकाशक **पुस्तकायन** के सौजन्य से इस ग्रन्थ का नवीन पुनर्मुद्रण जनता को प्राप्त हो रहा है।

वैदिककाल से भारत में ज्ञान-विज्ञान की परम्परा का प्रारम्भ होता है। वेद-संहिताओं से प्रेरणा प्राप्त करके वैदिक काल के ऋषियों ने अनेक शास्त्रों, विज्ञानों एवं वेदांगों और उपवेदों की नींव डाली थी। वैदिक मनीषियों के पुरुषार्थ प्रेरक यथार्थवाद ने एक ऐसे समाज की परम्परा स्थापित की जिसके आधार पर आज का विकसित समाज खड़ा हो सका है। ६०० ईसवी तक भारत ने संसार के सभी प्रगतिशील देशों का नेतृत्व किया और परस्पर मिल-जुलकर ज्ञान के समस्त अंगों और उपांगों का विकास भी किया। यूनान, मिस्र, अरब, ईरान, मध्य एशियाई देश, चीन और भारत—सभी के पारस्परिक सहयोग इस विकास में सहायक हुए। विज्ञान का

विकास जिस प्रकार आज सार्वभौम है, उसी प्रकार ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भी था। इस विकास का लिखित सर्वमान्य इतिहास तो हमारे पास नहीं है, फिर भी परम्परा से जो सामग्री और वाङ्मय-साहित्य आज उपलब्ध है, उससे हम अपने पूर्व-इतिहास का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। साहित्य और पुरातन सभ्यता के भग्नावशेष—अतीत के अध्ययन के हमारे दो सुलभ साधन हैं।

वैदिक संहिताओं में मंत्रों के प्रारम्भ में परम्परा से जिन ऋषियों की सूची हमें प्राप्त है, हम यह तो नहीं स्वीकार करते कि ऋचायें उनकी कृति थीं—किन्तु उन ऋचाओं के मर्म और रहस्यों का उन ऋषियों ने सर्वप्रथम उद्घाटन किया था। कुछ ऋचाओं का ऋषि अंगिरा है, अथर्वण है, इस अथर्वण और उसके सहयोगियों ने अग्नि का सर्वप्रथम मन्थन किया, और यज्ञों की परम्परा डाली। अग्नि के उपयोग के साथ-साथ अनेक आविष्कारों और अनुसन्धानों का प्रारम्भ हुआ। भारत में (केवल भारत में ही प्राचुर्य से और ईरान में भी कुछ-कुछ) इन्हीं यज्ञस्थलियों में बैठकर प्राचीन मनीषियों ने अनेक विज्ञानों की नींव डाली। ये यज्ञस्थलियाँ हमारी प्राथमिक कार्यशालायें, अनुसन्धानशालायें और वेधशालायें बनीं, जिनके माध्यम से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हमने उत्तरोत्तर प्रगति की। यज्ञों के लिए जो पात्र विभिन्न क्रियाओं के निमित्त बने, वे ही हमारी आयुर्वेदशालाओं के उपकरणों में परिवर्तित हो गए, और ये गृहस्थलियों की पाकशाला के भी संभार और पात्र बने। विविध चक्र—चरखा-करघा, रथचक्र, कौलालकक्र, सुदर्शनचक्र इनकी नींव भी वैदिक युग में पड़ी। लम्बाई, चौड़ाई, तौल और काल की मापों का हमने प्रयोग सीखा। क्षुरा, चाकू, सूत और डोरी, और सुश्रुत काल के शल्य-यंत्र, कोल्हू, किसानी के हल, और खोदाई के उपकरण और उनके साथ-साथ खनिजों, धातुओं और मृदाओं का प्रयोग हमने सीखा। वनस्पतियों और ओषधियों से हमारा परिचय बढ़ा।

"प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार" इस ग्रन्थ में उस अमूल्य सामग्री का संकलन है, जो समय-समय पर हमारे विद्वानों ने अपने साहित्य में प्रस्तुत की थी। सर विलियम जोन्स के भारत में आगमन के बाद पश्चिमी विद्वानों को प्राचीन भारतीय वाङ्मय से परिचय हुआ। उन्होंने हमारे ग्रन्थों के यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद भी किए और हमारी संस्कृति का उन्होंने उदारता से अध्ययन किया। बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों से ही भारतीय विद्वानों का भी ध्यान अपने देश की परम्पराओं के अध्ययन के प्रति गया। मेरे इस ग्रन्थ में उस सभी सामग्री का प्रचुरता से उपयोग है, जो मूलतः मुझसे पहले के अध्येताओं की प्रस्तुत की हुई है। मेरा तो इस संकलन में थोड़ा-सा ही योगदान है— प्रस्तुत करने का मेरा अपना ढंग है।

यजुर्वेद में एक मन्त्र है, जिसमें इकाई से लेकर परार्ध तक की गिनतियों का दशम पद्धति पर उल्लेख है। इस ऋचा का ऋषि मेधातिथि है। इसीलिए मेरे इस

अध्याय का शीर्षक है—"मेधातिथि— अंकों को पहले-पहल परार्ध तक पहुंचाने वाले।" सबसे प्राचीन वेदांग ज्योतिष का लेखक लगध है, अतः ज्योतिष वाले अध्याय का शीर्षक है—"लगध—ज्योतिष को युक्ति-संगत बनाने वाले प्रथम ऋषि"। इसी प्रकार महर्षि बोधायन को मैंने सबसे पहला ज्यामितिज्ञ कहा है। जो प्रमेय युक्लिड की ज्यामिति में पाइथागोरस के नाम से प्रसिद्ध है, उसे मैं बोधायन-प्रमेय कहता हूँ।

शल्य शास्त्र के आदिजनक सुश्रुत समझे जा सकते हैं। के० एल० भिषग्रत्नजी ने सुश्रुत का जो अंग्रेज़ी अनुवाद किया है, उसमें शल्यकर्म विषय की अच्छी विस्तृत भूमिका है। इस सम्बन्ध में मेरी समस्त सामग्री उनके ग्रन्थ से ही अविकल ली गयी है। मैंने अपने पूर्ववर्ती गवेषक विद्वानों के अनेकानेक ग्रन्थों का उपयोग इस ग्रन्थ में किया है। उन सबका मैं आभारी हूँ। पाश्चात्य लेखकों की सामग्री का मैंने प्रचुर उपयोग किया है।

मूल अंग्रेज़ी ग्रन्थ के लेखन में मुझे निम्न ग्रन्थों से विशेष सहायता मिली थी—

१. वैदिक संहितायें। ऋग्वेद का विलसन का अनुवाद
(अब तो मेरा अपना किया अंग्रेज़ी अनुवाद भी १३ जिल्दों में प्राप्त है)
२. लगध की वेदांग ज्योतिष (ऋक्-ज्योतिष, और यजुः-ज्योतिष)
३. शतपथ ब्राह्मण— अंग्रेज़ी अनुवाद— एगेलिंग का,
हिन्दी अनुवाद— गंगाप्रसाद उपाध्याय का
४. कृष्ण यजुर्वेद—ए० बी० कीथ का अंग्रेज़ी अनुवाद
५. चरकसंहिता—गुलाब कुँवरबा, आयुर्वेदिक सोसायटी,
जामनगर का संस्करण (१९४९)

६. सुश्रुत संहिता—के० एल० भिषग्रत्न का अंग्रेज़ी अनुवाद
और उनकी विस्तृत भूमिका
७. आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय—हिन्दू कैमिस्ट्री
(नवीन अंग्रेज़ी संस्करण—प्रो० पी० राय का—इंडियन केमिकल सोसायटी)
८. डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील— पोज़िटिव साइन्सेज़ आव् एन्शेण्ट हिन्दूज़, १९१५
९. डा० उमेश मिश्र—कन्सेप्शन आव् मैटर (१९३६)
१०. डा० विभूतिभूषण दत्त और डा० अवधेश नारायण सिंह—
हिस्ट्री आव् हिन्दू मैथिमेटिक्स—अंकगणित-बीजगणित (१९३५, १९६८)
११. डा० कृपाशंकर शुक्ल—सूर्य सिद्धान्त (१९५७)
महाभास्करीय, लघुभास्करीय (१९६०), पाटीगणित (१९५९)
१२. आर० शामशास्त्री—वेदांग ज्योतिष (१९३६), गवामयन (१९०८)
१३. डा० विभूतिभूषण दत्त—साइन्स आव् द शुल्ब (१९३२)
१४. आर० वी० वैद्य—अस्य वामस्य सूक्तम् (१९६१)
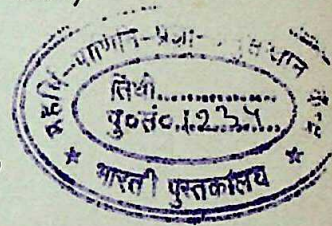
१५. शंकर बालकृष्ण दीक्षित—भारतीय ज्योतिष
(मराठी १८९६, हिन्दी १९५७)
१६. प्रो०जी० थीबोट और सुधाकर द्विवेदी—पञ्चसिद्धान्तिका (बराहमिहिर)
१७. नन्दलाल सिंह—वैशेषिक दर्शन का अंग्रेज़ी अनुवाद (१९११)
१८. पी० वी० काणें—हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्र, भाग ५ (१९५८)

"प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार" शीर्षक यह ग्रन्थ मेरे ही लिखे अंग्रेज़ी ग्रन्थ—"**फाउण्डर्स आव् साइन्सेज इन एन्शेण्ट इण्डिया**" का हिन्दी अनुवाद है। मूल अंग्रेज़ी ग्रन्थ **गोविन्दराम हासानन्द** नई सड़क, दिल्ली ने बड़ी सजधज से पुनः प्रकाशित किया है। इस प्रकाशन संस्थान के अध्यक्ष श्री विजयकुमार जी का हम सबको आभार मानना चाहिए, जिनकी प्रेरणा से इस ग्रन्थ का पुनः मुद्रण अब सम्भव हुआ है।

मन्दिर मार्ग
नयी दिल्ली-११०००१
३ अप्रैल, १९८८

—**स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती**

विषय-सूची

प्रथम	अध्याय—अथर्वन्—अग्नि के पहले आविष्कारक	१
द्वितीय	अध्याय—अग्नि के द्वारा यन्त्र-साधनों का आविष्कार	३५
तृतीय	अध्याय—दीर्घतमस्—वैदिक संवत् का आविष्कर्ता	६९
चतुर्थ	अध्याय—गार्ग्य द्वारा नक्षत्रों का पहली बार संख्यान	११७
पाँचवाँ	अध्याय—भरद्वाज द्वारा प्रथम वनस्पति गोष्ठी का सभापतित्व	१४१
छठा	अध्याय—आत्रेय पुनर्वसु और उनका चिकित्सापीठ	१५८
सातवाँ	अध्याय—शल्य के पिता सुश्रुत	१९५
आठवाँ	अध्याय—कणाद—यथार्थवाद, कारणवाद और परमाणु सिद्धान्त के पहले प्रतिपादक	२५७
नवाँ	अध्याय—मेधातिथि—अंकों को पहले-पहल परार्ध तक पहुँचाने वाले	३१५
दसवाँ	अध्याय—आर्यभट द्वारा बीजगणित का शिलारोपण	३५३
ग्यारहवाँ	अध्याय—लगध—ज्योतिष को युक्तिसंगत बनाने वाले प्रथम ऋषि	४०९
बारहवाँ	अध्याय—लाटदेव और श्रीषेण द्वारा भारत में ग्रीक ज्योतिष का सूत्रपात	४६३
तेरहवाँ	अध्याय—बोधायन—सबसे पहला ज्यामितिज्ञ	५४३

पुरीष्योऽसि विश्वम्भराऽअथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ।।

हे अग्नि, आप पुरीष्य (पशुओं के पोषक) हैं। आप विश्व भर के आश्रय हैं।
सबसे पहले ऋषि अथर्वा ने मन्थन करके तुम्हारा आविर्भाव किया।
हे अग्नि, अथर्वन् ने कमल से मन्थन करके पुरोहित विश्व के
सिर से तुम्हारा आविर्भाव किया। —यजु० 11. 32

अध्याय : एक

अथर्वन्—
अग्नि के पहले आविष्कारक

4000 ई० पू० या उससे भी पहले

हे अग्नि, ऋषि अथर्वन् ने कमल से मन्थन करके पुरोहित विश्व के सिर से तुम्हारा आविर्भाव किया।[1]

—ऋ० 6. 16. 13

अथर्वन् द्वारा आविर्भूत हे अग्नि, आप सभी स्तवनों के ज्ञाता हैं। आप विवस्वत् के दूत हैं, यम के प्रिय सुहृद् हैं। यह स्तवन आपकी प्रसन्नता के लिए है। आप समर्थ हैं।[2]

—ऋ० 10. 21. 5

हे अग्नि, विद्वान् आपका मन्थन करते हैं, जैसा कि अथर्वन् ने किया था। रात्रि के अन्धतमस् से, अनिश्चित रूप से विचरण करने वाले अग्नि का आविर्भाव वे विस्मयान्वित हुए बिना करते हैं।[3]

—ऋ० 6. 15. 17

अथर्वन्, जिनको अंगिरस् या अथर्वाङ्गिरस भी कहा जाता है, अग्नि के पहले आविष्कारक हैं। अगर मानव को सचमुच ही किसी आविष्कार पर गर्व हो सकता है, तो यह अग्नि का ही आविष्कार है। सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण इस आविष्कार का ठीक-ठीक मूल्यांकन आज कठिन है, जब अग्नि आज सर्वसाधारण हो चुकी है और उसे पैदा करने के हमारे साधन इतने आसान हैं। किन्तु जरा उन दिनों की बात सोचिए, जब इस धरती पर अग्नि का आविर्भाव नहीं हुआ था और जब प्रकाश और ऊष्मा केवल सूर्य से ही प्राप्त होती थी। अग्नि के

---

1. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥ ऋ० 6. 16. 13
2. अग्निर्जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या।
   भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे॥ ऋ० 10. 21. 5
3. इममु त्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसः।
   यमङ्कूयन्तमानयन्नमूरं श्याव्याभ्यः। ऋ० 6. 15. 17

पहले आविष्कर्ता के जीवन संबंधी ब्यौरे हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं। हम उसके कई नामों से परिचित हैं। इनमें अथर्वन् या अथर्वा उनका निजी नाम है और अग्नि का आविष्कर्ता होने के कारण उनका नाम अंगिरस् भी पड़ गया। उनके नाम पर अग्नि का मन्थन करने वालों की पूरी की पूरी जाति आंगिरस नाम से विख्यात हुई, जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं से है। आगे चलकर हम उनका विस्तृत उल्लेख करेंगे।

प्रोमैथ्यूज़ की कथा

ग्रीक आख्यानों में एक प्रोमथ्यूज़ का उल्लेख मिलता है, जो अग्नि को स्वर्ग से चुराकर मर्त्यलोक में लाया था। प्रोमैथ्यूज़ पुराणों या आख्यानों का नाम है, जब कि अथर्वन् इतिहास पुरुष हैं। यह विश्वास करने का आधार है कि प्रोमैथ्यूज़ के नाम से संबद्ध पुराण-कथा का उद्भव भी भारत से ही हुआ और यहीं से वह कथा विदेशों में फैली। स्वयं प्रोमैथ्यूज़ शब्द का उद्भव संस्कृत पद 'प्र+मन्थ' से हुआ है, क्योंकि अग्नि का आविर्भाव पहले मन्थ की प्रक्रिया से किया गया था। इस सिलसिले में हम चैम्बर्स विश्वकोष से एक उद्धरण देंगे—

> 'अग्नि के उद्भव-उत्पादन की अपेक्षा उसका धार्मिक इतिहास कहीं ज्यादा प्रच्छन्न है, यद्यपि हम देखते हैं कि सर्वत्र इस विषय के चारों ओर समृद्ध पुराण-कथाओं का ताना-बाना बुन दिया गया है। प्राकृतिक शक्तियों के सभी प्रमुख उपादानों की भांति ही अग्नि को आरम्भिक दिनों में व्यक्तिस्वरूप मान कर उसकी पूजा की गई तथा व्यक्ति-स्वरूप या साकार मानकर देवत्व का आरोप करने की यही प्रक्रिया हमें अग्नि के पहले आविष्कर्ता के नाम के साथ ग्रीक प्रोमैथ्यूज़, आरम्भिक आर्यों के 'प्र-मन्थ' और उनके चीनी समकक्ष सुय-जिन के साथ संबद्ध मिलती है।'
>
> —चैम्बर्स विश्वकोश : 'फायर'

प्रोमैथ्यूज़ ग्रीक पुराण कथाओं का महान् सांस्कृतिक नायक है, जो टिटन आयापेटस और क्लाईमीन का पुत्र और एटलस मेनोहटस और एवीमैथ्यूज़ का भाई था। हैसोइड ने उसकी कथा इस प्रकार कही है : 'एक बार ज्यूस के शासन के अधीन देवताओं और मनुष्यों के बीच आपस में मैकोन में यह विवाद उठा कि बलि-पशुओं का कौन सा अंश देवताओं को अर्पित किया जाए। प्रोमैथ्यूज़ ने ज्यूस की परीक्षा की दृष्टि से एक बैल को काट कर उसके अंग के सर्वोत्तम अंश गोबर से ढांक कर एक ओर रख दिए, और दूसरी ओर हड्डियों को चर्बी से ढांक कर रख दिया। ज्यूस से चुनाव करने को कहा गया, किन्तु उसने जब यह कपट-जाल देखा, तो उसने मांस पकाने के लिए जरूरी अग्नि से जीवधारियों को वर्जित करके बदला लिया। तब प्रोमैथ्यूज़ ने अग्नि को एक खोखली नलिका में चुरा लिया और उसे उनके पास ले आया। 'ग्रीक प्रोमैथ्यूज़' का शब्दार्थ है 'पूर्व दृष्टि' और एपीमथ्यूज़ (प्रोमैथ्यूज़ का विपरीतार्थक शब्द) का अर्थ है 'पश्चात् दृष्टि'।

अग्नि से अनभिज्ञ जातियां

आज अग्नि और उसके उपयोग की इतनी जानकारी आमतौर पर सबको है कि ऐसी किसी जाति का प्रामाणिक उदाहरण प्राप्त करना संशय की ही बात है, जिसे इसका बिल्कुल ज्ञान न हो। विशाल यात्रा-साहित्य में एकाध ऐसे उल्लेख अवश्य आते हैं, जिनसे ऐसी सम्भावना की पुष्टि होती है, पर जब उनकी सावधानी पूर्वक पड़ताल की जाती है, तो उनके साक्ष्य पर निश्चय के साथ बिलकुल विश्वास नहीं किया जा सकता। मिशनरी क्राफ से एक गुलाम ने शोआ के दक्षिणी हिस्से की ऐसी जाति का जिक्र किया था, जो बांस के जंगलों में बन्दर की तरह रहती थी और जिसको आग का बिल्कुल ज्ञान न था, लेकिन इस बात का कोई ज्यादा अच्छा प्रमाण नहीं मिला है। यह कहानी पूर्वी अफ्रीका में प्रचलित लगती है और पिग्मियों के बारे में मिलने वाली दन्त कथा जैसी ही मालूम देती है। इन पिग्मियों का स्थान पुराने लोग नील नदी के उद्गम के आस-पास मानते रहे हैं। सं० रा० अमेरिका की खोज-टुकड़ी के नेता कमोडोर वाइक्स का कहना है कि फकाफो या बाउडिच द्वीप में पकाने की जगहों का कोई चिन्ह न था और न आग के होने का ही कुछ अन्दाज़ लगाया जा सकता था। चकमक पत्थर और लोहे की रगड़ से उठने वाली चिनगारियों को या लोगों के मुंह में लगे सिगारों से निकलते धुएँ को देखकर वहाँ के मूल निवासी चौंक उठते थे। इस खोज-टुकड़ी के जातिविज्ञान विशारद हेल्स ने फकाफो की बोली में आग के लिए प्रचलित 'अफी' शब्द का जिक्र किया है। हालांकि इस शब्द की व्याख्या इसे सूरज का प्रकाश और ऊष्मा का पर्याय मान कर की जा सकती है, लेकिन इससे निःसन्देह कमोडोर वाइक्स का अनुमान तो अप्रामाणिक सिद्ध हो ही जाता है। रेवरेंड जार्ज टर्नर ने 1859 की एक मिशनरी यात्रा के सिलसिले में न केवल फकाफो की अपनी सूची में 'अफो' शब्द को दुहराया है, वल्कि आग के उद्भव के बारे में वहां की स्थानीय पुराण-कथा का भी जिक्र किया है और उनके प्रयोग से जुड़ी हुई कुछ खास प्रथाओं का भी वर्णन किया है। एक पुराने स्पेनी यात्री अलवारो दे सावेद्ना का कहना है कि प्रशान्त महासागर के एक द्वीप लॉस जारडीन्स के निवासी आग को जलता देखकर बहुत डर जाते थे और वे आग से पहले से परिचित न थे। लेकिन आधुनिक खोजियों ने उस द्वीप की निश्चयपूर्वक पहचान नहीं कर पाई है। पादरी गोबीन का कहना है कि शायद यह द्वीप लेडरोन या मेरियाना द्वीप समूह में है, जहां के लोग उस समय तक आग से अपरिचित थे, जब 'मैगेलन ने वहां के निवासी की चोरी की आदत से नाराज होकर उनके एक गांव में आग लगा दी। जब उन्होंने अपनी लकड़ी की झोपड़ियाँ जलती हुई देखीं, तो आग के बारे में उनकी पहली धारणा यही हुई कि आग एक जंगली पशु है, जो लकड़ी को खा जाती है। उनमें से जो थोड़े से लोग आग के ज्यादा पास गए, वे जल गए और इस डर से दूर बने रहे कि वे उस भयानक पशु की बलवती सांस से खत्म या विषाक्रांत हो जाएंगे।'

इस पर फ्रेसिनेट की यह आपत्ति है कि ये लडरोन द्वीपवासी यूरोपवासियों के आने से पहले पकाए हुए वर्तन बनाया करते थे और उनकी बोली में लपट, आग, चूल्हा, कोयला, पकाने और सेंकने के पर्यायवाची शब्द भी थे, हम यह भी कह सकते हैं कि उस देश में बहुत सी कब्रें और दूसरे अवशेष मिले हैं, जो वहां की पुरानी संस्कृति के निदर्शक मालूम पड़ते हैं। इसलिए यह प्रश्न अनिश्चित ही रहता है : हालांकि आग को न जानने वाली जाति की कल्पना में कोई बात असम्भव नहीं मालूम पड़ती, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस तरह की किसी जाति का पता लगा लिया गया है।

आग की पहली धारणा

इस बात की जांच करना निरर्थक है कि किस तरह से आदमी ने आग का पता लगाया, उसे अपने नियंत्रण में लिया और समुचित साधनों से उसे पैदा करना भी सीखा। उसके प्राकृतिक तत्व और विभिन्न पहलुओं से वह शीघ्र ही परिचित हो गया होगा। ज्वालामुखी से रात के अंधेरे में प्रकाश फैल जाता था और उसकी राख या उसका लावा नीचे मैदानों में दूर-दूर तक फैल जाता था। बिजली या उल्का पेड़ से टकराते थे और सारे जंगल में आग लग जाती थी, या किसी दूसरे कम प्रत्यक्ष कारण से कहीं न कहीं कुछ कम मात्रा में आग जल उठती थी। हो सकता है कि कुछ समय तक प्रकृति का यह महान् स्वरूप लोगों में भय और शंका की ही भावना जागृत करता रहा हो, लेकिन आदमी में सतर्कता और सम्मान की भावनाओं के साथ-साथ उतनी ही जिज्ञासा की भावना भी है और चिर-परिचय ने आग के प्रति शीघ्र ही अवज्ञा नहीं तो विश्वास की भावना को तो जन्म दिया हीं होगा।

यह मान लेना बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि आग की व्यावहारिक खोज एक ही जगह पर और एक ही तरीक़े से की गई होगी, वस्तुतः यह ज्यादा संभव है कि विभिन्न जातियों-प्रजातियों ने आग का ज्ञान तरह-तरह से प्राप्त किया होगा। हम आज भी देखते हैं कि दुनियां के कई हिस्सों में लोग आज भी गरम सोतों, नाफथा या पैट्रोल के कुओं और ज्वालामुखी की गम्य क्रेटरों का लाभ उठाते हैं। उदाहरण के लिए तन्ना द्वीप में पोर्ट रिज़ोल्यूशन से पश्चिम में एक पहाड़ हैं, जिसके ज्वालामुखी पहाड़ होने के काफी प्रमाण मिलते हैं—जैसे दरारें, भाप के जेट, गरम सोते आदि। रैवरैंड जार्ज टर्नर का कहना है कि वहां के निवासी इस खतरे से बिलकुल ही नहीं डरते और उनके घर इस तरह बने हैं कि उनका 'मुरुम' या सार्वजनिक चौक पहाड़ की एक गरम जगह पर है, जहां वे उठते-बैठते हैं और धरती के भीतर की गरमी का लाभ उठाते हैं। कुछ सोतों का पानी तो उबाल आने जितना गरम होता है। कुछ जगहों पर पुरुष और लड़के चट्टानों पर खड़े होकर भालों से मछलियां फांस लेते हैं और उनको पीछे गरम सोतों में लटका देते हैं। न्यूज़ीलैंड के माओरियों और न्यू हैब्राइड्स के नीग्रो लोगों के बारे में भी ऐसे ही विवरण मिलते हैं।

जातियों में आग का संरक्षण

कई जातियों के बारे में यह कहा गया है कि यदि उनके यहां की सभी आग एक बार बुझा दी जाए, तो वे उसको फिर से नहीं जला सकेंगे। आस्ट्रेलिया और तसमानियां को जाने वाले यात्रियों ने एक ऐसी विशिष्ट कबाइली औरत का वर्णन किया है, जो हमेशा अपने साथ जलती हुई अंगीठी रखती थी और उसकी साज-संभाल रखकर उसे जलाए रखना उसका एक प्रमुख कर्त्तव्य था। यह अनुमान किया गया है कि केवल अज्ञान के कारण ही उसको यह कभी खत्म न होने वाला काम सौंपा गया था। यह बात बहुत ज्यादा असंदिग्ध नहीं है, क्योंकि मिकलूचो मावलाव ने, जिन्होंने पापुअनों का निकट से अध्ययन किया है, उनके बारे में कहा है कि यद्यपि उनको आग पैदा करना आता है, फिर भी वे उसे लेकर चलना ज्यादा पसंद करते हैं। समोआ के सरदारों की प्रतिष्ठा का यह चिह्न माना जाता था कि उनकी आग कभी न बुझने दी जाए और उनके सोने के वक्त आग की देखभाल करने वाले नौकरों का एक अलग नाम होता था। कोरिया में पूर्वजों की आग की रक्षा करना परिवार की प्रसन्नता के लिए एक प्रमुख महत्व की बात मानी जाती है। दुनियां के दूसरे हिस्सों में भी ऐसा ही विश्वास बहुत सीमा तक प्रचलित रहा है।

आदिम तरीके

आग पैदा करने के तरीकों के ब्यौरों में काफी अन्तर है, पर वे ज्यादातर चोट या रगड़ के तरीकों के हेरफेर पर ही आधारित हैं। सर जान लबौक का कहना है कि पत्थर को औजारों के रूप में इस्तेमाल करने के बाद ही जल्दी या देर से आग की खोज भी संभव हुई होगी क्योंकि पत्थर की छंटाई करने में चिनगारियां पैदा होती हैं और पत्थर को चमकाने में गरमी पैदा होती है। चोट वाला पहला तरीका अब भी चकमक और लोहे के रूप में जाना जाता है, जिसका प्रयोग सर्वाधिक सुसभ्य देशों तक से भी अभी नहीं उठ पाया है। इस तरीके में हेरफेर भी कम ही हैं और वे महत्वपूर्ण नहीं हैं। अलास्कावासी और एल्यूशियन स्फटिक के दो टुकड़े लेकर उन पर देशी गंधक को अच्छी तरह रगड़ देते हैं, फिर उन पर आपस में तब तक चोट पहुँचाते हैं, जब तक गंधक में आग न लग जाए, फिर लपट से सूखी घास के ढेर को जला लेते हैं, जिस पर कुछ पंख बिखेर दिए जाते हैं। स्फटिक के दो टुकड़ों की जगह एस्किमो एक टुकड़ा स्फटिक का और एक टुकड़ा लोहे के पाइराइट का इस्तेमाल करते हैं। श्री फ्रेडरिक बोयल ने चीनी के टुकड़ों से बांस के साथ तेजी से टकराकर आग पैदा होती हुई देखी है, बैशियन ने यही प्रक्रिया बर्मा में देखी है और वालेस ने टरनेट में।

लकड़ी से आग

कोचीन-चीन में बांस के दो टुकड़ों को ही काफी समझा जाता है, क्योंकि ऊपरी पर्त के सिलिका तत्व उसे देशी चकमक जैसा ही बना देते हैं। रगड़ के

तरीके बहुत तरह के मिलते हैं। सबसे आसान तरीका वह है, जिसे श्री टाइलर ने छड़ी और लीक का तरीका बताया है—'एक तेज़ नुकीली छड़ी को नीचे धरती पर पड़े लकड़ी के टुकड़े में छड़ी के द्वारा ही बनाई गई लीक में तेज़ी से चलाया जाता है,' हालांकि यह बहुत कुछ लकड़ी की किस्म और चलाने वाले की होशियारी पर निर्भर रहता है। ताहिती में श्री डारविन ने एक मूलवासी को कुछ सेकिंडों में ही आग पैदा करते देखा था, लेकिन वह स्वयं काफी मेहनत के बाद सफल हुए। यही तरीक़ा न्यूज़ीलैंड, सैंडविच द्वीप, टोंगा, समोआ और रेडाक द्वीप समूह में अपनाया जाता था। चलने वाली छड़ी को आगे-पीछे चलाकर रगड़ने की बजाय कुछ अन्य जातियां जमी हुई लकड़ी के टुकड़े में बने एक गोल छेद में इसे तेज़ी से घुमाती हैं और इस प्रक्रिया को श्री टाइलर के शब्दों में आग का बरमा बना देती हैं। यह तरीका आस्ट्रेलिया, कामचटका, सुमात्रा और कैरोलाइन्स में, सीलोन के वेद्दाहों में, दक्षिण अफ्रीका के एक बड़े हिस्से में, उत्तरी अमेरिका के एस्किमों और इंडियनों में, वेस्ट इंडीज और मध्य अमेरिका में और दक्षिण में मैगैलान के जलडमरूमध्य तक काम में लाया जाता है। प्राचीन मैक्सि-कोवासी भी इस तरीके को काम में लाते थे और श्री टाइलर एक मैक्सिकन पांडुलिपि से इस क्रिया की विचित्र झांकी प्रस्तुत करते हैं—धरती पर घुटनों के सहारे आधा झुका हुआ एक आदमी अपनी हथेलियों के बीच से एक लकड़ी को तेज़ी से घुमा रहा है। घुमाने का यह सीधा तरीका बहुत कुछ आम तौर पर इस्तेमाल होता था, लेकिन मेहनत कम करने और जल्दी नतीजा निकालने के लिए तरह-तरह के उपाय अपनाए गए। पाम्पास का गौचो 'लगभग अठारह इंच लम्बी एक लचकीली छड़ी को लेता है, उसके एक सिरे को अपनी छाती से दबा लेता है और दूसरे सिरे को एक लकड़ी में बने छेद में डालकर बढ़ई के छेद करने वाले बरमे की तरह बहुत तेजी से घुमाता है।' दूसरे स्थानों पर घुमाने के लिए छड़ी के चारों ओर रस्सी या बंटनी लपेट दी जाती है और उसे अदल बदल कर एक दूसरे सिरे से खींचते हैं। बरमे को सीधा रखने के लिए एस्किमो और अन्य लोग एक सिरे को हाथीदांत या हड्डी के सौकेट में रख देते हैं, जिसे वे अपने मुंह में मजबूती से दबाए रहते हैं।

उत्तरी अमेरिका के इंडियनों ने इसमें और प्रगति की थी, जो कमान वाले बरमे का सिद्धान्त काम में लाते थे और इरोक़ुअस के इंडियन तो इससे भी ज्यादा पम्प-बरमा का ज्यादा प्रवीण तरीका काम में लाते थे। इन साधनों के पूरे ब्यौरे और आग पैदा करने सम्बन्धी तरह-तरह के विवरणों के लिए पाठकों को टाइलर की पुस्तक 'रिसर्चेज' के महत्वपूर्ण अध्याय को ही देखना चाहिए। आग पैदा करने के ये तरीक़े यूरोप में कभी-कभी ही काम में लाए जाते हैं और वह भी दकियानूसी रिवाजों के ही सिलसिले में। 'वुटके' में हम पढ़ते हैं कि कुछ समय पहले मैकलेनबर्ग गांव के अधिकारियों ने पशुओं में एक महामारी के खिलाफ 'वन्य-आग' जलाने का आदेश दिया था। दो घंटों तक लोग

चिनगारी पैदा करने के लिए व्यर्थ कोशिश करते रहे, लेकिन दोष लकड़ी या वातावरण के गीले होने का नहीं बताया गया बल्कि एक हठी बूढ़ी औरत का बनाया गया, जो टोटके पर आपत्ति करते हुए अपना चिराग बुझाने को तैयार नहीं हुई। ऐसी आग सक्षमता पूर्वक अकेले ही जल सकती है। आखीर में उस जिद्दी औरत को जिद छोड़ देने के लिए विवश कर दिया गया—आग जल गई, पर उसकी किस्म बुरी थी, क्योंकि इससे पशुओं की महामारी नहीं रुकी।

सूरज से आग

यह बात लोग बहुत समय से जानते हैं कि एक लैंस या अवतल कांच में सूरज की किरणों को संकेन्द्रित किया जा सकता है। एरिस्टोफेन्स 'दि क्लाउड्स' में जलने वाले लैंस का जिक्र करते हैं और जहाजों में आग लगाने के लिए दर्पण का उपयोग करने वाले आर्कीमीड्स की कहानी स्कूलों के विद्यार्थी तक जानते हैं। यदि गार्सिलासो दे ला वेगा का एक प्रमाणपुरुष की तरह विश्वास किया जा सकता है, तो मानना होगा कि पेरू की सूर्य कुमारियां एक बड़े बाजूबन्द में जड़े हुए एक अवतल प्याले से पवित्र-अग्नि जला लेती थीं। चीन में आमतौर पर जलने वाला कांच काम में आता है।

पुराण कल्पनाएं और कथाए

मनुष्य को आग की प्राप्ति कैसे हुई, इस प्रश्न का सृष्टि की रचना सम्वन्धी कहानियां, जो आदिकालीन कल्पनात्मक विचारों के अभिलेख हैं, कोई ऐसा उत्तर नहीं देतीं, जिसका उल्लेख यात्रियों या इतिहासकारों के वर्णनों में न मिल जाता हो।

कहा जाता है कि टांगा द्वीप समूह में भूकम्प के देवता ही आग के भी देवता हैं। मंगाइआ में अनुश्रुति है कि महान् माउई नरक में गया, जहां उसने दो लकड़ियों को रगड़ कर आग पैदा करने के रहस्य का पता लगाया। माओरी यह कहानी दूसरी तरह से कहते हैं। माउई ने बूढ़ी दादी माहुइका से आग प्राप्त की जिसने वह अपने हाथ के नाखूनों से निकाली थी। ज्यादा तेज आग प्राप्त करने की इच्छा से उसने यह बहाना किया कि वह बुझ गई है, और तब उसने उसके पैर के बड़े अंगूठे से आग प्राप्त की। यह इतनी भयानक थी कि उसकी चमक से हर चीज पिघल जाती थी। स्वयं माहुई और उसकी दादी भी जलने लगे। तब स्वर्ग से आने वाली भारी वर्षा ने नायक और जलती दुनियां को बचाया, लेकिन इससे पहले कि पानी सारी लपटों को बुझा दे, माहुइका ने कुछ चिनगारियां कुछ पेड़ों में छिपा दीं और अब लोग वहीं से उसे प्राप्त करते हैं। माओरी लोगों में यह भी कथा प्रचलित है कि बादल का गरजना तौहाकी के पद-चाप की ध्वनि है और बिजली उसकी बगल में से निकलती है। वेस्टर्न प्वाइंट, विक्टोरिया के आस्ट्रेलिया-वासी कहते हैं कि भले बूढ़े पुणदिल ने बन्दूक का द्वार खोल दिया और उसका

प्रकाश फिर धरती पर पड़ा और भले आदमी की भली लड़की कराकोरक ने जब धरती को सापों से भरा हुआ पाया, तो वह सांपों को नष्ट करती हुई हर जगह गई, लेकिन इसके पहले कि वह सभी सांपों का अन्त कर पाती उसकी लाठी दो हिस्सों में टूट गई और उसके टूटते समय उससे आग की ज्वाला निकली। यहां स्पष्ट ही सांपों को मारने वाला आग का उद्‌भावक बताया गया है। फारसी के 'शहनामा' में भी आग की खोज करने वाला ही नागों को मारने वाला बताया गया है। प्रतापी नायक हुशेंक ने भयानक सांप के ऊपर बड़ा भारी पत्थर फेंका जो सांप के हट जाने से एक चट्टान से जाकर टकराया और उससे चिनगारियां फूट निकलीं। 'पत्थर के अंधेरे टुकड़ों से प्रकाश चमका, चट्टान जगमग-जगमग हो गई और दुनिया में पहली बार आग दिखाई पड़ी।' सांप तो बचकर भाग गया पर आग का रहस्य प्रकट हो गया था। उत्तरी अमेरिका में प्रचलित कहानियों में बताया जाता है कि बूढ़ा भैंसा मैदान में घूमते-घूमते रात में अपने खुरों को चट्टान से टकराकर चिनगारियां पैदा कर देता है और घास के मैदान में आग लग जाती है।

यही विचार हिन्दू पुराण-कथाओं में भी देखने को मिलता है, जिसमें यह धारणा है कि बिजली की चमक आसमान के अश्म या सख्त फर्श पर सूरज के घोड़ों के पैरों की रगड़ से पैदा होती है। डकोटाओं का कहना है कि उनके पूर्वजों ने आग तब प्राप्त की थी, जब पथरीली पहाड़ी पर चढ़ते हुए चीते ने अपने पंजों को पत्थर से टकराकर चिनगारियां पैदा कर दी थीं।

अपनी खड़ाउओं को हिलाकर क्विचेज़ जाति को आग प्रदान करने वाला तोहिल मैक्सिको के क्वेत्ज़ कोटल की ही तरह था, जिसकी छवि चकमक पत्थर के साथ उरेही जाती है। पेरुवासियों के पिता गुवामानसुरी ने अपनी गुलेल से पत्थर फेंककर बिजली और गरज प्राप्त की थी। अलताई के तारतारों के महान् देवता कुदाई ने पत्थर के किनारे और लोहे की दृढ़ता का रहस्य लोगों को बताया। बिजली के स्लेवोनियन देवता के हाथ में सिलिका को दिखाया जाता है या उसे उसके सिर से भी निकला हुआ दिखाया जाता है। लैप टियरमेस ने अपना हथौड़ा अपने ही सिर में मार लिया। स्कैंडेनेविया के ठोर के एक हाथ में चकमक पत्थर और दूसरे में लकड़ी का हथौड़ा दिखाया जाता है। गोल तारानिस के सिर पर एक भारी गदा और चारों ओर छः छोटी-छोटी गदाएं थीं। फिनलैंड की कविताओं में बताया जाता है 'कि सूरज का बेटा आग स्वर्ग से नीचे आया। वहां उसे सोने की बड़ी बाल्टी में रखे हुए तांबे के टब में दुलराया गया।' एस्थोनिया का देवता उक्को अपने पत्थर को अपने लोहे से मारते हुए बिजली को पैदा करता है। कालेवाला के अनुसार इसी बली उक्को ने अपनी तलवार अपने नाखून में मारकर नाखून से 'आग के बच्चे' को पैदा किया। उसने उसे आंधी की लड़की को दुलराने के लिए दिया। लेकिन उस असावधान

लड़की ने उसे समुद्र में गिर जाने दिया। वहां बड़ी पाइक मछली उसे निगल गई। और सूरज का बेटा सहायता के लिए आगे न आता, तो आग दुनियां से सदा को लुप्त हो गई होती। उसने बड़ी मछली को पानी से बाहर खींचा, उसे फाड़कर उसकी अंतड़ियां निकाली और उनमें उस स्वर्गिक चिनगारी को अभी सजीव पाया। ग्रीक अग्नि देवता है फैस्टस भी स्वर्ग से लैमोनोस के सागर में गिरे थे। सूरज के रथ से प्रोमेथ्यूज़ ने जो ज्योति जलाई थी उसे वह धरती पर ले आया।

आग और संस्कृति

कहा जा सकता है कि मानव संस्कृति का आरम्भ अग्नि से हुआ है और संस्कृतिं की वृद्धि के अनुपात में ही उसका भी उपयोग बढ़ता गया है। प्रकाश प्राप्त करने की प्रारम्भिक प्रक्रिया में लगने वाले समय को बचाने के लिए या उसको लगातार चालू रखने के सिलसिले में आदिम मानव को आग का माध्यम प्राप्त हो गया, जिसे दिन-रात किसी सार्वजनिक इमारत में जलते रहना चाहिए। मिश्रवासी हर मन्दिर में आग रखते थे और ग्रीक, लेटिन देशों के लोग और पारसी अपने हर शहर में। नात्शेज, मेक्सिकोवासी, मय और पेरू-वासी भी बड़े बड़े पिरामिडों पर अपनी राष्ट्रीय आग जलाते रहते थे। इस अग्नि के रूप में सिनेनौगों (यहूदियों के धार्मिक केन्द्रों), और बाइजेंटाइन और कैथौलिक गिरिजाघरों के 'अखण्ड दीपकों' में जीवित देखे जा सकते हैं। रोम का पवित्र केन्द्र 'रेगिया' जो वेस्टा का निवास माना जाता है, एक फव्वारे के पास था, इसलिए उसी स्थान पर दो जरूरी चीजें आग और पानी प्राप्त करने में सुविधा होती थी। सभी नागरिक और राजनैतिक हित प्राइटेनियन में समा गये थे, जो मन्दिर भी था, न्यायाधिकरण भी, टाउन हाल भी और गप्प-गोष्ठी भी। सभी सार्वजनिक कारबार और अधिकांश निजी काम सामूहिक आग की गर्मी और प्रकाश के सहारे निपटाए जाते थे। यह अचम्भे की बात नहीं कि इस भवन के ध्वजा-पत्थर तक पवित्र माने जाने लगें। आदिम समुदाय हर उस चीज को पवित्र मानते रहे हैं, जो उनके अस्तित्व की साधक होती है और उनका कल्याण करती है, चाहे ये भौतिक आग और पानी जैसी चीजें हों या दूसरी। इस तरह प्राइटे-नियन एक धार्मिक संस्था बन गई। फिर अगर हमें पानी की पूजा की जगह आग की पूजा की बात ज्यादा सुनने को मिलती है, तो इसका कारण यह है कि सब मिल कर आग को प्राप्त करना ज्यादा कठिन था और इसीलिए उसे ज्यादा कीमती माना गया।

आग और राज्य

हमें ऐसे विचित्र और एकरूप साक्ष्य भी मिलते हैं कि राज्य के प्रमुख कृत्यों का विकास इन आदिमजातियों की आग की देखभाल के स्वरूप से हुआ। हैलास में इसकी देखभाल करने वाले लोग प्राईटेन कहे जाते थे। उनको साथ-

साथ भोजन करना होता था और अगर वे अपने कर्तव्य के प्रति असावधानी दिखाते तो इसे एक अपशकुन माना जाता था और यह ठीक भी था, क्योंकि शुरू में ये लोग सबके रसोइए भी थे, पर बाद में नगरों की स्थापना होने पर ये लोग **आरचोंट्स** या **मजिस्ट्रेट** और **बासिलीज** (कैप्टेन, पुजारी और राजा का समुच्चय) तक बन गए। इसलिए जाति की अग्नि के पहले रक्षक प्राचीनतम लोक कर्मचारी थे, जिन्होंने क्रमशः बहुत से हितों के समुच्चय के रूप में राज्य के विकसित होने पर सभी महत्वपूर्ण पद हथिया लिए। फिर जब आगस्टस ने रोम साम्राज्य पर कब्जा किया, तो उसने वे सभी अधिकार अपने हाथ में रखे, जो प्राइटेनियन या आग के आदिम रक्षकों के पास थे। उसने अपने आपको पोंटिफेक्स मेक्सिमस (अधिकतम शक्तिशाली) बनाया और सार्वजनिक आग का दायित्व अपने ऊपर ले लिया फिर वह उसे अपने महल में ले गया, जिसे उसने सार्वजनिक सम्पदा के रूप में परिवर्तित कर दिया। हेलेनिक और एज़टेक दोनों ही राष्ट्र राजदूतों का अपने अग्नि-भवनों में स्वागत करते थे और वहाँ राष्ट्रीय चूल्हे के सामने वे विदेशी अतिथियों को भोज देते थे। प्राइटेनियन और राज्य एक ही शब्द के दो रूप थे। अगर अकस्मात् वेस्टा के रोमन मन्दिर की आग बुझ जाती, तो सभी न्यायाधिकरण, सभी अधिकारी, सभी निजी और सरकारी कारबार तुरन्त बन्द हो जाते। स्वर्ग और धरती का सम्बन्ध ही टूट जाता और किसी न किसी तरीके से उसका पुनरुद्धार करना होता, चाहे परमात्मा बिजली के रूप में उसे अपनी वेदी तक भेज देता, या पुजारी लकड़ियों को रगड़ने के पुराने पवित्र तरीके से नई आग पैदा करते या किसी अवतल कांच में सूरज की किरणों को समेट कर आग पैदा की जाती। कोई भी ग्रीक या रोमन सेना तब तक अपने देश की सीमा से बाहर न जाती थी, जब तक अपने साथ एक ऐसी वेदी को न ले जाए, जिसमें आग दिन-रात जलती रहे। जब ग्रीकवासियों ने विदेश में जाकर उपनिवेश बनाए, तो उत्प्रवासी हेस्टिया की वेदी से वे जलते हुए अंगारे अपने साथ ले गए और उन्होंने नए देश में जाकर अपने मातृदेश में जलने वाली आग के प्रतिनिधि के रूप में वह ज्वाला प्रज्वलित रखी[1]। जब तक तीनों कुरिआओं ने अपनी-अपनी आग इकट्ठी नहीं

1. यह विचित्र बात है कि यही चीज हमें दक्षिण अफ्रीका की डामरस जाति में देखने को मिलती है। वहाँ के मुखिया का लोगों के ऊपर पुजारियों जैसा प्रभुत्व होता है। वे अपनी पुत्रियों को अखण्ड आग की देख-भाल का काम सौंपते हैं। अलग होकर नया घर बसाने वाली नई पीढ़ियाँ इसी चूल्हे से आग को अपने-अपने घरों में ले जाती हैं। रोम के वेस्टा मन्दिर की तरह के गोल प्राइटेनियनों के उपयोग ने उत्तरी अमेरिका की असीने और माइचा जातियों का एक जैसा उद्भव सिद्ध किया था। मोबाइल्स, चिप-वेज और नात्शेज जातियों के वेस्टा जैसे निगम थे। अगर नात्शेज की आग बुझ जाती

[अगले पृष्ठ पर—

को, रोम साम्राज्य सशक्त न हो सका। बताया जाता है कि एथेन्स का प्रताप भी दुनियां में तभी जमा हो सका, जब थीसिअस के नेतृत्व में एटिका की बारहों जातियों ने अपनी-अपनी अग्नि एथीन पोलिआस की वेदी में लाकर इकट्ठी कर दी। पूरे ग्रीस ने अपना संघ बनाया और उन्होंने डेल्फी को अपना केन्द्रीय चूल्हा बनाया और सभी द्वीपों के निवासी डेलौस के पास एकत्र होते थे, जहां से वे हर साल नई अग्नि ले जाते थे।

एक अभिमत है, जो असम्भव भी नहीं लगता, कि सार्वजनिक और निजी, धार्मिक और लौकिक सारा का सारा स्थापत्य पवित्र अग्नि की रक्षा के लिए पवित्र छदाने खड़ी करने से शुरू हुआ और मनुष्य वहुत समय बाद मकानों में रहने का साहस कर सका। यह सदा ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अग्नि को देवता माना गया है। हमें साफ बताया गया है कि वेस्टा की अपने मन्दिर में भी कोई मूर्ति या प्रतिमा न थी और वेस्टा की अग्नि को ही स्वयं देवी माना जाता था। ओविड यह बताता है कि जो रक्षक आग के सामने अपना-अपना भोजन खाते थे, वे समझते थे कि वे स्वयं देवताओं की उपस्थिति में बैठे हुए हैं। वेदी की आग को पवित्र रखा जाता था और उसकी ज्वाला को चमकीला और विशुद्ध। ज़ैन्द अवेस्ता के विस्तृत और परेशानी में डालने वाले ब्यौरों में इस भावना का चरम बिन्दु देखने को मिलता है। यह विश्वास बहु-प्रचलित था और आज भी है कि आग में कोई अपवित्र वस्तु न डाली जानी चाहिए और उसके सामने कोई अभद्र कार्य न करना चाहिए। किसी की आग में थूकना, बहुत सी जगहों पर, जैसे उदाहरण के लिए अलवानिया में, एक अक्षम्य अपराध माना जाएगा। मौ० दे उजफालवी के अनुसार फरगना के गालचा इस आदर भावना के प्रति इतने जागरूक हैं कि वे ज्योति को मुंह से नहीं बुझाएंगे, जिससे आग उनकी सांस के कारण अपवित्र न होने पाए। इसी प्रकार की विशिष्ट बात बदखशां में वुड ने और बोखारा के ताजिकों में खानिकौफ ने देखी थी।[1]

—पिछले पृष्ठ से]

तो वे उसे मोबाइल्स के आग से पुनः जलाने के लिए बाध्य थे। मौक्यू, प्यूबलो और कोमांश जातियों की भी अखण्ड अग्नियाँ थीं। रेड स्किन जाति वाले राजकीय मामलों पर अपनी 'परिषद् की अग्नि' के चारों ओर बैठकर विचार करते थे, हर सचेम इसकी तीन प्रदक्षिणा करता था और अपनी देह को चारों ओर से उसके सामने ले जाता था। इरोकुई जाति के एक मुखिया ने 1753 में कहा था, "हमारे पूर्वजों में यह अनुश्रुति थी कि जिस दिन ओनोनडोगा (संघ की डेल्फी) की आग बुझ जागगी, एक जाति के रूप में हमारा अस्तित्व खत्म हो जाएगा।"

1. देखिए 'बुलेटिन दे ला सोसाइटी द जुगराफी', पेरिस, 1878, पृष्ठ 489; वुड की 'ओक्सस के उद्गम की यात्रा,' 1872 पृष्ठ 177।

जिन कारणों से जातियां अपने लिए एक स्थायी अग्नि की व्यवस्था करती थी, उन्हीं कारणों से हर परिवार अपना स्थायी अग्नि का चूल्हा रखने लगा। यह कहना ज्यादा यथातथ्य होगा कि आज जिसे परिवार कहा जाता है, वह तभी विकसित हुआ जब मानव युग्म और उनके बच्चे अपना चूल्हा अलग रखने लगे, इसके पहले नहीं। यह सम्भव है कि शुरू में मुखिया, यूमैट्राइड्स या यूपाट्राइड्स आदि अभिजात लोगों को ही अपनी अग्नि अलग रखने की अनुमति दी जाती थी और आग को उस समय निजी या पारिवारिक देवता माना जाता था। वे लोग उसे दिन-रात पूरे साल जलता हुआ रखते थे। अभी हाल में पिछली पीढ़ी तक उत्तरी देशों में इस तरह की आग बहुत मात्रा में देखने को मिल जाती थी।[1]

ये चली आती हुई प्रथाएं हमें पीछे उस सयय तक ले जाती हैं, जब चूल्हे का रूप वेदी की तरह था। राष्ट्रीय प्रायटैनियन से हर प्रजाति को आग दी जाती थी। जब जाति से प्रजाति और प्रजाति से परिवारों का उदय हुआ, तो हर प्रजाति की अग्निवेदी से शोले हर परिवार को दिए जाने लगे। समाज के ये तीन तत्व जाति, प्रजाति और परिवार क्रमशः एक दूसरे में विलीन होते थे और अग्नि उनका समान प्रतीक था और वे उसे अपने अस्तित्व का हेतु तक मानते थे। चूल्हा परिवार का केन्द्र था, जिस तरह रेगिया रोम और रोम-राष्ट्रमण्डल का पवित्र कंद्र था। रेगिया के आस-पास नागरिक और राजनीतिक संस्थाओं का उदय हुआ था और चूल्हे के पास क्रमशः परिवार का अपने स्वरूप और शक्ति के साथ विकास हुआ।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, राष्ट्रमंडल के लिए प्रायटेनियन एक वेदी के समान था और वह राष्ट्र के वीर पूर्वजों का निवास स्थल था। इसका ठीक प्रतिरूप प्रजाति का चूल्हा था, जिस पर प्रजाति और उसके आश्रित परि-वारों का अधिकार था। जब प्रजातियां टूट-बिखर गईं, तो इसी तरह हर परि-वार अपने पवित्र 'पिता' के नाम से संबद्ध एक वेदी रखने लगा। ये पिता मात्र पूर्वज या पितामह न थे, जैसा कि हम आज समझते हैं, बल्कि निरन्तर जनक के रूप में माने जाते थे, न केवल अतीत युग में उन्होंने प्रजनन किया था, बल्कि

1. वेस्टफेलिया के धनी किसानों के घरों और अस्पतालों के बीच आज भी तथाकथित स्कोरेस्टीन होता है, जहां लगातार आग जलती रहती है, जिसका वे दकियानूसी आदर करते हैं। सीग नदी के किनारे यह रिवाज अभी हाल में 1855 तक था कि ओक पेड़ का एक बड़ा सा लट्ठा जो सामान्यतः जड़ों समेत ठूंठ ही होता था, बरतन टांगने की जगह के सामने एक गड्ढे में रख दिया जाया करता था। यह लट्ठा धीरे-धीरे जलता रहता था और बड़े दिन से अगले बड़े दिन तक पूरे एक साल तक इसके जलते रहने की आशा की जाती थी और तब इसके अवशिष्ट राख-कोयले का चूरा करके उसे खेतों में उर्वरता बनाए रखने के लिए बिखेर दिया जाता था।

ग्रगली पीढ़ियों के द्वारा वे क्रमश: बच्चों के प्रजनक रहते थे, ऐसा विश्वास किया जाता था। वे प्रजनक और संरक्षक थे और वे आशीर्वाद और अस्तित्व दोनों के ही सूत्रधार थे। उनको देवता मानते हुए ये नाम दिए गए थे। थ्योई पैत्रोई, जैनैथलोई, एनजेनेइस, ग्रौर सनैमोई वस्तुतः ये गृहदेवता थे, पर देवता होते हुए भी जाति ग्रौर रक्त से वे ग्रपने वंशजों से संबद्ध थे। आदमी ग्रपने चूल्हे के सामने जो शपथ लेता था, उससे ज्यादा पवित्र दूसरी शपथ न मानी जाती थी—जो प्रार्थना चूल्हे के कल्याण की इच्छा से सम्बद्ध होती थी, वह पहले पूरी होती थी। चूल्हे को संश्रय का मान्य ग्रधिकार मिला हुग्रा था, जो बहुत से देशों में ग्रब भी पूरी तरह माना जाता है। पर इसके ग्रलावा वह परिवार-पिता का सिंहासन था, उसके शासन का दृढ़ केन्द्र। ग्राज एक कहावत के रूप में हर ग्रंग्रेज अपने घर को ग्रपना किला मानता है, यह उसी भावना का एक ग्रवशेष है, जिससे वैदिक, ग्रीक ग्रौर इतालवी प्रजातियां प्रेरणा प्राप्त करती थीं। ऐसा पुरुष ग्रपने घर का ग्रनन्य सम्राट् था ग्रौर ग्रपने सभी ग्रधीनस्थों, पशुग्रों, दासों, बच्चों, पत्नी या पत्नियों के जीवन-मरण पर उसे पूरी शक्ति प्राप्त थी, वह वेदी का पुजारी था, सभी दिव्य चीजों का प्रबन्धक ग्रौर व्याख्याता था ग्रौर सामान्य मर्त्यों से उसका स्तर ऊंचा था। जरूरत पड़ने पर ग्रपने साम्राज्य में नई ग्राग जलाने का ग्रधिकार उसी को मिला हुआ था—चकमक ग्रौर लोहे के निम्न तरीके से नहीं, बल्कि 'दो पवित्र काष्ठों को साथ-साथ रगड़ने के पवित्र तरीके से।' इस तरह जब घृणित फारसी ग्राक्रांताग्रों को देखकर ग्रीक घरों की ग्रग्नि अपवित्र हो जाती थी, तो सभी चूल्हों में नई आग की व्यवस्था की जाती थी। चूल्हे के साथ कम से कम दूसरा स्थान पत्नी या मां को मिला हुग्रा था ग्रौर समय बीतते-बीतते यह प्रभाव बढ़ता गया।[1]

---

1. यात्री पलास जब मंगोलों के बीच घूम रहा था, तो उन्होंने उसे बताया था कि यदि कोई स्त्री चूल्हे ग्रौर शय्या के बीच में रहे, तो फिर वह चाहे जितनी गन्दी गालियां दे ग्रौर ग्रपमान करे, कोई उसे छू भी नहीं सकता। वेदों में हम देखते हैं कि यज्ञाग्नि की तीन परिक्रमा करने के बाद ग्रौर जब उसे पवित्र जल से ग्रामन्त्रित किया जा रहा हो, उस समय लपटों के बीच हाथ डालकर नववधू एक प्रकार का मेध्यत्व प्राप्त करती थी। जर्मनी ग्रौर स्लाव देशों में गिरिजाघर से ग्राकर जब वधू ग्रपने नए घर में प्रवेश करती है, तो वहाँ जलती हुई वेदी की ग्रग्नि को प्रणाम करती है ग्रौर उसकी तीन बार प्रदक्षिणा करती है, ग्रपने तीन बाल जला देती है ग्रौर एक लाल धागा ग्रपनी देह पर बाँध लेती है। जो काम ग्राज गृहस्वामिनी के प्रसंग में जर्मनी में नहीं होता, वह घर में उसके नौकरों के प्रसंग में किया जाता है। जब वे ग्राते हैं तो चौके की ग्राग के चारों ग्रोर उनको दौड़ाया जाता है, कालिख से उनका स्पर्श किया जाता है ग्रौर उनके नंगे पैरों पर राख को छिड़का जाता है।

अथर्वन् और उनका परिवार

आग के पहले आविष्कर्ता अथर्वन् के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। युगारम्भ करने वाली उनकी खोज ने समाज में उनको तत्काल बहुत ऊंचा स्थान प्रदान कर दिया। ऋग्वेद और दूसरे वेदों में अथर्वन् शब्द और इस शब्द के ये रूप देखने को मिलते हैं :—

ऋग्वेद

अथर्वणः 6. 16. 14; 10. 48. 2
अथर्वणा 10. 21. 5
अथर्वणि 8. 9. 7
अथर्वभ्यः 6. 47. 24
अथर्ववत् 6. 12. 17; 10. 87. 12
अथर्वा 1. 80. 16, 83, 5; 6. 16. 13; 10. 92. 10. 10. 120. 9
अथर्वाणः 11. 11. 2, 10. 14. 6

अथर्ववेद

अथर्व-अङ्गिरसः 10. 7. 20
अथर्वणः 10. 2. 27
अथर्वाणं 16. 8. 16
अथर्वणि 20. 140. 2
अथर्वणे 7. 109. 1
अथर्वन् 5. 11. 2
अथर्ववत् 8. 3. 21
अथर्वा 5. 2. 9; 10. 2. 26, 10. 12, 17; 18. 3. 54; 19. 4. 1, 54. 5; 20. 25. 5, 107. 12
अथर्वाणः 4. 37. 1; 10. 6. 20; 11. 6. 13; 18. 1. 58
अथर्वाणं 4. 1. 7; 5. 11. 11; 7. 2. 1

यजुर्वेद

अथर्वणः 11. 33
अथर्वभ्यः 30. 15
अथर्वा 8. 56; 11. 32; 15. 22
अथर्वाणः 19. 50

ऊपर सबसे पहले मैंने जो ऋचा (ऋग्वेद 6।16।15) अध्याय के शुरू में उद्धृत की थी जिसमें अथर्वा को आग का आविष्कर्ता बताया गया था, जिसने

कमल दल पर आग निकाली[1], वह यजुर्वेद में दो जगह (11. 32, 8. 22) आती है। इनमें से पहली के साथ एक पंक्ति और है, जिसमें बताया गया है कि मन्थन या रगड़ द्वारा आग सबसे पहले अथर्वा ने ही प्राप्त की थी।[2] ग्रिफिथ ने यजुर्वेद के इस मन्त्र का जो अनुवाद किया है, उसका हिन्दी अभिप्राय यह है:—

> आप पुरीष्य (पशु-पोषक हैं), विश्व भर के आश्रय हैं, अथर्वन् ने ही हे अग्नि, सबसे पहले आपका मन्थन किया था, हे अग्नि, अथर्वन् ने कमल से मन्थन करके पुरोहित विश्व के सिर से तुम्हारा आविर्भाव किया।

"यजुर्वेद के श्लोक (8: 56) पर ग्रिफिथ की जो टिप्पणी है, उसका हिन्दी भाव यह है:

"अथर्वन्, एक प्राचीन ऋषि, जिसने पहले आग प्राप्त की और अग्निदेवता की पूजा शुरू करवाई।" अथर्वन् या अथर्वा इतिहास पुरुष हैं। वह अथर्ववेद के 1612 मन्त्रों के ऋषि हैं। उनका सम्बन्ध अंगिरस गोत्र से है, इसलिए उन्हें अथर्वांगिरस भी कहा जाता है। अथर्वन् द्वारा अग्नि की खोज किए जाने के बाद बहुत से अंगिरस गोत्रीय अग्नि के मन्थनकर्ता के रूप में प्रसिद्ध हुए। लकड़ी से सफलतापूर्वक आग को मन्थन करके निकालना आसान काम न था और ऐसा लगता है कि आग पैदा करने की कला में इन अंगिरसों ने विशेषज्ञता प्राप्त कर ली थी। इनकी बड़ी आवभगत होती थी। यह बात भी बड़ी रोचक और उल्लेखनीय है कि इन अंगिरसों के नाम के ही कारण जलते हुए कोयले का नाम अंगार पड़ा। यद्यपि एक ऋषि या द्रष्टा के रूप में अथर्वन् का सम्बन्ध ऋग्वेद की किसी ऋचा से नहीं है, लेकिन ये बहुत से आंगिरस अनेक ऋचाओं के ऋषि हैं। इन आंगिरसों से सम्बद्ध ऋग्वेद के सूक्तों का लेखा-जोखा नीचे दिया जा रहा है:—

अंगिरस्	सूक्त	मंत्र संख्या
अभीवर्त	10. 174	5
अमहीयु	9. 61	30
अयास्य	9. 44-46;10. 67-68	42

1. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः
ऋ० 6. 16. 13, यजु० 15. 22

2. पुरीष्योऽसि विश्वम्भराऽअथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत मूर्ध्नो विश्वस्य बाघतः॥ यजु० 11. 32

अथर्ववेद का यह मन्त्र देखिए—
यामाहुतिं प्रथमामथर्वा या जाता या हव्यमकृणोज्जातवेदाः।
तां त एतां प्रथमो जोहवीमि ताभिष्टुतो वहतु हव्यमग्निरग्नये स्वाहा। अथर्व० 19. 4. 1

अंगिरस	सूक्त	मन्त्र संख्या
उचथ्य	9. 50-52	15
ऊरु	9. 108	2
ऊर्ध्वसद्मा:	9. 108	2
कुत्स	1. 94-98,101-115;9. 97	226
कृतयशा:	9. 108	2
कृष्ण	8. 85. 87;10. 42-44	53
घोर	3. 36	1
तिरश्चि	8. 95,96	30
दिव्य	10. 107	11
धरुण	5. 15	5
ध्रुव	10. 173	6
नृमेध	8: 89,90,98,99;9. 27,29	45
पवित्र	9. 67,73,83	25
पुरुमीढ़	8. 71	15
पुरुमेध	8. 89,90	13
पुरुहन्मा	8. 70	15
पूतदक्ष	8. 94	12
प्रचेता	10. 164	5
प्रभूवसु	5. 35,36, 9. 35,36	26
प्रियमेध	8. 2. 68 ,69, 87;9. 28	89
बरु	10. 96	13
बिन्दु	8. 94; 9. 30	18
बृहन्मति (बृहस्पति)	9. 39-40; 10. 71,72	32
भिक्षु	10. 117	9
मूर्धन्वान्	10. 88	19
राहूगण	9. 37,38	12
विरूप	8. 43, 44, 75	79
विहव्य	10: 128	9
वीतहव्य	6: 25	19
व्यश्व	8: 26	25
शश्वती (स्त्री०)	8. 1	1
शिशु	9. 112	4
श्रुतकक्ष	8. 92	33
संवनन	10: 191	4
संवर्त	10. 172	4

अंगिरस	सूक्त	मन्त्रों की संख्या
सप्तगु	10. 47	8
सव्य	1. 51-57	72
सुकक्ष	8: 92,93	67
सुदीति	8. 71	15
हरिमन्त	9. 72	9
हिरण्यस्तूप	1. 31-35; 9. 4. 96	61
	योग	1, 218

अथर्ववेद में अंगिरसों और अथर्व लोगों के ये उल्लेख मिलते हैं।

अंगिरसः	मन्त्रों की संख्या
अंगिरा	85
अंगिरा प्रचेता	6
प्रचेता यम	6
अथर्वा	1612
अथर्वांगिरस्	52
तिरश्चि अंगिरस्	5
प्रत्यंगिरस्	32
भृगु अंगिरस्	231
भृगु अथर्वणः	7
योग	2036

नीचे हम एच० एच० विल्सन द्वारा किए गए ऋग्वेद के पहले सूक्त (1. 1. 6) के उनके अनुवाद पर उनकी टिप्पणियों में से उद्धरण (का अनुवाद) दे रहे हैं। विल्सन का कहना है कि इस ऋचा[1] में अंगिरस् शब्द का प्रयोग अग्नि

---

1. यदङ्गदाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः।। —ऋ० 1. 1. 6
मनुष्यदग्ने अङ्गिरस्वदंगिरो ययातिवत्सदने पर्ववच्छुचे।। —ऋ० 1. 31. 17
(हे विशुद्ध अग्नि, तुम चलते रहते हो, वेदी सदन में अपने सन्मुख जाओ, जैसे मनु, अंगिरस, ययाति और अन्य लोग पहले जाया करते थे)
तमित्। सुहव्यमङ्गिरः। —ऋ० 1. 74. 5
(उस शक्तिशाली अंगिरस को लोग अपने यज्ञ में भाग्य वाला बताते हैं)।
अधा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम्। —ऋ० 1. 75. 2

[अगले पृष्ठ पर—

के पर्याय के रूप में किया गया है, जबकि उनका नाम मनुस्मृति और सभी पुराणों में एक ऋषि या प्रजापति के रूप में लिया जाता है और उन्हें ब्रह्मा का एक रूप आदिम मानस-पुत्र बताया जाता है। यह वेदों में प्राय: इस अर्थ में एक ऋषि के नाम और एक परिवार या शाखा प्रवर्तक के रूप में लिया गया है। भाष्यकार सायण अंगिरस् के अंगार से सारूप्य के प्रसंग में यास्क का उद्धरण देता है और ऐतरेय ब्राह्मण की एक पंक्ति का उद्धरण दिया जाता है, जिसमें कहा गया है जो अंगार (कोयला) थे, वे अंगिरस् बन गए (ये अंगारा आसंस्तेऽङ्गिरसस्ते ऽभवन्)। महाभारत के वन पर्व में युधिष्ठिर के एक प्रश्न के उत्तर में मार्कण्डेय ने जो कथा कही है उसमें भी कुछ प्रच्छन्न और अस्पष्ट रूप में अंगिरस् का अग्नि के साथ कृत्य में, व्यक्तित्व में नहीं, तादात्म्य स्थापित किया गया है और कहा गया है कि प्राचीनकाल में अग्नि के वन में चले जाने पर और उसके कृत्य बन्द हो जाने पर अंगिरस् बन गए और हव्य को देवताओं तक पहुँचाने लगे। इस प्रश्न से ही संगत एक प्रश्न युधिष्ठिर ने और पूछा है कि अग्नि के एक होने पर भी अनेक रूप कैसे हो जाते हैं। इसके उत्तर में मार्कण्डेय ने बताया है कि अग्नि ने तपस्यारत होकर अपना काम छोड़ दिया तो मुनि अंगिरस् ने उनका स्थान सम्भाला और जब उन्होंने अग्नि को अपना दायित्व वापस लेने के लिए समझा लिया, तो वह अग्नि के धर्मपुत्र बन गए, इसलिए उनके वंशज आंगिरस भी अग्नि या अग्नियों के वंशज माने जाते हैं।

धीरे-धीरे अग्नि का सम्बन्ध पूर्णमासी, अमावस्या या खास-खास अवसरों जैसे अश्वमेध, राजसूय, पाक-यज्ञ, दाह-संस्कार या दाह-अग्नि, प्रायश्चित अग्नि आदि से हो गया। इस कथा का लक्ष्य शायद अग्नि पूजक संगठन की बात करना है, जो पहले-पहले आदिम और सीधासादा था। फिर यह कथा अङ्गिरस और उसके शिष्यों द्वारा विभिन्न अवसरों पर उसके उपयोग की बात कहती है।

महाभारत में पूर्वोद्धृत एक ही कथा नहीं है। एक दूसरी कथा भी है। इसमें अग्नि का पहले-पहल 'सह' नाम बताया गया है। वह समुद्र में जाकर छिप

—पिछले पृष्ठ से]

(हे श्रेष्ठ विद्वान् अग्नि, तुम अंगिरसों में प्रधान हों, हम तुम्हारा आह्वान करते हैं)

दिवस्पुत्रा अंगिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः। —ऋ० 4. 2. 15

(हम अंगिरस द्यौ या स्वर्ग के पुत्र जगमगाते रहें और समृद्धि-पर्वतों का विभाजन करते रहें)

स नो जुषस्व समिधानो अंगिरो···। —ऋ० 5. 8. 4

(हे अंगिरस् प्रज्वलित होने के बाद आप हम पर अनुग्रह करें)

कया ते अग्ने अङ्गिरः···। —ऋ० 8. 84. 4

(दिव्य अग्नि, अंगिरस, जो अन्न के पुत्र हैं)

गई, ताकि उसे भरत के पुत्र नियत के संसर्ग में दाह-संस्कार में भाग न लेना पड़े। मूल में 'भयात्' (भय से) कहा गया है, जब कि टीकाकार का कहना है 'उसके संसर्ग से अपवित्र हो जाने के भय से या अपने रिश्ते की लज्जा से क्योंकि नियत स्वयं उसका पौत्र था।' जब देवता अग्नि की खोज करते हुए आए, तो उसने अथर्वन् को, जिसे अङ्गिरस् भी कहते थे अपना स्थानापन्न नियुक्त किया। उसने कुछ समय अग्नि का काम चलाया, जब तक अग्नि को अपने काम पर वापस आने के लिए राजी न कर लिया गया। यद्यपि इस कथा को वैदिक सूत्रों के आधार पर गढ़ा गया है, पर उसके ब्यौरे अरोचक और परस्पर विरोधी तरीके से गूंथे गए हैं' (एच. एच. विल्सन)।

इस सबसे स्पष्ट है कि यदि युक्ति संगत व्याख्या की जाए तो अथर्वन् ही वह व्यक्ति था जिसने आग का अविष्कार किया। चूंकि उसने रगड़ या लकड़ी के मन्थन के तरीके द्वारा आग प्राप्त की थी, इसलिए लकड़ी के टुकड़े को आग का आवास बताया गया है (आज हम जानते हैं कि मन्थन के समय की जाने वाली यन्त्र क्रिया ही मूलतः ऊष्मा में बदल जाती है और यह ऊष्मा ही ताप को ज्वलन-अंक तक बढ़ा देती है और तब फिर लकड़ी कारबन के साथ आक्सीजन के संयोग में अंतर्ग्रस्त रासायनिक ऊर्जा के कारण जलने लगती है)। इसलिए लकड़ी से समृद्ध वनों को अग्नि का घर बताया जाता है (अनुश्रुति है कि अग्नि वन में चली गई) और अंगिरस् उसे वन (काष्ठ) से लाए। अथर्वन् अंगिरस गोत्र के ही थे, इसलिए उनको भी अंगिरस कहा जाता है। रगड़कर आग पैदा करने की कला इतनी लोकप्रिय और उपयोगी बन गई कि आग का मन्थन करने वालों की मांग बहुत बढ़ गई। उनकी समग्र जाति को सम्मानपूर्वक आंगिरस कहा जाता था (जैसे हमारे आज के बिजली विशेषज्ञ)। आग के चारों ओर एक नई सभ्यता का विकास हुआ। ये अग्नि-मन्थक बहुत ही शिक्षित व्यक्ति थे। वे पुजारियों का काम करते थे, कवि थे, चिकित्सक थे और वस्तुतः समाज के 'शिष्ट-जन' थे।

आग की खोज से पहले मनुष्य निर्धन और असहाय था। इस असहाय और निराश अवस्था के बीच यजुर्वेद की इस आशापूर्ण वाणी में किसी की आवाज गूंज उठी[1]—

स्वर्ग तुम्हारी पीठ पर है, धरती तुम्हारा आधार है, वायु तुम्हारी आत्मा है और समुद्र तुम्हारी योनि है। —यजु० 11. 20

उसने यह सलाह सुनी। आदमी ने न केवल लकड़ी से आग का मन्थन

---

1. द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षं समुद्रो योनिः।
विख्याय चक्षुषा त्वमसि तिष्ठ पृतन्यतः॥ —यजु० 11. 20

किया, उसने उसे धरती से खोदकर, पत्थरों में से, वज्र (चकमक पत्थर) से भी निकाला। इस प्रसंग में यजुर्वेद के नीचे लिखे मंत्र महत्वपूर्ण हैं :—

जब हम धरती को खोदकर उसकी गोद से अग्नि निकालें तो वह हमारे अनुकूल रहे।[1]

—यजु 11. 21

वहां से हम अग्नि को खोदें, जो देखने में सुन्दर है, और हम उच्चतम आधार तक, स्वर्ग तक चढ़ें।[2]

—यजु० 11 .22

जैसा अंगिरस् करते थे, वैसे ही हे पुरीष्य अग्नि, मैं धरती से तुमको खोदकर निकालता हूं।[3]

—यजु० 11. 28

इस प्रकार अंगिरस न केवल लकड़ी से अग्नि पैदा करते थे, बल्कि वे उसे पत्थरों से या धरती से भी निकालते थे। दोनों स्रोत इन दो शब्दों से जुड़े हुए हैं :—

(एक) अग्निमन्थन या रगड़ द्वारा आग पैदा करना—जब आग लकड़ी से पैदा की जाती थी।

(दो) अग्निखनन धरती से आग को खोदकर निकालना—जब आग पत्थर, सख्त मिट्टी या चकमक पत्थर से पैदा की जाती थी।

आगे चलकर हम खुदाई के उन साधनों का जिक्र करेंगे, जो वैदिक युग में मुख्यतः जड़ी-बूटियों के खोदने के ही लिए प्रचलित थे।

अंगिरसों सम्बन्धी इस विवरण के अन्त में मैं ऋग्वेद के ऐसे कई मंत्रों का उल्लेख करूंगा, जो अंगिरसों के कार्य क्लाप से सम्बद्ध अनेक घटनाओं के वारे में हैं। हम नहीं जानते कि इन मन्त्रों का असली अभिप्राय क्या है, क्योंकि मूल वैदिक शब्दावली के साथ आज हमारा कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहा है। व्याख्याकारों ने जगह-जगह पर अनेक कथासूत्रों से इनको जोड़ा है, जो कई जगह पर असली अर्थ से जरा भी संगत नहीं मालूम पड़ते।

---

1. वयं स्याम सुमतौ पृथिव्याऽअग्निं खनन्तऽउपस्थेऽअस्याः ॥ —यजु० 11. 21
2. ततः खनेम सुप्रतीकमग्निं स्वोरुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम् —यजु० 11. 22
3. पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि।
ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम्
शिवं प्रजाभ्योऽहिꣳसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः।
—यजु० 11. 28

पणियों द्वारा गायों की चोरी और अंगिरस

अंगिरसों ने पहले (इन्द्र के लिए) हव्य तैयार की, और फिर सुन्दर समारोह के साथ जली हुई अग्नि से (उसकी पूजा की), (समारोहके) आयोजकों को पणियों की सारी सम्पत्ति प्राप्त हो गई, जिसमें घोड़े थे, गाएं थीं और दूसरे पशु थे।[1] —ऋ० 1. 83. 4

अथर्वन् ने पहले यज्ञ द्वारा (चोरी गए पशुओं का) मार्ग खोजा, फिर पवित्र कृत्यों के प्रवर्तक उज्ज्वल सूर्य का जन्म हुआ। अथर्वन् ने पशुओं को फिर से प्राप्त किया, काव्य (उशनस्) उसके साथ थे। हमें अमृत (इन्द्र) की पूजा करनी चाहिए, जिसका जन्म (असुरों का) विरोध करने के लिए हुआ है।[2]

—ऋ० 1. 83. 5

अंगिरस् (ने अश्विनी कुमारों की स्तुति की) : हे अश्वि द्वय, उस (साधन) से निर्विकार मन वाले होकर तुम (स्तुति से) प्रसन्न हुए और फिर वहां से देवताओं के आगे-आगे चोरी गए पशुओं को प्राप्त करने के लिए गुफा तक गए, इसके द्वारा तुमने वीर मनु को भोजन प्रदान कर उनका पोषण किया, हे अश्वि-द्वय, उनके साथ स्वेच्छा से यहां पधारो।[3] —ऋ० 1. 112. 18

हे अंगिरस् के वंशज बृहस्पति, जब पर्वत ने तुम्हारी कीर्ति के लिए गायों के झुंड को चुराया था, तो तुमने उनको मुक्त किया और अपने मित्र इन्द्र के साथ पानी के समुद्र को लाए, जो अन्धकार से आवृत था।[4] —ऋ० 2. 23. 18

हमारे पूर्वज अंगिरसों ने अपनी (अग्नि की) स्तुतियों से बली और साहसी राक्षस (पणि) को शब्द से डरा दिया, उन्होंने भव्य स्वर्ग के लिए हमारे वास्ते एक मार्ग बनाया और हमारे लिए प्राप्य दिन (आदित्य) को और (चोरी गई हुई) गायों को प्राप्त किया।[5] —ऋ० 1. 71. 2

व्याख्याकारों ने गायों, पणियों, अहि, इन्द्र, वृत्र, अंगिरस और सरमा के अलग-अलग अर्थ किए हैं और यहां पर उनके ब्यौरों को लेने का अवसर नहीं है। एक कथा है कि पणि नामक असुरों ने देवताओं की गाएं चुरा लीं और एक

---

1. आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः। —ऋ० 1. 83. 4
2. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि —ऋ०1. 18. 5
3. याभिरङ्गिरो मनसा निरण्यथोऽग्रं गच्छथो विवरे गोअर्णसः।
याभिर्मनुं शूरमिषा समावतं ताभिरुषु ऊतिभिरश्विना गतम्। —ऋ० 1. 112. 18
4. तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्। —ऋ० 2. 23. 18
5. वीलु चिद् दृह्ला पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण। —ऋ० 1. 71. 2

दूसरे पाठ के अनुसार अंगिरसों की गाएं चुरा लीं और उनको छिपाकर एक गुफा में ले जाकर रखा, जहां पर उनका पता इन्द्र ने सरमा नामक कुतिया की मदद से लगाया। ऋग्वेद 10. 108 में कुतिया सरमा और राक्षस पणियों के बीच एक संवाद दिया गया है। ऋग्वेद 1. 11. 5 में वल और उसकी गुफा का उल्लेख है।[1] स्कोलियास्ट का कहना है कि वल एक राक्षस था, जिसने देवताओं की गायों को चुराकर एक गुफा में छिपा दिया था। इन्द्र ने अपनी सेना के साथ उस गुफा को घेर लिया और पशुओं को छुड़ा लिया। अनुक्रमणिका में उद्धृत कथा के अनुसार जिन पणियों को पहले गाय चुराने वाला बताया गया था, वे वास्तव में बल के सैनिक थे और उन्होंने ही गायों को चुराया था और गुफा में छिपाया था। निरुक्तकार यास्क पणियों को वणिक् बताते हैं। वस्तुतः गाएं बृहस्पति की थीं। बृहस्पति सूर्य का नाम है और गाएं उसकी किरणें हैं। असुरों से अभि-प्राय अन्धकार से है, जो धरती को घेरे हुए है। इन्द्र, अंगिरस् और अन्य देवता अन्त में अपने शत्रुओं के ऊपर विजय प्राप्त करते हैं और इस तरह प्रकाश या किरणों को फिर से प्राप्त किया जाता है। वृत्र (जिसका अर्थ 'काला बादल' है) की इन्द्र द्वारा (जिसका अर्थ सूर्य है) पराजय का भी यही अर्थ निकलता है।

अथर्वन्—अंगिरस द्वारा खोजी गई, आदमी द्वारा पैदा की जाने वाली आग भी अंधेरे को दूर करती है और उक्त उद्धरण में बताया गया है कि अंगि-रस् ने भी असुरों द्वारा चुराकर गुफा में छिपाई गई गायों का पता लगाने में मदद दी।

अथर्वन् और दध्यंच्

विल्सन के अनुवाद पर आधारित ऋग्वेद के इन नीचे लिखे मंत्रों का यह अर्थ देखिए।[2] —ऋग्वेद 6. 16. 12-15

> हे दिव्य अग्नि, हमें (धन), सुन्दर, महान् और (सुपठित) सुयोग्य पुत्र प्रदान करो। (12)
>
> ऋषि अथर्वन् ने तुमको कमल से मन्थन करके विश्व के शीर्ष से तुम्हारा आविष्कार किया था। (13)

---

1. त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः। —ऋ० 1. 11. 5
2. स नः पृथुः श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्यम्।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः।
तमु त्वा दध्यङ्ऋषिः पुत्र ईधे अथर्वणः। वृत्रहणं पुरन्दरम्।
तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्। धनञ्जयं रणे रणे॥
—ऋ० 6. 16. 12—15

अथर्वन् के पुत्र ऋषि दध्यञ्च् ने वृत्र के हन्ता और असुर के पुरों को नष्ट करने वाले इन्द्र को ज्योतित किया। (14)

दस्यु के हन्ता और हर युद्ध में विजय पाने वाले तुमको ऋषि पाथ्य ने ज्योतित किया। (15)

इन मन्त्रों का उद्धरण देते समय यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि बहुत से व्याख्याकार सुप्रसिद्ध वैदिक निरुक्तकार यास्क का मत मानते हुए अंगिरस्, अथर्वन्, दध्यञ्च्, पाथ्य, भृगु आदि को ऐतिहासिक नामों के रूप में मानने को तैयार नहीं है। उन्होंने इन शब्दों की व्युत्पत्ति दी है। महीध्र शतपथ (6. 4. 2. 2) का एक उद्धरण देकर बताता है कि अथर्वन् का अर्थ प्राण[1]—प्राणवायु या जीवन—है और पुष्कर का अर्थ पानी है। उसने मन्त्र 13 का अर्थ किया है कि प्राणवायु ने पानी से अग्नि या प्राणी-अग्नि प्राप्त की। यास्क के अनुसार अंगिरस् का अर्थ संन्यासी है, जिसे प्राण वायु पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त होता है।

अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् का उल्लेख बहुत से मन्त्रों में मिलता है[2] :—

पुराने जमाने की तरह से उपासना के सभी कार्यों में मनु के पिता अथर्वा या दध्यञ्च् तल्लीन हुए। —ऋ० 1. 80. 16

जब तुमने उनको घोड़े का सिर अर्पित किया तो अथर्वा के पुत्र दध्यञ्च् ने तुमको रहस्य सिखाया। —ऋ० 1. 116. 12

हे अश्वि द्वय, तुमने अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् (के सिर) के स्थान पर घोड़े का सिर लगाया। — ऋ० 2. 17. 22

अग्न्याधान या पवित्र अग्नियों की स्थापना

अग्न्याधान (या अग्न्याधेय) संस्कार नये गृहस्थ द्वारा यज्ञ-अग्नियों की स्थापना के लिए किया जाता है और नियमतः कृष्ण प्रतिपदा को मनाया जाता है। कुछ आचार्य पूर्णिमा के दिन भी इस संस्कार को करने की अनुमति देते हैं,

---

1. आपो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वा। —श० ब्रा० 6. 4. 2. 2
2. यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्धियमत्नत —ऋ० 1. 80. 16
   दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच। ऋ० 1. 116. 12
   आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्। —ऋ० 1. 117. 22
   यहाँ पर मातरिश्वन् के पुत्र दूसरे दध्यञ्च् का जिक्र है, जो अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् से भिन्न है।
   ···गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने —ऋ० 10. 48. 2

[अगले पृष्ठ पर—

कदाचित् इसलिए कि नवविवाहित दंपती जितनी जल्दी हो सके अपने पवित्र कृत्यों का पालन शुरू कर दें। साथ ही शुक्ल प्रतिपदा और कुछ नक्षत्रों के संयोग पर यह संस्कार करने से गृहस्थ को विशेष लाभ होते हुए बताए गए हैं, यद्यपि शतपथकार इसका ज्यादा समर्थन नहीं करते, बल्कि यह कहते हैं कि सद् गृहस्थ जब भी उसे यज्ञ करने की इच्छा हो अपनी अग्नि का आधान कर ले।

अग्न्याधान के सामान्य संस्कार में, जैसे कि पूर्णिमा और शुक्ल प्रतिपदा के यज्ञ में, दो दिन लगते हैं, इसमें पहले में आरम्भिक संस्कार होते हैं और दूसरे में—सम्बन्धित अष्टमी के दिन—प्रमुख संस्कार करने होते हैं, जिनका आरम्भ रगड़ द्वारा पवित्र अग्नि पैदा करके किया जाता है। (शतपथ 2. 1. 4. 8 आदि, एगलिंग का अनुवाद)।

यजमान चार ऋषियों—ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और अग्नोध्र या अग्नीधा का चुनाव करके उनके साथ दो छदानों 'अग्नि गृहों' का निर्माण करने के लिए अग्रसर

—पिछले पृष्ठ से]

प्रियमेधः, प्रिया अस्य मेधा। यथैतेषां ऋषीणामेवं प्रस्कण्वस्य भृगु ह्वानम, प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः, कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम्। अर्चिषि भृगुः सम्बभूव। भृगुः भृज्यमानः, न देहे। अङ्गारेष्वङ्गिरा। अङ्गाराः अङ्कनाः। अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुस्तस्मादत्रिः, न त्रयः इति। विखननाद् वैखानसः। भरणाद् भारद्वाजः।

—नि० 3. 3. 17 निघण्टुक काण्ड, (ऋ० 1. 45. 3 पर)

दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा, प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा। अथर्वा व्याख्यातः, मनुर्मननात्। तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्रयामृचि यामथर्वा मनुष्पिता। ऋ० 1.80. 16 इस प्रमाण के अनुसार दध्यञ्च्. अथर्वन् और मनु तीनों शब्द आदित्य (सूर्य) के लिए आते हैं। दध्यञ्च् शब्द का अर्थ है, ध्यान करने योग्य या वह जो ध्यान करता है (ध्यान+अञ्च्+क्विन्) —नि० 12. 3. 33· 21-23

अथर्वाणो अथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः। तेषामेषा साधारणा भवति-'अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः'। —ऋ० 10. 14. 6

जो चले नहीं, वह अथर्वा है अर्थात् सूर्य (अथर्व=नञ्+थर्व्+कनिन्)

—उणादि 1. 159

मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः, क्रोधकर्मणः, वधकर्मणो वा।

मन् धातु तीन अर्थों में आती है—चमकना, क्रोध दिखाना, और मारना।

—नि० 10. 3. 29. 18

सूर्य चमकता है और कीटाणु पैदा करने वाली बीमारी को नष्ट करता है और वह मनु है (मनु=मन्+उ)

—उणादि 1. 69

सायण अंगिरस शब्द की व्युत्पत्ति गत्यर्थक अंग धातु से करता है और अंगिरस का अर्थ 'जाने वाले' हैं, जो तेजी से जाते हैं। —ऋ० 1, 100, 4

होता है। उनका ठीक-ठीक स्थल तय करने के लिये अध्वर्यु पहले पश्चिम से पूर्व की ओर पूर्वी रेखा खींचता है (देखिए 1. 2. 5. 14) और इस पर एक दूसरे से दूर 8, 2 या 12 प्रक्रम या कदम अङ्कित करता है, जो गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि-स्थल के केन्द्र होते हैं। फिर वह उनकी बाहरी रेखाएं अंकित करता है और दोनों का क्षेत्रफल एक वर्ग अरत्नि होता है एक वर्गाकार और एक गोलाकार। दक्षिणाग्नि या अन्वाहार्यपचन की वेदा अगर जरूरी हो, तो उसका भी क्षेत्रफल तो यही होता है, पर वह अर्द्ध-वर्तुल होती है और गार्हपत्य-अग्नि के दक्षिण की ओर होती है। गार्हपत्य अग्निगृह पश्चिम से पूर्व या दक्षिण से उत्तर की ओर बनाया जाता है और दक्षिण की ओर एक द्वार होता है, जिससे गार्हपत्य और दक्षिण दोनों अग्नियों को समेटा जा सके। आहवनीय अग्निगृह पश्चिम से पूर्व की ओर ही बनाया जाता है और पूर्व से एक दरवाजा होता है। इसमें आहवनीय अग्नि होती है और पश्चिम की ओर वेदी लगी होती है और इसे उत्तर और दक्षिण की ओर अंशतः ढांक लेती है। दोनों गृह भीतर से एक दूसरे की ओर खुलते हैं और आग के चारों ओर घूमने के लिए काफी जगह छोड़ दी जाती है।

फिर अध्वर्यु अस्थायी अग्नि का प्रबन्ध करता है, जो या तो रगड़ से पैदा की जाती है या गांव में कुछ निर्दिष्ट सूत्रों से मंगाई जाती है। फिर गार्हपत्य अग्नि गृह की पांच प्रकार से पूजा करके वह उसमें अग्नि को रखता है। सूर्यास्त के समय यजमान आहवनीय अग्निगृह के पूर्व में बैठकर देवताओं और पितरों को अभिमन्त्रित करते हुए कहता है, 'देवताओ, पितरो, पितरो, देवताओ, मैं यजन कर रहा हूँ, मैं जो भी हूँ, न तो मैं उसको छोडूंगा जिसका मैं पुत्र हूं, हव्य मेरी है, श्रम मेरा है, यज्ञ मेरा है।' फिर वह आहवनीय घर में पूर्व से प्रवेश करता है। उसमें से होकर गार्हपत्य गृह में जाता है और आग के पश्चिम की ओर बैठता है। उसकी पत्नी उसी समय गार्हपत्य गृह में दक्षिण से प्रवेश करती है और उसके दक्षिण की ओर बैठती है—दोनों के मुख पूर्व की ओर होते हैं। तब अध्वर्यु यजमान को लकड़ी (अरणी) के टुकड़े देता है, जो यथा सम्भव शमी वृक्ष में पैदा हुए अश्वत्थ की होती है। अगले सवेरे इनमें से एक (ऊपर वाली) रगड़ कर दूसरी (नीचे वाली) के एक छेद में तेजी से बरमाई जाती है और इस तरह पवित्र अग्नि पैदा (या मन्थन) की जाती है। तब यजमान और उसकी पत्नी क्रमशः ऊपरी और नीची लकड़ी अपनी-अपनी गोद में रखते हैं, फिर वे कुछ स्तवन करते हैं और ऋत्विजों ओर लकड़ियों की पूजा की जाती है और बाद में लकड़ियों को एक आसन पर रख दिया जाता है। फिर गार्हपत्य गृह में एक बकरा रात भर के लिए बांध दिया जाता है, जिसे यजमान यज्ञ के पूरे होने पर अग्नीध्र को भेंट में दे देता है।

सूर्यास्त के बाद अध्वर्यु कूटे हुए चावल के चार बरतन भरता है—हर एक में तीन मुट्ठी चावल होते हैं, और यह मात्रा एक आदमी की खूराक के लिए

काफी समझी जाती है। उनको लाल रंगी हुई बैल की खाल पर रखा जाता है (जिसका बालों वाला सिरा ऊपर होता हैं और गरदन वाला हिस्सा पूर्व की ओर)। इस ओदन से चारों ऋत्विजों के भोजन के लिए चतुष्प्राश्य (या पाप-पुश्रा) अस्थायी गार्हपत्य अग्नि के ऊपर तैयार किया जाता है। जब वह तैयार हो जाता है तो अध्वर्यु पाप (पुए) में एक छेद करता हैं और उसमें घृत डालता हैं। फिर वह तीन जलती हुई समिधाएं हाथ में लेता है, उन पर कुछ घी लगाता है और उनको एक के बाद एक करके शतपथ 2. 1. 4. 5 का पाठ करते हुए अग्नि में छोड़ता है। फिर यजमान ऋत्विजों के पैर पखार कर और गन्धमाल्य से उनका यथोचित सम्मान करके उनसे अपना-अपना हिस्सा खाने के लिए कहता हैं।

रात को यजमान और उसकी पत्नी को जागरण करना होता हैं। रात बीतने पर अध्ययु आग को बुझा देता है या यदि दक्षिणाग्नि स्थापित करनी हो तो वह उसे दक्षिण की ओर ले जाता है और उसे उस समय तक सुरक्षित जगह में रखता हैं, जब तक वह अग्नि तैयार हो जाए। फिर वह लकड़ी की तलवार से वेदी के आर-पार तीन रेखाएं खींचता है और इस संहिता के पहले ब्राह्मण (शतपथ) में बताई गई रीति से चूल्हा बनाने की ओर अग्रसर होता है।[1]

अग्नि के लिए यन्त्र-उपकरण और विश्वामित्र

ऋग्वेद के नीचे लिखे मन्त्र संक्षेप में बताते हैं कि किस प्रकार अथर्वन् द्वारा पहले-पहले यंत्र-प्रक्रिया से पैदा की गई अग्नि का विश्वामित्र ने मन्थन-उपकरण निकाल कर पोषण किया था। ऋ० 3. 29. 1-12 [2]

---

1. जे० एगलिंग, शतपथ ब्राह्मण अनुवाद, भाग 1, 274 (1882)
2. अस्तीदमधिमन्थनमस्ति प्रजननं कृतम्।
एतां विश्पत्नीमा भराग्निं मन्थाम पूर्वथा ।। (1)
अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ।। (2)
उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज इलायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ।। (3)
इलायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि।
जातवेदो निधीमह्यग्ने हव्याय वोलहवे ।। (4)
मन्थता नरः कविमद्वयन्तं प्रचेतसममृतं सुप्रतीकम्।
यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरस्तादग्निं नरो जनयता सुशेवम् ।। (5)
यदी मन्थन्ति बाहुभिर्विरोचतेऽश्वो न वाज्यरुषो वनेष्वा।
चित्रो न यामन्नश्विनोरनिवृतः परिवृणक्त्यश्मनस्तृणा दहन् ।। (6)

[अगले पृष्ठ पर—

1. यह मन्थन का उपकरण तैयार है, (ज्योति का) प्रजनन तैयार है, इस (लकड़ी) को लो, जो विश्व की संरक्षिका है। हम पहले समय की तरह अग्नि का मन्थन करें।

2. जिस तरह गर्भिणी में गर्भ निक्षिप्त रहता है, उसी तरह जातवेदस् दो लकड़ियों में निक्षिप्त है। जागृत लोग रोज-रोज हव्य द्वारा अग्नि का स्तवन करेंगे।

3. विद्वान् ऋत्विज नीचे वाली लकड़ी का मुख ऊपर को करके और ऊपर वाली का मुख नीचे को करके रखे, जिससे वह जल्दी गर्भित होकर लाभकर अग्नि का प्रजनन करे, तब इला का ज्योतित पुत्र, जिसकी ज्योति तमस दूर करती है, मन्थन काष्ठ से पैदा होता है।

4. जातवेदा अग्नि, हम तुझे धरती पर बीच में इला के स्थान पर हव्य प्राप्ति के लिए रखते हैं।

5. हे यज्ञकर्ता, मन्थन द्वारा दूरदर्शी, एकचित्त, विद्वान्, ऊपर, जगमग शृंगों वाले अग्नि को पैदा करो, जो यज्ञ के प्रथम केतु हैं, आनन्द के देने वाले हैं।

6. जब वे अपनी बाहों से अग्नि को रगड़ते हैं, तो जगमग अग्नि लकड़ी से तेज घोड़े की तरह उठ खड़ी होती है और अश्विनी के बहुरंगे रथ की तरह अप्रतिहत गति होती है। अग्नि पेड़-पत्थर को भस्म करती हुई आगे फैलती है।

7. अग्नि पैदा होते ही विद्वान् की तरह चमकती है, क्षिप्रगति, संस्कारों में प्रवीण होती है, विद्वान् उसका यश गाते हैं, वह दानी है, देवताओं के यज्ञ में उसे हव्यवाहक माना है। वह पूज्य और सर्वज्ञ है।

–पिछले पृष्ठ से]

जातो अग्नी रोचते चेकितानो वाजी विप्रः कविशस्तः सुदानुः।
यं देवास ईड्यं विश्वविदं हव्यवाहमदधुरध्वरेषु ॥ (7)
सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः ॥ (8)
कृणोत धूमं वृषणं सखायोऽस्रेधन्त इतन वाजमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून् ॥ (9)
अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ सीदाथा नो वर्धया गिरः ॥ (10)
तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि ॥ (11)
सुनिर्मथा निर्मथितः सुनिधा निहितः कविः।
अग्ने स्वध्वरा कृणु देवान्देवयते यज ॥ (12) —ऋ० 3. 29. 1–12

8. हव्य अपने-अपने क्षेत्र में पहुंचती हैं, क्योंकि हे अग्नि तुम (पुण्य कार्यों के) ज्ञाता हो और होता को यज्ञ का प्रमुख स्थान दिलाते हो, अग्नि, तुम देवताओं के प्रिय हो, देवताओं की अर्चना करो और यज्ञकर्ता को खूब धनधान्य की प्राप्ति कराओ।

9. हे पितरो (लाभ) वर्षक धुएं को पैदा करो, (अग्नि को) पैदा करने में अथक रूप से लगे रहो। वीर अग्नि, शत्रुओं का सामना कर सकती है और देवता उसी से शत्रुओं का सामना करते हैं।

10. अग्नि, हर ऋतु में तुम्हारी यही जगह रहती है, जहाँ पैदा होकर तुम सदा चमकते हो। यह जानते हुए तुम वहाँ रहो और हमारी स्तुति से वृद्धि प्राप्त करो।

11. लकड़ी के गर्भ में रहते हुए अग्नि को तनूनपात् कहते हैं, पैदा हो जाने पर असुर-नाशक नराशंस कहते हैं। भौतिक जगत में (अपनी शक्ति का) प्रदर्शन करने पर मातरिश्वा कहते हैं और उसकी तीव्र गति से वात की सृष्टि होती है।

12. अग्नि जो सुमन्थन से पैदा होती है, अच्छी तरह से रखे जाने पर अच्छी तरह स्थित रहती है। जो दूरदर्शी है, वह हमारे संस्कारों को (दोष रहित) बनाए और भक्त पूजक से देवताओं की पूजा कराए।

इस मन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं, जो गाथी के पुत्र हैं। ऋग्वेद की 501 ऋचाएं उनके नाम से जुड़ी हुई है :

सूक्त	मंत्र संख्या
3. 1-12	140
24-32	117
33	9
34	11
35	11
36	10
37-53	144
57-62	56
9. 67	3
योग	501

फिर विश्वामित्र को इन सप्तर्षियों में से एक माना जाता है : अत्रि (भूमि-पुत्र), कश्यप (मरीच पुत्र), गौतम (राहुगण से सम्बद्ध), जमदग्नि (भृगुपुत्र) भारद्वाज (बृहस्पति शाखा के), वशिष्ठ (मित्रावरुण से सम्बद्ध) और विश्वामित्र (गाथिन् के पुत्र या शिष्य)। ऋग्वेद की 26 ऋचाओं (9. 107) का इन से सम्बन्ध

है। इन सप्तर्षियों का ही सम्बन्ध मन्त्र 10. 137, 1-7 से भी है। विश्वामित्र अथर्ववेद के भी अनेक मन्त्रों के ऋषि हैं:—3. 17; 5. 15-16; 6. 44, 141-142; 20; 1; 1, 6; 7, 4; 8, 3; 11; 13, 4; 19; 20; 1-4; 23-24; 57, 4-7; 86; 102।

विश्वामित्र ही वह व्यक्ति हैं, जिसने मन्थन द्वारा आग पैदा करने के लिए एक साधन खोजा था। ऊपर उद्धृत पहले मन्त्र (3. 29. 1) का अधिमन्थन शब्द मन्थन का ही एक साधन है,[1] जिसमें एक छड़ी, रस्सी आदि को लकड़ी के दोनों टुकड़ों के ऊपर रखा जाता है, जिससे उनके मन्थन में मदद मिले। प्रजनन का सामान्य अर्थ पैदा होना है या इसका मतलब सूखी घास का ढेर है, जिसे लपट को पकड़ने और ले जाने के काम में लाया जाता था। (सामवेद 1. 79)

1. (अधिमन्थनम्) अरण्याः उपरिनिधेयं मन्थानसाधनभूतं दण्डरज्वादिकम्। (प्रजननम्) अग्निजननसाधनभूतं दर्भपिञ्जूलं (कृतं) सम्पादितमस्ति। यद्वा प्रजननं मन्थनदण्डस्य विन्यासविशेषः। यस्मादेतानि। यूपशलाकादीन्यग्निमन्थनसाधनान्याहृतानि सन्ति (सायण)।

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

अथर्व०	अथर्ववेद
ऋ०	ऋग्वेद
यजु०	यजुर्वेद
नि०	निरुक्त
श०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण

अथ तृणैः परिस्तृणाति । द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति शूर्पं चाऽग्नि-
होत्रहवणीं च स्फ्यं च कपालानि च शम्यां च कृष्णाजिनं
चोलूखलमुसले दृषदुपले तद्दश दशाक्षरा वै विराड् वै यज्ञस्तद्
विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति ।

फिर वह चारों ओर तृण बिखेरता है, दो-दो करके पात्र लाता है, सूप
और यज्ञ के स्रुवा, लकड़ी की तलवार, कपाल, शम्या, काले मृग की
छाल, ओखली-मूसल और बड़ी-छोटी सिल को लाता है । ये
संख्या में दस हैं । विराज् में दस अक्षर हैं और
विराज् ही तो यज्ञ का सम्पादन करता है ।

—श० ब्रा० 1. 1. 1. 22

अध्याय : दो

अग्नि के द्वारा यन्त्र-साधनों का आविष्कार

अग्नि और सभ्यता का विकास

आग की खोज मानव सभ्यता के इतिहास में एक बड़ी घटना थी। इससे एक नये युग का जन्म हुआ। इसने नई आदिम खोजों को जन्म दिया। आदमी द्वारा पैदा की गई आग एक बड़ी भारी सफलता मानी गई ; इस कारण उसको उपासना में सूर्य के ही बाद स्थान दिया गया। दिव्य ज्योति में सूर्य का जो स्थान है, मानव की सफलताओं में वही स्थान आग का है। पवित्र आग के चारों ओर ही मानव संस्कृति का विकास हुआ। इसे मान्य अतिथि माना गया और मनुष्य ने अपना सर्वस्व आग के लिए न्यौछावर कर दिया। आग की खोज ने ही दूध खौलाने की प्रक्रिया चलाई और तभी दही को बिलोकर (जिस तरह लकड़ी से आग बिलोई जाती है) घी निकालने की पद्धति चली। यह भी एक बड़ी खोज थी कि इस तरह मक्खन को दूध और दही से निकाला जाए। दूध को दही में जमाना ही एक बड़ी बात थी। बाद में मक्खन को गरम कर घृत या घी की खोज की गई और घर-घर में इसे काफी मात्रा में निकाला जाने लगा। इसलिए अग्नि में सर्वश्रेष्ठ आहुति इस घी की ही दी जाने लगी।

धीरे-धीरे मनुष्य ने खेती करना शुरू किया। उसने अपना हल बनाया और जौ, धान, तिल और धीरे-धीरे बहुत से दूसरे अनाजों की खेती करना शुरू किया। इन अनाजों का अपने लिए उपयोग करने से पहले उसने उसकी आहुतियां अग्नि में दीं, जो सम्मानित अतिथि थी। इस तरह पाक-क्रिया और यज्ञ का साथ-साथ विकास हुआ। पाकशास्त्र और यज्ञशाला की इकाइयों के आस-पास ही परिवार विकसित हुआ। अग्नि-युग में घोड़ा, गाय, बकरी और भेड़ परिवार के ही सदस्य थे। आदमी ने मरे हुए पशुओं की खाल और चमड़े का उपयोग करना भी सीखा और इससे चमड़े की रंगाई की आदिम कला का जन्म हुआ। पौधों के प्राकृतिक रेशों और भेड़ों-बकरियों के बालों से पहले बुनाई और फिर कताई की कला को जन्म दिया। प्राचीन युग के ऋषियों द्वारा एक एक करके की गई इन आश्चर्यपूर्ण खोजों को उस समय की परिस्थितियों में उल्लेखनीय माना जा सकता है। इन आदिम उपकरणों की पहले-पहले, खोज करने

वालों के बारे में किसी भी राष्ट्र में पूरे-पूरे विवरण नहीं मिलते, लेकिन सौभाग्य से वेद मन्त्रों और शतपथ ब्राह्मण में हमें यज्ञ के प्रसंग में उनमें से कुछ चीजों के उल्लेख मिलते हैं।

ब्राह्मण साहित्य

इन यन्त्र साधनों के विवरण से पहले ब्राह्मण साहित्य की संक्षिप्त विवेचना उपयोगी होगी। वैदिक मूलग्रन्थ चार संहिताओं के रूप में मिलते हैं: ऋग्वेद 1028 सूक्तों और 10552 मन्त्रों में, जो दस मण्डलों या आठ अष्टकों और अध्यायों में (हर अष्टक में आठ अध्याय हैं:) बांटे गए हैं। फिर यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता है, जिसमें चालीस अध्याय और 1972 मन्त्र हैं (कण्व संहिता में 2086 मन्त्र हैं)। सामवेद दो भागों में बँटा है, पहले को पूर्वार्चिक और दूसरे को उत्तरार्चिक कहते हैं। पहले में 585 और दूसरे में 1290 मन्त्र हैं और इस तरह कुल संख्या 1875 होती है। इन मन्त्रों की कुल संख्या में 1783 मन्त्र ऋग्वेद से लेकर दुहराए गए हैं, और कुल 92 मन्त्र ही मूलतः सामवेद के हैं। अथर्ववेद के बीस अध्याय और उनमें 5987 मन्त्र मिलते हैं।

वाजसनेयी संहिता के ब्राह्मण को शतपथ ब्राह्मण कहते हैं, क्योंकि इसमें सौ मार्ग या व्याख्यान (अध्याय) हैं। वाजसनेयी संहिता और शतपथ ब्राह्मण दोनों ही दो भिन्न-भिन्न शाखाओं-माध्यन्दिन और काण्व शाखाओं के रूप में मिलते हैं। पिछली शाखा के ब्राह्मण में सत्रह में से तीन अध्याय नहीं मिलते। संहिता और ब्राह्मण दोनों के माध्यन्दिन पाठ का सम्पादन प्रोफेसर वेबर ने किया है। शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन) का अंग्रेजी अनुवाद जूलियस एगलिंग (1883) ने किया है जो एफ. मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' माला में उपलब्ध हैं। इस महान् संहिता के प्रणेता के रूप में याज्ञवल्क्य वाजसनेय का नाम लिया जाता है। आज उपलब्ध गद्य रूपों में ऋग्वेद और उसके ब्राह्मण ऐतरेय के बाद शायद यह सबसे पुराना है।

पवित्र अग्नि की वेदी

याज्ञवल्क्य का संम्बन्ध मुख्यतः शतपथ ब्राह्मण के पांच काण्डों से है। लेकिन अगले पांच काण्डों (5-9) में उनका नाम एक बार भी नहीं आया हैं। इन चारों काण्डों का विषय अग्निचयन या पवित्र अग्निवेदी का निर्माण है। प्रोफेसर वेबर का कहना है कि इन प्रथाओं और संस्कारों का विकास खासकर भारत के पश्चिमोत्तर में हुआ ; इन चार काण्डों में जो भौगोलिक उल्लेख मिलते हैं, वे इसी क्षेत्र से मुख्यतः संबंधित हैं। अगले काण्डों में जो उल्लेख हैं, उनका सम्बन्ध मुख्यतः गंगा-जमुना के किनारे के क्षेत्र से हैं। इससे यह अन्दाज लगाया गया है कि वाजसनेयी संहिता के पहले पाठों के अर्थात् जहां तक ब्राह्मण के पहले नौ काण्डों का सम्बन्ध है, सम्पादित किए जाने के समय प्रचलित अग्निसंस्कारों का फैसला पश्चिम-उत्तर भारत में हुआ था।

शतपथ के दसवें काण्ड का नाम अग्नि रहस्य है; इसका सम्बन्ध उसी विषय से है, जिसका पहले चार काण्डों से, और यहां पर भी प्रमुख प्रमाणपुरुष शांडिल्य हैं, और याज्ञवल्क्य का कोई जिक्र नहीं है। काण्ड के अन्त में आचार्यों की सूची है, जिसमें अग्नि संस्कारों का आरंभ आचार्य तुर कावषेय से जोड़ा गया है :

> सांजीवीपुत्र ने यह ज्ञान माण्डूकायनी से प्राप्त किया, माण्डूकायनी ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायन से वामकक्षायन ने वात्स्य से, वात्स्य ने शांडिल्य से, शांडिल्य ने कुश्रि से, कुश्रि ने यज्ञवचस् राजस्तम्बायन से, और यज्ञवचस् राजस्तम्बायन ने तुर कावषेय से, तुर कावषेय ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से यह प्राप्त किया, ये दोनों अनैतिहासिक व्यक्ति हैं। इतिहास का अंत तुर कावषेय से हो जाता है।[1]
>
> —श० ब्रा० 10. 6. 5. 9.

तुर कावषेय अग्नि वेदी का आविष्कर्ता है, दूसरे शब्दों में वह पहला व्यक्ति है जिसने अग्निवेदी का निर्माण समुचित रूप में किया। यह बात प्रत्यक्ष रूप में काण्ड नौ के एक अंश में कही गई है :

> और शांडिल्य ने एक समय यह कहा—तुर कावषेय ने इस कारोत्ती में देवताओं के लिए अग्निवेदी का निर्माण किया।[2] —श० ब्रा० 9. 5. 2. 15.

फिर ऐतरेय ब्राह्मण में तुर कावषेय को महान् ऋत्विज बताया गया हैं, जिसने राजा जनमेजय पारीक्षित के यज्ञ के उद्घाटन समारोह में पौरोहित्य किया था। शांडिल्य और तुर कावषेय को ऐसे उल्लेखनीय व्यक्तियों के रूप में माना जाना चाहिए, जिन्होंने न केवल अग्नि-संस्कारों का सूत्रपात किया, बल्कि जिन्होंने अग्नि-चितिओं की पहली नींवें रखीं। सातवें काण्ड के अध्याय 5,2 में चितियां बनाने (चित्युपस्थानम्) की बात कही गई हैं और यह बताया गया है कि चिति में सात अग्नि के पर्त होते हैं (सप्त-चितिकः अग्निः)।

शतपथ ब्राह्मण का जो रूप आज हमें मिलता है, वह याज्ञवल्क्य और शांडिल्य के संयुक्त लेखकत्व में रचा गया लगता है; कम से कम दोनों को प्रमाण पुरुष माना गया है। चौदहवें काण्ड के अन्त में एक और सूची दी गई है, जिसमें सांजीवीपुत्र को भी लिया गया है। इस सूची में 52 व्यक्तियों के नाम है, जिनमें

---

1. साञ्जीवी पुत्र, माण्डूकायनी, माण्डव्य, कौत्स, माहित्थि, वामकक्षायण, वात्स्य, शाण्डिल्य, कुश्रि, यज्ञवचस् राजस्तम्बायन, तुरकावषेय।
2. अथ ह स्माह शाण्डिल्यः। तुरो ह कावषेयः कारोत्यां देवेभ्योऽग्निं चिकाय तं ह देवा पप्रच्छुर्मुने यदलोक्यामग्निचित्यामाहुरथ कस्मादचैषीरिति ॥

—श० ब्रा० 9. 5. 2. 15

से बहुत से नाम तो सिर्फ माता के नाम से सम्बन्धित हैं। नाम सिर्फ अमुक माता के पुत्र के रूप में दिए गए हैं।

1. भारद्वाजीपुत्र
2. वात्सी-माण्डवीपुत्र
3. पाराशरीपुत्र
4. गार्गीपुत्र
5. बाडेयीपुत्र
6. पाराशरी कोण्डिनीपुत्र
7. मौषिकीपुत्र
8. हारिकर्णीपुत्र
9. पैङ् गी पुत्र
10. शौनकीपुत्र
11. काश्यपी-वालाक्या माठरीपुत्र
12. कौत्सीपुत्र
13. बौधीपुत्र
14. शालङ्कायनीपुत्र
15. वार्षगणीपुत्र
16. गौतमीपुत्र
17. आत्रेयीपुत्र
18. वत्सीपुत्र
19. वार्कारुणीपुत्र
20. आर्त्तभागीपुत्र
21. शौङ्गीपुत्र
22. साङ्कृतीपुत्र
23. आलम्बीपुत्र
24. आलम्बायनीपुत्र
25. जायन्तीपुत्र
26. माडूकायनीपुत्र
27. माण्डूकीपुत्र
28. शाण्डिलीपुत्र
29. राथीतरीपुत्र
30. क्रौंचिकीपुत्र
31. वैदभृतीपुत्र
32. भालुकीपुत्र
33. प्राचीनयोगीपुत्र
34. साञ्जीवी पुत्र
35. कार्शकेयीपुत्र
36. प्राश्नीपुत्र (आसुरिवासिन्)
37. आसुरायणपुत्र
38. आसुरी
39. याज्ञवल्क्य (वाजसनेय)
40. उद्दालक
41. अरुण
42. उपवेशी
43. कुश्रि
44. वाजश्रवा
45. जिह्वावत् बाध्योग
46. असित वार्षगण
47. हरितकश्यप
48. शिल्पकश्यप
49. कश्यपनैध्रुवि
50. वाच्
51. अम्भिणी
52. आदित्य

इन वंश परंपरागत 52 वंशजों वा शिष्यों का यह वंशवृक्ष जहां तक अग्नि संस्कारों या अग्निचितियों के ज्ञान का प्रश्न है, 250 से 500 सालों का अभिलेख रहा होगा। इस बीच बहुत से शिल्पों और कलाओं का विकास हुआ। चितिओं के ज्ञान से ही, जैसा कि पिछले शुल्ब सूत्रों में वर्णित है, रेखागणित की नींव पड़ी। ये अग्निचितियां ही स्वयं वे चूल्हा, ईंटों के भट्टे या भट्टियां थीं, जिनका मानव-जाति को पहले पहल ज्ञान हुआ। वे दाह संस्कार समेत सभी अवसरों पर काम आने की दृष्टि से बनाई गई थीं।

ईंटों के निर्माता—मेधातिथि

संस्कृत में ईंटों को इष्टक या इष्टिका कहते हैं, जिसे पहले-पहल वेदी में इस्तैमाल के लिए बनाया गया था। यह शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलता। यजुर्वेद में ये उल्लेख मिलते हैं :

इष्टका	17. 2; 35. 8	ऋषि मेधातिथि
इष्टकानाम्	13. 31	गौतम
इष्टकाम्	14. 11	विश्वेदेवा
इष्टके	13. 21	

यह शब्द अथर्ववेद में भी नहीं मिलता। ये शब्द जिस रूप में यजुर्वेद में आए हैं, उनका अर्थ भी मूलतः ईंट नहीं हो सकता। ब्राह्मण युग में जाकर ही उसका अर्थ ईंट हुआ, जो वेदी के निर्माण की एक इकाई थी। यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों का अनुवाद नीचे दिया जा रहा है, जो ग्रिफिथ के अंग्रेजी अनुवाद पर आधारित है :

1. हे अग्नि, ये ईंटें मेरी दुधारू गाएं बन जाएं, एक और दस, और दसगुनी दस, सौ और दसगुनी सौ, हजार और दस हजार, लाख······और पदार्थ।[1]

—यजु० 17. 2

2. वायु और सूर्य तुम्हारे लिए कल्याणकर हों, ईंटें तुम्हारे लिए कल्याणकर हों।[2] —यजु० 35. 8

3. उसने स्वर्ग तक फैले हुए तीन समुद्र पार किए, वह जो पानी का स्वामी है और ईंटों का वृषभ है।[3] —यजु० 13. 31

4. तू सौ में फैलती है, तू हजार प्रशाखाओं में प्रसार पाती है—हे ईंट देवी हम तुम्हारी पूजा करेंगे।[4] —यजु० 13. 21

5. इन्द्र और अग्नि ने न हिलने वाली ईंट को यथास्थान अच्छी तरह से जमा दिया।[5] —यजु० 14. 11

ग्रिफिथ के अनुसार यजुर्वेद के तेरहवें खण्ड में कमल-दल बनाने, तरह-

---

1. इमा मे अग्न ऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मेऽअग्न ऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके। —यजु० 17. 2
2. शं वातः शँहि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः। —यजु० 35. 8
3. त्रीन्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ ऽइष्टकानाम्। —यजु० 13. 31
4. या शतेन तनोषि सहस्रेण विरोहसि। तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्। —यजु० 13. 21
5. इन्द्राग्नी ऽअव्यथमानामिष्टकां दृँहतं युवम्। —यजु० 14. 11

तरह की ईंटों लिए गम्भीर विषय निरूपित करने, कच्छप को दफनाने और आह्वनीय अग्निचिति से सम्बद्ध दूसरी घटनाएं निरूपित करने के सूत्र दिए गए हैं। सछिद्र ईंट का उल्लेख है, फिर दूब घास या दूर्वा की ईंट का जिक्र है, जिसकी जड़ें और सिरे पर्त बनाते हैं (यजु० 13. 20)। फिर द्वियजुष् ईंट का जिक्र है, जिसका यह नाम इसलिए पड़ा कि इसे पहले-पहल दो देवताओं–इन्द्र और अग्नि–ने देखा था। यजु० (22.22)। फिर दो रेतः सिच् य ीज डालने वाली ईंटें जाती हैं, जो द्वियजुष् के पास की हैं, और जो चिति की रीढ़ के दोनों ओर एक-एक पूर्व की तरफ होती हैं (वही 34)। फिर दो ऋतव्य या मौसमी ईंटें हैं, जो विश्वज्योति ईंट के सामने होती हैं, और जो चिति की रीढ़ के दोनों ओर एक-एक पूर्व की तरफ होती हैं (वही 25)। फिर अषाढ़ा या अजय ईंट वेदी के सामने उसकी रीढ़ पर होती है (वही 25)। चौदहवें काण्ड में ईंटों की दूसरी पर्त जमाने की बात कही गई है, जैसा कि उसे ब्राह्मणकारों ने और यजुर्वेद के भाष्यकारों–उव्वट और महीधर–ने समझा है। पांच अश्विनी ईंटों का जिक्र है। (1-5), चार ऋतव्य या मौसमी ईंटों का (6), पांच वैश्वदेवी ईंटों का जिक्र है। अर्थात् उनका सम्बन्ध सभी देवताओं से होता है (7) ; फिर प्राणभृत ईंटें आती हैं, उन्नीस वयस्या (जीवन ओज वाली) ईंटें आती हैं, जिनको छान्दस्या या पवित्र छन्दों वाली ईंटें भी कहा जाता है। फिर ईंटों की तीसरी पर्त्त जमाने की बात आती है, जिनमें पांच दिश्या या दिशाओं की ईंटें होती हैं, जो दूसरी पर्त्त की वैश्वदेवी ईंटों के किनारों के ऊपर जमाई जाती हैं (14), दो ऋतव्य या मौसमी ईंटें जमाई जाती हैं (15) फिर दो और ऋतव्य ईंटें आती हैं (16)। फिर दस प्राणभृता ईंटें और छत्तीस (बारह के वर्ग में) छान्दस्या ईंटें जमाई जाती हैं (18), बारह ईंटें पूजे गए विषय के छन्द के रूप में होती हैं। अगली बारह का नाम उल्लिखित देवता के नाम से होता है, चौदह बालखिल्य ईंटें होती हैं, जो जीवन प्राण का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनमें से सात सामने होती हैं और सात पीछे (21)। फिर चौथी पर्त शुरू होती है, जिसमें स्तोम या स्तुति छन्दों की अठारह ईंटें जमाई जाती हैं (23) ; फिर स्पृत या मोक्षदा ईंटें आती हैं, दो ऋतव्य या मौसमी ईंटें आती हैं (27) ; फिर सृष्टि ईंटें आती हैं (28)।

पन्द्रहवें काण्ड में पांचवें पर्त्त की ईंटों का वर्णन किया गया है, जिसमें पहले असपत्ना (शत्रु रहित) ईंटें लगाई जाती हैं। उसी सिलसिले में विराज् ईंटों का भी जिक्र है। जो दस-दस के वर्ग में छन्द के आधार पर होती हैं। (15.-4) ; उन्तीस स्तोम भागा (प्रशंसा की हिस्सेदार) ईंटें आती हैं (6), नाकसदस् या आकाश में स्थान वाली ईंटें (10) पंच चूडा (पांच शिखरों वाली) ईंटें (15) छान्दस्या (छन्दों वाली) ईंटें आती हैं (20) जो गायत्री, अनुष्टुप, बृहती, शतो-वृहती, उष्णिक्, ककुप्, पंक्ति, पदपंक्ति, अतिच्छन्दस् और द्विपदा के नाम पर होती हैं। (21-48)

वेदी में प्रयुक्त ईंटें

तैत्तिरीय संहिता या कृष्ण यजुर्वेद (4-3, 4) में भी ईंटें रखने की पांच पर्त्तों का प्राय: ऐसा ही वर्णन किया गया है। इस खंड पर अपनी टिप्पणी में (उनके अनुवाद में पृष्ठ 327, 1914) कीथ का कहना है कि इन मंत्रों के साथ पहली पर्त्त में पांच-पांच ईंटों के चार समूह रखे जाते हैं, पहली पांच पुरुष की आकृति के पूर्व की ओर पूर्व से पश्चिम की ओर चलने वाली एक पंक्ति में रखी जाती हैं, दूसरी दक्षिण की ओर से उत्तर की ओर चलने वाली पंक्ति में, तीसरी पश्चिम में पूर्व की ओर चलने वाली पंक्ति में और चौथी उत्तर में दक्षिण की ओर चलने वाली पंक्ति में। फिर कुछ मंत्र दस-दस ईंटों के पांच समूहों के, प्राणभृत ईंटों के, रखे जाने के बारे में हैं, पहले चार समूह स्वत:-छिद्रित ईंट के केन्द्र से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में रखे जाते हैं। आखिरी समूह प्रत्यक्षत: इनके चारों ओर रखा जाता है। पांचवीं रखने के तरीके का, जिससे रेत:सिच् ईंटों का अर्द्धवृत्त बन जाए, संकेत देखने के लिए एगलिंग का शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद देखा जा सकता है। (तैत्तिरीय संहिता 4. 2. 9 भी देखिए)।

ईंटों का आकार

मेरी निश्चित धारणा यह है कि इस देश में इष्टका कही जाने वाली ईंटें पहले मकान बनाने के लिए नहीं बल्कि तरह-तरह की यज्ञ वेदियों के प्रयोजन से बनाई गईं। हमें ठीक पता नहीं है कि इन ईंटों के ठीक-ठीक आकार क्या थे। बाद में शुल्ब सूत्रों में इन ईंटों का विवरण वहां पर बताई गई चिति की रेखा-गणितीय आकृति के प्रसंग में बताया गया है। उदाहरण के लिए बौधायन शुल्ब सूत्र में हमें नीचे लिखा विवरण मिलता है :—[1]

> अग्नि को द्रोण (तश्तरी) के आकार में चिनना है, यही परंपरागत ज्ञान है (215)
> लेकिन द्रोण भी दो तरह के होते हैं। (216)
> अर्थात् चौकोर और गोल आकार के। (217)
> (ब्राह्मण में) कोई विशिष्ट बात नहीं कही गई ; हम दोनों को लेते हैं ;
> दोनों ही आकारों का ब्यौरा (दिया जाएगा) (218)
> फिर वह इस चिति के अग्निक्षेत्र को मापता है; इसकी आत्मा चौकोर है। (219)

1. द्रोणचितं चिन्वीतेति विज्ञायते ॥215॥
द्वयानि तु खलु द्रोणानि ॥216॥
चतुरस्राणि परिमण्डलानि च ॥217॥
अविशेषात्ते मन्यामहेऽन्यतरस्या कृतिरिति ॥218॥
अथाग्निं विमिमीते चतुरस्र आत्मा भवति ॥219॥

[अगले पृष्ठ पर—

इस वर्ग की भुजा $2\frac{2}{3}$ पुरुष लंबी है। (220) [एक पुरुष 120 अंगुलि लंबा होता है।]

इस वर्ग के पश्चिम की ओर एक सरु (हत्था) बनाना होता है (221)।

इसकी पूर्व से पश्चिम तक लंबाई आधा पुरुष और दस अंगुलि (=70 अंगुलि होती है।) (222)

इसकी चौड़ाई दक्षिण से उत्तर तक दो तिहाई पुरुष (=80 अंगुलि) होती है। (223)

इस तरह दो अरत्नि और प्रदेश के साथ सात प्रकार की अग्निचिति बनती है। आत्मा में $7\frac{1}{9}$ वर्ग पुरुष होते हैं और हत्थे में $\frac{7}{18}$। (224)

इस चिति के लिए नीचे लिखी ईंटे बनानी चाहिएँ :—

(एक) बीस अंगुलि की वर्गाकार ईंटें (दो) बीस अंगुलि और तीस अंगुलि की लंबी ईंटें (तीन) बीस और दस अंगुलि की लंबी ईंटें (पहले बताए आकार की ईंटों को दो लंबी ईंटों में बांट कर बनती हैं) तिर्यग्भेद शब्द में कर्ण बांटना शामिल नहीं है; (चार) 30 अंगुलि की वर्गाकार ईंटें। (225)

इन ईंटों में से पहले प्रकार की छः ईंटें हत्थे के दोनों ओर आत्मा के पश्चिमी कोनों तक रखी जाती हैं; बाकी अग्निचिति को दूसरे प्रकार की ईंटों से ढंका जाता है। (226)

फिर तीसरे प्रकार की ईंटों से 200 की संख्या को पूरा करना चाहिए। (227)

दूसरे पर्त में दूसरे प्रकार की एक ईंट को उत्तर की ओर पलटकर आत्मा के दक्षिण पूर्व के कोने में रखा जाना चाहिए। (228)

यही दक्षिण-पश्चिम कोने में करना चाहिए। (229)

—पिछले पृष्ठ से]

तस्य त्रयः पुरुषास्त्रिभागोनाः पार्श्वमयी भवति ॥220॥

पश्चात्सरुर्भवति ॥221॥

तस्यार्धपुरुषो दशांगुलानि च प्राची ॥222॥

त्रिभागोनः पुरुष उदीचीति ॥223॥

एवं सारत्नि प्रादेशः सप्तविधः संपद्यते ॥224॥

तस्येष्टकाः कारयेत् पुरुषस्य षष्ट्यस्ता एवंकतोऽध्यर्धास्तासामर्ध्यास्तिर्यग् भेदाः पुरुषस्य चतुर्थ्यं इति ॥225॥

तासां त्सरुश्रोण्यन्तरालयोः षट् षष्टीरुपधाय शेषमग्निं बृहतीभिः प्रच्छादयेत् ॥226॥

अर्धेष्टकाभिः संख्यां पूरयेत् ॥227॥

अपरस्मिन् प्रस्तारे दक्षिणेऽंसेऽध्यर्धामुदीचीमुपदध्यात् ॥228॥

तथोत्तरे ॥229॥

[अगले पृष्ठ पर—

आत्मा के पूर्वी किनारे पर (ऊपर बताई दोनों इंटों के बीच) पहले प्रकार की इंटें रखनी चाहिए। (230)

चौथे प्रकार की ईंटें दक्षिणी और उत्तरी सिरे पर रखी जाती हैं (231)

मैंने इंटें रखने के इस विशद विवेचन के एक अंश का ही उद्धरण दिया है। इसके पहले कुछ सूत्रों में विभिन्न प्रकार की इंटों का वर्णन किया गया है (147-152) :—[1]

अब विभिन्न तरह की ईंटों का वर्णन किया जाएगा :—

पंचमी और उसके अवयव [अर्घ्य ($\frac{1}{2}$), पाद्य ($\frac{1}{4}$) अष्टमी ($\frac{1}{8}$)] (147)

पंचमी के पाद (चौथाई) आकार की ईंट को चारों ओर से ढंकना है। (148)

आधे प्रादेश=6 अंगुलि, डेढ़ प्रादेश=18 अंगुलि, एक प्रादेश=12 अंगुलि और सविशेष प्रादेश=16 अंगुलि और 33 तिल। इस ईंट का क्षेत्र=144 वर्ग अंगुलि=पंचमी के क्षेत्रफल का चौथाई (149)।

एक अध्यर्ध ईंट चारों ओर से ढंकनी है, अर्ध व्यायाम=48 अंगुलि, दो अरत्नियों की लंबाई, और सविशेष अरत्नि (33 अंगुलि और 32 तिल लंबी) से। (.50)

ये छः तरह की ईंटें होती हैं। (151)

इन ईंटों में से चार कोनों वाली चौथाई ईंटों के साथ अष्टमी ईंटें पाद में रखकर बाकी अग्निचिति को, जितनी ठीक बैठें, जितनी संख्या में जरूरी हों और जैसी अग्नि के स्वरूप के अनुसार जरूरी हो, उतनी ईंटों से ढंक देना चाहिए। (152)

भारत में और शायद सारी दुनिया में इंटों का $9+4\frac{1}{2}+3$ इंचीवाला एक मानक आकार चलता है, लेकिन इतिहास के विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न

—पिछले पृष्ठ से]

पूर्वस्मिन्ननीके षड्भागीया उपदध्यात् ॥230॥

दक्षिणोत्तरयोश्चतुर्भागीयाः ॥231॥ --बौधा० श्रौ० सू० 30. 17

1. अथेष्टकानां विकाराः पञ्चमभागीयाः सावयवाः ॥147॥

पादेष्टकानां चतुर्भिः परिगृह्णीयात् ॥148॥

अर्धप्रादेशेनाध्यर्धप्रादेशेन प्रादेशेन प्रादेशसविशेषेणेति ॥149॥

अध्यर्धेष्टकां चतुर्भिः परिगृह्णीयादर्धव्यायामेन द्वाभ्यामरत्निभ्यामरत्नि सविशेषेणेति ॥150॥

ताः षट् ॥151॥

तासां चतुरस्रपाद्याः साष्टमभागाः पादयोरुपधायशेषं यथायोगं यथासंख्यं यथाक्षम चोपदध्यात् ॥152॥ —बौधा० श्रौ० सू० 30. 12

आकारों का प्रयोग होता रहा है। ईंट बनाने की कला सभी देशों में बहुत पुराने जमाने से चली आ रही है। हमने पढ़ा है कि बेबल का स्तंभ बनाने में पकाई गई ईंटों को इस्तेमाल किया गया था। पुराने बेबिलोन की दीवालें और दूसरी कई ईमारतें भी पकाई गई ईंटों की बनी थीं; असीरिया की कला में भी कई तरह की ईंटों का ब्यौरा मिलता है और असीरिया का बहुत सा साहित्य छोटे अक्षरों में पकाई गई मिट्टी के रूप में मिलता है। इजराइलवासियों ने भी ईजिप्ट की दासता के काल में ईंट बनाने का काम मुख्य रूप से अपनाया था। ईंटें मिट्टी में कूटा गया भूसा मिलाकर बनाई जाती थीं और संभवत: धूप में पकाई जाती थीं। बाइबिल (2 सैम० 12. 31) में जिक्र है कि डेविड ने अम्मोन के बच्चों को ईंटों के भट्टे से होकर निकाला था। यद्यपि इस वक्तव्य का अर्थ सन्दिग्ध है, तथापि यह समझा जाता है कि इस प्रसंग में बनाए गए औजार मिट्टी तैयार करने के काम आते होंगे। प्लिनी ने हमें बताया है कि ग्रीकों द्वारा तीन अलग-अलग तरह की ईंटें बनाई जाती थीं। इटली में रोमवासी ईंटों का खूब इस्तमाल करते थे।

भारतीय वास्तुशास्त्र का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मानसार वास्तुशास्त्र है, जो 100 ई० पू० (तिथि अनिश्चित) का है। इसमें विभिन्न आकार की ईंटों का ब्यौरा दिया गया है। चौड़ाई 7 अंगुलि (5¼ इंच) से ज्यादा है और हर स्तर पर दो-दो अंगुलि बढ़ती हुई 19 या 30 अंगुलि की चौड़ाई तक पहुंचती है अर्थात् 5¼ इंच से लेकर 22⅓ इंच तक। ईंट की लंबाई उसकी चौड़ाई से सवा, डेढ़, पौने दो या दो गुनी तक होती थी। मोटाई उसकी चौड़ाई की आधी होती थी। पत्थर से बनाई जाने पर ईंटों को शैलज कहते थे और मिट्टी से बनाए जाने पर इष्टिका। दोनों का ही फिर पुरुष स्त्री और नपुंसक वर्गों में वर्गी-करण किया गया है (अध्याय 18, 189-194)।

वराहमिहिर (मृत्यु 587 ईसबी) की वृहत्संहिता[1] में पकाई हुई ईंटों का एक उल्लेख मिलता है। उनको पक्वेष्टका या पक्वेष्ट कहा गया है। यह उल्लेख किरणाख्य तन्त्र[2] में भी मिलता है। शतपथ ब्राह्मण[3] के समय पकी हुई ईंटों को अमृत इष्टका कहते थे, क्योंकि वे आसानी से टूटती न थीं।

पवित्र अग्नि से संबंधित कृत्य

आविष्कार होने पर अग्नि को पवित्र माना गया। परमात्मा ने सूरज को बनाया और मनुष्य ने अग्नि को पैदा किया और इस तरह सूर्य और अग्नि दोनों

---

1. व्यासात् षोडशभागः सर्वेषां सद्मनां भवति भित्तिः।
पक्वेष्टकाकृतानां दारुकृतानां तु न विकल्पः॥ —वृ० सं० 52. 53
२. पक्वेष्टानामयं व्यासो दारुजानां यथेच्छया। —किरणाख्य तन्त्र
3. तदग्निनाऽपचत्तद्देनदमृतमकरोदेतद्वै हविरमृतं भवति यदग्निना पचन्ति तस्मादग्निनेष्टकाः पचन्त्यमृताऽएवैनास्तत् कुर्वन्ति। —श० ब्रा० 6. 2. 1. 9

पूजा के विषय बन गए। इस अग्नि के चारों ओर मनुष्य ने संस्कृति का विकास किया। उसने गंभीर प्रतिज्ञा की कि वह अग्नि को प्रज्वलित रखेगा और उसे कभी बुझने न देगा। विवाह के दिन नई आग जलाने की परम्परा थी और नवदम्पती का यह पुनीत कर्त्तव्य था कि आजीवन इस अग्नि को प्रज्वलित रखें। वही अग्नि गृहपति के दाहसंस्कार के भी काम आती थीं। हर रोज पवित्र अग्नि में घी और जौ की आहुति डाली जाती थी। धीरे-धीरे इस पवित्र संस्कार को लेकर एक परंपरा चल पड़ी। नीचे लिखे पारिभाषिक शब्द इस प्रसंग में बड़े ही रोचक होंगे :—

अग्नि—आग और आगे चलकर चिति या अग्निवेदी (शुल्वसूत्र)
अग्निकर्म—लकड़ी आदि इकट्ठा करना (श० ब्रा०)
अग्निकारिका, अग्निकार्य—आग जलाना या घी आदि द्रव्य डालना आदि।
अग्नि कुंड—जलते अंगारों से भरा कुंड, पवित्र अग्नि के लिए एक घिरी हुई जगह या कुंड जिसे चाहे धरती में खोद कर बनाया गया हो या ईंटों से; या धातु से (जो उठाकर ले जाया जा सके)।
अग्निगृह—पवित्र अग्नि रखने के लिए भवन या जगह।
अग्निचय, चयन, चिति या चित्या—पवित्र अग्निवेदी को तैयार या व्यवस्थित करना (श० ब्रा०)।
अग्निचित्—पवित्र अग्नि का चयन करना या करनेवाला (श० ब्रा०)।
अग्निचिद्वत्—वह गृहस्थ जिसने पवित्र अग्निवेदी बनाई हैं (पाणिनि)।
अग्निजिह्वा—अग्नि की जीभ रखना यानी द्रव्य को अग्नि द्वारा भस्म करना (ऋ० 1. 44. 14); अग्नि की जीभ (अथर्व० 11. 9. 19 मुण्डक०)।
अग्नितप्त—आग में तपाया हुआ, चमक वाला (ऋ० 7. 104. 5)।
अग्निदिग्ध—चिता पर जला (ऋ० 10. 15. 14, तैत्ति० ब्रा०)।
अग्निध—आग जलाने वाला पुजारी (ऋ० 10. 41. 3)।
अग्निधान - पवित्र अग्नि रखने का पात्र (ऋ० 10. 165. 3, अथर्व० 6. 27. 3; 12. 3. 35)।
अग्निनयन- यज्ञाग्नि को लाना।
अग्निपद — जिसका पैर यज्ञ की वेदी पर पड़ गया हो।
अग्निपरिक्रिया—यज्ञाग्नि की देखभाल (मनु० 2. 57)।
अग्निपरिच्छद—यज्ञाग्नि की पूरी-पूरी संभाल (मनु० 6. 4)।
अग्निपरिधान—यज्ञाग्नि को ढांकना।
अग्निपुच्छ—यज्ञाग्नि की पूंछ या आखिरी भाग (पक्षी के रूप में व्यवस्थित) (आश्व० सूत्र)
अग्निप्रणयन, प्रणयनीय—पवित्र अग्नि लाने का कृत्य।
अग्निप्रतिष्ठा—आग की खासकर विवाह की अग्नि की प्रतिष्ठा करना।
अग्नि प्रस्तर—आग पैदा करने वाला पत्थर या चकमक।

अग्निप्रायश्चित्त, प्रायश्चित्ति—यज्ञाग्नि तैयार करते समय प्रायश्चित्त का कृत्य (शत० ब्रा०)।

अग्निमत्—आग के पास होना (अथर्व० 8. 4. 2 ; ऋ० 7. 104. 2 में वत् हैं)। पवित्र अग्नि को रखने या संभालने वाला (मनु०)।

अग्निमन्थ—मन्थन कर आग पैदा करना।

अग्निमन्थन—रगड़ कर आग पैदा करना। (आश्व० श्रौ० सू०)।

अग्नियोजन—यज्ञाग्नि को ठीक करना (जिससे कि वह जल उठे)।

अग्निरक्षण—पवित्रगृह्य अग्नि की देखभाल।

अग्निविधा—आग का रूप (श० ब्रा०)।

अग्निविमोचन—यज्ञाग्नि को छोड़ना (फैलाकर)।

अग्निविहरण—यज्ञाग्नि को अग्नीध्र से सदस् मंडप ले जाना।

अग्निवेला—आग जलाने का समय, दोपहर बाद (आश्व० गृ० सू०)।

अग्निशरण, अग्निशाला—यज्ञाग्नि रखने का घर।

अग्नि सुश्रूषा—यज्ञाग्नि की सेवा करना (मनु० 2. 248)।

अग्नि श्रोणी—यज्ञवेदी का पैर (कात्या० श्रौ० सू०)।

अग्निष्टुत्—'अग्निप्रशंसक', अग्निष्टोम यज्ञ का पहला दिन, पंचदशरात्र सत्र का एक दिन (श० ब्रा०)।

अग्निष्टोम—अग्नि की प्रशंसा, प्रसिद्ध यज्ञक्रिया का नाम। स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा किए जाने वाले ज्योतिष्टोम का एक प्रमुख भेद। यह यज्ञ एक ब्राह्मण करता है जो यज्ञाग्नि का पोषण करता है। सोम की आहुति इन्द्र आदि देवताओं को दी जाती है। इसमें 16 ऋत्विजों की जरूरत पड़ती है और यज्ञ पांच दिन चलता है।

अग्निष्ठस्—एक पात्र, अग्नि पात्र, जो आग ले जाने के काम आता है (आप० श्रौ० सू०); अश्वमेघ यज्ञ में ग्यारहवां यूप जो (कुल बीस में से) आग के सबसे ज्यादा पास होता है (श० ब्रा०)।

अग्निष्ठा—यूप का वह किनारा जो (कुल आठ में से) आग के सबसे ज्यादा पास होता है (श० ब्रा०)।

अग्निष्ठिका—एक अग्निपात्र।

अग्निष्वात्ताः—दाह-अग्नि द्वारा भस्म किए गए (ऋ० 10. 15. 11, अथर्व० 18. 3. 44.; यजु० 19. 58, 59, 60 और श० ब्रा०)।

अग्निसंस्कार—आग का संस्कार, किसी ऐसे संस्कार को करना जिसमें आग का उपयोग अनिवार्य है, जैसे शव को जलाना।

अग्निसंचय—यज्ञ की वेदी को तैयार करना।

अग्निसव—अग्नि का पवित्रीकरण (तै० सं०)।

अग्निसाक्षिक—आग को गृह्य या वैवाहिक अग्नि को साक्षी रूप में लेने की मर्यादा। अग्नि को साक्षी बनाने वाला दांपत्य निष्ठा की दृढ़ प्रतिज्ञा करता है।

अग्निसूत्र—आग का धागा, उपवीत के समय युवा ब्राह्मण को पहनाई जाने वाली यज्ञ-घास की मेखला।

अग्निहवन—आग में यज्ञाहुति डालना।

अग्निहुत—आग में आहुति के रूप में डाला गया।

अग्निहोतृ—अग्नि को ऋत्विज के रूप में मानने वाला (ऋ० 10. 66. 8)

अग्निहोत्र—अग्नि में यज्ञ करना (अथर्व० 6. 97. 1)।

अग्निहोत्र—अग्निहोत्र की गाय (श० ब्रा०),—वत्स, उसका बछड़ा।

अग्निहोत्र—यज्ञ में आहुति (खासकर दूध, तेल, और नमकीन लप्सी की, अग्निहोत्र दो तरह के होते हैं एक नित्य अर्थात् लगातार आहुति मांगने वाले और दूसरे काम्य (अर्थात् वैकल्पिक); पवित्रअग्नि (मनु०)—स्थाली, अग्निहोत्र में प्रयुक्त एक बरतन (श० ब्रा०)—हवनी, अग्निहोत्र में प्रयुक्त एक चमचा।

अग्निहोत्रिन्—अग्निहोत्र करने वाला और यज्ञाग्नि का पोषक (श० ब्रा०)।

अग्निह्वरा—यज्ञक्रिया में त्रुटि करने वाला।

यज्ञक्रिया में उपसाधन

यज्ञक्रिया के सिलसिले में कौन-कौन उपसाधन या यांत्रिक तरीके विकसित किए गए थे, यह यजुर्वेद, अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता (कृष्णयजुर्वेद) के नीचे लिखे उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगा :—

> मेरे अंशु और मेरी रश्मि और मेरा अधिपति और मेरा उपांशु और मेरा अन्तर्याम और मेरा ऐन्द्रवायव और मेरा मैत्रावरुण और मेरा आश्विन और मेरा प्रतिप्रस्थान और मेरा शुक्र और मेरी मन्थी यज्ञ द्वारा पुष्ट हों।[1]
>
> —यजु० 18. 19
>
> मेरा आग्रयण और मेरा वैश्वदेव और मेरा ध्रुव और मेरा वैश्वानर और मेरा ऐन्द्राग्न और महावैश्वदेव और मेरा मरुत्वतीय और निष्केवल्य और मेरा सावित्र और मेरा सारस्वत और मेरा पात्नीवत और मेरा हारियोजन यज्ञ द्वारा पुष्ट हों।[2]
>
> —यजु० 18. 20
>
> मेरा स्रुच् और मेरा चमस् और मेरा वायव्य और द्रोणकलश और मेरे ग्रावा और मेरे अधिषवण और मेरा पूतभृत् और मेरा आधवनीय और

---

1. अꣳशुश्च मे रश्मिश्च मेऽदाभ्यश्च मेऽधिपतिश्च मऽउपाꣳशुश्च मेऽन्तर्यामश्च मऽऐन्द्रवायवश्च मे मैत्रावरुणश्च मऽआश्विनश्च मे प्रतिप्रस्थानश्च मे शुक्रश्च मे मन्थी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। —यजु० 18: 19
2. आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च मऽऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। —यजु० 18. 20

मेरी वेदी और मेरी बर्हि और मेरा अवभृथ और स्वगाकार यज्ञ द्वारा पुष्ट हों।[1] —यजु० 18. 21

मेरा इध्म और मेरी बर्हि और मेरी वेदि और मेरी घिष्णिया और मेरा स्रुच् और मेरा चमस् और मेरे ग्रावा और मेरा स्वरव और मेरा उपरव और मेरा अधिषवण और मेरा द्रोणकलश और मेरा वायव्य और मेरा पूतभृत और मेरा आधवनीय और मेरा आग्नीध्र और मेरा हविर्धान और मेरे घर और मेरे सदस् और मेरे पुरोडाश और मेरे पचत और मेरा अवभृथ और मेरा स्वगाकार (मेरे लिए यज्ञ द्वारा पुष्ट हों)।[2] —तै० सं० 4. 7. 8. 1

वायव्य द्रोणकलश से वह वायव्य द्रोणकलश और कुम्भी से सोम के लिए वत और दो पात्रों से दो स्वच्छ पात्र और स्थाली (पतीली) से स्थाली को प्राप्त करता है।[3] —यजु० 19. 27

अथर्ववेद में उलूखल और मुसल, दृषद् और खल्व और साफ करने वाले सूप के भी उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद (10. 71. 2) में सत्तुओं के प्रसंग में तितउ (चलनी) का उल्लेख मिलता है :—

इन्द्र का जो महान् दृषद् हर तरह के कीड़ों को पीसता है, उससे मैं इन सबको टुकड़ों में करके रगड़ता हूं और पीसता हुं जैसे वह सिल पर लोढ़े से पीसे जाते हैं। (दृषद् और खल्वा)[4] —अथर्व० 2. 31. 1

शीघ्र ही घी चुपड़कर सबको समेटते हुए इस लोक में आओ जहां जन्म तुमको संयुक्त करता है। सूप को पकड़ लो जिसे वर्षा ने पुष्ट किया है और उससे भूसी और कचड़े को अलग करो।[5] —अथर्व० 12 .3 .19

---

1. स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च मऽआधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। —यजु० 18. 21
2. इध्मश्च मे बर्हिश्च मे वेदिश्च मे घिष्णियाश्च मे स्रुचश्च चमसाश्च मे ग्रावाणश्च मे स्वरवश्च मे उपरवाश्च मेऽधिषवणे च मे द्रोणकलशश्च मे वायव्यानि च मे पूतभृच्च म आधवनीयश्च म आग्नीध्रश्च मे हविर्धानश्च मे गृहाश्च मे सदश्च मे पुरोडाशाश्च मे पचताश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे। —तै० सं० 4. 7. 8. 1
3. वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम्।
   कुम्भीभ्यामम्भृणी सुते स्थालीभि स्थालीराप्नोति॥ —यजु० 19. 27
4. इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी।
   तया पिनष्मि स क्रिमीन् दृषदा खल्वां इव॥ —अथर्व० 2. 31. 1
5. विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम्।
   वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु॥ —अथर्व० 12. 3. 19

वे सामान्य वितरण से पहले जो पहले खाद्य लाते हैं, वे पुराडाश की दो रोटियां ही होती हैं। जब वे खाना बनाने वाले व्यक्ति को बुलाते हैं, तो वे उचित हव्य को ही मंगाते हैं। जो धान और जौ चुने जाते हैं, वे सोम पौधे के ही अंश होते हैं। ऊखल और मुसली भी सोम पीसने के ही पत्थर हैं। सूप ही छानने वाली छलनी है, भूसी ही ऋजीषा है, पानी ही अभिषवणी है। स्रुक्, दर्वि, नेक्षण, आयवन, द्रोणकलश ही सोम के डण्ठल हैं। मिट्टी के पकाने वाले पात्र ऊखल के आकार के सोमपात्र हैं। यह मिट्टी ही कृष्णमृग का चर्म है।[1]

—अथर्व० 9. 6. (1) 12, 17

उलूखल में मुसल में चर्म में या सूप में धान का जो भी दाना है और जिसे भी साफ करने वाले मातरिश्वा (हवा) ने साफ किया है, होता अग्नि उसे ही सुन्दर द्रव्य बनाए।[2]

—अथर्व० 10. 9. 26

हे इन्द्र. इस वृषाकपि को मारा गया वन्य पशु, असि, नया बनाया चरु, और इंधन से भरी गाड़ी प्राप्त हो गई है। इन्द्र, सबसे ऊपर है।[3]

—ऋ० 10. 86. 18; अथर्व० 20. 126. 18

अब हम शतपथ ब्राह्मण से ऐसे कुछ उद्धरण देंगे, जिनसे इन यंत्र साधनों का महत्व अग्निक्रिया के सिलसिले में स्पष्ट हो जाएगा, जिनका आग के महान् आविष्कार के बाद समाज में विकास हुआ। वस्तुतः समूची संस्कृति का विकास ही इस अग्नि के चारों ओर हुआ। वाजपेय यज्ञ में रथों की दौड़ का उल्लेख मिलता है। इस यज्ञ का राजसूय से भी ज्यादा महत्त्व था (श० ब्रा० कांड 5, पहले दो अध्याय)। हिल ब्रांट ने अपने ग्रन्थ 'वैदिशे माइथोलोजी' (1. 247) में वाजपेय

---

1. यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ।
   यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्धवयन्ति।
   ये व्रीहयो यवा निरूप्यतेंऽशव एव ते।
   यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते।
   शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः।
   स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि।
   पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम्॥ — अथर्व० 9. 6. (1). 12-17
2. उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः।
   यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥
   —अथर्व० 10. 9. 26
3. अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्।
   असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥
   ऋ० 10. 86. 18; अथर्व० 20. 126 18

यज्ञकी रथदौड़ के महत्त्व पर जोर दिया है और उस सबकी ओलिम्पिक खेलों से तुलना की है और वेबर (उबरडेन वाजपेय, पृष्ठ 10) ने कहा है कि इस पूरे यज्ञ संस्कार का लक्ष्य रथदौड़ में प्रथम आने वाले को विजय-भोज देना था (वाज= शक्ति, पा= रक्षण करना)।

सोम संस्कार और यन्त्र साधन

इसमें संदेह नहीं कि कुछ यन्त्र साधन सोम पेय के तैयार करने के सिलसिले में विकसित हुए, जिसका तैयार करना सोम-यज्ञ के लिए जरूरी था। सोम के उद्भव सम्बन्धी ब्यौरों में जाना जरूरी नहीं है। जैसा कि विक्टर हेनरी (ल' अग्निष्टोम पृष्ठ 469-480) ने बताया है, इसमें संदेह नहीं हो सकता कि भारत-ईरानी युग में ही विशिष्ट ऋत्विज द्वारा सोम को इसी रूप में देवताओं के अर्पित किया जाता था और ऋत्विज स्वयं भी कुछ सोमरस पीता था। यह भी स्पष्ट है कि शुरू के युग में सोमरस को खरल में पीस कर तैयार किया जाता था और केवल भारत में ही इस पौधे को पत्थर से पीसने की प्रथा चालू हुई जिससे सोम-रस का बहुत सा अंश बहुत से ऋत्विजों के लिए प्राप्त किया जा सके, यद्यपि खरल का उपयोग ऋग्वेद के काल तक मान्य रहा (देखिए हिलब्रांट, वैदिक माइथोलौजी 1. 158 आदि, वैदिक इंडेक्स 2. 475)। भारत-ईरानी युग में ही इस यज्ञ में यजमान के अलावा याजक ऋत्विज की कल्पना थी। इस स्थान पर सोम-रस के स्वरूप और पारसियों के हुम पौधे से उसकी तुलना करना संभव नहीं है।

सोमरस के लिए पौधे को पीसने, कुचलने, पानी के साथ रगड़ने, किंजाने, रस निचोड़ने, तरह-तरह की चलनियों से उसे छानने, उपयुक्त पात्रों में उसे रखने, उपयुक्त बरतनों में उसे भरकर अच्छी हालत में रखने और इसी तरह की दूसरी प्रक्रियाओं ने जड़ी-बूटियों के प्रसंग में दवा बनाने की नींव रखी। यज्ञशाला आदिम प्रयोगशाला थी और इस सिलसिले में जिन पात्रों आदि का उल्लेख हुआ है, वे कीमियागीरी और औषधरसायन युग में रसायन शाला का आधार बन गए।

वैदिक युग के यंत्र साधन और औजार

अक्ष (धुरा)	ऋ० 3. 33. 9
अंकुश	ऋ० 8. 17. 10
अंगार (जलता हुआ कोयला)	ऋ० 10. 34. 9
अधिषवण (दबाने का फलक)	यजु० 18.21
अनस् (गाड़ी)	ऋ० 3. 33. 9; श० ब्रा० 1, 1. 2.5
अभ्रि (फावड़ा)	यजु० 11. 10
	श० ब्रा० 6. 3. 1. 30
असि (छुरी)	ऋ० 10. 86. 18
आधवनीय (मिलानेवाला प्याला)	यजु० 17. 21

आस्पात्र (पीने का प्याला)	श० ब्रा० 1. 4. 2. 13
आसन्द, आसन्दी (कुर्सी, स्टूल)	यजु० 19. 16; श० ब्रा० 5. 4. 4. 1
इटसून (चटाई)	श० ब्रा० 13. 2. 2. 19
इध्म (ईंधन)	तै० सं० 4. 7. 8. 1
इषु (बाण)	अथर्व० 20. 127. 6
इष्टक (ईंट)	
— हिरण्य (सोने की)	श० ब्रा० 6. 1. 2. 30
— अमृत (आग में पकी)	श० ब्रा० 6. 2. 1. 9
— मृण्मयी (मिट्टी की)	श० ब्रा० 6. 1. 2. 30
— पशु (जानवर)	वही
— वानस्पत्य (लकड़ी की)	वही
— अन्न (अन्न से ढंकी)	वही
— स्वयं आतृण्ण (स्वयं छिद्रित)	श० ब्रा० 6. 1. 2. 31
उख या उखा (कटाह, मिट्टी, बालों आदि से बनी कड़ाही)	श० ब्रा० 6. 5. 1. 1-9; यजु० 11. 61
उपयमनी (ईंधन रखने का पात्र या सहारा)	श० ब्रा० 14. 2. 1. 17
उपरव (आवाज करने वाले छेद)	तै० सं० 4. 7. 8. 1
उपांशु सवन (ग्राव) (दबाने का पत्थर)	श० ब्रा० 3. 9. 4. 1
उलूखल-मुसल (मुसली सहित ओखल)	श० ब्रा० 1. 1. 1. 22; अथर्व० 9. 6. (1). 15
ऊर्णा सूत्र (ऊन और धागा)	श० ब्रा० 12. 7. 2. 11
ऋतु पात्र (ऋतु प्याला)	श० ब्रा० 4. 5. 5. 8
— उभयतोमुख (दोनों ओर मुख वाले)	श० ब्रा० 4. 3. 1. 7
— कनिष्ठ (छोटा)	श० ब्रा० 4. 5. 5. 9
— भूयिष्ठ (बड़ा)	श० ब्रा० 4. 5. 5. 10
कट (चटाई)	श० ब्रा० 13. 3. 1. 3
कपाल (ठीकरा)	श० ब्रा० 1. 2. 1. 2
कलश (जलपात्र)	यजु० 8. 42; अथर्व० 9. 1. 6
कशिपु (तकिया, गद्दा)	श० ब्रा० 13. 4. 3. 1
कशिपु-बर्हण (गिलाफ)	अथर्व० 9. 6. 10
कुम्भ (घड़ा)	श० ब्रा० 5. 5. 4. 27
— शत वितृण्ण (सौ छेदों का)	—वही—
— नव वितृण्ण (नौ छेदों का)	—वही—
कुम्भी (छोटा घड़ा)	श० ब्रा० 12. 7. 2. 13
— शततृण्ण (सौ छेदों का)	—वही—

कूर्च (स्टूल, कुर्सी)	श० ब्रा० 13. 4. 3. 1
कृष्णाजिन (काले हरिण की मृगछाल)	श० ब्रा० 1. 1. 4. 1
कौलालचक्र (कुम्हार का चाक)	श० ब्रा० 11. 8. 1. 1
क्षुरा (छुरा)	अथर्व० 6. 68. 1
,, (हथियार)	ऋ० 1. 166. 10
खनित्र (फावड़ा, कुदाल)	ऋ० 1. 179. 6
गृह (भंडार)	तै० सं० 4. 7. 8. 1
ग्रह (प्याला)	श० ब्रा० 8. 1. 3. 4
,, (प्याले का भेद)	यजु० 18. 19-20
ग्रावा (सिल)	यजु० 6. 26; ऋ० 10. 94. 10,
	श० ब्रा० 12. 8. 2. 14
चप्य (तश्तरी)	श० ब्रा० 12. 7. 2. 13
चमसा (प्याला, तश्तरी, स्रुवा)	ऋ० 4. 35. 4-5; यजु० 18. 21
	श० ब्रा० 1. 4. 2. 14
ज्या (धनुष की डोरी)	अथर्व० 3. 19. 8
तंत्र (खड्डी)	ऋ० 10. 71. 9
तंतु (धागा)	ऋ० 10. 134. 5
तन्तुमेतम् (ज्यादा बुना)	यजु० 15. 53
तसर, त्रसर (बुनाई की चरखी)	ऋ० 10. 130. 2; यजु० 19. 83
दशा-पवित्र (छानने का किनारीदार कपड़ा)	श० ब्रा० 4. 3. 2. 11
दामन्, दाम (धागे की रस्सी)	ऋ० 5. 36. 1; 1. 162. 8
दुन्दुभि (ढोल)	यजु० 29. 57; श० ब्रा० 5. 1. 5. 6
द्रोणकलश (लकड़ी का टब)	यजु० 18. 21; श० ब्रा० 3. 6. 3. 10
धनु (धनुष)	अथर्व० 3. 19. 7
धिष्ण्य (छोटी वेदी)	तै० सं० 4. 7. 8
धृष्टि या उपवेश (मिट्टी उठाने की छड़ी)	यजु० 1. 17; श० ब्रा० 1. 2. 1. 3
परीशास (उठाने की छड़ी)	श० ब्रा० 14. 1. 3. 1
पवित्र (चलनी)	यजु० 19. 41
— कुश या घास की	श० ब्रा० 1. 3. 1. 2
— डंठलों की	श० ब्रा० 3. 1. 3. 18-22
—कपड़े की	श० ब्रा० 4. 1. 2. 4
पिन्वन (दूध का प्याला)	श० ब्रा० 14. 1. 3. 1
पूतभृत् (छनी हुई रखने का पात्र)	यजु० 28. 21; तै० सं० 4. 7. 8. 1
प्रोक्षणी (पानी छिड़कने का पात्र)	श० ब्रा० 1. 3. 3. 1; 3. 5. 2. 8
	यजु० 1. 28
मयूख (खूंटी बुनाई के लिए)	ऋ० 10. 130. 2

महावीर (आवल जैसा बड़ा बरतन, दूध आदि उबालने के लिए)	श० ब्रा० 14. 1. 1. 11 14. 1. 2. 9
मार्जालीय (बरतन साफ करने का चबूतरा)	श० ब्रा० 14. 2. 2. 43
रथ	ऋ० 1. 30. 18
— चक्र	ऋ० 1. 30. 19
— अरा	ऋ० 10. 78. 4
— नेमि	ऋ० 10. 61. 16
रथ्या (रथ दौड़, रथ का सामान)	ऋ० 1. 53. 9; 6. 62. 7
रशना (रस्सी, लगाम)	श० ब्रा० 13. 1. 2. 2; ऋ० 1. 162. 8
रश्मि (नापने की रस्सी, लगाम)	ऋ० 8. 25. 18
शफ (उठाने की छड़ी, लकड़ी का पंजेवाला औजार)	श० ब्रा० 14. 2. 1. 16
शर (बाण)	अथर्व० 3. 19. 7
शास (सोना, तांबा या लोहे का बना मारने का गंडासा)	श० ब्रा० 13. 2. 2. 16
शिक्या (रस्सियों का बना छींका)	श० ब्रा० 6. 7. 1. 18; 20
सत (प्याला)	श० ब्रा० 12. 7. 2. 13; 12. 8. 3. 15
सद (प्याला, भंडार)	श० ब्रा० 12. 7. 2. 13; तै० सं० 4. 7. 8. 1
सीर (उदुम्बर लकड़ी का हल)	श० ब्रा० 7. 2. 2. 2-3 ऋ० 10. 101. 3-4
सून (बुनी हुई टोकरी, एक पात्र, पशु मारने की जगह)	ऋ० 1. 162. 12; 10. 86. 18
स्थाली (पतीली)	श० ब्रा० 6. 7. 1. 24; ऋ० 19. 27. 86
हविर्धान (हव्य रखने का पात्र)	तै० 4. 7. 8. 1

शतपथ ब्राह्मण की आदिम यंत्रक्रियाएं

अब मैं शतपथ ब्राह्मण के जूलियस एगलिंग के अनुवाद के आधार पर कुछ संगत उद्धरण संक्षेप में यह दिखाने के लिए दूंगा कि यज्ञ-कार्य के प्रसंग में यंत्र-क्रियाओं का उपयोग किस तरह किया जाता था। ऐसे उल्लेख पूरे ब्राह्मण में मिलते हैं, लेकिन हम पहले खंड से ही उद्धरण देंगे, जिसमें दर्श-पूर्ण मास इष्टि अर्थात् अमावस और पूनम के यज्ञों के ब्यौरे दिए गए हैं।

बरतन और उपसाधन

> अब वह (अग्नि के) चारों ओर पवित्र घास बिछाता है और बरतनों को दो-दो करके लाता है अर्थात् (एक) सूप (दो) अग्निहोत्र स्रुवा (तीन) लकड़ी की

तलवार (चार) मिट्टी के बरतन का टुकड़ा (पांच) फन्नी (छः) चक्की का पाट। इनकी संख्या दस है और विराज् (छन्द) की वर्णसंख्या भी दस है और विराज् (चमकीला) भी यज्ञ है, इसलिए वह इससे यज्ञ को विराज जैसा बनाता है। वह दो-दो चीजें एक बार में लेता है, इसका कारण यह है कि युग्म का अर्थ शक्ति है, क्योंकि जब दो मिलकर कोई काम करते हैं तो उसमें ताकत होती है। साथ ही युग्म का अर्थ प्रजनक युग्म भी होता और इससे (उन-उन चीजों का) उत्पादी युग्म भी पूरा हो जाता है। —श० ब्रा० 1. 1. 1. 22

गाड़ी और चावल

फिर वह आगे (गाड़ी तक) बढ़ता है और मन्त्र (वाज० सं० 1. 7 ग) पढ़ता है: 'मैं विस्तृत आकाश के साथ बढ़ता हूं। क्योंकि राक्षस वायु में, (ऊपर और नीचे) दोनों दिशाओं में जड़-हीन और बेरोक-टोक घूमते हैं और जिससे वह व्यक्ति (अध्वर्यु) हवा में दोनों दिशाओं में जड़हीन और बेरोकटोक घूम सके, वह इसी प्रार्थना द्वारा वातावरण को खतरे और दुष्ट आत्माओं से मुक्त बना देता है। (4)

(यज्ञ के लिए जरूरी चावल) उसे गाड़ी में से लेना चाहिए। क्योंकि सबसे पहले गाड़ी (में ही चावल आता है) और बाद में इस घर में और चूंकि वह सोचता है कि जो पहले (गाड़ी में था और अब गृहस्थ के घर में आ जाने पर भी अक्षुण्ण रहा है), हम उसी को काम में लाएंगे, इसलिए उसे (गाड़ी से) चावल लेना चाहिए। (5)

साथ ही गाड़ी विपुल समृद्धि की प्रतीक है, क्योंकि गाड़ी निश्चय ही विपुलता का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए जब कोई चीज ज्यादा होती है, तो लोग कहते है कि इसके तो छकड़े भरे हैं। इसलिए ऐसा करके वह विपुलता का संकेत करता है और इसलिए उसे गाड़ी में से लेना चाहिए। (6)

फिर गाड़ी यज्ञ (का एक साधन) है, क्योंकि गाड़ी निश्चय ही यज्ञ (का एक साधन) है। इसी से (नीचे लिखे) यजुर्वेद के मन्त्र गाड़ी का उल्लेख करते हैं। भण्डार या पात्र का नहीं। सही है कि ऋषि ने एक बार चमड़े के थैले से चावल लिए थे और इसलिए ऋषियों के बारे में यजुर्वेद का पाठ चमड़े के थैले पर लागू होता है। यहां वे अपने स्वाभाविक रूप में लिए जाते हैं। क्योंकि वह सोचता है कि मैं यज्ञ से (या उसके साधन से) यज्ञ करूंगा। इसलिए उसे गाड़ी से चावल लेना चाहिए। (7)

कुछ लोग निश्चय ही चावल को (लकड़ी के) बरतन में से लेते हैं। उस मामले में भी उसे बिना कुछ छोडे हुए यजुर्वेद के मन्त्रों का पाठ करना चाहिए और

उस मामले में उसे लकड़ी की तलवार[1] (बरतन के) नीचे रखने के बाद (चावल) लेना चाहिए। वह यह सोचते हुए ऐसा कहता हैं, जहां हम जोतना चाहते है वहीं हम जुएँ को उतारते भी है। क्योंकि उसी जगह पर जहाँ वे जुग्रा जोतते हैं वहीं उसे उतारते भी हैं। (8)

सचमुच ग्राग (जैसा) ही उस गाड़ी का जुग्रा है, क्योंकि जुग्रा सचमुच ग्राग (जैसा) है: इसलिए उन (बैलों) के कन्धे जो इस (गाड़ी) को खींचते हैं ग्राग से जले जैसे हो जाते है। सहारे के पीछे का खम्भे के बीच का हिस्सा इस (गाड़ी) की वेदी के रूप में है; ग्रौर गाड़ी बन्द की हुई जगह (जिसमें चावल रखे होते हैं) का हविर्धान (हव्य रखने की जगह) है।[2] (9)

वह ग्रब जुएं को मन्त्र (यजु० 1. 8) से छूता है: 'तू जुग्रां (धूः) है,' तू चोट पहुंचाने वाले को चोट पहुंचा (धूर्व), उसे चोट पहुंचा, जो हमें चोट पहुंचाते है। उसे चोट पहुंचा, जिसे हम चोट पहुँचाते हैं।' क्योंकि जुएं में भी ग्राग होती है, जिसके पास होकर उसे जाना होगा, जब वह हव्य के लिए सामान लाएगा; इसलिए उसे वह ग्रर्पित करता है, इसलिए जब वह उसके पास होकर निकलता है, तो जुएं की ग्राग उसे चोट नहीं पहुंचाती। (10)

—श० ब्रा० 1. 1. 2. 4-10

---

1. स्फ्या एक लकड़ी की सीधी तलवार (खड्ग) या चाकू होती है, जो एक हाथ लम्बी होती है ग्रौर कत्थे (खादिर) की लकड़ी से बनती है। (का० श्रौ० सू० 1. 3. 33. 39)। इसका कई कामों में इस्तेमाल होता है, जिससे यज्ञ बिना किसी परेशानी के सुरक्षित रूप में पूरा हो सके। इस स्थल पर वह जुएं का रूप लेती है, जिसे छूने से गाड़ी यज्ञ से संबद्ध हो जाती है। यज्ञ के खत्म होने पर भी स्रुवा ग्रादि को, मानों जुएं से उतारा जाता है (जैसे उनके कृत्य से उन्हें मुक्ति दी जा रही हो) इस प्रतिनिहित जुएं पर रख दिया जाता है यदि गाड़ी से चावल लिया गया है, या बरतन पर रक्खी लकड़ी की तलवार पर यदि चावल उस बरतन से लिया गया हो। —एगलिंग।

2. भारतीय गाड़ी के खम्मे में लकड़ियों के दो टुकड़े होते हैं, जो ग्रागे की ग्रोर ग्रापस में साथ-साथ जुड़े हुए होते हैं ग्रौर धुरे की ग्रोर चौड़े होते हुए जाते हैं। इसलिए जैसी सायरण की टिप्पणी है, इसकी शक्ल वेदी जैसी होती है, क्योंकि यह सामने संकरा ग्रौर पीछे चौड़ा होता है ग्रौर वेदी सामने 24 हाथ होती है ग्रौर पीछे 30 हाथ। खंभे के बिल्कुल ग्राखीर में लकड़ी का एक टुकड़ा जोड़ दिया जाता है या खंभा स्वयं नीचे की की ग्रोर चला जाता है जिससे वह 'सहारा' बन जाए, जिसे ग्रामतौर पर पश्चिम भारत में 'सिपाही' ग्रौर ग्रंग्रेजी में 'हौर्स (घोड़ा)' कहते हैं। —एगलिंग।

चलनियां

फिर वह मन्त्र (यजु० 1. 12) के साथ दो चलनियां (पवित्र)[1] तैयार करता है:' तुम पवित्र करने वाली (चलनियां) हो और तुम्हारा संबंध विष्णु से है क्योंकि विष्णु यज्ञ है, इससे वह कहता है तुम्हारा सम्बन्ध यज्ञ से है।' (1)

उनमें से दो हैं : साफ (पवित्र) करने के साधन के रूप में यह (हवा) है, जो यहां चलती है (पवते); और यह सच है, एक ही के रूप में चलती है पर मनुष्य में प्रवेश पाकर यह आगे पीछे के दो रूप धारण कर लेती हैं, जो दो रूप हैं प्राण (बाहर सांस निकालना) और उदान (ऊपर या भीतर सांस लेना)। और चूंकि यह (सफाई की प्रक्रिया) उस (सांस लेने की प्रक्रिया) के तरीके से ही चलती है, इसलिए दो (चलनियां) होती हैं (2)

—श० ब्रा० 1. 1. 3. 1-2

कृष्णाजिन

अब वह यज्ञ की पूर्ति के लिए काले हरिण का चर्म लेता है।[2] क्योंकि एक बार यज्ञ देवताओं से बच कर निकल गया और काले हरिण के रूप में विचरने लगा। देवताओं ने उसका पता लगा लिया और उसका चर्म उतार लिया और यह (चर्म) वे अपने साथ ले आए। (1)

इसके सफेद और काले बाल ऋक् और साम मन्त्रों के रूप में है और सफेद साम है और काले ऋक् मन्त्र, या उसके उलटे साम काला और ऋक् सफेद। दूसरी ओर बादामी और पीले यजुर्वेद के मन्त्रों का रूप है (2)

यह तीन तरह का विज्ञान ही यज्ञ है; इस (विज्ञान) का वह कई प्रकार का रूप और (तरह-तरह का) रंग काले हरिण की खाल (के रूप में) है। यज्ञ की पूर्ति के लिए (सोम यज्ञ) का दीक्षा-संस्कार भी इसी तरह काले मृग की छाल पर किया जाता है : इसलिए (धान की) भूसी उतारने के और उसे रगड़ने

---

1. ये चलनियाँ (सफाई करने वाली) कुछ घास के दो दलों से बनती हैं, जिसके सिरे बिना टूटे या घिसे होते हैं और उन पर कलियाँ नहीं होतीं और उन्हें जड़ पर से कुछ घास के दूसरे दलों द्वारा अलग करना चाहिए, जिससे वे बराबर लम्बाई के (अर्थात् एक प्रादेश या बालिश्त) हो जाएं। —एगलिंग
2. काले हरिण की खाल को ब्राह्मणों की पूजा और सभ्यता का प्रतीक माना जाना चाहिए। इसलिए मनु० 2. 22. 23 में कहा गया है : हिमालय और विंध्याचल तथा पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच की जो स्थली है उसे विद्वान् आर्यावर्त (आर्यों की भूमि) कहते हैं ; जहां काला हरिण स्वभावतः विचरण करता है, उस जगह को यज्ञकर्म के लिए उपयुक्त माना जाना चाहिए : इससे आगे का देश म्लेच्छों का देश है। —एगलिंग

के लिए भी इसका उपयोग होता है। जिससे हव्य का कुछ भी टूटने न पाए और यदि अब कोई धान या आटा इस पर टूट जाए, तो भी यज्ञ अच्छी तरह यज्ञ में प्रतिष्ठित रहेगा। इस कारण भूसी उतारने और रगड़ने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। श० ब्रा० 1. 1. 4. 1-3

ओखली, मूसल और सिल

वह तुरन्त ओखल को अपने दाएं हाथ में लेता है, इस भय से कि इस बीच दुष्ट आत्माएं या राक्षस न आ जाएं। चूंकि ब्राह्मण राक्षस को भगाने वाला है, इसलिए वह अब भी बाएं हाथ में रखता है। (6)

वह ओखली को (इस पर) मन्त्र (यजु० 1. 14) के साथ रख देता है: 'तुम काष्ठ प्रस्तर (आदि) हो,' या तुम चौड़े तल वाले पत्थर (ग्रावा) हो। क्योंकि जिस तरह (सोम यज्ञ में) लोग पत्थर (ग्रावा) से राजा सोमको पीसते है, वैसे ही यहां भी वह ओखली और मुसली और छोटी बड़ी चक्की से हविर्यज्ञ को तैयार करता है।[1] (अद्रयः) इनका सामान्य नाम है, इससे वह कहता है कि 'तुम एक पत्थर हो' और 'लकड़ी के' वह कहता है, क्योंकि ओखली वस्तुतः लकड़ी की बनती है। या वह कहता है कि 'तुम चौड़े तले के पत्थर (ग्रावा) हो, क्योंकि वह पत्थर भी है और चौड़े तल का भी। वह कहता है कि 'अदिति का चर्म मुझे पाए।' जिससे वह इस (ओखली) के और कृष्णाजिन के बीच सामंजस्य स्थापित करता है, यह सोचते हुए कि 'वे एक दूसरे को हानि न पहुँचाएंगे (7)

फिर वह चावल (के दो हिस्सों) को सूप में से मन्त्र (यजु० 1. 15) पढ़ते हुए ओखली में डालता है: तुम अग्नि की देह और वाणी को मुक्त करने वाले हो। क्योंकि यह यज्ञ (सामग्री) है और इसलिए (आग में चढ़ाए जाने पर) यह अग्नि की देह बन जाता है। वह यह भी कहता है कि वाणी को मुक्त करने वाले हो, क्योंकि वह उस वाणी को मुक्त करता है जो उसने रोक ली थी, जब वह (गाड़ी से) चावल को लेने जा रहा था। वह इस कारण वाणी को मुक्त करता है कि यज्ञ ने अब ओखली में दृढ़स्थान पा लिया है, वह विकीर्ण हो गया है और इस कारण वह 'वाणी को मुक्त करने वाला' कहता है। (8)

अब वह मुसल को मन्त्र (यजु० 1. 14) के साथ लेता है: 'तुम एक बड़ लकड़ी के पत्थर हो।' क्योंकि वह एक बड़ा पत्थर ही है और लकड़ी का बना हुआ भी है। वह इसे मन्त्र (यजु० 1. 14) पढ़ते हुए नीचे मारता है: 'तुम

1. उलूखल और मुसल दोनों बहुत सख्त लकड़ी के बनाने चाहिए अर्थात् दोनों वरण लकड़ी के या उलूखल पलाश की लकड़ी का और मुसल खदिर का। उलूखल घुटनों तक ऊंचा और मुसल तीन हाथ लंबा होना चाहिए। —एगलिंग।

यह हव्य देवताओं के लिए तैयार करो, इसे अच्छी तरह से तैयार करो' और यह कहता है, 'इस हव्य को देवताओं के लिए तैयार करो, जल्दी से तैयार करो।' (10) —श० ब्रा० 1. 1. 4. 6-10

चक्की के पाटों को शम्या से पीटना

पुराने समय में (यज्ञकर्ता की) पत्नी को ही जो (बुलाए जाने पर) हविष्कृत् के रूप में आगे आती थी, इसलिए अब भी (वह या) कोई एक (अध्वर्यु) बुलाए जाने पर उठता है। और जब वह (अध्वर्यु) हविष्कृत् को बुलाता है, एक अध्वर्यु[1] दोनों पाटों को पीटता है। वे जो भारी आवाज करते है, उसका कारण यह है कि— —श० ब्रा० 1. 1. 4. 13

इसने स्वयं यज्ञ में प्रवेश किया, यज्ञ के बरतनों में और वहां से दोनों (असुर अध्वर्यु) उसे निकालने में असमर्थ रहे। यही असुरों को मारने वाली, शत्रुओं को मारने वाली आवाज (चक्की के पाटों से उनके फन्नी से पीटे जाने पर) निकलती है और जो भी इसे जानता है उसके लिए ये विसंवादी स्वर इस अवसर पर निकालते हैं और उसके शत्रु बड़े ही दयनीय हो जाते हैं। (17)

वह चक्की के पाटों को शम्या से मन्त्र (यजु० 1. 16) पढ़ते हुए मारता है: (हे शम्या) तुम एक शहद की जीभ वाले (कुक्कुट)[2] हो, क्योंकि निश्चय ही (वृष) देवताओं के लिए शहद की जीभ वाला था और असुरों के लिए विष की जीभ वाला। इसलिए वह कहता है: 'जो तुम देवताओं के लिए थे, वह तुम हमारे लिए बनो।' वह आगे कहता है: 'सत्व और शक्ति तुम हमारे लिए यहां आओ। तुम्हारी मदद से हम हर युद्ध में विजय प्राप्त कर सकें।' इन शब्दों में ऐसा कुछ नहीं जो अस्पष्ट हो। (18) — श० ब्रा० 1. 1. 4. 17-18

सूप

इस पर[3] वह (अध्वर्यु) सूप को मन्त्र (यजु० 1. 14) के साथ हाथ में लेता

---

1. अर्थात् अग्नीघ्र अग्नि के बिहार के उत्तर में बैठा हुआ शम्या से (खदिर की 6-8 इंच लंबी छड़ी, जो निचले पाट के नीचे उत्तर की ओर रखी जाती है, जिससे वह पूर्व की ओर झुक सके) निचले पाट को दो बार और ऊपर के पाट को एक बार मारता है (कात्या० श्रौ० सू० 2. 4. 15 पर स्को० की टिप्पणी) —एगलिंग।
2. महीधर इस शब्द की यह निरुक्ति करते हैं: (1) क्व-क्व (कहां-कहां) से? (वह जो असुरों को मारने की इच्छा से हर जगह यह कहते हुए विचरता है। 'असुर कहां है, कहां है?' (2) कुक् (भयानक आवाज) और कुट् (फैलाना) से या (3) वह जो असुरों को डराने के लिए ऐसी आवाज करता है जो कुक्कुट (मुर्गी) पक्षी के स्वर से मिलती-जुलती होती है। प्रोफेसर बुह्लर इसका अनुवाद ब्रुल्लर (दहाड़ने वाला) शब्द से करते हैं।
3. अर्थात् जब चावल से भूसी (हविष्कृत द्वारा ओखली में) अलग कर ली जाती है। (कात्या० श्रौ० सू० 2. 4. 16 पर स्को० की टिप्पणी)।

है : 'तुम वर्षा में बढ़े हो। क्योंकि यह भले ही नरकुलों, बेंत या सिरकी से बना हो, यह वर्षा से ही बढ़ता है, क्योंकि वर्षा ही इनको बढ़ाती है। (19)

फिर वह (कुचला हुआ) चावल (मुसल में से सूप में; मन्त्र (यजु० 1. 16) पढ़ता हुआ डालता है : 'वर्षा से बढ़े हुए तुम्हें स्वीकार करें, 'क्योंकि ये (दाने) भी वर्षा से बढ़े हुए हैं चाहे वे धान के हों या जौ के, क्योंकि वर्षा ही तो उनको उगाती-बढ़ाती है। इन शब्दों से वह उनके और सूप के बीच सामंजस्य स्थापित करता है, इस आशा के साथ कि वे एक दूसरे को हानि न पहुंचाएंगे।' (20)

अब वह (चावल को) मन्त्र (यजु० 1. 16) पढ़ते हुए फटकता है : 'राक्षस साफ कर दिए गए, दुष्ट साफ कर दिए गए।' भूसी (जो) धरती पर गिर पड़ती है को वह मन्त्र (यजु० 1. 16) पढ़ते हुए फेंक देता है :[1] राक्षस निकाल दिए गए, क्योंकि वह इस तरह दुष्ट आत्माओं, राक्षस, को निकाल फेंकता है। (21)

वह फिर (भूसी निकाले हुए दानों को भूसी न निकाले हुए दानों से) मन्त्र (यजु० 1. 16) पढ़ते हुए अलग करता है : 'हवा तुमको अलग करे।' क्योंकि यह (फटकने से पैदा हुई) हवा ही है, जो यहां साफ करती है (पवते) और यह हवा ही (धरती पर) हर उस चीज को अलग करती है, जो अलग होती है, इसलिए वह यहां पर उन (दो तरह के दानों) को भी एक दूसरे से अलग करती है। जब यह प्रक्रिया चलती है और वह उनको अलग करता है[2] (भूसी निकाले वालों को, जिससे उनको बरतन में रखा जा सके)। (22)

—श० ब्रा० 1. 1. 4. 19-22

कपाल

फिर वह पहला (अग्नीध्र) कपाल को (गार्हपत्य अग्नि) पर रखता है और दूसरा (अध्वर्यु) दोनों पाटों—दृषद् और उपल को—(कृष्णाजिन पर) : ये दोनों काम साथ-साथ किए जाते हैं। इनके साथ-साथ करने का कारण यह है : (1) इस यज्ञ के सिर (का प्रतिनिधित्व) चावल का पुरोडाश[3] करता है, क्योंकि कपाल

---

1. वह उसे बीच के अग्नि के कपाल (खप्पर) में रखता है, और उनको उत्कर या कूड़े के ढेर पर फेंक देता है। (कात्या० श्रौ० सू० 2. 4. 19 पर स्को० की टिप्पणी)। अपना काम आगे चलाने से पहले उसे पानी को छूना पड़ता है। —एगलिंग।
2. सूप का मुंह किनारे से या सामने से पकड़कर वह उनको अलग करता है और भूसी निकाले वाले को पात्र में डालता है। (कात्या० श्रौ० सू० 2. 4. 20 पर स्को० की टिप्पणी)। पद्धति के अनुसार फिर वह भूसी न निकलें इसलिए बालों को एक बार फिर ऊखली में डालता है और फिर कूटता है और उन्हें फिर सूप में डालकर वही प्रक्रिया दुहराता है। —एगलिंग।
3. इस विचार का सुझाव निःसन्देह पुरोडाश शब्द की व्युत्पत्ति से ही मिलता है, पुरस् सामने, आगे और डाश् भेंट देना। कपाल (सिर, खपरा) शब्द के दोनों अर्थों का इस रूपक के लिए उपयोग किया गया है।

के लिए यह (पुरोडाश) इसी तरह है, जैसे सिर के लिए हड्डियां और पीसा हुआ चावल दिमाग जैसा ही है। अब यह (सिर और दिमाग का समुच्चय) निश्चय ही एक अंग बनता है : 'हम उसे (जो है) एक साथ रखें,' 'हम उसे एक बनाएं' वे ऐसा सोचते है। इसी से दोनों काम साथ-साथ किए जाते है। (2)

—श० ब्रा० 1. 2. 1. 1-2

उपवेश (बेलचा)

जो कपाल को (आग पर) रखता है, वह मन्त्र (यजु० 1. 17) पढ़ते हुए उपवेश उठाता है : 'तुम धृष्टि (साहसी) हो।' क्योंकि इससे वह साहस-पूर्वक आग पर हमला करता है, इसी से इसे धृष्टि[1] कहते है। और चूंकि वह इससे यज्ञ में (कोयलों को) छूता है, और चूंकि इससे वह इस (गार्हपत्य अग्नि) को संभालता (उपविश्) है, इसलिए इसे उपवेश करते हैं। --श० ब्रा० 1. 2. 1. 3

अंगार और कपाल में पकाना

इससे वह आगे के[2] अंगारों को (खर या चूल्हे के ढेर के) मन्त्र (यजु० 1. 17) पढ़ते हुए हटाता है : 'हे अग्नि, उस आग को अलग करो जो कच्चे मांस को खा जाती है। शव को खाने वाली को अलग करो। 'क्योंकि कच्चा मांस खाने वाली (अग्नि) से ही मनुष्य जो खाते हैं, उसे पकाते हैं, और शव को खाने वाली वह है जिस पर (मृत) व्यक्ति को जलाते है : इन दोनों को वह इस तरह इस (गार्हपत्य) से अलग करता है (4)

अब वह मन्त्र (यजु० 1. 17) पढ़ते हुए एक अंगार अपनी ओर[3] खींचता है : 'उस (अग्नि) को इधर लाओ, जो देवताओं को हव्य ले जाती है।' वह सोचता है : 'उस (अग्नि) पर, जो देवताओं को हव्य ले जाती है, हम हव्य को पकाएंगे, उस पर ही हम यज्ञ करेंगे।' और इसी कारण वह (एक अंगार) अपनी ओर खींचता है। (5)

---

1. उपवेश या धृष्टि को ताजीकरण या पलाश लकड़ी से बनाया जाता है, यह एक हाथ (अरत्नि) या वितस्ति लम्बी होती है। इसका एक सिरा हस्ताकृति वाला होता है और कोयले के बेलचे का काम करता है। कात्या० श्रौ० सू० 1. 3. 36; 2. 4. 26 महीधर और स्को० की व्याख्या की तुलना करें धृष्टि शब्द का उद्भव निस्सन्देह धृष् (साहसी होना) धातु से हुआ है।
2. अब तक अंगार गार्हपत्य अग्नि के पश्चिमी ओर पड़े थे और चूंकि यह दिशा अब तक खूब गर्म हो गई है, कपाल रखने के काम आएगी, इसलिए अब वह अंगारों को चूल्हे के पूर्वी या अगले हिस्से की ओर हटाता है।
3. अर्थात् रसोई के स्थान के बीच की ओर।

इस पर वह बीच का खपरा[1] चढ़ाता है, क्योंकि जब देवता यज्ञ कर रहे थे, तो वे असुरों और राक्षसों के विघ्न से डरते थे। उन्हें भय था कि ये दुष्ट आत्माएं राक्षस उनके नीचे से न उठ खड़े हों। चूंकि अग्नि राक्षस को भगाने वाली है, इसलिए वह (खपरे को) इसके ऊपर रखता है। यह (अंगार ही) और दूसरा नहीं लिया जाता, (जिस पर खपरा रखा जाता है) इसका कारण यह है कि उपर्युक्त यज्ञ-सूत्र द्वारा पवित्र होने के बाद वह यज्ञ के लिए पवित्र हो गया है, इसी से वह बीच का खपरा इस पर रखता है। (6)

—श० ब्रा० *1. 2. 1: 4-6*

---

1. कात्या० श्रौ० सू० 2. 4 37 पर याज्ञिक देव की टीका में इन कपालों को रखने की रीति के बारे में पूरी व्याख्या दी गई है, जिन पर पुरोडाश रखा जाता है जो संख्या और आकार में अलग अलग होते हैं। अध्वर्यु पहले एक वृत्त खींचता है जिसका व्यास छः अंगुल की चौड़ाई लगभग 3-4 इंच होता है। फिर वह वृत्त को तीन हिस्सों में बांटता है और इसके लिए पश्चिम से पूर्व एक दूसरे से दो अंगुल दूर दो समानान्तर रेखाएँ खींचता है, जिससे बाहर के (दक्षिण और उत्तरी) खण्ड बराबर आकार के हो जाएं। फिर वह बीच के भाग को तीन समान कपालों से (जो हर सिरे पर दो अंगुल के होते हैं) ढंकता है, जिसके लिए पहले बीच का, फिर इसके पीछे या पश्चिम की ओर और अंत में सामने या पूर्व की ओर वाले को रखता है। फिर वह अगले (चौथे) को पहले या बीच वाले दक्षिण में रखता है और उसके बाद वह फिर भी बचे हुए कपालों को दक्षिणी और उत्तरी खण्डों के बीच बराबर-बराबर रख देता है या वह संख्या विषम होने पर विषम कपाल को दक्षिण भाग में रख देता है। इस तरह इस मामले में जहाँ पहले पुरोडाश आठ कपालों में से अग्नि को चढ़ानी है; दक्षिण भाग के बीच के तीन और चौथे या बीच वाले को रखने के बाद वह बाकी चार को दक्षिणी और उत्तरी भागों में बराबर-बराबर रखता है; उनका रखना दक्षिण-पूर्वी कोने से शुरू करता है और दक्षिण से बाएं ओर बढ़ता है जिससे अंत उत्तर-पूर्व में हो। इसी तरह अग्नीषोमी के ग्यारह कपालों की पुरोडाश के मामले में भी पहले चार कपालों को रखने के बाद वह बाकी सात में से चार दक्षिणी भाग में और तीन उत्तरी भाग में रखता है। इस तरह विषम संख्या के कपालों वाले पुरोडाश के मामले में दक्षिणी भाग के कपालों की संख्या पूर्वी भाग के कपालों से दो ज्यादा रहती है और समसंख्या के मामले में केवल एक ज्यादा। यह नियम कम से कम छः कपालों की मांग करने वाले पुरोडाश के लिए है। जब केवल एक कपाल जरूरी हो, तो उसका आकार एक हाथ जितना होना चाहिए; जब दो की जरूरत हो तो वे वृत्त आकार में हों जितना विभाजन दो बराबर हिस्सों में दक्षिण से उत्तर तक खींची गई एक रेखा द्वारा किया गया हो; जब तीन हों तो वृत्त को दक्षिण से उत्तर

[अगले पृष्ठ पर—

पिसे चावल को पात्री में गूंथना

वह (पिसे चावल को) चलनी लगे हुए पात्र में ढालता है अर्थात् एक पात्री में जिस पर उसने दो चलनियां लगा रखी हैं—मन्त्र (यजु० 1: 21) पढ़ते हुए : 'दिव्य सावित्री की प्रेरणा पर मैं तुझे ढाल रहा हूं, अश्विनी की बांहों से, पूषन् के हाथों से।' इस सूत्र का भाव भी वही (पहले जैसा 1. 1. 2. 17) है। (1)

अब वह कहीं वेदी[1] के भीतर बैठता है। फिर कोई (अर्थात् अग्नीध्र) गूंथने के लिए पानी[2] लेकर आता है और उसे उसके पास लाता है। वह (अध्वर्यु) उसे चलनियों में से मन्त्र (यजु० 1. 21) पढ़ते हुए लेता है : 'जल पौधों से मिले।' क्योंकि इससे पानी पौधे से या पिसे चावल से मिलता है, 'पौधे जीवन से' क्योंकि पौधे इस तरह जीवन से मिलते हैं अर्थात् पिसा चावल पानी से, क्योंकि पानी उनका जीवन है—चमक (समृद्धि) वाले चलने वालों से 'क्योंकि पानी चमक वाला है और पौधे चलने वाले हैं और ये दोनों इस तरह आपस में मिलते हैं' फिर वह कहता है 'नमकीन नमकीन से मिले।' (2)

फिर वह (उन दोनों को) मंत्र (यजु० 1. 22) पढ़ते हुए मिलाता है: 'प्रजनन के लिए मैं तुम्हें मिलाता हूं।' क्योंकि वह (गूंथा आटा या यज्ञ के लिए तैयार किया गया पुरोडाश) याजक को संतति दे, समृद्धि दे, और अन्न आदि दे—इस कारण वह उनको साथ-साथ मिलाता हैं। और वह उनको इसलिए भी मिलाता है कि उस (गूंथे आटे) को (आग) पर रखे। जिससे कि आग पर यह (यज्ञ

—पिछले पृष्ठ से]

तक तीन हिस्सों में बांटा जाता है; चार या पांच होने पर उसे पश्चिम से पूर्व दो आधे हिस्सों में बांटा जाता है; और पहले मामले में तीन कपाल दक्षिणी और एक (अर्ध चन्द्राकार) उत्तरी अर्द्ध भाग में रखा जाता है और दूसरे मामले में तीन उत्तरी और दो दक्षिण भाग में। कपाल यद्यपि आकार में अव्यवस्थित होते हैं, फिर भी उनको हमेशा एक दूसरे के साथ ठीक से बैठ जाना चाहिए, जिससे बीच में कोई जगह न बचे। यह किनारों को रगड़ कर किया जाता है। पुरोडाश की शक्ल कछुए या ढाल या क्रॅव जैसी होनी चाहिए और ये अधिकांश पुरोडाश के कपालों की तरह ही अर्थात् एक मध्य और बाकी पार्श्विक रूप में व्यवस्थित किए जाने चाहिए।

— एगलिंग

1. वह (पात्री को लेकर) पकाने वाली आग के पीछे या वेदी के भीतर बैठता है, कात्या० श्रौ० सू० 2. 5. 11। महादेव के अनुसार कण्व प्रथम विकल्प को मानते थे।
2. कात्या० श्रौ० सू० 2. 5. 1 के अनुसार गूंथने के पानी (या मिलाने का पानी उपसर्जनी) को (गार्हपत्य) अग्नि पर (अग्नीध्र द्वारा) कृष्णाजिन फैलाते समय या उससे पहले रखा जाता है।

—एगलिंग

का पुरोडाश) बन सके, इस उद्देश्य से भी वह उन दोनों को साथ-साथ मिलाता है। (3)

—श० ब्रा० 1. 2. 2. 1-3

घर्म कटाह

अब वह (अध्वर्यु) (अधिवृज्) पर पुरोडाश को मंत्र (यजु० 1. 25) बढ़ते हुए रखता है: 'तुम घर्म (ताप या गर्म बरतन) हो।' इससे वह इसे यज्ञ (का एक साधन) बनाता है और उसे उसी तरह से रखता है जैसे वह (प्रवर्ग्य) घर्म[1] को 'आयु देने वाले' (विश्वायुष्) आयुष् की कामना करता है (7)

वह इसे (संबन्धित कपालों पर) मंत्र (यजु० 1. 22) पढ़ते हुए फैलाता हैं: 'तुम व्यापक रूप से फैलने वाले हो, व्यापक रूप से फैलो।' ऐसा कहकर वह उसे फैलाता है। आगे वह कहता है: 'यज्ञ पुरुष व्यापक रूप से फैले (समृद्ध हो) यज्ञ पुरुष वस्तुतः याजक ही है, इसलिए याजक के लिए ही इस तरह आशीष की कामना करता है। (8)

—श० ब्रा० 1. 2. 2. 7. 8

स्रुक्, उनको रगड़ना और उनकी सफाई

अब वह (अग्नीध्र) स्रुक्[2] को (घास के सिरों से) रगड़ता है।

---

1. घर्म या 'गर्मी' एक प्रकार की कढ़ाई (जिसे 'महावीर' भी कहते है,) का पारिभाषिक शब्द भी है, जिसे सोम यज्ञ की आरम्भिक क्रिया प्रवर्ग्य में काम में लाते थे : उसमें खाली कड़ाह को आग पर रखते थे और जब वह खूब गर्म हो जाता था (इसी से घर्म नाम पड़ा) तो ताजा दूध उसमें डाला जाता था। कड़ाह को रखने का पारिभाषिक शब्द प्र-वृज् है जिससे प्रवर्ग्य बना है; और वही धातु उपसर्ग बदलकर (अर्थात् अधि-वृज्) पारिभाषिक रूप से यज्ञ-पुरोडाश रखने के लिए प्रयुक्त होती थी, वह धातु का सामंजस्य यह संकेत देता है कि शायद दोनों क्रियाएं संबद्ध रही हों, क्योंकि सोम-यज्ञ और सामान्य आहुतियों के बीच कुछ सम्बन्ध रखने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। पुरोडाश फैलाने से पहले बुझ कोयले कपाल से वेद (घास) द्वारा अगल किए जाते थे।

—एगलिंग।

2. प्रातः सायं यज्ञ में प्रयुक्त अग्निहोत्र-हवनी या दूध के स्रुक् के अलावा तीन और स्रुक् या भेंट करने की चम्मचों का प्रयोग किया जाता है अर्थात् जुहू, उपभृत, और ध्रुवा। वे दोनों ही भिन्न प्रकार की एक बांह लंबी (या कुछ लोगों के विचार से एक हाथ लंबी) लकड़ी से बनते है जिसमें एक प्याला हाथ के आकार और शक्ल का होता है और प्याले के आगे की ओर और छाल में से छेद होता है, जिसमें आठ या नौ इंच लंवा हंस की चोंच जैसा अग्रभाग जोड़ दिया जाता है। दूसरी ओर स्रुवा या ढालने वाली चम्मच जो खास तौर पर घी (या दूध) डालने के काम आती है एक हाथ लंबी

[अगले पृष्ठ पर—

जिस कारण वह स्रुवाओं को रगड़ता हैं वह कि यह है देव-पथ[1] भी मनुष्यों के पथ जैसे ही हैं। फिर जब मनुष्यों में खाना परोसे जाने को होता है—वे बरतनों को रगड़ते है और उनको रगड़ने के बाद वे उनसे खाना परोसते है, इसी तरह देवताओं के यज्ञ की भी बात है अर्थात् पकाई गई हव्य और तैयार की उनके गई वेदी और बरतन और यज्ञ की स्रुवाएं। (2)—श० ब्रा० 1.3.1.1-2

वह पहले स्रुवा को लेता है और उसे (गार्ह्यपत्य अग्नि पर) गरम करता है, नीचे लिखे में से एक मन्त्र (यजु० 1.29) पढ़ते हुए: राक्षस जल चुके, शत्रु जल चुके। —श० ब्रा० 1. 3. 1. 4

इस तरह वह इसे भीतर की (घास के) सिरों से रगड़ता है जो वेद घास को बांधने में काटे गये हैं) और मंत्र (यजु० 1. 29) पढ़ता है: अ-निशित हो[2] फिर भी शत्रुओं का अंत करने वाले हो' वह इसलिए कहता है कि यह याजक के शत्रुओं का लगातार नाश करे। आगे तुझे, खाद्य से भरे-पूरे को मैं खाद्य[3] को चमकाने के लिए साफ करता हूं।' 'तुम जो यज्ञ के लिए उपयुक्त हो, तुम्हें मैं यज्ञ के लिए साफ करता हूं' वह यह कहता है। इसी तरह वह सभी स्रुवों को यह कहते हुए साफ करता है, तुझे खाद्य से भरी पूरी को—आहुति डालने

—पिछले पृष्ठ से]

और खदिर की लकड़ी की होती है और इसमें अंगूठे अगले हिस्सों जैसा गोल प्याला लगा होता है, पर इसमें अग्रभाग नहीं होता। हमारे ग्रन्थ के मूल पाठ में 'सुक्' शब्द 'चमचे' के सामान्य अर्थ में और आहुति डालने वाली चम्मच दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जो सुवा या डालने वाली चम्मच से भिन होता है।

1. यहां पर सुक् के रगड़ने की तुलना खाना परोसने के लिए तैयार किए जाने वाले बरतनों से की गई है। साथ ही आगे (1. 8. 3. 26-27) पर हम देखेंगे कि दो सुक् जुहू और उपाभृत साथ-साथ चलने वाले माने गए हैं, वे दो घोड़े हैं जो यज्ञ को (और फलतः याजक को भी) देवताओं की दुनिया में लाते है। इससे यह सफाई की प्रक्रिया याजक के देवताओं की दुनिया की यात्रा पर चलने के समय घोड़ों के साफ करने जैसी भी है।
2. अनिशित, 'तेज किया हुआ नहीं', शा (शो) तेज करने की अर्थ की धातु से (ऐसा ही महीध्र भी कहते है)। फिर भी यदि लेखक मूलपाठ के अ-निशित शब्द का अर्थ अनुपरत (खत्म न हुआ) लगाता है, तो लगता है कि वह धातु 'शा' को धातु 'सा' (शो) मान लेता है, जिसका अर्थ है समाप्ति करना। सुक् को साफ करके तेज किया जाता है। तुलना करिए तै० ब्रा० 3. 3. 1. 1।
3. वाजेध्यायै, यज्ञ को प्रकाशित करने (चमकाने) के लिए (आग में डाले जाने वाले घी द्वारा), यज्ञ महीध्र देवता का भोजन है। सेंट पीटर्स डिक्शनरी में वाजेत्यायै पाठ सुझाया गया है, 'तुझे, घोड़े को, मैं दौड़ के लिए साफ करता हूं।' — एगलिंग।

वाले स्रुकों (स्त्रीलिंग) के लिए है। प्राशित्रहरण[1] को चुपचाप साफ करता है। (6)

(घास के) ऊपरी सिरों से भीतर वह इसी तरह साफ करता है (अर्थात् हत्थे से ऊपर की ओर या अपने से आगे पूर्व की ओर): बाहर की ओर (घास के) निचले सिरों से (अर्थात् उलटे या पीछे की ओर, अपनी ओर)[2] क्योंकि इसी तरह (अर्थात् पहली तरह) साँस बाहर जाती है और इसी तरह (अर्थात् उलटी तरह) भीतर जाने वाली सांस जाती है।

इस तरह वह (याजक के लिए) बाहरी और भीतरी सांस प्राप्त करता है: इसी से ये बाल (कुहनी के ऊपर) उस तरफ को होते हैं और ये (नीचे की ओर) उस तरफ को।[3] (7)

हर बार वह (एक स्रुक् को) रगड़ता है और गरम करता है, वह उसे (अध्वर्यु के) हाथ में दे देता है। जैसा कि (खाने बरतन) छूकर रगड़ने के बाद फिर कोई आखीर में उन्हें बिना छुए रगड़ता है, वैसे ही यहां भी, इसी कारण वह हरेक (स्रुक्) को गरम करने के बाद हाथ में देता है।[4] (8)

—श० ब्रा० 1. 3. 1. 68

---

1. प्राशित्रहरण खदिर लकड़ी का चौकोर या गोल पात्र होता है (? अंडाकार, गाय के कान जैसा—सायण; दर्पण के आकार जैसा—कात्या० श्रौ० सू०) जो पुरोडाश के ब्राह्मण वाले भाग (प्राशित्र) को रखने के काम आता है। कात्या० श्रौ० सू० 11. 649 के अनुसार इस अवसर पर शृतावदान (पुरोडाश काटने वाला) और पुराडोश पात्री को भी साफ करते हैं।
2. स्रुवा को रगड़ता हुआ वह आहवनीय अग्निगृह के पूर्व में पूर्व की ओर देखता हुआ खड़ा होता है। कृष्ण यजुर्वेद में (तै० ब्रा० 3. 3. 1. 3-4, तै० सं० 1. 1. 10 पर टीका) रगड़ने का जो तरीका बताया गया है, वह ज्यादा जटिल मालूम पड़ता है।
3. अर्थात् पहले वाले (अरत्नेरुपरिभागस्य लोमानि) सायण के अनुसार आगे की तरफ (देह से बाहर) के होते हैं और पीछे वाले (पृष्ठभागस्य लोमानि) पीछे की तरफ। तै० ब्रा० 3. 3. 1. 4 में यह है: 'कुहनी या (अरत्नौ) ऊपर के बाल आगे की ओर होते हैं, नीचे के पीछे की ओर जिस पर सायण (तै० सं० 1. 1. 1. 10) की टीका है:' कलाई से ऊपर के रोएँ (मणिबन्धादूर्ध्वम्) आगे की ओर को (प्राङ्मुख) होते हैं लेकिन नीचे के पीछे की तरफ को (प्रत्यङ्क)।
4. अर्थात् स्रुकों को गरम करना वैसा ही होता है, जैसा बरतनों को आखीर में पानी से बिना छुए रगड़ना। —सायण

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

ऐत० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
आप० श्रौ० सू०	आपस्तम्ब श्रौत सूत्र
आश्व० गृ० सू०	आश्वलायन गृह्य सूत्र
अथर्व०	अथर्ववेद
कात्या० श्रौ० सू०	कात्यायन श्रौत सूत्र
महीध०	यजुर्वेद पर महीधर भाष्य
मनु०	मनुस्मृति
ऋ०	ऋग्वेद
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
यजु०	यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ।।
द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त-शतानि विंशतिश्च तस्थुः ।।

एकाकी (सूर्य), जिसके तीन माताएं और सात पिता हैं ऊंचा स्थित था, कोई भी
कभी उसे थकाता नहीं : उसके बारे में ऊंचे आकाश में देवता सभी को
समझ में आनेवाली (पर) सभी को अप्राप्य भाषा में सलाह करते हैं ।

सत्य (सूर्य का) बारह अरों वाला चक्र आकाश में घूमता है
और कभी क्षय नहीं होता, सात सौ बीस बच्चे जोड़ों
में हैं, अग्नि इनमें व्याप्त है । —ऋ० 1. 164. 10-11

अध्याय : तीन

दीर्घतमस्, वैदिक संवत् का आविष्कर्ता

> ममता का पुत्र दीर्घतमस् दसवें युग के (बीतने पर) वृद्ध हो गया है; जो अपने (पवित्र) कृत्य का फल पाना चाहते हैं, वह उनके लिए ब्रह्मा है ; वह उनका सारथि है[1] ।
>
> —ऋ० 1. 158. 6

वेद में वर्ष, ऋतु और चलने वाले युगों के जो उल्लेख मिलते हैं, वे बड़े ही महत्वपूर्ण हैं । वैदिक ऋचाओं द्वारा प्रेरणाप्राप्त कवियों का अपने वर्ष गिनने के लिए अपना कुछ संवत् या युग अवश्य रहा होगा और कृत, द्वापर, त्रेता शब्दों से उनका जो अभिप्राय था, वह भारत के पिछले काल में ज्योतिष ग्रन्थों में प्रयुक्त उनका अभिप्राय कभी नहीं हो सकता । अब हम वैदिक ऋषि दीर्घतमस् के योगदान की चर्चा करेंगे, जो वैदिक संवत् के प्रसंग में पहले ज्योतिर्विज्ञ थे । इस संवत् में वर्षों को अधिक या लौंद दिन के अनुसार गिना जाता था जो युग या चार सालों के चक्र में एक बार पड़ता था । इस तरह युग[2] $4 \times 365\frac{1}{4}$ या 1461 दिनों की इकाई था । संवत् को स्वयं एक दिव्य शिशु की आयु के रूप में व्यक्ति माना गया है ।

---

1. दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे ।
   अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः ॥ —ऋ० 1. 158. 6
2. ऋग्वेद में "युग" शब्द कम से कम तेंतीस बार भिन्न-भिन्न अर्थों में आया है । ज्यादातर यह (1) थोड़े समय और (2) दीर्घ समय का उल्लेख करता है। ऊपर जो उद्धरण दिया गया है, उसमें युग का अर्थ दस साल से ज्यादा का समय नहीं हो सकता । इसका युक्तियुक्त अर्थ चार-पांच साल ही हो सकता है । इसी तरह ऋग्वेद 3. 26. 3. में एक और प्रसंग है जिसमें कुशिकों द्वारा हर युग में वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित करने की बात कही गई है (समिध्यत वैश्वानरः कुशिकेभिर्युगेयुगे) । एक और प्रसंग में ऋ० 3. 55. 18 में छः ऋतुओं में बांटे गये पांच सालों के समूह का जिक्र है (षोळ्हा युक्ताः पञ्चपञ्चा वहन्ति) । जिस तरह ऋग्वेद में ही युग शब्द कई अर्थों में आया है, उसी

[अगले पृष्ठ पर—

दीर्घतमस् वह पहला व्यक्ति था, जिसने एक संवत्सर होने का महत्व समझा। वह ममता का पुत्र था और उचथ्य का एक शिष्य और इसलिए उसका नाम औचथ्य दीर्घतमस् था। उचथ्य स्वयं अंगिरस् का शिष्य था और इसलिए उसे उचथ्य अंगिरस कहते थे। दीर्घतमस् का एक शिष्य कक्षीवान् था और दूसरा औशिज। ऋग्वेद में दीर्घतमस् 242 मन्त्रों के ऋषि माने गये हैं। ये सब पहले मण्डल के सूक्त 140 से 164 तक आए हैं।

वेदों की प्राचीनता

वेदों के निर्माण की प्राचीन तिथि निश्चय रूप से बताना कठिन है। जैमिनि, सायण और महीधर से लेकर दयानन्द तक सभी वैदिक भाष्यकार वेदों को सृष्टि के आरम्भ का मानते हैं अथवा वे पहले जनसमूह के समक्ष या सभ्य समाज के अंगभूत पहले व्यक्ति के सम्मुख प्रकट हुए।

पश्चिमी शैली में प्रशिक्षित चिन्तकों ने भी वेदों के निर्माण का युग निश्चित करने की कोशिश की है। प्रो० एच० जैकोबी ने ऋग्वेद के एक मन्त्र[1] (10. 85. 13) में उत्तराफाल्गुनी और उत्तराभाद्रपदा नक्षत्रों की स्थिति का एक उल्लेख खोज निकाला है, जब वर्ष उत्तरायण में वर्षा के समय शुरू होता था[2] और इस तरह ऋग्वेद का युग 4500 ई० पू० के बीच निश्चित किया है। उनका कहना है :

> तदनुसार इस सभ्यता का समय 4500 से 2500 ई० पू० तक विस्तृत था और यदि हम इन सूक्तों के संग्रह का जो हमें आज मिलते हैं रचनाकाल इस समय के उत्तरार्द्ध में रखें, तो हम ज्यादा गलती पर न होंगे।

—पिछले पृष्ठ से]
तरह संभव है कि संवत्सर और परिवत्सर शब्दों का अर्थ भी—या तो सिर्फ साल था या चार पांचसालों का चक्र। तैत्ति० सं० (5. 5. 7.1-3) में संवत्सर, परिवत्सर इडावत्सर और वत्सर शब्द आये हैं: इस तरह इसका अर्थ पांच सालों से है (यजु० 27. 45 भी देखें)। कुछ जगहों पर चार ही का वर्ग है संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर और अनुवत्सर, जिनका संबंध अग्नि, अदिति, चन्द्रमा और वायु से है। बाद में कौटिल्य (2. 20.) में युग निश्चय ही पांच साल का चक्र बन गया (पञ्चसंवत्सरो युगमिति) जहां वह पांच संवत्सरों के युग की और दो अधिक मासों के—एक ढाई साल बाद और दूसरा पांच साल बाद—रखे जाने की बात करते हैं। (एवमर्धतृतीयानामब्दानाम धिमासकम्। ग्रीष्मे जनयतः पूर्वं पञ्चाब्दान्ते च पश्चिमम्)।

1. सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
   अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥ —ऋ० 10. 85. 13
2. देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते।
   संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम्॥ —वही 7. 103. 9

इसी तरह बाल गंगाधर तिलक ने स्वतन्त्र रूप से वेदों में आर्द्रा से कृत्तिका तक राशि की स्थिति बदलने का उल्लेख खोजा और वैदिक युग वही निश्चित किया, जो जैकाबी ने किया था। बौद्ध युग का आरम्भ 500 ई० पू० रख कर और उसे भारतीय इतिहास का महत्त्वपूर्ण बिन्दु मानकर प्रो० मैक्सूमलर ने समग्र वैदिक युग को पांच हिस्सों में बांटा है : ऋग्वेद काल, यजुर्वेद काल, ब्राह्मण काल, उपनिषद् काल और सूत्र काल और हर साहित्य-युग के विकास के लिए दो-दो शतियों का समय देकर उन्होंने ऋग्वेद के युग का आरंभ 1500 ई० पू० निश्चित किया।

एक पद्धति और है और उसे भी बिलकुल ठुकराया नहीं जा सकता। इसके अनुसार ऋग्वेद की पहली पंक्ति से लेकर सबसे बाद के ब्राह्मण की आखिरी पंक्ति तक कवियों का मुख्य लक्ष्य यज्ञ-युग का संरक्षण रहा है, जिसे पक्षी जैसे अग्नि प्रजापति का युग या गायों का यज्ञ सत्र (गवां अयन) माना गया है। वह द्वि-षष्टक (बाई-सेक्सटाइल) वर्षों का युग है, जिसके अधिक या लौंद दिन पक्षी जैसे अग्नि का युग बनाने वाले या चार पैरों वाली गायों के विशिष्ट यज्ञ को बनाने वाला माना गया है। संक्षेप में यह द्वि-षष्ठक अधिक (लौंद) दिनों का युग है। जब गिनती नियमित रूप से एक दिन का वर्ष, दो दिन का वर्ष, तीन दिन का वर्ष, तीस दिन या एक मास का वर्ष आदि के रूप में की जाती थी—और तदनुसार इतने ही चार-चार सालों के चक्र या युग हुआ करते थे।

यह संवत्सर वही है, जैसे कि प्राचीन मिस्रवासी एक दिन, दो दिन, एक मास, दो मास, तीन मास आदि को एक साल के रूप में मानते थे। यह वही संवत्सर है, जो एजटेक लोगों का 260 दिनों का ज्योतिष-वर्ष था, जिसकी ज्योतिर्गणना हिन्दुओं की गणना के अनुरूप मानी गई है। यह वही संवत्सर है, जो पुराने रोम वासी दस महीने के वर्ष के रूप में मानते थे। यह वही संवत्सर है, जो सारी दुनिया में प्रायः 1900 सालों तक चलता रहा, जब लगभग 1200 ई० पू० में यह द्विषष्ठक—अधिक दिनों का संवत्सर अनेक कारणों से छोड़ दिया गया और उसके स्थान पर 366 दिनों के पांच नाक्षत्र वर्षों के चक्र को अपनाया गया।

समय बीतता गया और जब पांच साल के चक्र को आम तौर पर सभी जानने लगे, तो चार साल के चक्र से संबद्ध संस्कार और विचार बेकार हो गए और यहां तक हुआ कि ईसवी सन् से छः या सात सदी पहले विद्वान् बहुत वैदिक शब्दों और पदांशों का अर्थ मुश्किल से लगा पाते थे। यास्क (600 ई० पू०) कम से कम सत्रह ऐसे पूर्ववर्तियों के नाम देते हैं जिनकी वेदसंबंधी व्याख्याएं परस्परविरोधी हैं, कौत्स इस शब्दावली से इतने विभ्रम में पड़ गए कि निराशा में वह यही कहने लगे कि अस्पष्टता और प्रत्यक्ष परस्पर-विरोध के कारण वेद से संबंधित विज्ञान निरर्थक है। सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायण के समय विद्वान् वैदिक मूल शब्दावली से इतने अपरिचित हो गए कि बहुत से पदांशों के प्रसंग में इन

भाष्यों का महत्त्व बिलकुल नगण्य हो गया। प्रो० रौथ के इस कथन से सहमत होना ही होगा कि वैदिक निर्वचन का लक्ष्य सायण या उससे अठारह सदी पहले पैदा हुए यास्क द्वारा वैदिक मन्त्रों को दिया गया अर्थ जानना नहीं है, बल्कि प्राचीन कवियों को स्वयं उनका क्या अर्थ अभिप्रेत था। इस प्रकार रौथ[1] ने इन भाष्यकारों को ऋग्वेद के निर्वचन में हमारा मुख्य मार्ग दर्शक नहीं माना। ऋग्वेद भारतीय या वस्तुतः आर्य जाति की प्राचीन महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति के रूप में बहुत प्राचीन शिखर पर अकेला बहुत ऊंचा खड़ा है। बूथलिंग के सहयोग से रौथ ने 1852-75 के बीच सात जिल्दों का जो संस्कृत कोश प्रकाशित किया, उससे उसने वेदों के आधुनिक वैज्ञानिक निर्वचन की नींव रखी।

शामशास्त्री के अनुसार 'गवां अयन' नामक वैदिक संवत्सर 3101 से लगभग 1260 ई० पू०[2] तक प्रचलित रहा। उसके बाद ज्योतिष संबंधी शब्दावली इतनी बदल गई कि रौथ के कोष से भी कुछ अस्पष्ट सूक्तों का सही अर्थ-निर्णय नहीं हो पाता।

वर्ष

ऋतुओं का परिवर्तन जैसे ग्रीष्म ऋतु, बर्षा ऋतु और शीत ऋतु ने प्राचीन समय में सभी लोगों का ध्यान आकर्षित किया और ऋतुओं के पलटने के अन्तराल के 354 दिनों या छः संक्रम-महीनों से उनको परिचित बना दिया। लेकिन 354 दिनों या बारह संक्रम-मासों की धारणा ने वर्ष में उचित समय पर उनकी स्थिति निश्चित करने में दिक्कत पैदा की होगी। कृषि प्राचीन आर्यों का एक महत्वपूर्ण व्यवसाय था, जबकि अमावस और पूर्णिमा के दिन यज्ञ क्रिया एक धार्मिक कर्त्तव्य ही बन गयी। यह बहुत ही संभव है कि खेती के काम के सिलसिले में हर ऋतु का समय तय करने में और यज्ञों को ठीक-ठीक करने के लिए अमावस और पूर्णिमा की तिथि निश्चित करने के अपने प्रयास में वैदिक कवियों को कुछ दिक्कत और परेशानी हुई हो। चान्द्र गणना ने सायन वर्ष में गड़बड़ी पैदा कर दी। यह बात तैत्तिरीय संहिता और शतपथ-ब्राह्मण के ऋषियों के निकट स्पष्ट थी। एक स्थल पर हम देखते हैं कि[3] :

---

1. मेकडोनेल का 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर'।
2. आर० शामशास्त्री : 'गवां अयन'। 1908
3. ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे। आ नो यज्ञे भजत मा नो यज्ञादन्तर्गतास्त्वेव नोऽपि यज्ञे भागऽइति। त द्वै देवा न जज्ञुः। तऽऋतवो देवेष्वजानत् स्वसुरानुपाऽऽवर्त्तन्ताऽप्रियान् देवानां द्विषतो भ्रातृव्यान्। ते हैतामेधतुमेधां चक्रिरे। यामेषामेतामनु श्रृण्वन्ति कृषन्तो ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति लुनन्तोऽपरे मृणन्तः शश्वद्धैग्योऽकृष्टिपच्याऽएवौषधयः पेचिरे॥ —श० ब्रा० 1. 6. 1. 1-3

'ऋतुओं ने यज्ञ में अंश पाने की इच्छा प्रकट की और बोली कि हमें भी यज्ञांश मिले। हमें भी यज्ञ में शामिल करो। हमें भी यज्ञ में हिस्सा मिले।' देवताओं ने यह पसंद नहीं किया। जब देवताओं ने उनकी बात न मानी तो ऋतुएं असुरों के पास गईं, जो देवों के अप्रिय शत्रु थे। वे (असुर) तब इस तरह समृद्ध हुए कि उन्होंने (देवताओं ने) भी यह बात सुनी; क्योंकि यद्यपि आगे के (असुर) अब भी जोतते और बोते थे, उनके पीछे के लुनाई और ओसाई में लग जाते थे; वस्तुतः बिना जुताई किए ही पौधे उनके लिए तुरन्त पक जाते थे।'

इस तरह देव और असुर इन दो वर्गों में एक जब उसी ऋतु को बोने की ऋतु मानता था, तो दूसरा लुनाई करने की। चान्द्रमासों ने ऐसी ही गड़बड़ी खड़ी कर दी थी।

इस तरह यह स्पष्ट है कि ऋतुओं का माप करने में चान्द्र वर्ष की अक्षमता की परख वैदिक ऋषियों ने जांच करके कर ली थी और वे सफलतापूर्वक चार प्रकार के वर्षों का भेद जान गए थे :

(क) 354 दिनों का चान्द्र वर्ष
(ख) $365\frac{1}{4}$ दिनों का सायन वर्ष
(ग) 360 दिनों का लौकिक वर्ष और
(घ) 366 दिनों का नाक्षत्र वर्ष

शतपथ-ब्राह्मण में एक यह अंश भी आया है :[1]

'जो लोग अमावस और पूर्णिमा को यज्ञ करते हैं, निश्चय ही एक दौड़ लगाते हैं। उनको ये यज्ञ पन्द्रह साल तक करने चाहिए। इन पन्द्रह सालों में 360 अमावसें और पूर्णिमाए पड़ती हैं; और एक वर्ष में 360 रातें होती हैं। इस तरह वह इन रातों को प्राप्त करता है।'

'फिर उसे अगले पन्द्रह सालों तक यज्ञ करना चाहिए—इन पन्द्रह सालों में 360 अमावसें और पूर्णिमाएं पड़ती हैं और एक वर्ष में 360 दिन होते हैं। इस तरह वह इन दिनों को प्राप्त करता है और वह वर्ष को ही प्राप्त करता है।'

यह अंश चान्द्र वर्ष को नाक्षत्र वर्ष से जोड़ता है। पन्द्रह नाक्षत्र सालों में होता 24-24 घण्टों के 180 दिन प्राप्त करेगा या 12-12 घण्टों की 360 रातें या

1. आजि वाऽएते धावन्ति ये दर्शपूर्णमासाभ्यां यजन्ते स वै पञ्चदश वर्षाणि यजेत तेषां पञ्चदशानां वर्षाणां त्रीणि च शतानि षष्टिश्च पौर्णमास्यश्चामावास्याश्च त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्य रात्रयस्तद् रात्रीराप्नोति।
अथापराणि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत। तेषां पञ्चदशानां वर्षाणाम् त्रीणि चैव शतानि षष्टिश्च पौर्णमास्यश्चामावास्याश्च त्रीणि चैव शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि तदहान्याप्नोति तद्वेव संवत्सरमाप्नोति॥ श० ब्रा० 11. 1. 2. 10-11

12-12 घण्टों के 360 दिन, जिन्हें दक्षिणायन में रात माना जाता है। दूसरे शब्दों में उसे 15 नाक्षत्र वर्षों से छः अधिक मास मिलेंगे, क्योंकि 366 दिनों का हर नाक्षत्र वर्ष 354 दिनों के हर चान्द्र वर्ष से 12 दिन ज्यादा होता है और पन्द्रह नाक्षत्र वर्षों में 15×12=180 अधिक मिल जाएंगे।

इस अंश से यह पता चलता है कि 30 नाक्षत्र वर्षों के इस चक्र में, किसी भी प्रकार के मलमास की व्यवस्था नहीं की गई थी, जिससे चान्द्र वर्ष ऋतुओं के अनुरूप बना रहे। चान्द्र वर्ष सभी ऋतुओं के बीच पीछे पड़ता रहता था और 30 नाक्षत्र वर्ष पूरे होने पर असली ऋतु के साथ शुरू होता था।

तैत्तिरीय संहिता में दो अलग-अलग ज्योतिष संबंधी विचारधाराओं की चर्चा है, एक धारा के लोग (उत्सर्गी) बीच-बीच में मलमास की व्याख्या कर लेते हैं और दूसरे चान्द्र वर्ष को यथारूप चलकर अपने आप ठीक होने देते हैं। जो धारा मलमास की व्यवस्था को नहीं मानती, वह यह कहती है :

> 'वे पृष्ठ कर्म पहले महीने में करते हैं, बीच के महीने में करते हैं और आखीर के महीने में करते हैं। उनका कहना है कि 'जब वे गाय को दिन में तीन बार दुहते हैं, तो वह दूसरे दो बार दुहने में कम दूध देती है, इसलिए जिसे बारह बार दुहना है, उसे कैसे दुहा जाए ? 'साल हो जाने पर उनको पृष्ठ कर्म एक बार आखिरी महीने में करना चाहिए; निश्चय ही याजक यज्ञ और पशु प्राप्त करते हैं। यह एक समुद्र है, जिसका न यह किनारा दीखता है और न वह। जो लोग वर्ष कृत्य करते हैं, वे भी ऐसी ही स्थिति अपनाते हैं।[1]

वर्ष प्रसंग में तीन दोहन चार-चार महीनों के तीन अधिक काल हैं; और बारह दोहन बारह बार जोड़े गए बारह अधिक मास हैं; छः दिन की अवधि का नाम पृष्ठ है, जो यजुर्वेद के समय हफ्ते या काल की एक इकाई मालूम पड़ता है।

अधिक मास न मानने वाली इस धारा के विरुद्ध जो आपत्ति की जाती है, वह यह है[2] :

> 'यदि वे एक दिन न छोड़ेगें तो साल बिगड़ जाएगा, जिस तरह बंधी हुई मशक गिर जाती है और वे कष्ट प्राप्त करेगें। पूर्णमासी के हिसाब से महीने पूरे करके

---

1. तदाहुर्यां वै त्रिरेकस्याह्न उपसीदति दह्रं वै साऽपराभ्यां दोहाभ्यां, दुहेऽथ कुतस्सा धोक्ष्यते यां द्वादशकृत्य उपसीदतीति संवत्सरं संपाद्योत्तमे मासि सकृत्पृष्ठान्युपेयुस्तदद्यजमाना यज्ञं पशूनवरुन्धते। समुद्र वै एतेऽनवारमपारं प्रप्लवन्ते ये संवत्सरमुपयन्ति।
—तै॰ सं॰ 7. 5. 3

2. यदह्नर्नोत्सृजेयुर्यथा दृतिरुपनद्धो विपतत्येवं संवत्सरो विपतेत्। आर्तिमार्च्छेयुः। पौर्णमास्या मासान् सम्पाद्याहरुत्सृजति संवत्सरायैव तदुदानं दधति, तदु सत्रिण उदानन्ति नार्तिमार्च्छंति। पूर्णमासे वै देवानां सुतः॥
—तै॰ सं॰ 7. 5. 6

जो एक दिन छोड़ देते हैं, वे वर्ष को नई सांस देते हैं और यज्ञकर्ता भी नई सांस प्राप्त करते हैं, कष्ट को प्राप्त नहीं करते। पूर्णमासी के दिन देवताओं का (सोम) खींचा जाता है।"

अधिक मास न मानने वाली और मानने वाली धाराओं के बीच गरमा-गरम विवाद होता रहा है। उत्सृज्यां और नोत्सृज्यां शब्दों के अन्त में प्लुत (दीर्घ) स्वर लगाकर इस प्रश्न की गम्भीरता को तैत्तिरीय संहिता के नीचे लिखे अवतरण में बढ़ाकर दर्शाया गया[1] है:

'ब्रह्मवादी यह विचार करते हैं कि एक दिन छोड़ा जाए या न छोड़ा जाए? वे कहते हैं कि अमावस्या और पूर्णमासी के दिन इसे छोड़ देना चाहिए क्योंकि ये यज्ञ का मार्गदर्शन करते हैं।

वे कहते हैं कि ये दो न छोड़े जाएं, क्योंकि वे अवान्तर यज्ञ का निर्णय करते हैं।'

इन अवतरणों से यह पता चलता है कि यह स्पष्ट नहीं कि एक दिन, एक महीना, या चार महीनों को अधिक मानने या एक दिन भी अधिक न मानने का प्रश्न नाक्षत्र वर्ष से संबंधित है या सावन वर्षों से। पर चूंकि ऊपर की इस चर्चा का संबंध 'गवां अयन' (गायों का चलना) नामक यज्ञ-सत्र से है और गायों का चलना वह अवधि है, जो द्विषष्ठक अधिक दिनों[2] का समय है और जिसे अलग रख कर गिना जाता है, इसलिए ऊपर की चर्चा का संबंध निश्चित ही 366 दिनों का अधिक दिन वाला वर्ष मानने के प्रश्न से ही है। यह अवतरण स्पष्ट कर देता है कि वैदिक ऋषि अधिक-दिन देने की समस्या से भली भांति परिचित थे। इस सबका अर्थ यह भी है कि वर्ष महीनों और दिनों की गणना की किसी न किसी प्रणाली से और इनमें होने वाली त्रुटि दूर करने की समस्या से वे निश्चित रूप से परिचित थे। इन सभी गणनाओं के लिए एक निश्चित बिन्दु के बारे में भी वे निश्चित ही सहमत हो गए होंगे।

छन्दों में वर्ष की गणना

इन सब बातों पर इस तथ्य की पृष्ठभूमि में फिर विचार करना होगा कि उस समय लिखने और अभिलेख रखने की प्रणाली ज्यादा विकसित न हुई थी। लोग ज्यादातर अपनी स्मृति पर निर्भर रहते थे। फिर भी उन्होंने इन अभिलेखों

---

1. उत्सृज्यां३ नोत्सृज्या३मिति मीमांसते ब्रह्मवादिनः तदाहुरुत्सृज्यमेवेत्यमावास्यां च पौर्णमास्यां चोत्सृज्यमित्याहुरेते हि यज्ञं वहत इति ते त्वाव नोत्सृज्ये इत्याहुः ये अवान्तरं यज्ञं भेजाते इति। —तै० सं० 7. 5. 7
2. द्विषष्ठ जूलियन कलेंडर में हर चौथे साल फरवरी में जोड़ा जाने वाला अधिक दिन। यह फरवरी 24 के बाद, मार्च के शुरू होने के छः दिन पहले आया, इसलिए इसे दूसरा छठा दिन कहा गया। अब द्विषष्ठ दिन 29 फरवरी होता है।

को रखने की बड़ी बढ़िया प्रणाली विकसित की। ऐसा अनुमान है कि वर्ष के अन्त में एक या अधिक छन्दों में इस तरह श्लोक बनाने की योजना चालू की। जिससे श्लोकों की वर्णसंख्या कुल 360 हो, जो तथा कथित सावन वर्ष की दिन संख्या के अनुसार हो। शतपथ ब्राह्मण में जो पारिप्लवोपाख्यान (घूमने वाले चक्र की कथा) आया है उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है।

यहां हम पारिप्लवोपाख्यान[1] से कुछ पंक्तियां दे रहे हैं। जब होता (याजक) उद्गाता और अध्वर्यु अपने-अपने आसन पर आसीन हो जाते हैं तो अध्वर्यु होता से कहता है, होता, जीवों की गणना करो; तू इस यजमान को सामान्य जीवों से ऊपर उठा। यह कहे जाने पर होता पारिप्लव-उपाख्यान (घूमने वाले, बार-बार आने वाले या चक्र की कथा) कहने के लिए अध्वर्यु को संबोधित करता है और कहता है। अन्तिम पदांश इस प्रकार है:

"इस पारिप्लव उपाख्यान (को कहते हुए) वह सभी राजवंशों, प्रदेशों, वेदों, देवताओं, जीवों की कथा कहता है; और निश्चय ही कोई भी होता हो, जो इस उपाख्यान को जानता और कहता है, या जो इसको जानता भी है, वह इन राजवंशों से सांनिध्य प्राप्त कर वैसा ही हो जाता है। सब प्राणधारियों के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करता है, सभी वेदों का ज्ञान प्राप्त करता है और इस तरह देवताओं को संतुष्ट करके सभी प्राणधारियों के ऊपर अपने को प्रतिष्ठित करता है। यह आख्यान बार-बार आता रहता है इसलिए इसे पारिप्लव-उपाख्यान कहते हैं। दस दिनों के छत्तीस (360) कालों में वह इसका वर्णन करता है—बृहती छन्द में छत्तीस वर्ण होते हैं और पशुओं का संबंध बृहती छन्द से है: तो इस तरह बृहती छन्द द्वारा वह अपने लिए पशुओं को प्राप्त कर लेता है।' —श० ब्रा० 13. 4. 3. 15

एक दिन का निरूपण एक वर्ण से करने की यह युक्ति और भी स्पष्ट रूप में ऐतरेय आरण्यक में बताई गई है:

> 'यह एक हजार बृहती छन्दों के रूप में पूर्ण होता है; उसमें छत्तीस हजार वर्ण होते हैं। सौ वर्षों में भी इतने छत्तीस हजार ही दिन (36000) होते हैं। व्यंजनों से रातें पूर्ण होती हैं और स्वरों से दिन।'

---

1. एतत् पारिप्लवम्। सर्वाणि राज्यान्याचष्टे सर्वा विशः सर्वान्वेदान्त्सर्वान्देवान्त्सर्वाणि भूमानि सर्वेषांऽह वै सऽएतेषांऽराज्यानाऽसायुज्यं सलोकतामश्नुते सर्वासां विशामैश्वर्यंमाधिपत्यङ्गच्छति सर्वान्वेदानवरुन्धे सर्वान् देवान् प्रीत्वा सर्वेषु भूतेष्वन्ततः प्रतितिष्ठति यस्यैवंविदेतद्धोता पारिप्लवमाख्यानमाचष्टे यो वैतदेवं वेदैतदेव समानमाख्यानं पुनः पुनः सम्वत्सरं परिप्लवते तद्यत् पुनः पुनः परिप्लवते तस्मात् पारिप्लवं षट्त्रिंशतन्दशाहानाचष्टे षट्त्रिंशदक्षरा बृहती बार्हताः पशवो बृहत्यैवास्मै पशूनवरुन्धे।
—श० ब्रा० 13. 4: 3. 15

इस तरह यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों ने सावन वर्ष को 36-36 दिनों की दस अवधियों में 360 दिनों में बांटा था और इन दस अवधियों को दस भिन्न पशु-चिन्हों से व्यक्त किया जाता था। वे हर साल के दिनों का लेखा-जोखा 36-36 वर्णों के बृहती छन्दों में भी रखते थे, जिसकी रचना हर साल या निश्चित वर्षों की संख्या के बाद की जाती थी।

वर्ष को 36 अवधियों में बांटने की बात मिश्रवासियों को भी ईसा से कुछ शती पहले तक ज्ञात थी। उन्होंने यह प्रथा आर्यों से उधार ली होगी, क्योंकि उनके साथ उनका सम्पर्क इससे पहले के जमाने में हो चुका था। कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि हर साल 36 वर्णों के दस छन्दों के हिसाब से वैदिक मन्त्रों की संख्या बढ़ती गई होगी, जिसका दुहरा काम रहा होगा—बीते हुए वर्षों का हिसाब रखना और प्रार्थना के काम आना।

ऋग्वेद में, जैसा वह हमें आज मिलता है, 10552 मन्त्र हैं (जिसमें बालखिल्यों के 80 शामिल हैं) और उसमें 371+56 बृहती छन्द (कुल संख्या 427) है और उनकी वर्णसंख्या 13306+2128 वर्ण (कुल 15434) है। मन्त्रों और वर्णों की कुल संख्या छन्दों के हिसाब से इस तरह है (बालखिल्यों का हिसाब अलग से तारांकित रूप में दिया गया है :

छन्द	छन्द के वर्णों की संख्या	मंत्रों की संख्या	वर्णों की संख्या
गायत्री	24	2,449	58,770
		7*	168
उष्णिक्	28	398	11,144
अनुष्टुप्	32	858	27,456
		2*	64
बृहती	36	371	13,306
		56*	2,128
पंक्ति	40	498	19,920
		1*	40
त्रिष्टुप्	44	4,251	1,87,004
		7*	308
जगती	48	1,346	64,608
		7*	336
अतिजगती	52	17	884
शक्वरी	56	19	1,064
अतिशक्वरी	60	10	600
अष्टि	64	7	448

अत्यष्टि	68	82	5,576
धृति	72	2	144
अतिधृति	76	1	76
द्विपदा गायत्री	16	3	48
द्विपदा विराट्	20	139	2,780
द्विपदा त्रिष्टुप्	22	14	308
द्विपदा जगती	24	1	24
एकपदा विराट्	10	5	50
एकपदा त्रिष्टुप्	11	1	11
योग—	803	10,552	3,97,265

शामशास्त्री का यह तर्क कि बृहती और संभवत: दूसरे छन्दों के मन्त्रों की रचना वर्ष के दिनों का हिसाब रखने के ही लिए की गई थी, नि: सन्देह बड़ा रोचक है। कभी-कभी ऐसी प्रथा भी रही होगी, पर ऐसा विश्वास करना कठिन है कि सारी रचना इसी उद्देश्य से की गई थी। यदि 360 से 366 वर्णों का अर्थ एक साल था, तो पूरे ऋग्वेद की रचना में 1100 साल के लगभग लगे होंगे। यह अवधि असंभव तो नहीं है, पर इसकी ज्यादा संभावना भी नहीं है।

गिनने की कुश प्रणाली

यह बात बड़े महत्व की है कि वेद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है : (एक) कुश का ढेर और (दो) मन्त्रों का संग्रह। यह शब्द विद् ज्ञाने (जानना) धातु से बना है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वैदिक ऋषि 'वेद' शब्द का अर्थ बहुत सी कुशों का ज्ञान और मन्त्रों के बहुत से वर्णों का ज्ञान लगाते थे, जो उनके युग के आरंभ से उस समय तक बीते हुए दिनों की संख्या के बराबर होता था। हिन्दुओं में 'वेद' बनाने की प्रथा है, जिसमें नियत संख्या में कुशों को साथ-साथ बांधा जाता है और यज्ञ खत्म होने पर उस बण्डल को आग में डाल दिया जाता है।

कहा जाता है कि मैक्सिकोवासी नरकुलों की इतनी संख्या के बण्डल बनाया करते थे, जितने उनके चक्र में वर्ष या दिन होते थे। प्रेस्कोट ने "हिस्ट्री आफ मैक्सिको" में लिखा है कि "वे वर्षों को बावन वर्षों के बड़े चक्रों में एक धागे में इतने ही नरकुलों को बांध कर उनके बण्डलों या लच्छों को फेंक दिया करते थे।" इसलिए यह काफी संभव लगता है कि नरकुलों के बण्डलों या लच्छों से मैक्सिकोवासियों का जो अभिप्राय था, वही वेद या कुशों के बण्डलों से वैदिक ऋषियों का था। इसलिए कुश के बण्डलों को वर्षों के गिनने के और गलतियों को ठीक करने के काम में लाया जाता था।

इस तरह वर्षों के दिनों की संख्या गिनने की दो प्रणालियां चालू थीं। (एक) बृहती छन्दों ("वेद" शब्द का मन्त्रात्मक अर्थ) की रचना करके और कुशों की संख्या जोड़कर (वेद शब्द का घास वाला अर्थ)। वेद कुशों को चार या बावन वर्षों के चक्र के दरम्यान रखा जाता था और सत्र का अन्त होने पर आग में डाल दिया जाता था। वेद (मन्त्रार्थक) में उन वर्षों के दिनों की संख्या के अनुसार प्राचीन और नई रचनाएं होती थी, जो गणना के पहले दिन से किसी यज्ञ के समय तक बीती होती थीं और उनको ध्यान से याद रखा जाता था जिससे सूक्तों की वर्णसंख्या में (कमी या वृद्धि के रूप में) कोई गलती न हो। यह कहना कठिन है कि प्रथा कब तक चलती रही। लेकिन ऐसी कल्पना की जाती है कि बहुत समय तक वेद दो काम आते रहे,—देवताओं की प्रार्थना और साथ ही बीते हुए दिनों की गणना (शामशास्त्री)।

कुश प्रार्थना और वर्ष गणना के बीच किसी न किसी तरह का संबंध रहा होगा, यह बात ऋग्वेद के नीचे लिखे मन्त्रों से स्पष्ट हो जाती है :

(एक) अजन्मे (सूरज) की तरह वह अग्नि पृथिवी और आकाश को धारण करता है और सच्ची प्रार्थनाओं से स्वर्ग को सहारा देता है[1]।

(दो) चाहे आशीष देने वाले पवित्र कुश काटे जा रहे हों, चाहे अध्वर्यु मन्त्रों का पाठ कर रहे हों, चाहे (सोमरस पीसने वाली) शिला मंत्र पाठ करने वाले अध्वर्यु जैसी ध्वनि कर रही हो, इन सब मौकों पर इन्द्र को हर्ष होता है।[2]

(तीन) नाम (यश) रखने वाले कीर्त्तन योग्य इन्द्र मनुष्यों के इन बदलने वाले युगों में यज्ञ करने वाले को देते हैं।[3]

(चार) ये पलटने वाले (दिन) तुम्हारे अर्पित हैं और साथ ही देवताओं को (संबोधित) यज्ञ-संस्कार और मनुष्यों के धर्म-कर्म भी।[4]

(पांच) हे अग्नि, उनको जो तेरा नया-नया यश गाते हैं, तुम पूज्य हो उनको युग-युग तक धन-समृद्धि प्रदान करो।[5]

---

1. अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वोनिपाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः॥ —ऋ॰ 1. 67. 3
2. बर्हिर्वा यत् स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यस्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति॥ —ऋ॰ 1. 83. 6
3. तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रत्। —ऋ॰ 103. 4
4. इन्द्र ऋभुमान् वाजवान् मत्स्वेह नोऽस्मिन् त्सवने शच्या पुरुष्टुत।
इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः॥ —ऋ॰ 3. 60. 5
5. युगे युगे विदथ्य गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्॥ —ऋ॰ 6. 8. 5

(छः) हमारे पूर्वज अंगिरस् ने (अग्नि की) कीर्ति का गान करके आवाज से ही सशक्त और साहसी नाशकर्ता (पणि) को भय पहुँचाया था, उन्होंने हमें विशाल स्वर्ग का मार्ग बताया और दिन, दिन का केतु (आदित्य) और (चुराई गई) गायों को प्राप्त कराया।[1]

(सात) हे इन्द्र, अपने अश्वों पर सवार हो जाओ, जो युवा हैं, ओजस्वी हैं, और प्रार्थना-साध्य हैं।[2]

(आठ) चरागाह में दुधारू गाय की तरह तुम्हें दुहने की इच्छा से वसिष्ठ ने तुम्हारी प्रार्थना की। हर व्यक्ति तुम्हें पशुओं का स्वामी बताता है : इन्द्र हमारे कीर्तिगान पर उपस्थित हो।[3]

(नौ) धेनुएं प्रदान करने वाले इन्द्र के रथ को मैं कीर्तिगान द्वारा घोड़ों के साथ जोड़ता हूं।[4]

(दस) दिन और रात बर्हि (कुशों) पर आसीन हों।[5]

(ग्यारह) मंत्र गान द्वारा रक्षित कुश।[6]

(बारह) कीर्तिगान द्वारा घोड़ों के जुएं को बांधते हुए।[7]

(तेरह) कीर्तिगान से भरा हुआ रथ (वर्ष)।[8]

(चौदह) मनुष्यों द्वारा किए गए कीर्तिगान पर इन्द्र घूमने वाले पहिए की तरह उपयोज्य हो जाते हैं।[9]

(पन्द्रह) हे प्रार्थना-साध्य, हम प्रार्थनाएँ तुम्हारे अर्पित करते रहे हैं, कुशों पर बैठें।[10]

---

1. वील चिद् दृह्ला पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः॥ —ऋ० 1. 71. 2
2. ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्याः।
तां आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे॥ —ऋ० 1. 177. 2
3. धेनुं न त्वा सुयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः।
त्वामिन्मे गोपतिं विश्व आहान इन्द्रः सुमतिं गन्त्वच्छ॥ —ऋ० 7. 18. 4
4. युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः। —ऋ० 7. 23. 3
5. आ नक्ता बर्हिः सदतामुषासोशन्ता मित्रावरुणा यजेह। —ऋ० 7. 42. 5
6. ···बर्हिरिव यजुषा रक्षमाणा। —ऋ० 5. 62. 5
7. स त्वं न इन्द्र धियसानो अर्कैर्हरीणां वृषन् योक्त्रमश्रेः। —ऋ० 5. 33. 2
8. तं वां रथं वयमद्या हुवेम···। —ऋ० 4. 44. 1
9. अमी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः। —ऋ० 4. 31. 4
10. इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद। —ऋ० 3. 41. 3

ऊपर दिए गए मन्त्रों का अर्थ समझने के लिए ये बातें ध्यान में रखनी चाहिएं : (क) इन्द्र और अग्नि कुछ विशिष्ट अमावस्या और पूर्णिमा के दिनों के नाम हैं जिनका वापस लौटना प्रार्थना के वर्णों से गिना जा रहा है और वही इन मन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य है।

भाषा की कथा

ऐतरेय ब्राह्मण (3. 2. 25) में भाषा की एक कथा आती है। इसमें भाषा पक्षी या गाय के रूप में चांद को लाने के लिए जाती है। इस कथा में जगती और त्रिष्टुप् जैसे छन्दों में दो-तीन वर्णों की कमी की बात कही गई है। यह स्पष्ट ही वर्णों द्वारा दिनों की गणना की प्रथा का संकेत है। यदि प्रत्याशित अमावस्या या पूर्णिमा दो-तीन दिन बाद पड़ी हो, तो कवि अपनी परंपरागत भाषा में कहेगा कि यह या वह छन्द चांद को लाने में दो-तीन वर्ण कम रहा।

एक प्रथा सूखे और हरे दर्भ को बिछाने की भी है। पहले का मतलब दिन से है और दूसरे का रात से। ये दर्भ यज्ञशाला के मध्य के दो यूपों के बीच में बिछाए जाते हैं और इन दर्भों की ओर देखते हुए मन्त्र पढ़ने की भी रीति है। इस प्रथा की व्याख्या वर्ष के दिन गिनने के लिए कुशों के प्रयोग के प्रसंग में की जा सकती है।

ऋग्वेद की वर्ण संख्या

शतपथ ब्राह्मण में यह पदांश (10. 4. 2. 22-23) आता है :[1]

> 'प्रजापति ने सोचा,' निश्चय ही सब विद्यमान चीजें तीनों वेदों में मिलती हैं तो फिर मैं अपने लिए एक ऐसी देह बनाऊंगा, जिसमें तीनों वेद आ जाएं।
> उन्होंने ऋक् मन्त्रों को बारह हजार बृहती छन्दों में व्यवस्थित किया। प्रजापति ने इतने ही छन्द बनाए। तीसवीं पुनर्व्यवस्था पर अन्त में पंक्ति छन्द आए, और चूंकि तीसवीं पुनर्व्यवस्था पर अन्त आया था, महीने में तीस रातें होती हैं, और चूंकि यह पंक्तियों में हुआ, इसलिए प्रजापति पांक्त है। उसमें एक सौ आठ सौ (अर्थात् 1,08,00) पंक्तियां हैं।
> फिर उन्होंने दो दूसरे वेदों को बारह हजार बृहती छन्दों में पुनर्व्यवस्थित किया—आठ (हजार) यजुष् (सूत्रों) में और चार (हजार) साम (सूक्तों) में—दोनों वेदों को उन्होंने इतनी ही मात्रा तक बनाया। तीसवीं पुनर्व्यवस्था पर इनके

---

1. स ऐक्षत प्रजापतिः। त्रय्यां वाव विद्यायाᳬसर्वाणि भूतानि हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभि संस्करवाऽइति ॥ सऽऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहती सहस्राण्येतावत्यो हऽर्चो याः प्रजापतिसृष्टास्तास्त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठन्त ता यत् त्रिंशत्तमे व्यूहेऽतिष्ठन्त तस्मात् त्रिंशन्मासस्य रात्रयोऽथ यत् पंक्तिषु तस्मात् पांक्तः प्रजापतिस्ताऽअष्टाशतः शतानि पंक्तयोऽभवन्। —श० ब्रा० 10. 4. 2. 22-23

अन्त में पंक्ति छन्द आए और चूंकि तीसवीं पुनर्व्यवस्था पर अन्त आया था, महीने में तीस रातें होती हैं और चूंकि यह पंक्तियों में हुआ, इसलिए प्रजापति पांक्त है। उसमें एक सौ आठ सौ (108,00) पंक्तियां है।
तीनों वेदों में कुल अस्सी गुने दस हजार आठ सौ वर्ण हैं। मुहूर्त्त-मुहूर्त्त करके अस्सी वर्ण मिले और मुहूर्त्त-मुहूर्त्त में अस्सी पूरे हुए।[1]

बृहती छन्द में 36 वर्ण होते हैं : पंक्ति में आठ-आठ वर्ण के पांच पाद होते हैं अर्थात् पंक्ति छन्द में चालीस वर्ण होते हैं। सात प्रसिद्ध छन्दों में वर्ण संख्या इस तरह होती है :

गायत्री	24	पंक्ति	40
उष्णिक्	28	त्रिष्टुप्	44
अनुष्टुप्	32	जगती	48
बृहती	36		

उक्त अवतरण में प्रजापति का अर्थ वर्ष लगाया जाता है। प्रजापति की देह का अर्थ एक युग वर्षों की माला है। वैदिक ऋषियों द्वारा अपनाया गया वर्ष 360 दिनों का सायन वर्ष था, जिसे वे हर चौथे सायन वर्ष में 21 दिन जोड़कर $365\frac{1}{4}$ दिनों के सौर वर्ष के अनुकूल कर लेते थे। इस तरह ऋग्वेद के 36-36 वर्णों के बृहती छन्दों में वर्णसंख्या 4, 32, 000 होगी, जो 4, 32, 000 दिनों या 1200 सायन या लौकिक वर्षों के बराबर होगी।

"तीसवीं पुनर्व्यवस्था" से लेखक का अभिप्राय लगता है कि विभिन्न छन्दों में रचे गये पूरे ऋग्वेद के वर्णों को 40-40 वर्णों के पंक्ति छन्दों में जोड़ा जाए।

12,000 बृहती = 12,000 × 30 वर्ण
= 4,32,000 वर्ण
चूंकि 1 साल = 360 वर्ण
इसलिए 12,000 बृहती = 1200 वर्ष
यह ऋग्वेद का आकार बताता है।
इसी तरह 10,800 पंक्ति = 10,800 × 40 वर्ण
= 4,32,000 वर्ण
= 1,200 वर्ष

1. अथेतरौ वेदौ व्यौहत्। द्वादशैव बृहतीसहस्राण्यष्टौ यजुषाञ्चत्वारि साम्नामेता। वद्वैतयोर्वेदयोर्यत् प्रजापतिसृष्टन्तौ त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठेतान्तौ यत् त्रिंशत्तमे व्यूहेऽतिष्ठेतान् तस्मात् त्रिंशन्मासस्य रात्रयोऽथ यत् पंक्तिषु तस्मात्पांक्तः प्रजापतिस्ता ऽअष्टाशतमेव शतानि पंक्तयोऽभवन् ॥
ते सर्वे त्रयो वेदाः, दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्यशीतीनामभवन् स मुहूर्त्तेन-मुहूर्त्तेनैवाशीतिमाप्नोन् मुहूर्तेन-मुहूर्तेनाशीतिः समपद्यत ॥ —श० ब्रा० 10. 4. 2. 24-25

यजुष् के 8000 बृहती और साम के 4000 बृहती भी मिलाकर 12000 बृहती होते हैं, जो 1200 साल के बराबर हैं। तीनों वेद मिलाकर 2400 साल की अवधि का निरूपण करते हैं।

अजीब बात है कि 12000 और 4, 32, 000 की इन संख्याओं पर ही परवर्ती-ज्योतिर्विज्ञों की युगों के आकार संबंधी सारी धारणाएं आधारित है।

गवां अयन

कृष्ण यजुर्वेद के सातवें मंडल के पांचवें अध्याय में गायों के एक सत्र का जिक्र है, जिसे "गवां अयन" कहा गया है। इस पर टिप्पणी करने से पहले हम इसमें से कुछ उद्धरण देंगे :

> 'गायें बिना सींग की थीं और उन्होंने इस कामना के साथ सत्र का पालन किया कि 'हमारे सींग उग आएं'।' दस महीने तक उन्होंने सत्र का पालन किया और फिर सींग उग आए, तब उन्होंने (यह कहते हुए) (संस्कार) को समाप्त किया 'हमारी (कामना) पूरी हुई। तब जिनके सींग नहीं उगे थे, उन्होंने वर्ष को पूरा करके (यह कहते हुए) सत्र समाप्त कर दिया, 'हमारी (कामना) पूरी हुई।' फिर उन दोनों—जिनके सींग उग आये और जिनके नहीं उगे—ने (यह कहते हुए) (सत्र) समाप्त कर दिया : वर्ष गायों का सत्र है और यह जानते हुए जो वर्ष (यज्ञ) करते हैं, वे समृद्धि पाते हैं। इसलिए बिना सींग वाली गाय को भी वर्षा के दो महीनों में आराम मिलता है, क्योंकि उसे वह सत्र द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए जो कोई भी वर्ष (सत्र) का पालन करता है, उसके घर जो कुछ भी होता है वह पूरी तरह, सफलतापूर्वक और पर्याप्त रूप से होता है। जो वर्ष (सत्र) का पालन करते हैं, वे सिन्धु पर तैरते हैं। जो सिन्धु का अगला किनारा नहीं देख सकते, वे उससे बाहर नहीं निकल सकते। सिन्धु ही वर्ष है। इसके अगले किनारे दो अतिरात्र है। जो इसे जानते हुए वर्ष (सत्र) का पालन करते हैं, वे बिना किसी नुकसान के अंत तक पहुंच जाते हैं। पहला अतिरात्र यह (धरती) है और दूसरा अतिरात्र वह (आकाश) है; पहला बुद्धि है, दूसरा वाणी; पहला बाहर जाने वाली सांस है, दूसरा भीतर जाने वाली; पहला आरंभ है दूसरा अन्त। अतिरात्र वैश्वानर ज्योतिष्टोम है, निश्चय ही वे उसके सामने प्रकाश रखते हैं जिससे स्वर्ग की दुनियां को प्रकट कर सकें। उसमें एक पूर्व-हव्य होती है, जो चतुर्विंश स्तोम के साथ-साथ चढ़ाई जाती है। वर्ष में चौवीस पक्ष होते हैं; निश्चय ही जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते हैं, उन्हें वर्ष का समर्थन मिलता है। उसमें तीन सौ साठ स्तोत्र हैं, वर्ष में इतनी ही रातें होती हैं, निश्चय ही उन्हें वर्ष के दोनों रूप मिलते हैं। सुख और सुरक्षा के लिए वे अगले दिनों के (संस्कारों का) पालन करते हैं। छः दिनों की अवधियां होती है। वर्ष में छः ऋतुएं होती है, निश्चय ही उन्हें ऋतुओं का, वर्ष का समर्थन प्राप्त होता है। 'गौ' और 'आयुष्' बीच के स्तोम

हैं, निश्चय ही वे प्रजनन के लिए वर्ष के बीच में ऐक युग्म रख देते हैं। दोनों ही ओर ज्योतिष्टोम है। यह मोक्ष हैं, निश्चय ही छन्दों को मोक्ष मिलता है, निश्चय ही वे दोनों ही ओर ज्योतिष्टोम वाले छः दिनों के (संस्कार के) साथ स्वर्गलोक की ओर जाते हैं। तत्वविद् पूछते है, 'वे बैठते हैं, वे जाते किस मार्ग से हैं?' उत्तर यह देना चाहिए, 'उस मार्ग से जो देवताओं तक ले जाता है। जो रास्ता देवताओं तक ले जाता है, वह गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों का है। आयुष्टोमः इसमें वे स्तोम हैं, इसलिए वे उस मार्ग से जाते हैं, जो देवताओं तक ले जाता है। उसीं सामन् का प्रयोग किया जाता है। सामन् ही देवलोक है, निश्चय ही वे देवलोक नहीं छोड़ते। विभिन्न मंत्रों का प्रयोग किया जाता है। मंत्र मनुष्य लोक हैं, निश्चय ही वे एक मनुष्य लोक के बाद एक देवलोक को एकत्र करते रहते हैं। ब्रह्मन् का सामन् अभिवर्त है, जो स्वर्गलोक प्राप्त करने के लिए है। स्वर्गलोक प्राप्त करने के लिए अभिजित् (दिन) है। सभी को प्राप्त करने के लिए विश्वजित् (दिन) है। महीने-महीने में वे पृष्ठों का पालन करते हैं। महीने-महीने अतिग्राह्य लिए जाते है, निश्चय ही हर महीने महीनों के सहारे के लिए वे शक्ति प्रदान करते हैं। वे पृष्ठों का पालन मास के पिछले हिस्से में करते हैं। इसी से पौधों के सिरों पर फल लगते हैं। गायों ने बिना सींग की होने पर सींग उगने की इच्छा से सत्र का पालन किया। उन्होंने दस महीने सत्र का पालन किया और सींग उग आए। उन्होंने कहा—'(वे) आ गए हैं, हम (संस्कार को) समाप्त करें, क्योंकि हमारी उस कामना की पूर्ति हो गई है, जिसके लिए हमने (संस्कार को) शुरू किया था।' पर दूसरों ने, जो उनकी आधी थीं या जितनी भी हों, कहा, 'हम इन ग्यारहवें और बारहवें महीनों में (सत्र का) पालन करें और जब साल पूरी हो जाए, हम इसे समाप्त करें।' उस स्थिति में उनके सींग बारहवें महीने में उग आए। विश्वास रखने वाली या न रखने वाली—अर्थात् जिनके सींग न थे,—दोनों ही वस्तुतः समृद्धि पाती हैं और वह भी जो बारह महीने बाद समाप्त करती हैं, यदि वह इसे जानती हों। वे अपने चरणों से चलती हैं, और जो अपने चरणों से चलता है, (अपने वांछित को) प्राप्त करता है। अयन सफल होता है और इसी से वह गायों को पैदा करने वाला है।' —तैत्ति० सं० 7. 5. 1-3

बौधायन श्रौतसूत्र में 'गवां अयन' का उल्लेख है। उसमें बताया गया है कि इस सत्र में चौबीस अध्वर्यु भाग लेते हैं। सत्र बारह से लेकर यथेच्छ दिनों तक चलता हैं। 360 दिनों के 'गवां अयन' सत्र में जिन पशुओं की बलि दी जाती है। उनकी संख्या इस प्रकार है: 'ग्यारह बलि पशुओं के बत्तीस-बत्तीस झुण्ड (अर्थात् 352 बलि पशु) चढ़ाए जाते हैं। इनमें से सोलह झुण्ड यज्ञ-सत्र के पूर्वार्घ में चढ़ाए जाते है। सत्रहवें झुण्ड की जो बलि बृहस्पति के लिए चढ़ाई जाती है। वह बीच के दिन चढ़ाई जाती है। (उत्तरार्द्ध में) नौ दिन और रहते हैं, जिनमें कोई बलि नहीं चढ़ाई जाती।'

इस तरह बौधायन के अनुसार 'गवां अयन' 366 दिनों का होता है। ग्यारह बलि पशु इस तरह हैं:

उत्तर में : सरस्वती, पूषन्, विश्वेदेवों, मरुतों और सवितृ के लिए।
मध्य में : अग्नि के लिए।
दक्षिण में : सोम, बृहस्पति, इन्द्र, इन्द्राणी और वरुण के लिए (कृष्ण यजुर्वेद 6. 6. 5)

बीच के दिन अर्थात् 80 वें दिन सामान्य से एक ज्यादा बलि चढ़ाई जाती है। इस तरह बाकी 180 दिनों के लिए 171 बलिपशु शेष रहते हैं, और इस तरह आखिरी नौ दिनों के लिए एक भी बलिपशु नहीं बचता।

इन ग्यारह झुंडों के बलिपशुओं के नाम बौधायन श्रौतसूत्र में इस तरह बताए गए हैं :

उत्तर में : सरस्वती के लिए, एक बकरी; पूषन् के लिए, एक काला पशु; विश्वेदेवों के लिए, बहुरंगी खाल वाला पशु; और मरुतों के लिए, बूंदों वाला एक पशु; और सवितृ के लिए, एक सफेद पशु।

मध्य में : अग्नि के लिए, काली गरदन वाला एक पशु।

दक्षिण में : सोम के लिए, एक लाल पशु; बृहस्पति के लिए सफेद नितम्बों वाला एक पशु; इन्द्र के लिए, लम्बे सींगों वाला एक पशु, इन्द्राग्नी के लिए, एक बादामी पशु और वरुण के लिए एक काला हरिण।

फिर होता से कहा जाता है कि प्रतीक रूप में अपने शत्रु को बारहवें यूप से बांध दें। यदि उसकी घृणा का पात्र कोई शत्रु न हो, तो वह एक गोधा (या चूहे) को इस खम्भे से बांध सकता है। (कृष्ण यजुर्वेद 6. 6. 4)। आपस्तम्ब (21. 14. 21) में बताया गया है कि बारहवें खम्भे और उसके बलिपशु से संबन्ध रखने वाला संस्कार यज्ञसत्र में हर रोज दुहराया जाना चाहिए।

इस तरह हम देखते हैं कि 360 या 361 दिन चलने वाले 'गवां अयन' नामक यज्ञ-सत्र के दौरान होता को बत्तीस बार ग्यारह-ग्यारह बलि पशुओं की भेंट दुहरानी होती है और भाग्यशाली गोधा या चूहे से सम्बन्धित संस्कार का पूरे 351 दिनों पालन करना होता है। बाकी नौ दिन उसे विशेष बलिपशु लेने होते है।

अब यह देखना होगा कि क्या ऐसा महान् सत्र कभी हुआ था, या इन सभी ब्यौरों का कुछ और गर्भित अर्थ है। उन्हीं बलि पशुओं को ग्यारह-ग्यारह के झुण्ड में क्यों व्यवस्थित किया गया है? हर 352 या 363 पशुओं के साथ बारहवें पशु को क्यों लिया गया?

'गवां अयन' की कथा ऐतरेय ब्राह्मण (4. 3. 17) में भी दुहराई गई है। वहां यह बताया गया है कि गायें आदित्य (मास-देवता) हैं। इस तरह गायों के चलने का अर्थ आदित्यों के चलने' से है, जो मासों के देवता है, कहा जाता है कि अविश्वास के कारण उनके सींग न रहे और वह तूपर हो गईं, फिर उन्होंने ऊर्ज् या तेज का उद्भव किया; इससे उन्होंने बारह महीनों का यज्ञ-सत्र पूरा किया और तब उनको अपने सींग वापस मिल गए।

तब यह ऊर्ज वेद कालीन बारह में से एक महीने का नाम है। दो-दो महीनों की छः ऋतुएं इस तरह है :

वसन्त : मधु और माधव (यजु० 13. 25)
ग्रीष्म : शुक्र और शुचि (यजु० 14. 6)
वर्षा : नभ और नभस्य (यजु० 14. 15)
शरद् : ईश और उर्ज् (यजु० 14. 16)
हेमन्त : सह और सहस्य (यजु 14. 27)
शिशिर : तपः और तपस्य (यजु० 15. 57)
(कृष्ण यजु० या तैत्ति० सं० 1. 4. 14 भी)

गोपथ ब्राह्मण[1] (पूर्व० 5. 23) में प्रश्नों के रूप में 'गवां अयन' सम्बन्धी सभी यज्ञों को प्रश्नों के रूप में दिया गया है। पहले यह सात पाक-यज्ञों को बताता है : सान्ध्य होम, प्रातः होम, नवस्थालीपाक, बलि-यज्ञ, पितृ यज्ञ, अष्टक और पशु यज्ञ।

---

1. सायं प्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः। बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः। अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये। नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हविर्यज्ञाः। अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशिमांस्ततः। वाजपेयोऽतिरात्रश्चाप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः। केस्विद्देवाः प्रवोवाजाः केस्विद् देवा, अभिद्यवः। केस्विद्देवा हविष्मन्तः किं स्विज्जिगाति सुम्नयुः। ऋतव एव प्रवोवाजा मासा देवा अभिद्यवः। अर्द्धमासा हविष्मन्तस्तज्जिगाति सुम्नयुः। कतिस्विद्रात्रयः कत्यहानि कति स्तोत्राणि कतिशस्त्राण्यस्य। कतिचित् सवनाः संवत्सरस्य स्तोत्रियाः पदाक्षराणि कत्यस्य। द्वावतिरात्री षट्शतमग्निष्टोमा द्वेविंशति शते उक्थ्यानाम्। द्वादशषोडशिनः षष्टिः षडहा वैपुवतञ्च। अहान्यस्य विंशतिशतानि त्रीण्यहश्चैकं तावदस्य। संवत्सरस्य सवनाः सहस्रमशीति त्रीणि च संस्तुतस्य। षट् षष्टिश्च द्वे च शते च भवतस्ततः शस्त्राणामयुतं चैकमस्य। स्तोत्रियाश्च नवति सहस्रा द्वे नियुते नवतिश्चाति षट् च। अष्टौ शतान्ययुतानि त्रिंशच्चातुर्नवतिश्च पदान्यस्य। संवत्सरस्य कविभिर्मितस्यैतावती मध्यमा देवमात्रा। अयुतमेकं प्रयुतानि त्रिंशद्द्वे नियुते तथा ह्यनुसृष्टाः। अष्टौ शतानि नव चाक्षराण्येतावानात्मा परमः प्रजापतेः॥ —गो० ब्रा० पूर्व० 6. 23. 1-11

फिर सात हविर्यज्ञ हैं : अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पूर्णमास यज्ञ, दर्शयज्ञ, नवेष्टि यज्ञ, चातुर्मास्य यज्ञ और पशुवन्ध यज्ञ।

फिर सोम निकालने से सम्बद्ध सात सुत्याएं हैं, अग्निष्टोम, अति-अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिमान्, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम।

फिर प्रश्नों की शृंखला शुरू होती है : कौन देवता प्रवोवाज है, कौन अभिद्यु, कौन हविष्मान् और सुम्नयु के गीत किसके लिए हैं।

इन प्रश्नों के उत्तर हैं : निश्चय ही ऋतुएं प्रवोवाज हैं, महीने अभिद्यु हैं, पक्ष हविष्मान् हैं और सुम्नयु गीत उस (प्रजापति या वर्ष) के लिए हैं।

फिर प्रश्नों की दूसरी शृंखला शुरू होती है :

कितनी रातें होती हैं और कितने दिन, कितने स्तोत्र हैं और कितने उनके पाठ, कितने प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्याएं (सवन) हैं और स्तोत्रियों में कितने अक्षर होते हैं ? फिर गिनाया गया है कि दो अतिरात्र यज्ञ, एक सौ छः (106) अग्निष्टोम यज्ञ, एक सौ बीस के दूने (2×120) उक्थ्य यज्ञ हैं, बारह षोडशिन् हैं, साठ षडह (छः दिन के) यज्ञ हैं, एक विषुवान् हैं, संवत्सर में एक सौ बीस के तिगुने और एक (3×120+1=361) दिन होते हैं और इसे संवत्सर में एक हजार तिरासी (1083) सवन (एक दिन का अर्थ है तीन सवन, प्रातः मध्याह्न और संध्या) होते हैं। पाठ दस हजार दो सौ छासट (10266) होते हैं और स्तोत्रिय दो सौ नव्वे हजार-छियानवे (290,096) होते हैं और संवत्सर में 30,00,894 पद या देवमात्राएं होती हैं और 302,10,809 अक्षर गा वर्ण होते हैं।

गोपथ ब्राह्मण में एक अन्य जगह पर वर्ष और पुरुष का रूपक इस प्रकार बांधा गया है :—

वर्ष		पुरुष	
वर्ष	1	पुरुष	1
दिन और रात	2	प्राण-अपान	2
ऋतुएँ (ग्रीष्म, वर्षा, शीत)	3	प्राण (प्राण, अपान, उदान)	3
ऋतुएँ	6	प्राण	6
ऋतुएँ	7	प्राण	7
महीने	12	प्राण	12
महीने (अधिक मास सहित)	13	प्राण	13
पक्ष	24	अंग (अंगुलियां 20, बाहें 2, टांगें 2)	24
पक्ष	26	प्रतिष्ठा (अंगुलियों के जोड़)	26

दिन-व-रात	360	प्राण	360
दिन और रात	720	हड्डियां और मज्जा	720
आधे दिन और आधी रातें	1440	स्थुरा-मांस	1440
चौथाई दिन और चौथाई रातें	2,880	मांसपेशियां	2,880
मुहूर्त्त	10,800	पेशशमर	10,800

—गो० ब्रा० पू० 5.5

शतपथ ब्राह्मण (4. 6. 2) में 'गवां अयन' का भी वर्णन किया गया है। थिबोट ने इस सत्र का सारांश इस तरह दिया है :

'गवां अयन' नामक बड़ा सत्र साधारणतः बारह महीने (या 30 दिन) चलता है और इसमें नीचे लिखे भाग होते हैं :

प्रायणीय अतिरात्र या शुरू का दिन।

चतुर्विंश दिन, एक उक्थ्या, जिसके सभी स्तोत्र चतुर्विंश स्तोम में होते हैं।

पांच महीने, हर एक में चार अभिप्लव षडह् और एक पृष्ठच षडह्(=30 दिन) होते हैं।

तीन अभिप्लव और एक पृष्ठ्य अभिजित् दिन तीन स्वरसामन् दिन	28 दिन जो दो शुरू के दिनों के साथ छठे महीने को पूरा करते हैं।
विषुवन्त और मध्य दिन तीन स्वरसामन् दिन विश्वजित् दिन	28 दिन जो दो आखीर के दिनों के साथ सातवें मास को पूरा करते हैं।

एक पृष्ठच और तीन अभिप्लव

चार महीने—हर एक में चार अभिप्लव और एक पृष्ठ्य होते हैं।

तीन अभिप्लव षडह् एक गोष्टोम (अग्निष्टोम) एक अनुष्टोम (उक्थ्य) एक दशरात्र (द्वादशाह के बीच के दस दिन)	30 दिन

महाव्रत दिन

उदयनीय अतिरात्र

सूर्य की दक्षिणायन यात्रा की नकल में वर्ष के उत्तरार्द्ध में क्रियाए साधारणतः पूर्वार्द्ध के उलटे क्रम में होती हैं।

'गौः' (गाय) क्या है

'गो' शब्द वैदिक मंत्रों में अक्सर आता है और इसकी ये व्याख्याएं की गई हैं : (1) गाय, (2) वाणी, (3) सूरज की किरणें, (4) स्वयं सूरज, (5) बादल और (6) पानी। एक रोचक पुस्तिका 'गवां अयन' (1908) में आर. शामशास्त्री कहते हैं कि 'गो' अधिक दिन के लिए प्रयुक्त होने वाले नाम के अलावा और कुछ नहीं है, जो चार लगातार सौर वर्षों के चौथाई दिनों का जोड़ होने से चौथे साल में जोड़ा जाता है और इस तरह उसे 366 दिनों का बना देता है। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार शामशास्त्री सौर या सायन वर्ष के 365 दिनों के ऊपर हर वर्ष के चौथाई दिन ज्यादा होने की खोज का श्रेय मनु और उनके साथियों को देते हैं।

यह अधिक दिन कभी-कभी 'चार पैरों वाली गाय' कहा जाता है और कभी-कभी तीन माताओं और तीन पिताओं का विकृत शिशु, और ये तीन माता और पिता अधिकदिन वाले साल के पहले के तीन सालों के तीन चौथाई दिन और रातें होती हैं। अधिक-दिन को वाणी का चौथा चरण भी बताया जाता है, जिसके तीन चरण तीन पहले के वर्षों के तीन चौथाई दिन माने जाते हैं। चार सालों के हर चक्र में तीन लगातार और वर्षों के तीन चौथाई दिन विष्णु के तीन चरण भी माने जाते हैं।

किसी भी चक्र के चार सालों के बाद का पहला साल शाम को शुरू होकर आधी रात को 365¼ दिन बीतने पर पूरा होता है। दूसरा साल आधी रात को शुरू होकर सबेरे 366 वें दिन पूरा होगा। तीसरा दिन सबेरे शुरू होकर 366 वें दोपहर को पूरा होगा। चौथा साल दोपहर को शुरू होकर 366 वें दिन सामान्य रूप से शाम को पूरा होगा। पहले को कलि या एकत, दूसरे को द्वापर या द्वित, तीसरे को त्रेता और चौथे को कृत (पूरा), सत्य, ऋत कहते हैं अर्थात् जो सचमुच अस्तित्व में आया है।

ऊपर की चर्चा के प्रसंग में ऐतरेय ब्राह्मण (7. 15) का यह मंत्र सिद्ध होता है :

> वर्ष लेटा हुआ कलि होता है, उठते हुए द्वापर, खड़े होते हुए त्रेता और चलते हुए कृत।[1]

अब हम ऋग्वेद और अथर्ववेद से अधिक दिन का उल्लेख करने वाले कुछ उद्धरण देंगे :

---

1. कलिश्शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठन् त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति चरैवेति ॥ —ऐ० ब्रा० 7. 15

1. दिन और रात एक दूसरे के वर्ण को साफ करते हुए दोनों साथ मिल कर एक ही शिशु को पोषित करते हैं ।[1]

चार साल के हर चक्र की हर साल जब आगे बढ़ती है, तो पिछले साल की रात या दिन की सीमा से चौथाई दिन आगे जाकर ही पूरा दिन लाती है, उसे यहां शिशु माना गया है । यहां कवि चौथे साल से पहले के तीनों सालों के आखिरी दिनों और रातों के बारे में कहता है आपस में एक दूसरे को मिटाकर एक शिशु को जन्म देते है ।

2. एक (सूर्य) के तीन माता और तीन पिता हैं, वह ऊंचा स्थित है; अमृत (सूर्य) का बारह अरों वाला पहिया आकाश के आर-पार घूमता है और कभी क्षय नहीं होता : हे अग्नि, 720 जोड़े बच्चे यहां होते हैं ।[2]

—ऋ० 1. 164. 10-11

यहां पर बारह अरे तीस-तीस दिनों के बारह महीने हैं । 720 बच्चे 360 दिनों और 360 रातों के हैं । वैदिक ऋषि चार सालों के हर चक्र में 21 दिन अलग रखकर साल के दिनों की संख्या 360 तक ही सीमित रखते थे ।

3. ऋचाओं के पदों की मात्राओं को जोड़ते हुए वे आधी ऋचा से सभी गतिशील चीजों की कल्पना कर लेते थे; तीन पैरों का अनेक रूपों वाला ब्राह्मण आगे आता है और चारों दिशाएं उससे जीवन पाती हैं ।[3] —अथर्व० 9. 10. 18

4. गाय समुद्रों को संभालती हुई रंभाई; वह एक पैर वाली, दो पैरों वाली और चार पैरों वाली हैं; वह आठ पैरों, नौ पैरों, सहस्र अक्षरों वाले अस्तित्व की एक परम्परा ही है; सागर उससे अलग होकर बहते हैं ।[4]

—ऋ०1. 164. 41; अथर्व० 9. 10. 21

---

1. नक्तोषासा वर्णमामेम्याने धापयेते शिशुमेकं समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥
—ऋ० 1. 96. 5

2. त्रिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् विभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
... ...
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ — ऋ० 1. 164. 10-11

3. ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ —अथर्व० 9. 10. 19

4. गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥ —ऋ० 1. 164. 41

5. वाणी के चार नपे हुए पद हैं, मनीषी ब्राह्मण ही इसे समझते हैं; तीन गुहा में छिपे रहते हैं इंगित नहीं करते (चलते नहीं)। मनुष्य चौथी वाणी को ही बोलते हैं।[1] —ऋ० 1. 164. 45, अथर्व० 9. 10. 27

6. कुछ तेरे लिए कल्याणमय है कुछ अकल्याणमय; तू सबको सदिच्छा से संभालती है। भीतर तीन वाणियां गुप्त रूप से निक्षिप्त हैं, उनमें से एक चौथी ध्वनि के अनुसरण में बाहर उड़ी।[2] —अथर्व० 7. 43. 1

7. गन्धर्व अमृतों का ज्ञान रखते हुए महान् गुप्त स्थान की घोषणा करे, इसके तीन पद गुप्त हैं। जो उन्हें जानता है वह पिता का पिता हो जाएगा।[3]

—अथर्व० 2. 1. 2

ऐसे बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। शामशास्त्री का विचार है कि जैसे सभी मामलों में संकेत अधिक दिन का ही होता है। जब अथर्ववेद में हमें तीन वाणियों का, जो गुहा में छिपी हैं और जिनमें से एक बाहर उड़ गई, उल्लेख मिलता है तो यहां तीन चौथाई दिनों का जिक्र है और चौथा, जो उड़ गया, पूरा दिन था। गुहा में छिपे तीन चौथाई भी यही संकेत करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (2. 3. 25) में एक सोम कथा मिलती है, जिसमें कहा गया हैं कि गायत्री आदि छन्द पक्षी बनकर सोम लाने के लिए उड़े। यह भी इस निर्वचन के प्रकाश में स्पष्ट हो जाता है। कहानी का चरम बिन्दु यह लगता है कि एक समय चन्द्रमा (सोम) ऐसे लोक में था, जो यज्ञ के दिन वैदिक ऋषियों द्वारा प्रत्याशित लोककक्ष्या से भिन्न था, जैसा कि जगती और त्रिष्टुप् छन्दों की वर्ण संख्या जोड़कर और सप्ताहों और महीनों को बताने वाले पशुओं के चिह्नों से आंका गया था। चन्द्रमा ने गायत्री छन्द के वर्णों में से नाखून बराबर मामूली अंश छोड़कर जितने दिन आते हैं, लगाए। कथा में कहा गया है कि जब जगती और त्रिष्टुप् छन्द सोम को दूसरी दुनिया से मर्त्यलोक में लाने में असफल रहे, तो देवताओं और ऋषियों ने गायत्री से राजा सोम को लाने की प्रार्थना की। वह उडी और उसने सोम के रक्षकों को डरा दिया और उसे अपने पंजों और चोंच में (अपने साथ) पकड़ लिया और उसने अन्य दो छन्दों द्वारा खोए गए वर्णों

1. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
ऋ० 1. 164. 45; अथर्व० 9. 10. 21

2. शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥
—अथर्व० 7. 43. 1

3. प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ —अथर्व० 2. 1. 2

को भी खोज लिया। सोम के एक रक्षक कृशानु ने उसकी ओर एक बाण फेंका जिसने उसके बाएं पैर के नाखून काट दिए।

इसलिए जहां कहीं पर (क) एक बच्चे या उषा की तीन माताओं या (ख) वाणी के तीन पदों, या (ख) गाय के बीज के तीन चरणों या (घ) विष्णु के तीन पगों या पदचिह्नों का उल्लेख मिलता है, तो संकेत तीन लगातार सायन वर्षों के तीन चौथाई दिनों की ओर होता है, जो चौथे साल में 'एक शिशु' 'एक वर्ण' 'एक गाय' का निर्माण करते हैं।

एकविंश पहेली का स्वरूप

यहां हम शतपथ ब्राह्मण से कुछ अंश उद्धृत करते है, जिनमें इक्कीस या एकविंश संख्या की ओर महत्वपूर्ण संकेत किया गया है :

> बीच का दिन इक्कीस है, क्योंकि वह सूर्य इक्कीसवां है और अश्वमेध इक्कीसवां है।[1] —13. 3. 3. 3
>
> वस्तुतः इक्कीसवां ही यज्ञ का शीर्ष है, और निश्चय ही जो अश्वमेध के तीन सिरों को जानता है, राजाओं का प्रमुख बन जाता है। वेदी इक्कीस हैं, स्तोम इक्कीस हैं, यूप इक्कीस हैं। ये अश्वमेध के तीन सिर हैं और निश्चय ही जो उनको जानता है, राजाओं का प्रमुख बन जाता है[2]। —13. 3. 3. 10

ऊपर हमनें जो कहा है उसके प्रकाश में हम इक्कीस के स्वरूप को अच्छीं तरह समझ सकते हैं। लौकिक वर्ष 360 दिनों का होता है, जबकि सायन वर्ष $365\frac{1}{4}$ दिनों का। चार सालों के एक युग में 21 दिनों की चूक होती है। यदि कोई इन दो जोड़ों के बीच की भूल को दूर करना चाहता है तो उसे चार सालों के चक्र में इन इक्कीस दिनों को बराबर-बराबर बांट देना चाहिए। इसलिए महान् अश्वमेघ यज्ञ में प्रतीक रूप से इक्कीस यूप होते हैं और यजुर्वेद के चौबीसवें अध्याय में जिन पशुओं का जिक्र किया गया है, उनको इन इक्कीस यूपों से ही सम्बद्ध किया जाना चाहिए। मुख्य यूप बीच का इक्कीसवां है और उसे अग्निष्ठ कहते हैं परवर्ती ज्योतिष शास्त्र में जिस तरह राशियों को बिच्छू, शेर, मछली, वृश्चिक, सिंह, मीन आदि के नाम दिए गए हैं। उसी तरह चार सालों के युग चक्र को इक्कीस यूपों में बांटा गया था और पशुओं को इन से सम्बद्ध

---

1. एकविंशं मध्यममहर्भवति। असौ वाऽआदित्य एकविंशः।
सोऽश्वमेधः स्वेनैवैँस्तोमेन स्वायान्देवतायां प्रतिष्ठापयति ॥
— श० ब्रा० 13. 3. 3. 3
2. शिरोवाऽएतद्यज्ञस्य यदेकविंशः। यो वा ऽ अश्वमेधे त्रीणि शीर्षाणि वेद शिरो ह राज्ञां भवत्येकविंशोऽग्निर्भवत्येकविंशस्तोम ऽ एकविंशतिर्यूपा ऽ एतानि वा ऽ अश्वमेधे त्रीणि शीर्षाणि तानि य एवं वेद शिरो ह राज्ञां भवति। —श० ब्रा० 13. 3. 3. 10

किया गया था। जैसे-जैसे सूर्य इन चार वर्षों के चक्र से गुजरता था, वह आकाश में इन इक्कीस पशुओं के प्रतीकों द्वारा निरूपित कक्ष्याओं को पार करता था। सौर चक्र को लगभग 600 भागों में बांटा जाता था, जिसमें लगभग 600 पशु रखे जाते थे। बताया गया है कि अश्वमेघ यज्ञ में हर यूप से 15 बलि पशु सम्बद्ध होते है और यह संख्या 315 के लगभग आती है। यूपों के बीच की जगह में हाथी और गेंडे से लेकर भौंरे और मक्खी तक लगभग 285 वन्य पशु अस्थायी तौर पर निरूपित किए जाते हैं। न उनको मारा जाता है और न उनकी बलि ही दी जाती है। ये पशु आकाश के स्थिर और अस्थिर नक्षत्रों का निरूपण करने वाली काल्पनिक आकृतियां ही होती हैं। जैसे उनके क्षेत्र में से निकलता था, आलंकारिक रूप से यह मान लिया जाता था कि उनकी बलि दे दी गई है और जैसे ही सूर्य आगे बढ़ जाता था, उनको फिर जीवित मान लिया जाता था। इक्कीस यूपों पर इतने चित्र-विचित्र पशुओं की सामूहिक हत्या का और कोई सम्भव अर्थ नहीं लगाया जा सकता। बहुत से मामलों में ऐसे जीवों के समूह को एक यूप से वांधना यथार्थ में सम्भव भी नहीं हो सकता। वस्तुतः यह रक्तपात की बलि न थी। पशु वस्तुतः नक्षत्र-समूह की आलंकारिक आकृति के ही रूप में मान लिए गए थे, जिनको चार वर्षों के महाचक्र में सायन और लौकिक वर्षों की गणनाओं के बीच भूल का निवारण करने के लिए इक्कीस हिस्सों में व्यवस्थित कर दिया गया था। यदि वह व्यवस्था चार साल बाद की जाती थी, तो ये अश्वमेघ यज्ञ की अवधि के दौरान 21 दिनों की कमी का प्रतिनिधित्व करते थे। (इसके लिए शतपथ ब्राह्मण 13. 5. 1. 13-15 भी देखिए)।

दीर्घतमा और अस्य वामस्य सूक्तम्

वह बड़ा ही अचम्भों से भरा हुआ युग रहा होगा, जब उस समय के एक बड़े महारथी दीर्घतमा ने चालीस-पचास साल का पूरा समय धरती, चन्द्रमा और सूर्य की गतियों का अध्ययन करने में लगाया होगा और चान्द्रमास, तथा सौर वर्ष की समयसीमा और ऋतुओं और वर्षा का परस्पर सम्बन्ध जानने की कोशिश की होगी। यह बड़ा भारी आविष्कार रहा होगा जब लगातार प्रेक्षण करने के बाद यह पता चला होगा कि तीस-तीस दिनों वाले बारह महीनों का एक साधारण वर्ष चार साल के युग में 21 दिनों का अंतर डाल देता है। ऋग्वेद के पहले मंडल में बहुत से सूक्तों (140 से 164 सूक्त) के ऋषि दीर्घतमा बताए गए हैं। दीर्घतमा मनु और अथर्वन् के समकालीन मालूम पड़ते हैं, जिनके नामों का सम्बन्ध अग्नि की खोज और रगड़ के द्वारा उनके उद्‌भव से है। दीर्घतमा से सम्बन्धित आखिरी सूक्त 164 वां है। यह 'अस्य वामस्य' शब्दों से शुरू होता है और इसलिए इसे 'अस्य वामस्य सूक्त' या 'अस्य वामीय सूक्त' भी कहा जाता है। यह एक पहेली वाला सूक्त है, और इसका अर्थ तब तक समझ में नहीं आता,

जब तक पाठक वेद की विशिष्ट शब्दावली से परिचित न हो और उसे उपयुक्त संदर्भ में न पढ़े। इस सम्बन्ध में डा० कुन्हनराजा ने ठीक ही कहा है :

'...कवि ने सामान्य व्यक्तियों की दृष्टि से छिपी हुई चीजों का सही चित्र खींचा है...आज जब वे प्रतीक खो चुके हैं और उसकी पृष्ठ भूमि हमारे निकट अस्पष्ट है, तो सारे चित्र का महत्त्व हमारे सामने स्पष्ट नहीं होता। बहुत से ऐसे शब्द और पदावलियां और प्रस्तुति के तरीके हैं, जिनको हम नहीं समझ सकते।'

हाल में प्रो० आर. पी. वैद्य ने, जो ज्योतिष वेधशाला उज्जैन से सम्बन्धित रहे हैं, इस सूक्त पर एक पुस्तिका (1961) निकाली है, जो अनेक अस्पष्ट अंशों पर बहुत प्रकाश डालती है।

यह याद रखना चाहिए कि प्राचीन लोगों ने समय को जो इकाइयां विकसित की थीं, वे मनचाही न थीं; वे ज्योतिष सम्बन्धी तत्त्वों पर आधारित थीं। इसी तरह उन्होंने उपयुक्त यज्ञ प्रणाली निकाली थी, जिसका उपयोग वे समय की इकाइयों को मापने में करते थे। हम यह भी बता चुके हैं कि समय की ये इकाइयां विभिन्न छन्दों की वर्ण संख्या के आधार पर लिखी जाती थीं। चूंकि लिखने की प्रणाली प्रचलित न थी, यही संभव उपाय थे, जिनसे प्रेक्षक ज्योतिष की समय-गणना का अभिलेख रख सकते थे।

दीर्घतमा को यह श्रेय दिया जाएगा कि इनके प्रयत्नों के कारण प्रारंभिक विषय के रूप में ज्योतिष का अध्ययन बड़ा लोकप्रिय हो गया। वेद, यज्ञ और ज्योतिष को परस्पर संबद्ध मान लिया गया। ज्योतिष में विश्व और ऋतुओं आदि का ज्ञान शामिल था। मुख्य उद्देश्य ज्योतिष का अध्ययन था। यज्ञ ज्योतिष की सिद्धि के लिए थे, स्थिति इनके विपरीत न थी।

तीन चक्र

ज्योतिष सम्बन्धी एक परवर्ती संहिता सूर्यसिद्धांत में समय के नौ चक्र बताए गए हैं :

ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, सौर, चान्द्र, सायन और नाक्षत्र।[1]

वैदिक युग में समय चक्र तीन ही थे

(क) ब्रह्मा के अहोरात्र—शुरू में इसमें 28000 साल माने गए थे, फिर 27000। अब यह 24000 सालों के बराबर माना जाता है। इसमें 1000-1000 वर्षों की इकाइयां होती थीं।

---

1. ब्राह्मं पित्र्यं तथा दिव्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।
सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव ॥ —सू० सि० 14. 1

(ख) देव अहोरात्र—इसमें लगभग 360 दिन होते थे।

(ग) प्राजापत्य अहोरात्र—यह 28 दिन का तथाकथित चान्द्रमास का छोटा सा चक्र था। वर्ष में ऐसे 13 चक्र होते थे।

देव अहोरात्र (देवताओं या मानवों के) की गणना के लिए 6,12 और 15 दिनों के (षडह, द्वादशाह, पौर्णमास्य और अमावास्य) यज्ञ चालू किए गए। इसका कारण यह है कि वर्ष में 360 दिन होते थे।

शुरू के वैदिक युग में केवल तीन तरह के चक्र त्रिनाभि चक्र हुआ करते थे, लेकिन बाद के युग में सप्त चक्र प्रचलित हुआ और समय को काल, मुहूर्त्त, दिन, अर्द्ध मास, मास, ऋतु और चातुर्मास्य इन सात इकाइयों में नापा जाने लगा। ऋषि दीर्घतमा ने चातुर्मास्य यज्ञ को विश्व की नाभि या केन्द्र बताया है (ऋ० 164. 35)। यज्ञ प्रणाली का उद्‌भव समय को मापने के लिए किया गया था।

वैदिक ज्योतिर्विज्ञों ने प्रत्यक्ष कारणों से दुहरी यज्ञ-प्रणाली प्रचलित की। एक से वे लौकिक वर्ष मापते थे और दूसरी से यज्ञ वर्ष। उन्होंने 6,12,13,15 और 21 दिनों के यज्ञ चालू किए। जैसा हम बता चुके हैं, 21 दिनों का यज्ञ लौकिक (सायन) वर्ष को सौर वर्ष के साथ ठीक करने के लिए चलाया गया था और संभवतः हर चौथे (अधिकदिन वाले) वर्ष में उसे किया जाता था।

'अस्य वामस्य सूक्त.' की व्याख्या करने से पहले कुछ बातों पर ध्यान देना उत्तम होगा :

(एक) वैदिक धारणा के अनुसार सर्वदर्शी, सर्वस्थित पुरुष एक हैं। हमें उसको तीन रूपों में समझना चाहिए :

(क) काल पुरुष (ख) यज्ञ पुरुष और (ग) वेद (दिव्य ज्ञान वाला) पुरुष। सुविख्यात पुरुष सूक्त (ऋ० 10 90. 1) में वेद और काल पुरुष का वर्णन किया गया है; तैत्तिरीय संहिता में यज्ञ और काल पुरुष का वर्णन किया गया है और 'अस्य वामीय सूक्त' (ऋ० 1. 164) में काल व यज्ञ व वेद पुरुष का वर्णन किया गया है। हां, यह सब लाक्षणिक रूप में है।

(दो) समय की इकाई संवत्सर है और यज्ञ प्रणाली की इकाई संवत्सर यज्ञ। ये दोनों इकाइयां साथ-साथ चलती हैं, पिछली इकाई भी बहुत कुछ पहली इकाई पर निर्भर है। संवत्सर का वर्णन काल-चक्र के रूप में किया गया है।

(तीन) वर्ष की गणना नक्षत्र मंडल या राशि चक्र में सूर्य की गति के अनुरूप की जाती है, जो कालचक्र की नेमि होती थी। इसे योजन नामक तीन बराबर-बराबर हिस्सों में बंटा हुआ माना जाता था।

राशि-चक्र या नक्षत्र मंडल को भी दो वरावर हिस्सों में बंटा हुग्रा माना जाता था, जिसे भाग कहते थे,। इन्हें ग्राज हम उत्तरी गोलार्ध ग्रौर दक्षिणी गोलार्द्ध के नाम से जानते हैं। पहले को देव भाग कहते थे। वह होता के बाएं हाथ की ग्रोर स्थित होता था, जो सदा पूर्व (प्राची) की ग्रोर मुख करके बैठता था, जिसे पहली प्रारम्भिक दिशा माना जाता था। दूसरे भाग को पितृ ग्रौर ग्रसुरों का निवास माना जाता था। इस तरह उत्तरी गोलार्द्ध को देवभाग, वामभाग या केवल वामाह या माता कहते थे ग्रौर दक्षिणी गोलार्ध को ग्रसुर भाग, दक्षिण भाग, पितृ भाग या निर्ऋ ति भाग कहते थे।

(चार) काल चक्र में 5,6,7, ..12 ग्ररे माने जाते थे। हर ग्ररा ऋतु या कभी-कभी मास जैसी काल की इकाई का प्रतिनिधित्व करता था। वर्ष में ऋतुग्रों की संख्या 5,6, या 7 होती थी।

(पांच) समय की सबसे छोटी इकाई मानव दिन ग्रौर मानव-रात्रि होती थी। ग्रहोरात्र (दिन ग्रौर रात्र) 24 घंटे का समय होता था। दैव-ग्रर्ध और ग्रसुर-अर्ध में 180-180 दिन होते थे।

(छः) वर्ष गिनने की दो प्रणालियां थीं :

(क) पहली प्रणाली :

एक साल = 12 महीने
= 6 ऋतुएं
= 24 नक्षत्र (पहले फाल्गुनी, ग्राषाढ़ा ग्रौर भाद्रपदा एक ही नक्षत्र गिने जाते थे, दो-दो नहीं)
= 360 + 1 दिन = 361 दिन

(ख) दूसरी प्रणाली :

एक साल = 13 महीने 28-28 दिनों के
= (6 + 1) या 7 ऋतुएं
= 28 नक्षत्र, ग्रभिजित् को जोड़कर
= (56 × 6 + 28 + 1) दिन
= 364 + 1 दिन

(सात) ग्रनेक स्थलों पर मन्त्रों के दुहरे ग्रर्थ हैं :

(क) ग्राध्यात्मिक पक्ष, जहां वे विराट् पुरुष या ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करते थे (ख) आधिदैविक पक्ष, जहां उसका ग्रर्थ सूर्य से होता है। सूर्य एक है, परमात्मा एक है, फिर भी बहुत से नाम दोनों

के ऊपर लागू होते हैं। ये नाम एक जैसे भी हैं। दीर्घतमा एक ऋचा में इन नामों को गिनाते हैं:

मित्र, वरुण, अर्यमा, आयु या वायु, इन्द्र, ऋभुक्षा (= प्रजापति या इन्द्र) और मरुत्।

एक ऋचा (ऋ० 1. 164. 46) में दीर्घतमा कहते हैं कि आदित्य के ये नाम भी हैं: अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, यम, और मातरिश्वा।

नीचे जो सारणियां दी जा रही हैं, वे प्रो० आर. वी. वैद्य की पुस्तिका से हैं। सारणी-एक में लगभग 60 अंश या दक्षिण आरोह (एसेन्शन) के चार घंटे के अंतराल वाले नक्षत्र के नाम दिए गए हैं और सारणी—दो में लगभग 56 अंश या तीन घंटे और 44 मिनट के अंतराल वालों के।

सारणी-एक

ऋतु	नक्षत्र	दक्षिण आरोह	देवता
1	कृत्तिका	3-45	अग्नि
2	पुनर्वसु	7-43	अदिति या यम
3	उत्तराफाल्गुनी	11-47	अर्यमा
4	अनुराधा	15-58	मित्र
5	श्रवण	19-49	विष्णु या इन्द्र
6	उत्तराभाद्रपदा	0-6	मातरिश्वा

सारणी-दो

ऋतु	नक्षत्र	दक्षिण आरोह	देवता
1	कृत्तिका	3-45	अग्नि=मित्र
2	पुनर्वसु	7-43	अदिति=वायु
3	पूर्वाफाल्गुनी	11-12	अर्यमा
4	विशाखा	14-49	इन्द्र=ऋभुक्षा
5	उत्तराषाढा	18-53	प्रजापति विश्वेदेवाः
6	शतभिषक्	22-51	वरुण
7	अश्विनी	2-5	मातरिश्वा

सारणियों से पता चलता है कि देवताओं और नक्षत्रों का विभाजन मनमाना नहीं था; वे सूर्य की किसी ऐसे खास नक्षत्र के निकट वास्तविक स्थिति से मार्गदर्शन प्राप्त करते थे, जो हर ऋतु के आरंभ में किसी खास देवता द्वारा शासित होता था। प्रो० वैद्य कहते हैं: 'यह पता लगाना असंभव नहीं हैं कि किस नक्षत्र मंडल का पहला नक्षत्र मानकर ऋषि द्वारा (ऋग्वेद की) ऋचा 1. 162. 1 में बताया गया देवता ठीक ठीक मालूम हो जाएगा। इसमे कोई

अनुसंधान-छात्र ऋषि दीर्घतमा के जीवन काल की लगभग तिथि प्राप्त कर सकेगा।'

(आठ) वर्ष को 3,4,5,6 आदि भागों में बांटने की प्रथा थी; इन भागों को पाद कहते थे। इस कारण सूर्य की गति को त्रिपाद, चतुष्पाद, पंच-पाद आदि कहते थे। इन भागों का सूर्य द्वारा पार किया जाना भी पद कहलाता था।

काल-चक्र के अरे नाभि में लगे माने जाते थे और तीन बराबर हिस्सों में बंटे होते थे। चक्र को त्रिनाभिचक्र कहते थे। नाभि की माप चार मास चलने वाली चातुर्मास्य इष्टि द्वारा की जाती थी। साल में ऐसे तीन यज्ञ होते थे और उनसे संबद्ध देवता थे, अग्नि, वायु और सूर्य।

विभिन्न योजनों, देवताओं और ऋतुओं का सम्बन्ध इस प्रकार था :

योजन	अन्तराल	देवता	ऋतु
(क)	द्यु (आकाश)	सूर्य	वसन्त और ग्रीष्म
(ख)	अंतरिक्ष (बीच का)	वायु	वर्षा और शरत्
(ग)	पृथिवी	अग्नि	हेमन्त और शिशिर

कभी-कभी पांच ऋतुओं की साल (पंच-ऋतु-संवत्सर) का वर्णन आता है और तब हेमन्त और शिशिर को एक वर्ग में जोड़ लिया जाता है। फिर दूसरी जगह हमें वर्ष में सात ऋतुओं की बात भी पढ़ने को मिलती है। ऐसी स्थिति में आखिरी ऋतु को सप्तथा (सातवीं) कहते हैं; इसमें केवल 28 दिन या एक महीना ही होता था, इसलिए इसे एकज भी कहते थे। इस स्थिति में वर्ष में तेरह महीने होते थे।

(नौ) सूर्य को सवितृ या स्रष्टा भी कहते हैं। वह वर्ष या संवत्सर की सृष्टि करता है, जो फिर 180 दिनों और 180 रातों को जन्म देता है और फिर 360 दिन-रातों (अहोरात्राणि) को। इसी कारण 24 घंटों की अवधि को पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में रखा जाता है। इन अवधियों को संवत्सर के पुत्र और पुत्रियां भी माना जाता है।

(दस) चक्र का अक्ष अक्षर-आत्मा (परम देव) है। चक्र की नेमि नक्षत्र चक्र है और नक्षत्र मंडल इसके चारों ओर अपना स्थान रखते हैं। इनको देवगृह भी कहते थे और वेदों में इसे लोक और भुवन भी कहा गया है। प्राति, जो परिधि और नेमि जैसी ही थी, वृत्त का परिमाप और चाप या खंड जैसे उसके हिस्सों को भी बताती है। पहिए की पूरी नेमि मकड़ी के बारह गोलाकार टुकड़ों के बाहर

लगाई जाती है। इनमें ही बारह 'अरे लगते हैं। ये बारह खंड राशिचक्र के बारह हिस्सों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ऋ० 1. 164. 48

(ग्यारह) परम-पुरुष का एक रथ है, जिसे सात घोड़ों या सात मुखों वाले घोड़े द्वारा खींचा जाता है। लगता है कि महान् काल के सात चक्रों को सूर्य के सात पुत्रों (सप्तपुत्राः) के रूप में भी जाना जाता था और ये छोटे-छोटे कालचक्र हैं :

(एक) काल (दो) मुहूर्त्त (तीन) दिन (चार) अर्द्धमास (पांच) मास (छः) ऋतु और (सात) चातुर्मास्य।

रथ में दो जुए होते हैं, जिनमें से एक उत्तरायण और दूसरा दक्षिणायन होता है।

कभी-कभी रथ के दो घोड़ों द्वारा खींचे जाने की कल्पना की जाती है। उस स्थिति में घोड़े सूर्य और चन्द्रमा होते हैं और उनके जुओं को (1) परा धूः या पराधू और (2) अवाचीधूः या अवाधूः कहते हैं।

सूर्य को कभी-कभी सप्त-पुत्र (सातवां बेटा) कहा जाता है। इसका कारण यही हो सकता है कि धरती की सात विशिष्ट स्थितियों में इसका आवाहन किया जाता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि क्षितिज के पार के चक्रों को सात-सात दिनों के चक्र के रूप में गिना जाता है।

(बारह) धरती और आकाश के बीच के अन्तराल को अन्तरिक्ष कहते हैं। इसकी काल्पनिक ऊपरी सीमा परा और नीचे की सीमा अवा कही जाती है सभी ग्रह ऐसे लगते हैं मानों अन्तरिक्ष में और देवताओं के लोक में से होकर उड़ रहे हों। इससे इन ग्रहों को सुपर्ण या पक्षी कहते हैं। सूर्य भी इनमें से एक पक्षी है और चन्द्रमा भी। सूर्य के कई नाम हैं और अपनी तीन मुख्य स्थितियों के कारण उसे त्रि-सुपर्ण भी कहते हैं।

(तेरह) अन्तरिक्ष के दिव्य अर्ध को माता कहते हैं और उसके पितृ-अर्ध को पितृ-या पिता। इन अन्तरिक्षों को कभी-कभी तीन-तीन हिस्सों में फिर से विभाजित माना जाता है और तव उन्हें क्रमशः तिस्रमातृ (तीन माता) और त्रीन् पितृन्ः (तीन पिता) कहा जाता है।

(चौदह) सूर्य को कभी-कभी आलंकारिक रूप में गाय (गौ) कहा जाता है। इस शब्दावली में वर्ष या संवत्सर को वत्स कहा जाता है और मानवदिवस को फिर पुत्र और दुहिता।

(पन्द्रह) कभी-कभी अन्तरिक्ष के और माता के बीच का रूपक बांधा जाता है। उस स्थिति में वत्स पानी की भाप (उदकसंभ्र) का समुच्चय है और कभी-कभी वत्स वज्र या विद्युत् होता है।

इन आरम्भिक बातों की चर्चा कर लेने के बाद हम 'अस्य वामस्य सूक्त' का भाव समझ सकेंगे, जिसके ऋषि दीर्घतमस् हैं। हम नीचे इस सूक्त की ऋचाओं का मूल पाठ और अनुवाद देंगे :

1. अश्न (सर्वव्यापी वायु) होतृ (सूर्य) का मंझला भाई है, जो पूजनीय (वामः) है और जो सभी का रक्षक है और घृतपृष्ठ (अग्नि) इसका तीसरा भाई हैं। इनमें से सूर्य हमें दिखाई देता है, जिसके सात पुत्र हैं और जो सबका स्वामी है।[1]

(सूर्य, वायु और अग्नि त्रिदेव या तीन भाइयों के वर्ग हैं, मंझला वायु है और तीसरा अग्नि)

2. वे सप्त को एक पहिए वाले रथ में जोतते हैं। सप्त नामक एक घोड़ा इसे आगे खींचता है, तीन धुरी वाला (या तीन नेमियां वाला) पहिया नष्ट न होने वाला है, कभी ढीला नहीं पड़ता और इसमें विश्व के सभी भुवन स्थित हैं।[2]

(सात हैं ; मित्र, वरुण, अर्यमन्, वायु, इन्द्र, ऋभुक्षा, मरुत्; तीन नेमियां तीन चतुर्मास की अवधियां हैं।)

3. जो सात इस सात पहियों वाले रथ को चलाते है, इसे खींचने वाले सात घोड़े हैं; सात बहिनें इस पर साथ-साथ सवार होती हैं और इस पर सात प्रकार के यज्ञ या वाणियां (सप्त गवां) निहित हैं।[3]

(सूर्य द्वारा खींचा जाने वाला रथ एक साल में नक्षत्र-मण्डल (राशि-चक्र) के सात भुवनों से होकर गुजरता है। सात घोड़े सात लोकों में सूर्य की सात स्थितियों के द्योतक हैं; सात पहिए सात कालचक्र हैं, जिनसे समय को मापा जाता है : काल, मुहुर्त, दिन, अर्द्ध मास, मास, ऋतु और चातुर्मास्य। सात ऋतुएं सात बहिनें हैं। सात यज्ञ सात गौएं है, जो सात ऋतुओं में किए जाते है।)

4. प्रथम को पैदा होते हुए किसने देखा हैं ? तत्त्ववान् कौन है जिसे तत्त्व-हीन पोषित करता है ? सांस और रक्त धरती से जनमते हैं, पर आत्मा कहां

---

1. अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

2. सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

3. इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम॥

है ? (या धरती, जीवन, रक्त और आत्मा कहां से आते हैं ?) विद्वान् या ऋषि से यह पूछने कौन जाता है ?[1]

5. (समझबूझ में) अपरिपक्व, मन से न देख सकने वाला जो मैं हूँ, वह उन बातों के (या उन पदों के) बारे में पूछता हूँ, जो देवताओं से (भी) छिपी हुई हैं: वे सात सूत्र हैं, जिनसे ऋषियों ने सूर्य को ढांप रखा है, जिसमें सब स्थित है ।[2]

देवताओं के कदम या पद सात भुवनों में सूर्य की विभिन्न स्थितियों का संकेत करते हैं। सात सूत्र वर्ष को मापने के लिए विकसित किए गए सात यज्ञ हैं।

6. मैं अज्ञानी (सत्य) जानने वाले—ऋषियों से पूछता हूं, मैं जानने वाले की तरह नहीं (पूछता बल्कि) ज्ञान (प्राप्त करने) के लिए; एक एकाकी कौन है, जिसने अजन्मे रूप में ही इन छः भुवनों को धारण कर रखा है ।[3]

(छः भुवन छः ऋतुएँ है, जिनमें से चौथे साल सातवीं ऋतु चुपचाप जन्म लेती है ।)

7. जो सत्य जानता है, शीघ्र ही बता दे; हमेशा चलने वाले सुन्दर (सूर्य) की रहस्यपूर्ण स्थितियों को, उसकी गाएँ (किरण) उसके भव्य सिर से दूध गिराती हैं और उसके रूप को चमकीला बना देती हैं; उन्होंने पानी को मार्ग में (जहां से उसे गिराया गया था) दिया है।

इस मंत्र का अनुवाद इस तरह ज्यादा अच्छे रूप में किया जा सकता है: सूर्य का पश्चिम की ओर जाने वाला (अर्थात् दिव्य अर्ध) कदम छिपा हुआ है। इसकी किरणें ऊपर से पानी ढालती हैं। दृश्य रूप धारण करके वे अपने पदों से पानी को सोखती हैं ।[4]

(यहां पर दो योजनों में से होकर सूर्य की गति का वर्णन किया गया है। अपने दूसरे पग में वह जलवाष्प को जल-बादल में देता है, फिर काले बादलों में और फिर पानी बरसाता है। जब वह तीसरे योजन में प्रवेश करता है तो उसका कदम मर्त्यों की आंखों से छिपा रहता है।)

---

1. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
   भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥
2. पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि ।
   वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥
3. अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
   वि यस्तस्तम्भ षलिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥
4. इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
   शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥

8. माता (धरती) पिता (सूर्य) की पवित्र जल से सेवा करती है, पर उसे (उसकी कामना) अपने मन में पहले से ही मालूम हो गई है; जब सृष्टि की कामना वाली उसे गर्भरस से निविद्ध किया जाता है और विपुल की प्रत्याशा रखने वाले (सभी) आपस में (बधाई के) शब्दों का आदान-प्रदान करते हैं :[1]

(मंत्र दो ऋतुओं-वर्षा और शरद्-का वर्णन करता है, जो सूर्य के दूसरे पग में आती है। शब्द 'धीत्यग्रे' का अर्थ 'हथेली पर' भी हो सकता है। यह सूर्य का उल्लेख करतो है, जो शरद् में उच्चतम स्थिति में होता है। 'उपवाक् या शब्दों का आदान-प्रदान— यह धरती पर वर्षा भेजने वाले के रूप में और फलतः धरती की समृद्धि का लाक्षणिक वर्णन है। उपवाक् का अर्थ जौ की बालें या खलिहान भी किया गया है।)

9. माता (यानी अन्तरिक्ष) दक्षिण जुआ (दक्षिणी गोलार्ध) के सम्पर्क में आई। उसका गर्भ (जल वाप्प) बादलों में था। वत्स (वर्ष) रंभाया (या उसने) किरणों के पीछे चलने की इच्छा व्यक्त की और उसने सूर्य को स्वर्ग के तीनों योजनों में देखा।[2]

(यहां पर सूर्य के दक्षिणी पथ का वर्णन है, जो तीन भागों में बंटा हुआ है।)

10. एकाकी (सूर्य) तीन पिताओं और तीन माताओं वाला ऊंचा स्थित था : उसे कभी कुछ भी ज्यादा नहीं थकाता। आकाश के शिखर पर बैठे देवता उसके बारे में सबको समझ में आने वाली पर सब तक न व्याप्त वाणी में सलाह लेते हैं।[3]

(तीन माताएं तीन लोक पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग हैं और तीन पिता तीन देवता अग्नि, वायु और सूर्य हैं।
वाचमविश्वमिन्वाम्—सायण इसका अर्थ वज्र करते हैं—वाणी जो सबकी समझ में आती है, पर जो सब तक व्याप्त नहीं है।)

---

1. माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥

2. युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥

3. तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥

11. सत्य (सूर्य) का बारह अरों वाला चक्र स्वर्ग में घूमता है और कभी क्षय नहीं होता। जोड़ों में 720 बच्चे हैं, अग्नि यहां स्थित है।[1]

(द्वादशार या बारह अरे 12 महीने हैं। जोड़ों में बच्चे 360 दिन और रात हैं)।

12. वे (उसे अर्थात् सूर्य को) पांच पैर और बारह आकृति रखने वाला और स्वर्ग के ऊपरी आधे हिस्से में वर्षा का पानी रखने वाला बताते हैं। और वे और कुछ अन्य (सूर्य को) सात पहियों और छः अरों वाले रथ में अर्पित मानते हैं।[2]

(पांच पैर पांच ऋतुएं हैं, बारह आकृतियां बारह महीने हैं, सात पहिए काल की सात इकाइयां हैं : काल, मुहूर्त, दिन, अर्धमास, मास, ऋतु और चातुर्मास्य; छः छः अरे छः ऋतुएं हैं, सूर्य जब ऊपरी अर्धभाग में होता है, तभी वर्षा होती है।)

13. सभी प्राणी इस पांच अरे वाले घूमते हुए चक्र में स्थित हैं। भारी बोझ होते हुए भी धुरा कभी गर्म नहीं होता, उसकी शाश्वत नाभि भी कभी नहीं घिसती (वह अपने सन से नहीं गिरती)।[3]

14. समान नेमि वाला अक्षय चक्र बार-बार घूमता है, दस ऊपर की ओर युक्त होकर (विश्व को) वहन करते है; सूर्य की कक्ष्या पानी से आवृत्त होकर बढ़ती है और सभी भुवन इसमें अर्पित हैं।[4]

15. साथ जन्मे इन (ऋतुओं) में सातवें (सप्तथ) को एकज या एक से जन्मा कहा जाता है; केवल छः जोड़ों में पैदा होते हैं। वे चलते हैं (जो चलता है ऋषि है) और देवज या देव (सूर्य) से जन्मे हुए हैं। उनसे सम्बन्धित यज्ञ उपयुक्त अवधियों में किए जाते हैं, उसके लिए अवान्तर यज्ञ विभिन्न रूपों में चलते रहते हैं।[5]

---

1. द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
   आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥
2. पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
   अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षलर आहुरर्पितम्॥
3. पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
   तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥
4. सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
   सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा॥
5. साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षलिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
   तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥

16. उन्होंने मेरी सती स्त्रियों को पुरुष कहा है, जिसके आंखें हैं वही देखता है, अन्धा नहीं, जो ऋषि का पुत्र है, इसे समझता है और जो इसको अच्छी तरह पहचानता है, वह पिता का पिता है ।[1]

(पुरुष, यह व्याकरणगत रहस्यवाद का उदाहरण है, रश्मि या सूर्य की किरण को यहां स्त्री माना गया है, पर वह संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से पुंल्लिंग संज्ञा है ।)

17. गाय बछड़े को (उदर में) रखती हुई उठ खड़ी होती है, बछड़ा पिछडी टांगों को अगली टांगों के साथ (रखता है) वह कहां जाती है ? किस आधे भाग में वह जाती है । वह कहीं पर प्रसव करती है, पर यूथ में नहीं ।[2]

(सूर्य का वर्णन गगन मंडल के दो आधे भागों में जाता हुआ और अंत में एक साल बनाता हुआ बताया गया है । उसे उदर में बछड़ा रखती हुई गाय के रूप में बताया गया है । जहां बछड़ा पिछली टांगें आगे और अगली पीछे बांधे हुए पड़ा होता है । यहां बछड़ा साल है, जिसमें सूर्य को गति के अनुसार चार भाग होते है, पहले दो उत्तरी (ऊपरी) अर्ध-भाग में से होकर और दूसरे दो दक्षिणी (निचले) अर्धभाग में से होकर, जहां वह मानव आंख के लिए अदृश्य रहता हैं । गाय को आलंकारिक रूप में दूसरे (निचले) आधे भाग में मानव आंखों से छिपी हुई किसी जगह जाता हुआ बताया गया है ।)

18. जो विद्वान् इसके (बछड़े के) पिता (सूर्य) को निचले से ऊपरी आधे भाग में और ऊपरी से निचले आधे भाग में जाते हुए देखता है, वह यहां (यह) कैसे कहेगा ? मन कहां से पैदा हुआ था ?[3]

(मर्त्य पुरुष निचले आधेभाग में से होकर सूर्य की गति देख सकने में असमर्थ होते हैं, अतः साल का जन्म नहीं देख सकते) ।

19. जिसको (ऋषियों ने नीचे उतरता हुआ (या निचले आधे भाग में जाता हुआ) बताया है; उन्होंने ऊपर चढ़ता हुआ (ऊपरी आधे भाग में जाता हुआ) भी बताया है और जिसे उन्होंने ऊपर चढ़ने वाला बताया है उसे उतरने वाला भी वताया है और इन कक्ष्याओं को सोम और इन्द्र (चन्द्रमा और सूर्य)

---

1. स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत् ॥
2. अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अन्तः ॥
3. अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥

तुमने बनाया है, जिस तरह (बैल) जुएं में जुतकर धुरे को ले जाते हैं उसी तरह दुनियां को ले जाओ।[1]

(धरती के अपनी धुरी पर सूर्य के चारों ओर घूमते समय उत्तरी गोलार्ध के नक्षत्र और ग्रह क्रमशः दक्षिणी गोलार्द्ध में गुजरते हैं और वापिस आते हैं। सूर्य और चन्द्रमा की तुलना गाड़ी में जुते हुए बैलों या घोड़ों से की जाती है जिसे वे साथ-साथ खींचते हैं। धुरा इन दोनों में से प्रत्येक ज्योति का नक्षत्र परे आकाश में से होकर जाने वाला मार्ग है। मंत्र 19-22 में सूर्य और चन्द्रमा की सहयोजित गतियां बताई गई हैं।)

20. दो पक्षी जो बड़े ही घनिष्ठ संबद्ध और गाढ़े मित्र हैं, एक ही वृक्ष पर बैठते हैं उनमें से एक इसका फल चखता है और दूसरा उसे बिना चखे ही चमकता हैं।[2]

(आध्यात्मिक निर्वचन के अनुसार दोनों पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं। आधिदैविक निर्वचन के अनुसार दोनों पक्षी सूर्य और चन्द्रमा हैं। चन्द्रमा का अपना प्रकाश नहीं होता; वह चमकता है और सूर्य के प्रकाश को बिम्वित करता है। समान वृक्ष आकाश है।)

21. जहां सहज चलने वाली (किरणें) (अपने कर्त्तव्य को) जानती हुई अमृत (जल) के शाश्वत अंश का क्षरण करती हैं; वहीं स्वामी और सारी दुनिया के रक्षक ने मुझे रखा है (यद्यपि) बुद्धि में मैं अपरिपक्व हूँ।[3]

22. जिस वृक्ष में सहज चलने वाली (किरणें) मधु (फल) खाने वाली प्रवेश करती हैं और सबके ऊपर फिर (प्रकाश) लाती हैं; उन्होंने फल को मीठा कहा है, पर वह इसमें से नहीं लेता है, जो (विश्व के) रक्षक को नहीं जानता।[4]

(यहां पर सूर्य का यह वर्णन है कि वह कुछ महीनों के लिए अधोलोकों में चला जाता है और कुछ महीने बाद फिर प्रकट होता है। फिर भी जब वह अस्त होता है, उसकी किरणें (छिपते सूर्य की किरणें) आकाश

---

1. ये अर्वाञ्चस्तां उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्तां उ अर्वाच आहुः।
   इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥
2. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥
3. यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
   इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥
4. यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
   तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥

में एक पंखे की तरह फैलती हैं, आखीर में ये किरणें भी लुप्त हो जाती है और तब इसको 'पक्षियों के पेड़ों पर ठहरने' जैसा समझा जाता है। अब लाक्षणिक रूप से सूर्य को सोता हुआ बताया जाता है, इसे शहद खाते हुए बताया जाता है। किरणें सूर्योदय पर फिर निकलती हैं और पूरे संसार में फैलती हैं।)

23. जो धरती पर अग्नि की स्थिति को तथा वायु की स्थिति को जो आकाश से बना था और सूर्य की स्थिति को जो स्वर्ग में स्थित है, जानते हैं वे अमरत्व प्राप्त करते हैं।[1]

(तीनों छन्द-गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती—धरती के साथ सहयोजित किए गए हैं और एक ओर स्वर्ग से और फिर क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य से)।

24. वह (24 वर्णों के) गायत्री छन्द से प्रार्थना की रचना करता है, प्रार्थना से वह साम की रचना करता है (44 वर्णों के) त्रिष्टुप् छन्द से वह दो (या तीन पदों) की रचना करता है। दो पदों (या तीन पदों) से वह सूक्त की रचना करता है और अक्षरों से वह सात छन्दों की रचना करता है।[2]

(संभवतः साम, गीत या प्रार्थना है, वाक् सूक्त है और वाणी छन्द है; जो सात हैं—गायत्री (24), उष्णिक् (28), अनुष्टुभ्, (32), बृहती (36) पंक्ति (40), त्रिष्टुभ् (44) और जगती (48)।

25. जगती छन्द के पदों से उसने सिन्धु को स्वर्ग में स्थित किया और रथन्तर ऋचा में सूर्य को देखा। उन्होंने गायत्री छन्द के तीन विभाग बताए हैं, जिससे यह (बाकी सभी से) ज्यादा शक्ति और गौरव प्राप्त करता है।[3]

(सिन्धु का अर्थ वर्ष या सूर्य भी हो सकता है, जो वर्षा कराता है। सूर्य को सबसे ऊंची स्थिति में 21 दिनों तक घूमते हुए देखा जाता है और उसके सम्मान में गाए जाने वाली रथन्तर ऋचा के प्रभाव में उसे स्थिर माना जाता है।)

26. मैं दुधारू गाय का आवाहन करता हूँ, जो आसानी से दुही जा सकती है, जिससे अच्छे हाथ का दुहने वाला उसे दुह सके; सावित्री मेरी श्रेष्ठ आहुति

---

1. यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥

2. गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥

3. जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥

को ग्रहण करे (जिससे) उसका घर्म (ताप) बढ़ सके। निश्चय ही इसके लिए मैं उसका आवाहन करता हूँ।[1]

(यह मंत्र प्रवर्ग्य संस्कार का जिक्र करता है, जिसमें सोम निकालकर दूध में मिलाया जाता है और अश्विनी को चढ़ाया जाता है। जिस पात्र में सोम को मिलाया जाता है उसे भी घर्म कहते है। गाय रूपक में बादल है, दूध वर्षा है और वायु दुहने वाला। यह रूपक अगले तीन मंत्रों में चलता है, जहां बछड़ा वर्षा के लिए व्यग्र दुनियां या मानवता है, जिसे वर्षा ही प्रचुर दान दे सकेगी।)

27. वह रंभाती हुई, समृद्ध (दूध) से भरी हुई, मन में अपने बछड़े का ध्यान रखती हुई आती है। यह गाय अपना दूध अश्विनी को दे और हमारे महान् लाभ के लिए वृद्धि प्राप्त कर सके।[2]

28. गाय रंभाती हुई अपने बछड़े को बुलाती है, जो आखें बन्द किए हुए (खड़ा रहता है) और जैसे (वह) उसका माथा चाटने के लिए बढ़ती है, वह भी बां-बां करने लगता है। उसके मुख में लार देखते ही वह व्यग्र होकर आवाज देती है और उसे अपने दूध से पुष्ट करती है।[3]

29. जब गाय अव्यक्त आवाज देती हैं, तब वह भी रंभाता है, जैसे ही वह उसे साथ लेकर अपने घर की ओर चलती है। अपनी चित्तवृत्तियों में से (प्रभावित) वह मानव जैसा आचरण करती है। और ज्योति के साथ अपने स्वरूप को प्रकट करती है।[4]

30. प्राणवायु से युक्त जीवन (अपना कार्य करने के लिए उत्सुक) इसके (उपयुक्त) भुवनों के बीच ध्रुव होकर ठहरता है। मर्त्य जीव का शरीर मर्त्य देह के ढांचे के साथ (दाह संस्कार की) स्वधाओं से (पोषित होकर) अमर रहता है।[5]

---

1. उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्॥
2. हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥
3. गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्कृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥
4. अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥
5. अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥

31. मैंने विश्व के न थकने वाले रक्षक सूर्य को देखा है, जो विभिन्न कक्ष्याओं से ऊपर-नीचे चलता है; वह एकीभूत और विस्तृत ज्योति से युक्त रहता है और भुवनों के बीच विचरता है।[1]

(यह मन्त्र दिव्य अर्धभाग में सूर्य की गति वर्णन करता है। वह ऊपर-नीचे कक्ष्या में चलता है। वह धरती पर नहीं गिरता, बल्कि अन्तरिक्ष में लटका रहता है।)

32. उस (संवत्सर) ने इस अर्थात् दिन की रचना की, पर वह इसे नहीं जानता। वह (सूर्य) जो इसे देखता है (अब) इससे छिपा हुआ है। वह बहुत सी आहुतियों को उदर में छिपाए राक्षसलोक में जाता है। (या वह कई जन्म लेता है, और अघोलोक में जा चुका है।)[2]

(इसका सम्बन्ध सूर्य के उत्तरार्ध को छोड़कर (सूर्य द्वारा बताए गए) दक्षिण (असुर) अर्ध में संवत्सर के साथ, जिसे उसने बनाया है, जाने से है, जो फिर बहुत से अहस् (दिन) या बच्चे पैदा करता है। सूर्य अधोलोक में होने पर भी संवत्सर को देखता है, पर वह अब अहस् को नहीं देख सकता। इस आधे में बच्चे रात्रियां होंगे। लंबी लगातार रात संवत्सर का गर्भ है। इसमें पड़े हुए एक नए संवत्सर की कल्पना की जाती है, जो नया जन्म प्राप्त करने को है।)

33. (संवत्सर कहता है) आकाश मेरा पिता और जनक है, (धरती की) नाभि मेरी बन्धु है, महीयसी धरती मेरी माता है। दो फैले हुए अंशों के बीच गर्भ है। यहां पिता ने पुत्री का गर्भ रखा।[3]

(यह मन्त्र सूर्य के शरद् के दक्षिण अयन में आने का वर्णन करता है जो संवत्सर की मध्यस्थिति है। दिव्य दिन (संवत्सर का पुत्र) खत्म होता है और दिव्य रात्रि (संवत्सर की पुत्री) गर्भ लेगी। इस स्थिति में सूर्य को आकाश और धरती के मिलन विन्दु पर बताया जाता है, जो संवत्सर के जनक-जननी बताए जाते हैं, क्योंकि उत्तरायण में दोनों के पहले मिलाप से संवत्सर जन्म लेता है। फैले हुए आकाश और विशाल धरती के बीच की जगह को रूपक में योनि कहा गया है।

1. अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वंतः॥
2. य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥
3. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

यानी पुत्री के लिए गर्भ सूर्य द्वारा इस अन्तरिक्ष से जाने के बाद रखा जाता है। माता धरती ही पूर्व क्षितिज में सूर्य के साथ संवत्सर के सम्बन्ध को संभालकर रखती है।)

34: मैं आपसे पूछता हूँ कि धरती का परम अन्त क्या है? मैं तुमसे पूछता हूँ कि भुवन की नाभि कहां है? मैं तुमसे पूछता हूँ कि घोड़े की प्रजनन शक्ति (वीर्य) क्या है? मैं तुमसे पूछता हूं कि (पवित्र) वाणी का परम व्योम क्या है?[1]

35. यह वेदी धरती का परम अन्त है। यह यज्ञ भुवन की नाभि है। यह सोम घोड़े की प्रजनन-शक्ति (वीर्य) है। यह ब्रह्म (पवित्र) वाणी का परम व्योम है।[2]

(वे ही क्षितिज का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो धरती की अंतिम सीमा हैं। यज्ञ विषुव यज्ञ है, जो वर्ष के मध्य दिन किया जाता है (देखिए मंत्र 33) और इसलिए वह बीच का है। सोम चन्द्रमा है, सोमरस नहीं।)

36. सात अर्धगर्भ (विश्व के रेतस्) को विष्णु के आदेश द्वारा (विश्व के) समर्थन में लगाया जाता है। ये विद्वान् जानते बूझते हुए धरती के चारों ओर घूमते हैं।[3]

(चन्द्रमा 14-14 दिनों के अर्धमास की अवधियों के सात अर्धगर्भ रखता है, जो हर शुक्ल पक्ष में दिखाई देते हैं और संभाले जा सकते हैं। आधे महीने ही अर्धगर्भ कहे गए हैं। चन्द्रमा को भुवनों का रेतस् कहा गया है।)

37. मैं नहीं जानता कि मैं यह सब हूँ, क्योंकि मैं चिन्तित और मन से सन्नद्ध (बंधा हुआ) होकर जाता हूँ; जब सत्य के पहले जन्मे हुए (विचार) मेरे पास पहुंचते है, तो मैं उस पवित्र शब्द के एक अंश (के अर्थ) को तुरन्त प्राप्त करूंगा।[4]

---

1. पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥
2. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥
3. सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥
4. न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

38. अमर (सूर्य) मर्त्य (चन्द्रमा) के साथ संयुक्त हो विनोद (की कामना) से प्रभावित होकर नीचे या ऊपर से भुवन में जाता है; पर (लोग उनको) संयुक्त होकर (इस दुनियां में साथ-साथ) हर जगह जाते हुए देखते हैं; (दूसरी दुनियां में साथ-साथ) हर जगह जाते हुए; उन्होंने एक को समझ लिया है, लेकिन दूसरे को नहीं समझा है।[1]

(सूर्य की गति एकरूप होने से तुरन्त समझ में आ जाती हैं, पर चन्द्रमा की परिवर्तित होती रहने से समझ में नहीं आती।)

39. सभी देवता इस परम व्योम में अपना स्थान प्राप्त कर चुके हैं, जो वेद (के पाठ) का अक्षय रूप ही है। जो इसे नहीं समझता वह वेद से क्या लाभ उठा सकेगा ? लेकिन जो इसे जानते हैं, वे पूर्णतः ठीक हैं।[2]

40. गाय, तू काफी चारे द्वारा बहुत दूध प्रदान कर; जिससे हम भी (प्रचुरता में) समृद्ध हो सकें; हर ऋतु में घास को चरो और (इच्छानुसार) घूमती हुई शुद्ध जल पिओ।[3]

41. (बादलों की) आवाज बोली जा चुकी है, पानी का निर्माण (वर्षा) हो चुका है। वह एक पाद, दो पाद, चार पाद, आठ पाद, नौ पाद और परम व्योम में अनन्त स्वरूप वाली हैं।[4]

पूरा मन्त्र दो अर्थ वाला है :

गौरी	रात	बादलों की बिजली
मिमाय	मापती है	बोलती या घरघराती है
सलिल	नक्षत्र उत्तराषाढा	वर्षा
तक्षति	काटती है	उड़ेलती है
पद	कदम	स्थान

यह मन्त्र दिव्य रात्रि का बड़ी अच्छी तरह वर्णन करता है, जिसकी माप-जोख सूर्य 120 दिनों के तीसरे पग में करता है। यह तब शुरू होता है, जब

1. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥
2. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते ॥
3. सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती।
4. गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥

उत्तराषाढा नक्षत्र आकाश में दिखाई देने लगता हैं। सायण इस मंत्र की व्याख्या बादलों, बिजली और वर्षा होने के प्रसंग में करते हैं। ज्योतिष सम्बन्धी व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ इस तरह होगा :

(वह) उत्तराषाढा नक्षत्र को व्योम से काटते हुए (दिव्य) रात को (चार महीने, चातुर्मास्य के) एक पग में नापता है, (दो ऋतुओं के) दो पगों में, (चार महीनों के) चार पगों में (आठ अर्धमासों के) आठ पगों में, (नौ नक्षत्रों के) नौ पगों में—इस तरह हजार वर्ष तक चलते रहने की इच्छा से।

42. उससे बादल बहुत सा जल बरसाते हैं, जिससे चारों दिशाओं (के लोग) रहते हैं, उससे (अनाज तक) नमी पहुँचती है और विश्व जीवित रहता है।[1]

विकल्प से

रात में नक्षत्रों भरा आकाश अपने प्रकाश को प्रदान करता है, जिस पर चारों दिशाएं अपना अस्तित्व दिखाती हैं। फिर यह लगातार (प्रकाश का) क्षरण करती है, जो विश्व को आश्रय देता है।

(यहां समुद्र शब्द कुछ नक्षत्रों के लिए आया हैं जैसे आकाशगंगा, जो असंख्य और बहुत प्रकाशमान होने से उत्तर ध्रुव के निवासियों को निरन्तर प्रकाश प्रदान करते हैं। शरद् ऋतु के बाद वर्षा बन्द हो जाती है।)

43. मैंने (अपने) पास ही जलते हुए गोबर को देखा और उस विश्व-व्याप्त साधन (के प्रभाव) से कारण (अग्नि) को समझ लिया। अध्वर्यु ने सोम वृष को सजा दिया, क्योंकि यही उनके पहले कर्त्तव्य है।[2]

(कुछ लोगों ने इस मन्त्र का यह अर्थ लगाया है कि यह विषुव सूर्य के, जो दक्षिण से विषुवत् रेखा को उत्तर की ओर पार करता है, अवसर पर सफेद बैल की बलि का उल्लेख करता है। पच् शब्द का भी अर्थ कभी-कभी 'पूरा करना' होता है और 'उक्षाणम्' का जो छिड़कता है। वह सूर्य की सफेद किरणों पर लागू हो सकता है, जो प्रकाश कि सफेद किरणें इस अवसर पर छिड़कती हैं, जब वार्षिक यज्ञ और वर्ष के बारे में 'लगभग पूरा होने को है' कहा जाता है।)

---

1. तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ॥
2. शकमयं घूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ॥
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥

44. तीन अपने सुन्दर बालों के साथ अपनी अनेक ऋतुओं में धरती को देखते हैं। उनमें से एक (अग्नि) वर्ष पूरा होने पर (धरती को) काटता है; दूसरा (सूर्य) अपने कृत्य से विश्व की ओर ऊपर से देखता है; तीसरे (वायु) का मार्ग दिखाई देता है, पर उसका रूप नहीं।[1]

45. वाणी के चार निश्चित पद हैं, मनीषी, विद्वान् उनको जानते हैं; तीन रहस्य में विक्षिप्त हैं और कोई अर्थ नहीं बताते; मनुष्य वाणी के चौथे पद को बोलते हैं।

विकल्प से

(विष्णु या पुरुष के) चार पद या स्थितियां हैं, जिनका वर्णन वाणी से किया जाता है। विद्वान् ब्राह्मण उनको जानते हैं। उनमें से तीन गुप्त जगह पर रखे जाते हैं और चौथा मनुष्यों की समझ में आता है।[2]

(यह अधिक दिन का उल्लेख है, जिसके चार भाग होते हैं, जिनमें से तीन प्रत्यक्ष नहीं होते और चौथा पूरा अधिक-दिन बन जाता है।)

46. उन्होंने उसको, (सूर्य को) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि नाम दिए हैं और वह दिव्य सुपर्ण और गरुत्मान् हैं, क्योंकि विद्वान् ब्राह्मण एक को ही अनेक नामों से पुकारते हैं जैसे वे अग्नि को यम और मातरिश्वन् कहते हैं।[3]

47. सहज चलने वाले जल (वर्षा, सूर्य की किरणें) घने बादल से जल को ढांप कर आकाश पर चढ़ते हैं। वे फिर वर्षा के घर से नीचे आते हैं और तुरन्त धरती पानी से गीली हो जाती है।[4]

48. प्रधियां (चाप) बारह हैं, पहिया एक है, नम्या (धुरा) तीन हैं, लेकिन इसे कौन जानता है? इसमें 360 (अरे) इकट्ठे थे, जो चल भी हैं और अचल भी हैं।[5]

---

1. त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
   विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥
2. चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
   गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।
3. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
   एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
4. कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
   त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥
5. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
   तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

49. सरस्वति, तेरा जो स्तन है, जो आनन्द का स्रोत है, जिससे तू सब अच्छी-अच्छी चीजों का वरदान देती है, जो धन का भंडार है, समृद्धि को प्रदान करने वाला है, सुन्दर (भाग्य) को देने वाला है, वह (स्तन) तू इस ऋतु में हमारे पोषण के लिए खोल कर रख।[1]

50. देवता यज्ञ से यज्ञ करते हैं, क्योंकि यही उनके पहले कर्त्तव्य हैं; वे महिमा वाले स्वर्ग में एकत्र होते हैं, जहां (पवित्र कृत्यों से) साध्य देवता बसते है।[2]

51. समान जल (कई) दिनों में ऊपर और नीचे जाता है; बादल धरती को आनन्द देते हैं; अग्नि (किरणें) स्वर्ग (आकाश) को आनन्द देती है।[3]

52. अपनी सुरक्षा के लिए मैं दिव्य, सुपर्ण, तेज चलने वाले, महान् (सूर्य) का आवाहन करता हूं, जो जलों का गर्भ है, औषधियों को दिखाने वाला है, झीलों को हर्ष देने वाला और वर्षा से तालाबों को भरने वाला है।[4]

ऊपर के पृष्ठों में हमने ऋग्वेद के एक महान् सूक्त की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस सूक्त के ऋषि के नाते दीर्घतमस् इससे जुड़े हुए हैं। हमारे पास इस महारथी के जीवन-सूत्रों का कोई लेखा जोखा नहीं है, जिसने वैदिक ज्योतिष की नींव सबसे पहले रखी थी। उनका कार्यकाल पूरे दस युग तक रहा (जैसा हम बता चुके हैं, हर युग चार साल का होता है, और कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार पांच साल का)। अनुश्रुति कहती है कि दीर्घतमस् ऋषि ममता के पुत्र और ऋषि उचथ्य के एक शिष्य थे (ऋ० 1. 158. 4 और 6)। वह दिन रात सूर्य और चन्द्रमा की गतियों का अध्ययन करते रहे और सौर और चान्द्र वर्षों के बीच आने वाली त्रुटि की ओर भी उनका ध्यान गया। दीर्घतमस् शब्द का अर्थ है लंबी काली रात और (बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में) कुछ विद्वान् यह कल्पना करते हैं कि यह उत्तरी ध्रुव के निवासी थे, जहां छः महीने लंबी रात और छः महीने ही लंबा दिन होता है। प्रो० आर० वी० वैद्य ने भी 'अस्य वामस्य सूक्त' की व्याख्या इसी आधार पर की है। उनके अनुसार प्राचीन ऋषियों ने

---

1. यस्ते स्तनः शशयो शो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
   यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥
2. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
   ते ह नाकं महिमान. सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
3. समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
   भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिव्यं जिन्वन्त्यग्नयः॥
4. दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
   अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्त सरस्वन्तमवसे जोहवीमि॥ —ऋ० 1. 164. 1-52

ज्योतिष के उन्हीं दृश्यों और परिस्थितियों का वर्णन किया हैं जो उन्होंने उत्तरी ध्रुव के पास उत्तरी क्षेत्र में देखी थीं। उन्होंने समय की इकाइयों को जन्म दिया, जो ज्योतिष की गणना पर आधारित थीं और मनमानी न थीं। उनके पास अभिलेख रखने के और दूसरे साधन न थे, उन्होंने समय की इकाइयों को मापने के लिए यज्ञों की प्रणाली को जन्म दिया। जब ये वैदिक ऋषि निचले अक्षांशों की ओर चले आए, तो ज्योति सम्बन्धी दृश्य और स्थितियां बदल गईं और तदनुसार उन्होंने चालू काल प्रणाली में और उनसे सम्बद्ध यज्ञों में उपयुक्त हेरफेर कर लिए।

अधिक अवधि की कल्पना एक बहुत बड़ी खोज थी, जिसे कभी-कभी सातवीं ऋतु कहा गया, कभी अतिरिक्त महीना और आखीर में 365 दिनों के चार सालों के बाद अधिक दिन कहा गया। ऐसे समंजन के महत्त्व को हम कम नहीं कर सकते। जिस समय लिखने और अभिलेख रखने की प्रणाली अपने शैशव में थी, उस समय दीर्घतमस् और उनके प्रेक्षकों ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विज्ञान की नींव रखी। 'युग' की धारणा के लिए हम दीर्घतमस् के कृतज्ञ हैं।

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

ऐत० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
अथर्व०	अथर्ववेद
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
ऋ०	ऋग्वेद
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
यजु०	यजुर्वेद

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ।।

वे सभी नक्षत्र या चान्द्र ग्रह मेरे लिए कल्याणकर हों, जिनका अपनी कक्ष्या में चलते हुए चन्द्रमा समादर करता है। वे सब जो आकाश में हैं, वायु में है, जल में हैं, धरती पर हैं, पहाड़ों पर हैं और दिशाओं में हैं।

—अथर्व० 19. 8. 1

अध्याय : चार

गार्ग्य द्वारा नक्षत्रों का पहली बार संख्यान

ऋग्वेद और दूसरों वेदों में नक्षत्र शब्द अनेक स्थलों पर आया है, जैसे :

ऋग्वेद में

नक्षत्र: 6. 67. 6
नक्षत्रम् 7. 81. 1; 86. 1; 10. 88. 13; 111. 7; 156. 4
नक्षत्रशवसाम् 10. 22. 10
नक्षत्रा 1. 50. 2
नक्षत्राणाम् 10. 85. 2
नक्षत्रेभि: 10. 68. 11
नक्षत्रै: 3. 54. 19

यजुर्वेद में

नक्षत्रदर्शम् 30. 10
नक्षत्राणि 14. 19; 18. 18. 40; 25. 9; 31. 22
नक्षत्रियेभ्य: 22, 28
नक्षत्रेभ्य: 22. 28; 29;. 30. 21; 49. 2
नक्षत्रेषु 23. 4
नक्षत्रै: 23. 43

अथर्ववेद में

नक्षत्रजा: 6, 110. 3
नक्षत्रम् 10. 2. 22; 23; 19. 9. 9
नक्षत्रराज 6. 128. 4
नक्षत्रा 13. 2. 17; 4. 28 (या 6. 7); 20. 47. 14
नक्षत्राणाम् 3. 7. 7; 5. 24. 10; 6. 86. 2; 7, 13 (या 14), 1; 14. 1, 2; 15. 6. 6
नक्षत्राणि 6. 128. 1; 9. 7. 15; 11. 6. 10; 15. 6. 5; 17. 4; 19. 8.1

नक्षत्रिये 2. 2. 4
नक्षत्रेभिः 20. 16. 11
नक्षत्रेभ्यः 6. 10. 3; 128. 3
नक्षत्रैः 19. 19. 4; 27. 2

अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड में पूरे 27 नक्षत्र गिनाए गए हैं। इस काण्ड के सूक्त 7 और अगले सूक्त (8 में) का सम्बन्ध ऋषि गार्ग्य से है। संदर्भ के लिए हम नीचे पूरा सूक्त (7) दे रहे हैं:

1. आकाश में साथ-साथ चमकने वाले भव्य प्रकाश, जा भुवनों में तेजी से घूमते हैं।
   और दिनों की और आकाश की मैं गीतों से अर्चना करता हूँ और इन अट्ठाइस से कल्याण चाहता हूँ।[1]

2. कृत्तिका और रोहिणीं तेजी से मेरी बात सुनें। मृगशिरस् कल्याण करे और आर्द्रा सहायता करे।
   पुर्नवसू और सूनृता, पुष्य, सूर्य, आश्लेषा और मघा मुझे आगे ले चलें।[2]

3. स्वाति मुझे सुख दे, चित्रा मेरा कल्याण करे। पूर्वा फल्गुनी और चित्रा यहां मेरे लिए पुण्यकर हो।
   राधा, विशाखा और सुन्दर अनुराधा, ज्येष्ठा और सुनक्षत्र अक्षत मूल (भी पुण्यकर हो)।[3]

4. पूर्वा आषाढ़ा मुझे अन्न दे, उसके बाद आने वाले मुझे शक्ति प्रदान करें, अभिजित् मेरे लिए पुण्यकर हो, श्रवण और श्रविष्ठा मुझे सुपुष्ट बनाएं।[4]

5. शतभिषक् मुझे पूरी-पूरी आजादी प्रदान करे और दोनों प्रोष्ठपदा मेरी रक्षा करें।

---

1. चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
   तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम्॥
2. सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
   पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे॥
3. पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
   राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टमूलम्।
4. अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
   अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्॥

रेवती और अश्वयुग मझे सौभाग्य प्रदान करें और भरणी पूरी सम्पत्ति।[1]

—अथर्व० 19. 7. 1-5

हम ऋषि गार्ग्य के बारे में ज्यादा नहीं जानते जिनके नाम से अथर्ववेद में तीन सूक्त संबद्ध बताए जाते हैं – 6. 49; 19. 7 और 19. 8; अथर्व० पहले सूक्त (6. 49) में वर्णन का विषय अग्नि है और पिछले दो में नक्षत्र। इस ऋषि का ऋग्वेद के किसी सूक्त से सम्बन्ध नहीं है। गर्ग भरद्वाज का सम्बन्ध ऋग्वेद 6. 47 से है, पर नक्षत्रों के अध्ययन से इस ऋषि का कोई वास्ता नहीं है।

अथर्ववेद के इस सूक्त में ये नक्षत्र गिनाए गए हैं:

कृत्तिका	चित्रा	उत्तराषाढ़ा
रोहिणी	पूर्वाफल्गुनी	अभिजित्
मृगशिरस्	हस्त	श्रवण
आर्द्रा	राधा	श्रविष्ठा
पुनर्वसू	विशाखा	शतभिषक्
सूनृता	अनुराधा	प्रोष्ठपदा
पुष्य	ज्येष्ठा	रेवती
आश्लेषा	मूल	अश्वयुज
मघा	पूर्वाषाढ़ा	भरणी
स्वाति		

इन नक्षत्रों के साथ ग्रिफिथ ने इस तरह की टिप्पणियां दी हैं:

कृत्तिका—एक चान्द्र ग्रह, प्लीएड्स

रोहिणी—एक चान्द्र तारापुंज, जिसे दक्ष की पुत्री और चन्द्रमा की प्रिय पत्नी के रूप में व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। इसे रोहिणी, लाल वर्ण का कहा जाता है जो इस तारापुंज के प्रमुख तारे एल्डबेरन के रंग का है।

मृगशिरस्—हरिण का सिर, यह एक चान्द्र तारा पुंज है जिसमें ओरिओनिस है।

आर्द्रा—भीगा हुआ, चौथा या छठा चान्द्र तारापुंज।

पुनर्वसू—पांचवा सातवां तारा पुंज।

सूनृता—प्रसन्नता, उषा का एक नाम।

पुष्य—छठा और पीछे चलकर आठवां चान्द्र तारापुंज।

---

1. आ मे महच्छतभिषग् वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु॥ —अथर्व० 19. 7. 1-5.

आश्लेषा—सातवां चान्द्र तारापुंज।

मघा—दसवां चान्द्र तारा पुंज।

स्वाति—एरक्टुरस तारा, जो पन्द्रहवां चान्द्र तारा ुंज बनाता है।

चित्रा—चमकीली, स्पाइका वरजिनिस, बारहवां चान्द्र ग्रह।

फल्गुनी—दुहरे नक्षत्र या चाद्रग्रह का अंश, इसे अर्जुनी भी कहते है।

हस्त—हाथ, तेरहवां चान्द्र तारापुंज, कुछ लोग इसे तारापुंज कोरवसु के अंश के रूप में पहचानते है।

राधा—सफलता।

विशाखा—एक नक्षत्र या चान्द्र ग्रह।

अनुराधा—कल्याण लाने वाला, सत्रहवां चान्द्र ग्रह।

ज्येष्ठा—सर्वोत्तम, सोलहवां चान्द्र ग्रह। इसे ज्येष्ठाघ्नि भी कहते हैं (देखिए अथर्व० 6. 110. 2)

मूल—चौबीसवां चान्द्र ग्रह।

पूर्वा-आषाढ़ा—अठारहवां चान्द्र ग्रह।

अभिजित्—सत्ताईसवां चान्द्र ग्रह।

श्रवण और श्रविष्ठा—चान्द्र तारा पुज अट्ठाइस और एक।

शतभिषक्—सौ वेद्यों को चाहने वाला। यह इसलिए कहा गया है कि जव चन्द्रमा इस पचीसवें तारापुंज में हो, तव बीमार पड़ने वाले को चंगा करने के लिए कम से कम इतने वैद्यों की जरूरत पड़ती है।

प्रोष्ठपद—एक दुहरा नक्षत्र, तीसरा और चौथा तारापंज।

रेवती—शानदार, पाचवां तारापुंज।

अश्वयुज—दो घोड़ों को जोतने वाले, एरीज़ का सिर, एक हिसाब से पहला और दूसरे हिसाव से छठा तारापुंज।

भरणी—सातवें तारापुंज को बनाने वाले तीन तारे।

ग्रिफ़िथ यह भी बताते हैं कि ये नक्षत्र या चान्द्रग्रह, चन्द्रमा के रास्ते क तारापुंज, पूर्व गणना के अनुसार सत्ताइस और पिछली ज्योतिर्गणना के अनुसार अट्ठाइस थे। इनकें नाम और क्रम तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में कुछ दूसरी तरह से दिए गए हैं। ग्रिफ़िथ के मतानुसार, वेद में, इनको देवताओं का, निवास बताया गया है और पुण्यात्माओं का दृश्य रूप। पिछली पुराणगाथाओं के अनुसार वे दक्ष प्रजापति की कन्याएं और चन्द्रमा की पत्नियां समझी जाती हैं। (देखिए—वेबर का प्रबन्ध—दाइ वेदिशिन नचरिचतेन वान देन नक्षत्र)

नक्षत्रों की गणना के प्रसंग में अथर्व० 19. 8. 2 में अट्ठाईस (अष्टाविंश)[1] संख्या का उल्लेख मिलता है।

मंगल करने वाले, समर्थ अट्ठाइस साथ-साथ मेरे लिए लाभकर हों।

ऋग्वेद में कहीं भी नक्षत्रों को संख्या नहीं दी गई है। परन्तु उनको दिए गए कुछ नाम इस वेद में भी आए हैं। अथर्ववेद में भी ये नाम दूसरे स्थलों पर आए हैं।

कृत्तिका—अथर्व० 9. 12.3; 19. 7. 2

रोहिणी—ऋ० 1. 62. 9; 8. 93. 13; 101. 13; अथर्व० 1. 22. 3; 6-83. 2; 8. 7. 1; 12 1. 11; 13. 1. 22. 23; 18. 4. 34, 19. 7. 2 (हर जगह 'नक्षत्रों' के ही अर्थ में नहीं), यजु० 24 .5.

पुनर्वसू – ऋ० 10. 19. 1

सूनृता—ऋग्वेद में अनेक स्थालों पर किन्तु दूसरे अर्थ में।

पुष्य –ऋ० 1. 191. 12 (दूसरे अर्थ)

चित्रा—ऋग्वेद में बहुत सी जगहों पर, किन्तु भिन्न प्रसंग में।

रेवती—ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर, परन्तु भिन्न प्रसंग में।

तैत्तिरीय संहिता (4. 4. 10) में नक्षत्रों की संख्या इस तरह दी गई है:

(तुम हो) कृत्तिका नक्षत्र, अग्नि देवता, तुम अग्नि की चमक हो, प्रजापति की, स्रष्टा की, सोम की, तुम्हारे ऋक् के लिए, तुम्हारी चमक के लिए, तुम चमकने वाले के लिए, तुम लपट के लिए, तुम प्रकाश के लिए।

(तुम हो) रोहिणी नक्षत्र, प्रजापति देवता; मृगशिरस् नक्षत्र, सोम देवता; आर्द्रा नक्षत्र, रुद्र देवता; दो पुनर्वसू नक्षत्र, अदिति देवता; आश्लेषा नक्षत्र, नाग देवता; मघा नक्षत्र, पितर देवता; दो फल्गुनी नक्षत्र, अर्यमा देवता; दो फल्गुनी नक्षत्र, भग देवता; हस्त नक्षत्र, सवितृ देवता; चित्रा नक्षत्र, इन्द्र देवता; स्वाति नक्षत्र, वायु देवता; दो विशाखा नक्षत्र, इन्द्र और अग्नि देवता; अनुराधा नक्षत्र, मित्र देवता; रोहिणी नक्षत्र, इन्द्र देवता; दो विचृत् नक्षत्र, पितर देवता; अषाढ़ा नक्षत्र, विश्वेदेवा देवता; श्रोण नक्षत्र, विष्णु देवता; श्रविष्ठा नक्षत्र, वसु देवता; शतभिषक् नक्षत्र, इन्द्र देवता; प्रोष्ठपदा नक्षत्र, अजैकपाद देवता; प्रोष्ठपदा नक्षत्र, पातालनाग देवता; रेवती नक्षत्र, पूषन् देवता; दो अश्वयुज् नक्षत्र, अश्विनी देवता; अपभरणी नक्षत्र, यम देवता।

इस तरह यहां पर ये नक्षत्र गिनाए गए हैं: (1) रोहिणी (2) मृगशिरस् (3) आर्द्रा (4) दो पुनर्वसू (5) तिष्य (6) आश्लेषा (7) मघा (8) दो फल्गुनी

1. अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे। —अथर्व 19. 8. 2.

(9) हस्त (10) चित्रा (11) स्वाति (12) दो विशाखा (13) अनुराधा (14) रोहिणी (15) दो विचृत (16) दो आषाढा (17) श्रोण (18) श्रविष्ठा (19) शतभिषक् (20) (दो) प्रोष्ठपदा (21) रेवती (22) दो अश्वयुज और (23) अपभरणी। जो नक्षत्र दो गिनाए गए हैं—पूर्व (पहला) और उत्तर (दूसरा), उनको अगर अलग गिना जाए, तो कुल संख्या तीस हो जाती है।

नक्षत्र और उसके अर्थ

नक्षत्र शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है :

(एक) सामान्य अर्थ में तारा।

(दो) नक्षत्रमंडल के 27 बराबर-बराबर हिस्से।

(तीन) नक्षत्र मंडल की पेटी के तारापुंज (जिनमें से प्रत्येक में एक या ज्यादा तारे हो सकते हैं)।

वैदिक संहिताओं में प्रायः पहले और तीसरे अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। हो सकता है कि नक्षत्रमंडल की पेटी को नक्षत्र नाम के बराबर-बराबर हिस्सों में बांटा गया हो, पर आसान, ज्यादा स्वाभाविक और संभवतः ज्यादा पहले का तरीका यही था कि कृत्तिका, मृगशिरस् जैसे किसी सुस्पष्ट तारापुंज को ले लिया जाए और उनका उल्लेख नक्षत्र शब्द से किया जाए। नक्षत्र शब्द ऋग्वेद, दूसरी संहिताओं और ब्राह्मणों में बार-बार आया है : 'नक्षत्र चोरों की तरह रातों के साथ-साथ दुनियां को दिखाने वाले सूर्य के लिए (जगह बनाने के लिए) चले जाते हैं'।[1] (ऋ० 1. 50. 2)। 'पृथिवी, आकाश, जल, सूर्य, नक्षत्र और अन्तरिक्ष हमारी बात सुनें'[2] (ऋ० 3. 54. 19)। वह (वरुण) बड़े और ऊंचे नाक (सूर्य) और नक्षत्रों को दो तरह से समझाता है और धरती को फैलाता है[3] (ऋ० 7. 86. 1)। 'जब वह (सूर्य) ऊपर आता है, नक्षत्र आकाश में नहीं दिखाई देते, कोई ठीक-ठीक नहीं जानता (कि यह कैसे होता है)'[4] (ऋ० 10. 3. 7)। 'आदित्य सोम द्वारा बली हुए हैं और फिर सोम नक्षत्रों की गोद में

---

1. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे ।। —ऋ० 1. 50. 2
2. देवानां दूतः पुरुधः प्रसूतोऽनागान्नो वोचतु सर्वताता।
   शृणोतु नः पृथिवी द्यौरुतापः सूर्यो नक्षत्रैरुर्वन्तरिक्षम् ।। —ऋ० 3. 54. 19
3. धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी।
   प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ।। —ऋ० 7. 86. 1
4. यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अक्षत् सहसः सूनो अति स प्र शृण्वे।
   इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान्भूषति द्यून् ।। —ऋ० 10. 11. 7

स्थित है[1] (ऋ० 10. 85. 2)। कुछ स्थलों पर जैसे ऋ० 7. 81. 2 और 10. 88. 13 में यह कहना मुश्किल है कि नक्षत्र शब्द किस अर्थ में आया है। इनमें से अधिकांश स्थलों पर नक्षत्र शब्द का सामान्य अर्थ तारा है, पर ऋग्वेद 10. 85. 2 और 10. 68. 11 में (पितरों ने नक्षत्रों से आकाश को शोभित किया)[2] नक्षत्र शब्द सुविदित 27 तारापुंजों के लिए ही आया है। इसी तरह जब शतपथ में कृत्तिकाओं की उपमा यह कहकर दी गई (कि वे पूर्व से हिलती नहीं) जबकि दूसरे नक्षत्र (चलते रहते हैं), तो वहां पर नक्षत्र शब्द का अर्थ नक्षत्रमंडल की पेटी के तारापुंज या नक्षत्रमंडल की पेटी के 27 (या 28) नक्षत्र ही लगाया जाना चाहिए, जिनमें चन्द्रमा जाता हुआ मालूम पड़ता है।

शुनः शेप तारों या ऋक्ष का प्रेक्षक

अजीगर्त का पुत्र शुनः शेप तारों का एक बड़ा प्रेक्षक था। वह एक ऋषि हैं, जिनका नाम ऋग्वेद के बहुत से सूक्तों से संबद्ध हैं, जिनमें पहले पवमान की प्रार्थना में एक और सूक्त (मंडल नौ सूक्त ३) भी है, जिससे शुनः शेप का नाम जुड़ा है। ऋग्वेद में ऋक्ष शब्द चार बार आया है, पर भिन्न-भिन्न अर्थों में :

ऋक्षः 5.56.3
ऋक्षस्य 8. 68. 15
ऋक्षाः 1. 24. 10
ऋक्षात् 8. 24. 27

शुनः शेप शब्द ऋग्वेद में तीन (1. 24. 12,13 और 5. 2. 7) बार आता है। हमें ठीक पता नहीं कि तारों के प्रेक्षक और अजीगर्त के इस पुत्र का असली नाम क्या था ? संभवतः शुनः शेप उसका उपनाम या अपनाया हुआ नाम था। वस्तुतः यह शब्द जिस रूप से सूक्तों में आया है, किसी नक्षत्र का निर्देश करता है। हम मंडल एक के सूक्त 24 से कुछ अंश उद्धृत करेंगे :[3]

---

1. सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥ —ऋ० 10. 85. 2
2: समुद्रः सिन्धू रजो अन्तरिक्षमज एकपात्तनयित्नुरर्णवः।
अहिर्बुध्न्यः शृणवद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम॥ —ऋ० 10. 66. 11
3. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥
तदिन्नक्तं तद् दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ वि चष्टे।
शुनः शेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु॥

[अगले पृष्ठ पर—

ये ऋक्ष ऊंचे स्थित हैं, जो रात में दिखाई देते हैं और दिन में कहीं और चले जाते हैं। ये वरुण के अविघ्नित व्रत (पवित्र कृत्य) हैं (और उनकी आज्ञा से) चन्द्रमा रात में चमकता और चलता है। (10)

तेरी यह (कीर्ति) वे दिन-रात मेरे निकट दुहराते हैं: यह ज्ञान मेरे हृदय को बताता है: बंधे हुए शुनः शेप ने जिसका आवाहन किया था, वह राजा वरुण हमें मुक्त करे। (12)

शुनः शेप को पकड़ कर तीन पैरों वाले वृक्ष से बांधा गया था। उसने अदिति के पुत्र का आवाहन किया। विद्वान् और अदम्य राजा वरुण उसे मुक्त करें, वह उनके बंधनों को खोलें। (13)

—ऋ० 1. 24. 10,12,13

शुनः शेप से बहुत सी पुराण-कथाएं जुड़ी हुई हैं। उनकी कथा ऐतेरय ब्राह्मण में इस तरह आती हैं: राजा हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नहीं था। वह वरुण की पूजा करते हैं और उनसे प्रतिज्ञा करते हैं कि अपने पहले पुत्र की बलि वह वरुण को चढ़ा देंगे। उनका पहला पुत्र रोहित जन्म लेता है, किन्तु जब वरुण अपनी बलि मांगते हैं, तो राजा आगे को टाल देते हैं, यहां तक कि रोहित युवा हो जाता है और वरुण की बलि चढ़ने से इंकार कर देता है और बहुत से वर्ष जंगल में बिताता है, जहां आखीर में उसकी भेंट अजीगर्त ऋषि से होती है, जो बड़ी परेशानी में है। वह ऋषि को राजी कर लेता हैं कि अपने स्थान पर बलि चढ़ाने के लिए वह अपने दूसरे पुत्र शुनः शेप को दे दे। शुनः शेप की बलि चढ़ने को ही है, जब कि विश्वामित्र नामक एक अध्वर्यु की सलाह से वह देवताओं से प्रार्थना करता है और आखीर में उसे मुक्ति मिल जाती है। विष्णुपुराण में शुनः शेप को विश्वामित्र का पुत्र देवरात (देवताओं द्वारा दिया गया) बताया गया है। पुराणों में विश्वामित्र का नाम सप्तर्षियों या सात ऋक्षों की सृष्टि से जुड़ा हुआ

—पिछले पृष्ठ से]

शुनः शेपो ह्यह्वद् गृ भीतस् त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद विद्वां अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान्॥

—ऋ० 1. 24. 10, 12, 13

वह सप्तर्षि मंडल (उर्सा मेजर) का संकेत करता है। अथर्ववेद 6. 40. 1 में सप्तर्षि मंडल का स्पष्ट जिक्र किया गया है: पृथिवी और आकाश खतरे से हमें मुक्ति दें, यही सूर्य और चन्द्रमा हमारे लिए करें, दिशाएँ हमें खतरे से मुक्ति दें और सप्तर्षियों को प्रदान किए गए अर्घ्य के कारण हमें अभय प्राप्त हो। शतपथ बताता है कि पहले सप्तर्षियों को ऋक्षाः कहते थे। ऋग्वेद 5. 56. 3, 8. 24. 27, 8. 68. 15 में ऋक्ष शब्द का अर्थ या तो 'भालू' है या कुछ और। (पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, 5. 496)।

है। शायद इस तरह शुनः शेप जिसे देवरात भी कहते थे, विश्वामित्र का दत्तक पुत्र माना गया है और वह वास्तव में अजीगर्त का एक पुत्र था। उसने विश्वामित्र के ज्योतिष विद्यालय में काम किया, दोनों ने मिलकर ज्योतिष सम्बन्धी और खासकर तारों के बहुत से प्रेक्षण किए।

तारों के प्रेक्षक–पराशर और गृत्समद

एक शब्द 'स्तृ' है जिसे विद्वान् भारोपीय मानते हैं। ऋग्वेद में यह शब्द सदैव तृतीया (करण) बहुवचन में आता है (स्तृभिः):

1. 68. 5; 87. 1; 166. 11; 2. 2. 5; 34. 2; 4. 7. 3; 6. 49. 3; 12. हम इन सूक्तों से कुछ अंश उद्धृत करेंगे। जिस तरह विश्वामित्र और उनका शिष्य या दत्तक पुत्र शुनः शेप या देवरात सप्तर्षि (ऋक्षाः) के प्रेक्षक थे, उसी तरह तारों के प्रेक्षक थे पराशर शाक्त्य (शक्ति के पुत्र पराशर) और वशिष्ठ गृत्समद् और रहूगण के पुत्र गौतम। ये सभी ज्योतिष सम्बन्धी प्रेक्षणों के लिए प्रसिद्ध थे। वे जिन नक्षत्रों का प्रेक्षण करते थे, उन्हें 'स्तृ' कहते थे, यह शब्द अंग्रेजी में स्टार (star) या एस्टर (aster) के रूप में आया है:

> और जो क्रतुगृह से प्रसन्न होता है, उसने आकाश को नक्षत्रों से (स्तृभिः) भर दिया है।[1]
> —ऋ० 1. 68. 5

> महान् शक्ति या विभूति से महान् या विभु मरुत् दूर-दूर तक व्याप्त होकर प्रकट होते हैं जैसे देवता नक्षत्रों से (स्तृभिः) (प्रकट होते हैं)।[2]
> —ऋ० 1. 166 11

> मनुष्य हव्य और कीर्तिगान से उनका आवाहन करते हैं, जब उगे हुए पौधों के बीच चमकते हुए बालों के साथ वे धरती आसमान के बीच (अपनी चमक से) जैसे तारों के साथ आकाश (स्तृभिः) व्याप्त होते हैं।[3]
> —ऋ० 2. 2. 5

> हे स्वर्ण वक्ष वाले मरुत्, प्रश्नि के पवित्र गर्भ से रुद्र ने तुम्हें जन्म दिया, इसलिए वे (अपने शत्रुओं का संहार करनेवाले अपने अलंकारों

---

1. पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन् ये अस्य शासं तुरासः।
   वि राय और्णोद् दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः ॥ —ऋ० 1. 68.5
2. महान्तो मह्ना विभ्वो३ विभूतयो दूरेदृशो ये दिव्या इव स्तृभिः। —ऋ० 1. 166. 11
3. स होता विश्वं परि भूत्वध्वरं तमु हव्यैर्मनुष ऋञ्जते गिरा।
   हिरिशिप्रो वृधसानासु जर्भुरद् द्यौर्न स्तृभिश्चितयद्रोदसी अनु ॥ —ऋ० 11. 2. 5

से) स्पष्ट है, जैसे आकाश नक्षत्रों से (स्तृभिः) और वर्षा लानेवाले वे ऐसी चमक वाले हैं, जैसे वर्षा से पैदा होनेवाली (बिजली)।[1]

—ऋ० 2. 34. 2

वामदेव द्वारा बृहस्पति ग्रह की पहचान

ऐसे भी विद्वान् हैं जो यह नहीं मानते कि वैदिक युग में भारतवासियों को ग्रहों का ज्ञान था। लेकिन थिबोट (ग्रंड्रिस, पृष्ठ 6) और काये (पृष्ठ 33) दोनों मानते हैं कि यह समझ में न आनेवाली बात है कि वैदिक युग में भारतवासियों ने प्राचीन काल में कम से कम बड़े-बड़े ग्रहों का प्रेक्षण न किया हो और उनको पहचान न लिया हो, लेकिन उनका तर्क यह है कि वैदिक युग के भारतवासियों के ग्रहों सम्बन्धी ज्ञान के प्रमाण में जो वैदिक उद्धरण दिए जाते हैं, उनको ग्रहों के प्रेक्षण के अभिलेख के साक्ष्य के रूप में नहीं माना जा सकता और केवल सात या पांच की संख्या के उल्लेख (आदित्यों के बारे में ऋ० 10. 72. 8-9 में) पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

आज भी कोई व्यक्ति ग्रहों की ठीक-ठीक संख्या के बारे में निश्चित नहीं हो सकता। उनकी सूची में यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो के नाम तो हाल में ही जोड़े गए हैं। गौतम के पुत्र वामदेव को बृहस्पति ग्रह की पहली बार पहचान करने का श्रेय दिया जा सकता है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद (4. 50. 4)[2] में मिलता है और यही ऋचा अथर्ववेद (20. 88. 4) में भी दुहराई गई हैं। इस सूक्त के ऋषि वामदेव हैं। वास्तव में वामदेव बहुज्ञ ऋषि थे और उनको बड़ा ज्ञानी माना गया है। ऋग्वेद में वे 560 ऋचाओं के ऋषि हैं, जो सबकी सब चौथे मंडल में आती हैं। अथर्ववेद के भी बहुत से मन्त्रों के वह ऋषि हैं।

ऋग्वेद : 4. 1. 41 और 45-48
अथर्ववेद : 3. 9; 7.57; 20. 13; 77; 88; 124; 137 और 143

---

1. द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः ।
रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥ —ऋ० 2. 34. 2
2. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तु वि जातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि ॥

—ऋ० 4. 50.4 ; अथर्व 20. 88.

जब बृहस्पति ने महान् प्रकाश वाले परम व्योम में पहले पहले जन्म लिया, तो सात मुख वाले, ध्वनि के साथ विभिन्न रूपों वाले (संयुक्त) और सात किरणों वाले ने अंधेरे को पराजित किया।

—विल्सन के अनुवाद के आधार पर

(ये उल्लेख काण्डों और सूक्तों के हैं)

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी बृहस्पति का इसी तरह जिक्र आया है :[1]

> पहली बार प्रकट होते हुए बृहस्पति तिष्य (पुष्य) नक्षत्र के सामने प्रकट हुए। (तै० ब्रा० 3. 1. 1. 5)

तिष्य और पुष्य एक ही चीज है और तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसके देवता बृहस्पति हैं। गोभिल गृह्य सूत्र जैसे परवर्ती ग्रन्थ में भी तैषी का अर्थ पौषी (पूर्णमासी) माना गया है। तिष्य[2] शब्द ऋग्वेद 5. 54. 13 और 10. 64. 8 में आया है।

> संपत्ति जो नष्ट नहीं होती, जैसे तिष्य आकाश से (नहीं जाता), अतः हे मरुत् हमें असीमित सम्पत्ति दो। —ऋ० 5. 54. 13
>
> हम अपनी रक्षा के लिए बहने वाली तिगुनी सात नदियों, उनके महान् जलों, वृक्षों, पर्वतों, अग्नि, कृशानु, धनुर्धर और तिष्य का सभा में आवाहन करते हैं। —ऋ० 10. 64. 8

सायण पहले मन्त्र में तिष्य का अर्थ सूर्य लगाते हैं और दूसरे में नक्षत्र।

एक मन्त्र और भी है[3], —ऋ० 3. 7. 7

> सात ब्राह्मण पक्षी (अग्नि) के प्रिय और निश्चित स्थान की रक्षा पांच अध्वर्युओं के साथ करते हैं: ये पूर्व जाने वाले वृषभ अमर हैं और पूर्व में ही प्रसन्न रहते हैं। देवता देवताओं के ही व्रतों का पालन करते हैं।

यहां (पांच) वृषभ पांच ग्रह माने गए हैं। इन पांच वृषभों का एक उल्लेख-ऋ० 1. 105. 10 में भी आया है: 'ये पांच वृषभ जो महान् आकाश के बीच स्थित हैं।'

---

1. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानस्तिष्यं नक्षत्रमभिसम्बभूव।
   श्रेष्ठो देवानां पृतनासु जिष्णुः दिशोऽनुसर्वा अभयं नो अस्तु ॥—तै० ब्रा० 3. 1. 1. 5.
2. युष्मादत्तस्य मरुतो विचेतसो रायः स्याम रथ्यो वयस्वतः।
   न यो युच्छति तिष्यो यथा दिवोऽस्मे रारन्त मरुतः सहस्रिणम् ॥ —ऋ० 5. 54. 13
   त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वतां अग्निमूतये।
   कृशानुमस्तॄन् तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे ॥ —ऋ० 10. 64. 8
3. (क) अध्वर्युभिः पञ्चभिः सप्त विप्राः प्रियं रक्षन्ते निहितं पदं वेः।
   प्राञ्चो मदन्त्युक्षणो अजुर्या देवा देवानामनु हि व्रता गुः ॥ —ऋ० 3. 7. 7.
   (ख) अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः। —ऋ० 1. 105. 10

एक और पहेली वाला मन्त्र है[1], —ऋ० 10. 55. 3

इन्द्र ने धरती और आसमान को मध्य क्षेत्र से भर दिया, वह तरह-तरह के पांच देवताओं को 49 देवताओं (मरुतों) को उपयुक्त ऋतु में अपने जैसे उपप्रकाश के साथ संचालित करता है, पर इनमें से प्रत्येक अपने-अपने पृथक् नियम से चलता है।

वेन भार्गव द्वारा शुक्र की खोज

जिस प्रकार बृहस्पति की पहचान करने का श्रेय वामदेव को है, उसी तरह भृगु के पुत्र वेन ने सबसे पहले शुक्र का पता चलाया। या तो ग्रह का पता लगाने वाले का नाम ग्रह के ऊपर चल पड़ता है या ग्रह का नाम पहले पता चलाने वाले (के ऊपर)। ऋग्वेद के बीस मन्त्रों वाले दो सूक्तों के ऋषि वेन भार्गव हैं : 9. 85 और 10. 123। पिछले सूक्त के देवता भी वेन ही है। हम इसमें से कुछ ऋचाएं यहां देते हैं :[2]

इस वेन ने प्रकाश के परतों को खोला। सूर्य की किरण को (पानी पर) प्रेरित कर पानी को आकाश में रखा। ऋषि पानी के संगम में उसको और सूर्य को प्रिय पुत्र की तरह रखते हैं। (1)

बादल से पैदा हुआ वेन आकाश से पानी भेजता है, नीले आसमान की पीठ दिखाई देती है। (2)

अप्सराएं, अपने प्रेमी जार के सम्मुख प्यार से मुसकराती हुई स्त्री की तरह ऊंचे आकाश में उसे दुलारती हैं, वह अपने प्रेमी के घर चली जाती है, वह वेन प्यार किए जाने पर अपने सुनहले पंखों पर बैठता है। (5) —ऋ० 10. 123. 1,2,5

विभिन्न व्याख्याकारों ने वेन शब्द की अलग-अलग तरीके से व्याख्या की है : ब्रह्मा, कान्त या प्यारा, चन्द्रमा, बादल (बिजली वाला) और सोम भी। शुक्र और काम का सम्बन्ध भी पुराणों में सुविदित है। वेन और शुक्र दोनों ही

---

1. आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्चदेवाँ ऋतुशः सप्त-सप्त।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे स रूपेण ज्तोतिषा विव्रतेन ॥ —ऋ० 10. 55. 3
2. अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीं रिहन्ति ॥ (1)
समुद्रादूर्मिमुदियर्ति वेनो नभोजाः पृष्ठं हर्यतस्य दर्शि ॥ (2)
अप्सरा जारमुपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन्।
चरत् प्रियस्य योनिषु प्रियः सन् त्सीदत् पक्षे हिरण्यये स वेन. (5)
— ऋ० 10. 123, 1. 2. 5

प्यार के पात्र हैं। प्रत्यक्ष है कि ऋग्वेद में वेन शब्द शुक्र ग्रह के लिए आया है। उसके पहले अन्वेषक का नाम भी वेन था और उसने भृगु के परिवार में जन्म लिया था और उसने इस तरह उस परिवार की कीर्ति बढ़ाई।

साहित्य में नक्षत्र[1]

नक्षत्रों पर सामान्य रूप से और कुछ व्यक्तिगत नक्षत्रों के बारे में वहां पर कुछ टिप्पणी असंगत न होगी। आथर्वण नक्षत्र कल्प' में (बोलिंग और नेगेलीन द्वारा सम्पादित अथर्व परिशिष्टों में पहला) अध्याय के मंत्र 1-8 में नक्षत्रों के देवता बताए गए हैं और अध्याय 2 हर नक्षत्र के तारों की संख्या बताता है। कुछ पुराणों में भी जैसे विष्णुधर्मोत्तर में (1. 83. 13-21) कुछ नक्षत्रों के देवता बताए गए हैं। बृहत्संहिता में (अध्याय 97. 4-5) वराहमिहिर अश्विनी से लेकर रेवती तक (अभिजित् समेत) नक्षत्रों के देवताओं के नाम बताते हैं, जिनको नीचे दिया जा रहा है। बृहत्संहिता (96. 1-3) आथर्वण नक्षत्रकल्प (1-2) और विष्णुधर्मोत्तर (1. 88. 57) हर नक्षत्र के तारों की संख्या बताते हैं, (जो एक से छः तक है) और इनमें कृत्तिका, आश्लेषा और मघा में छः छः तारे हैं। जे. एस. ए. बी. की जिल्द 62 भाग 1 पृष्ठ 14 भी देखिए, जहां हार्नले ने पुष्करसारि की कृति से नक्षत्रों की एक सारणी दी है। जिसमें हर एक के तारे, मुहूर्त गौत्र और देवता बताए गए हैं। हार्नले के अनुसार यह कृति बहुत पुरानी हैं। (वैदिक ग्रन्थों में बताए गए) नक्षत्रों पर कुछ टिप्पणियां दी जा रहीं हैं।

कृत्तिका—तैत्ति॰ ब्रा॰ 3. 1. 4. 1 में सात कृत्तिकाओं अम्बा, दुल आदि के नाम दिए गए हैं पाणिनि ने कृत्तिका को बहुला (4. 3. 34 में) कहा है। जे॰ सी॰ हिकी ने 'इंट्रोड्यूसिंग द युनिवर्स में कहा है कि वातावरण की अच्छी हालतों में असामान्य रूप से बढ़िया दृष्टि वाले लोग ग्यारह तक तारे देख सकते हैं।

मृगशिरस्—तैत्ति॰ ब्रा॰ 3. 1. 4. 3 में दोनों नाम और मृगशिरस् और इन्वका बताए गए हैं।

पुनर्वसू—का सं॰ और मै॰ सं॰ में यह पुंल्लिग एक वचन है, पाणिनि (1. 2. 61) बताते हैं कि वेद में पुनर्वसू शब्द विकल्प से एकवचन में (अर्थात् कभी एक वचन कभी द्विवचन में) आता है। कालिदास 11. 36 में द्विवचन पुनर्वसू का प्रयोग करते हैं—गांगताविव दिवः पुनर्वसू।

तिष्य—पाणिनि तिष्य शब्द का प्रयोग 1. 2. 63 और 3. 34 में करते हैं और पुष्य और सिध्य शब्दों का प्रयोग इस अर्थ में करते हैं 'जिन पर वचन पूर्ण या सिद्ध होते हैं'।

---

1. यह टिप्पणी मैं डा॰ पी॰ वी॰ काणे के हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 5, भाग 1, पृष्ठ 499 (1958) से दे रहा हूं।

फल्गुनी—पाणिनि का कहना है कि फल्गुनी और प्रोष्ठपदा शब्द नक्षत्रों के अर्थ में विकल्प से द्विवचन और बहुवचन में आते हैं।

निष्ट्या—मै० सं० कहती है कि यह नपुंसक लिंग एकवचन है। निष्ट्या शब्द का अर्थ ऋग्वेद 6. 75. 19; 8. 1. 13; 10, 133. 5 में 'बाहरी या निकाला हुआ' मालूम पड़ता है।

विशाखा—पाणिनि (1. 2. 62) का कहना है कि विशाखा शब्द कभी एक वचन में आता है और कभी द्विवचन में, उनके समय में यह द्विवचन में प्रयुक्त होता था।

अनुराधा—तै० ब्रा० 3. 1. 2. 1 के मन्त्र में यह पुंल्लिग बहुवचन में इस्तेमाल किया गया मालूम पड़ता है।

रोहिणी—ज्येष्ठा को तैत्ति० सं० और तैत्ति० ब्रा० (1. 5) में रोहिणी कहा गया है। ज्येष्ठा को अथर्ववेद 6. 110. 2 में ज्येष्ठाघ्नि[1] कहा गया हैं।

मूल—तैत्ति० सं० में मूल के लिए 'विचृतौ' आया है। अथर्ववेद में 'विचृतौ' और 'ज्येष्ठाघ्नी' साथ-साथ 6. 110. 2-3 में आए हैं और 2. 8 1. और 6. 121. 3 में 'विचृतौ नाम तारके[2]' आया है। ऋग्वेद 10. 87. 10 में (त्रिधा मूलं यातुधानस्य वृश्च) में 'मूल' का अर्थ 'जड़, पैर' है। 'मूल भरणा' शब्द अथर्ववेद 6. 110. 2 और 'मूलभरणी' तैत्ति० ब्रा० 1. 5. 1. 4 में आया है।

अभिजित्—तैत्ति० सं० और का० सं० में नहीं आया है यद्यपि यह तैत्ति० ब्रा०, अथर्व० और मै० सं० में आया है। कभी-कभी यह पिछले ग्रन्थों में भी आया है, जैसे अनुशासन पर्व (64. 5. 35) में कृत्तिका से लेकर भरणी तक विभिन्न 28 नक्षत्रों में ब्राह्मणों को दान देने के फल बताए गए हैं।

श्रोणा—अथर्व० इसे श्रवण कहता है और काथक सं० इसे अश्वत्थ बताती है। पाणिनि (4. 2. 22) में अश्वत्थ को नक्षत्र बताया गया है। ऋग्वेद 1. 112. 8 में श्रोण शब्द का अर्थ 'लंगड़ा-लूला' हैं।

प्रोष्ठपदा—अथर्ववेद 'द्वया प्रोष्ठपदा' दो की बात करता है।

यह देखना होगा कि कुछ नक्षत्रों के नाम में अंतर है, जैसे मृगशिरस् के लिए इन्वका (तैत्ति० ब्रा० 1. 5. 1 और का० सं० में), आर्द्रा के लिए बाहु, (तैत्ति० 1. 5. 1 और का० सं० और मै० सं० में), पुष्य के लिए तिष्य, स्वाती के लिए निष्ट्या (तैत्ति० ब्रा० में ज्येष्ठा के लिए रोहिणी (तैत्ति० ब्रा० 1. 5. 4 और तैत्ति० सं० में), मूल (वेदों के अन्य स्थालों पर) के लिए विचृतौ (तैत्ति० सं० में) श्रवण (अथर्व० में) के लिए श्रोण (तैत्ति० सं०, तैत्ति० ब्रा० और मै० सं० में)

1. ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्। —अथर्व० 6. 110. 2
2. उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। —अथर्व० 2. 8. 1, 6. 121. 3

श्रौर श्रश्वत्थ (का० सं० में), (मध्यकालीन श्रौर श्राधुनिक) धनिष्ठा के लिए श्रविष्ठा श्रौर भरणी के लिए श्रपभरणी (श्रथर्व०, मै० सं० श्रौर श्राधुनिक काल में)। इन के देवताश्रों में भी श्रंतर है, जिसमें सबसे ज्यादा आकर्षक श्रंतर श्रषाढ़ा के देवता के रूप में भग श्रौर श्रर्यमा का परस्पर स्थान परिवर्तन का० सं० वेदांग ज्योतिष श्रौर सां० गृ० में है, श्रौर चित्रा के देवता के रूप में इन्द्र तैत्ति० सं० में श्रौर त्वष्ट्ट तैत्ति० और ब्रा० का० सं० में श्रौर मूल के देवता पितरः तैत्ति० सं० में लेकिन बाकी सभी स्थलों में निर्ऋति है। शतभिषक् के देवता के रूप में तैत्ति० सं० श्रौर मै० सं० में इन्द्र है, पर तैत्ति० ब्रा० (3. 1) श्रौर का० सं० में वरुण हैं। फिर यह भी बताया गया था कि एक नक्षत्र में एक तारा है या दो या तीन या ज्यादा तारों का पंज है। साथ ही सोचने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तैत्ति० सं० में तैत्ति० ब्रा० से श्रंतर क्यों है श्रौर तैत्ति० ब्रा० 1. 5 तैत्ति० ब्रा० 3. 1 से नक्षत्रों की संख्या श्रौर कुछ के देवताश्रों के बारे में पृथक् क्यों है ? इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता, बस यही कहा जा सकता है कि तैत्ति० ब्रा० के श्रंश (3. 1) से तैत्ति० सं० का श्रंश पहले का है या तैत्ति० सं० की रचना—तैत्ति० ब्रा० की रचना के प्रदेश श्रौर स्थल से बहुत दूर हुई होगी। पर यह पिछली बात सम्भव नहीं दीखती क्योंकि तैत्ति० ब्रा० (1. 5) का एक हिस्सा उसके दूसरे हिस्से (3. 1) से भिन्न है। पिछले भाग से नक्षत्रेष्टि का जिक्र है जिसमें (श्रभिजित् समेत) श्रट्ठाइस नक्षत्रों को श्रौर उनके देवताओं को (कृत्तिका से लेकर एक-एक नक्षत्र रोज लिया जाता है) पुरोनुवाक्यों (श्रावाहन मंत्रों) श्रौर याज्या (यज्ञ मंत्रों) के साथ हव्य चढ़ाने की बात कही गई है श्रौर ये मन्त्र हर नक्षत्र के लिए भिन्न है। कृत्तिका से लेकर पहले चौदह नक्षत्र (विशाखा तक श्रौर उसे शामिल करते हुए) देवनक्षत्र बताए जाते हैं और श्रनुराधा से लेकर श्रपभरणी या भरणी तक के चौदह नक्षत्र यम नक्षत्र। विशाखा के बाद तैत्ति० ब्रा० (नक्षत्रेष्टि) में पूर्णमाणी को भी उपयुक्त पुरोनुवाक्य श्रौर याज्या मंत्रों के साथ लिया गया है श्रौर श्रपभरणी के बाद एक पुरोनुवाक्य (जो निवेशानि संगमानि वसूनाम् : तैत्ति० सं० 3. 5. 1. 1 वाला मन्त्र है) श्रौर एक याज्या (जो 'यत्ते देवा श्रदधुः' तैत्ति० सं० 3. 4. 1. 1. वाला मन्त्र है) के साथ श्रमावास्या को हव्य चढ़ाने की बात कही गई है। साथ ही यह भी कहा गया है कि होता को यज्ञ में देवताश्रों का आवाहन एक नाम से (जो गुप्त रखा जाता था) करना होता था, जो उसके जन्म से सम्बद्ध नक्षत्र के देवता के आधार पर गढ़ा जाता था (जैसे कृत्तिका में जन्म होने पर श्रग्निमित्र श्रादि जैसा कुछ नाम पुष्य में जन्म होने पर बृहस्पति मित्र श्रादि जैसा कुछ नाम)।

यदि नक्षत्रों (27 या 28) को इकट्ठे किसी विदेशी सूत्र से लिया गया होता, तो नक्षत्रों के नाम, श्रधिष्ठाता देवताश्रों श्रौर लिंग श्रौर वचन में इतने ज्यादा अन्तर न आए होते, जैसे वे मिलते हैं। पर यदि वे स्थानीय उपज ही थे, तो मतभेद शताब्दियों के बाद स्वभावतः समाप्त हो जाना था। ग्रीस श्रौर

सीरिया में जिस पहले-पहले तारापुंज का विशेष रूप से पता चला वह जौब 38. 31, होमर और हैसियड में उल्लिखित प्लीएड्स (कृत्तिका) था, ओरियन जौब 39. 31, होमर और हैसियड में आया है एरक्टुरस जौब 9. 9 और 39. 32, होमर और हैसियड में और ग्रेट बियर (सप्तर्षि) होमर और हैसियड में, एल्ड-बरन होमर और हैसियड में और सिरियस समेत तीन और भी (देखिए नौरमन लौकयर की 'दि डान आफ एस्ट्रोनौमी' 1884, पृष्ठ 33)। यह वेदों की तुलना में कई शतियों (यदि सहस्राब्दियों नहीं) बाद की बात है, जहां नक्षत्रों की पूरी योजना का उल्लेख है।

तैत्ति० ब्रा० और बौधायन श्रौत सूत्र में दिए गए दूसरे ब्यौरे यहां पर नहीं दिए जा रहे हैं। तैत्ति० ब्रा० (3. 1) में उल्लिखित नक्षत्रेष्टि पर पूरी-पूरी चर्चा सक्षम रूप से प्रो० पौल एमिले डुमौंट ने 'दि प्रोसीडिंग्स आफ दि अमेरिकन फिलौसोफिकल सोसायटी,' जिल्द 98 (1954) में की है और मूल पाठ, अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणियां दी हैं। नक्षत्रों का बड़े ध्यान से प्रेक्षण किया गया और तारापुंजों की परिचित पशुओं के साथ काल्पनिक समता को लेकर बहुत सी कथाएं चल पड़ी और आकाश में दीख पड़ने वाले नक्षत्रों के बारे में मनोहर व्याख्याएं गढ़ी गई। नक्षत्रों का सम्बन्ध नक्षत्रेष्टि नामक धार्मिक कृत्य से ही नहीं था, बल्कि बुनियादी श्रौत कृत्यों जैसे पवित्र अग्नि के आधान में उनका प्राथमिक महत्त्व था। शतपथ ब्राह्मण में कृत्तिका से लेकर बहुत से नक्षत्रों का उनके देवताओं के साथ अग्न्याधान के लिए उनको उपयुक्त बताते हुए जिक्र किया गया है (जैसे कृत्तिका, रोहिणी मृगशिरस्, पूर्वा—फल्गुनी, हस्ती, चित्रा का)। तैत्रिरीय ब्राह्मण अग्न्याधेय के लिए वसन्त, ग्रीष्म और शरद् का ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य, होता के लिए क्रमशः सुझाव देता है। शतपथ केवल नक्षत्रों के आधार पर पवित्र अग्नि के आधान को ठीक नहीं ठहराता मालूम पड़ता और सुझाता है कि अग्न्याधेय विशाखा की पूर्णिमा को करना चाहिए, जब रोहिणी नक्षत्र हो, पर ये नियम उस समय लागू नहीं होते जब किसी होता ने सोम यज्ञ करने का निश्चय किया हो और तब उसे ऋतुओं या नक्षत्रों का विचार करके रुक नहीं जाना चाहिए।

कुछ नक्षत्रों के बारे में वेदों में बड़ी ही रोचक कथाएं और जानकारी दी गई है। कृत्तिका के बारे में शतपथ ब्राह्मण कहता है, 'अन्य नक्षत्रों में एक, दो, तीन या चार तारे होते हैं, पर कृत्तिकाओं में बहुत से तारे हैं और तदनुसार होता को बहुत कुछ मिलता है, इसलिए उसे कृत्तिका में पवित्र अग्नि का आधान करना चाहिए। ये कृत्तिका वस्तुतः पूर्व से नहीं मिलते, जबकि बाकी सभी नक्षत्र पूर्व से चले जाते हैं।' ऋग्वेद 1. 164. 33 (अत्र पिता दुहितुर्गर्भमाधात्) या 10. 61. 7 (पिता यत्स्वं दुहितरमधीष्कन्) में जो गर्भित उल्लेख हैं, उनके आधार पर एक कथा रची गई, जिसके विस्तृत ब्यौरे ऐतेरय ब्राह्मण (13. 10) में और शतपथ ब्राह्मण 1. 6. 2. 1-4 में दिए गए हैं (प्रजापति अपनी पुत्री के पास गए,

कुछ कहते हैं कि यह द्यौ थी कुछ कहते हैं कि उषस् आदि)। इसी तरह की कथाएं रोहिणी, मृग, मृगव्यषध (सिरियस) और ओरियन की पेटी के तीन तारों के बारे में भी हैं। बताया जाता है कि प्रजापति के तेंतीस पुत्रियां थीं, जिनका विवाह उन्होंने राजा सोम से कर दिया। उसे रोहिणी प्रिय थी और उसे राजयक्ष्मा से पीड़ित होना पड़ा (तैत्ति० सं० 2. 3. 5. 1)।

कृत्तिका का सूची में पहला स्थान

वैदिक साहित्य में नक्षत्रों की सूची कृत्तिका से और लौकिक संस्कृत साहित्य में अश्विनी से किस कारण शुरू होती है, इसका उत्तर ज्योतिषिक आधार पर दिया जा सकता है। वसंत विषुव 2300 ई० पू० के आसपास कृत्तिका में पड़ा था। इसे वैदिक ग्रन्थों की रचना का संभव वर्ष न मानकर फ्लीट साहस-पूर्वक होते हैं कि कृत्तिका से शुरू होने वाली सूची का कोई तात्विक अर्थ नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध सिर्फ संस्कारों और गणित ज्योतिष से है (1916 का जे० आर० ए० एस०, पृष्ठ 570)। इसके विरुद्ध विस्तृत तर्क देना जरूरी नहीं समझा गया। फ्लीट कोई महत्वपूर्ण साक्ष्य नहीं देते और न कोई कारण बताते हैं कि बाद में ऋषि नक्षत्रों की सूची का आरंभ कृत्तिका के स्थान पर अश्विनी से किस कारण करने लगे। न वह यही बताते हैं कि यदि कृत्तिका वाली वैदिक युगीन नक्षत्र सूची केवल अध्वर्युओं की कपोल कल्पना थी, तो वह वस्तुतः जनसाधारण के उपयोग में किस तरह आई। थिबोट तक ने (आई० ए० जिल्द 24, पृष्ठ 1C0 में) माना है कि नक्षत्र सूची का आरंभ अश्विनी के स्थान पर कृत्तिका से होने की बात मैक्समूलर द्वारा वैदिक युग को दी गई 1:00 ई० पू० से 800 ई० पू० की तिथि के गंभीर रूप से आड़े आती है। तैत्ति० सं० मे 7. 4. 8 में एक संवत्सर सत्र में दीक्षा पाने के समय की चर्चा की गई है। वहां यह सुझाव है कि दीक्षा फल्गुनी की पूर्णिमा को ली जानी चाहिए क्योंकि वह वर्ष का आरंभ होता है। फिर इस पर एक आपत्ति की गई है और कहा गया है कि दीक्षा चित्रा की पूर्णिमा को ली जानी चाहिए, क्योंकि वर्ष का आरंभ उस समय होता है। यदि उस समय वर्ष दक्षिणायनांत या मकर संक्रान्ति से शुरू होता था, तो इस का समय 4000 या 6000 ई० पू० मानना होगा। इस पदांश में संभवतः वह परं-परा भी शामिल कर ली गई लगती है कि विभिन्न प्राचीन युगों में वर्ष भिन्न-भिन्न महीनों में शुरू होता था।

दूसरे देशों में नक्षत्र—गणना

इस प्रश्न को लेकर बहुत से विवाद छिड़ चुके हैं कि क्या भारतीय नक्षत्र स्थानीय हैं या उन्हें किसी दूसरे देश से लिया गया था। महान् फ्रांसीसी ज्योतिर्विज्ञ बियट का ख्याल था कि भारतीयों ने नक्षत्र प्रणाली को चीन से लिया और ह्विटने ने बियट का समर्थन किया। दूसरे लोगों का विचार था कि भारतीयों ने उनको या तो बेबीलोनिया से लिया था या अरबों से। इस स्थल पर इन चर्चाओं के गुण-दोषों के ब्यौरों में नहीं पड़ा जा सकता। अरबवासी

स्वयं मानते हैं कि उन्होंने अपना ज्योतिष शास्त्र भारत के सिद्धान्तों से लिया। फिर ऐसा कोई साक्ष्य भी नहीं हैं जो यह सिद्ध कर सके कि कम से कम 1500 ई० पू० में पूरी नक्षत्र-परम्परा का ज्ञान अरबों को था। इसलिए इस चर्चा में से अरबों को तो बिल्कुल ही बाहर किया जा सकता है (देखिए ग्रुंड्रिस में थिबोट पृष्ठ 14)। स्यू की चीनी प्रणाली में पहले 24 नक्षत्र ही थे, पर (कहा जाता है) 1000 ई० पू० के आसपास यह संख्या 28 हो गई (ऐसा थिबोट ने ग्रुंड्रिस में पृष्ठ 13 पर कहा है)। वैदिक ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि उस युग में कभी नक्षत्रों की संख्या 24 रही होगी। कभी-कभी चीन के ज्योतिष की प्राचीनता के जो तर्क दिए जाते हैं, उनको हमें यों ही नहीं स्वीकार कर लेना चाहिए 'ईस्ट एण्ड वेस्ट', रोम जिल्द 6 पृष्ठ 288)। फिर न तो बेबिलोन और न चीन में ही कभी तारापुंज-प्रणाली का धर्म के साथ सीधा सम्बन्ध था। वैदिक युग में जब तक कुछ नक्षत्रों के लिए अग्न्याधान करके उन को आहुति न चढ़ा दी जाए, तब तक कोई होता पुण्य यज्ञ नहीं कर सकता था। फिर महीनों के नाम (माघ, फाल्गुन, चैत्र आदि) भी कुछ नक्षत्रों के आधार पर रखे गए थे और ये नाम केवल संस्कृत में ही इस तरह से हैं, ग्रीक, लेटिन या चीनी भाषा में नहीं। नक्षत्रों के अधिष्ठाता देवताओं की जो कल्पना तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्राचीन दिनों में की गई थी वह भी केवल वैदिक ही है, और बेबीलोन या चीन में ऐसी कोई सामानान्तर परम्परा नहीं मिलती। फिर यद्यपि बेबीलोन में हजारों क्यूनीफार्म पटियाएं मिली है, फिर भी जहां तक मैं जानता हूँ किसी ने भी ऐसी किसी पटिया का उल्लेख नहीं किया जिसमें 27 या 28 नक्षत्र एक श्रृंखला में उसी तरह दिए गए हों जैसे वे कुछ वैदिक संहिताओं में मिलते हैं। कम से कम यह स्पष्ट है कि तैत्ति० संहिता से बहुत पहले वैदिक युग के लोग नक्षत्रों की संख्या (27 या 28) उनके नाम और क्रम और अधिष्ठाता देवताओं का नाम निश्चित कर चुके थे और नक्षत्रों को अपनी यज्ञ-प्रणाली का अभिन्न अंग बना चुके थे। फिर प्रायः सभी भारतीय नक्षत्रों के नाम सार्थक हैं या उनके साथ कोई पुराण कथा बंधी हुई है। उदाहरण के लिए आर्द्रा का अर्थ भींगा हुआ है और आर्द्रा नक्षत्र को इसलिए आर्द्रा कहा जाता था कि जब सूर्य इस नक्षत्र में पहुँचता था, वर्षा शुरू हो जाती थी। पुनर्वसू को सम्भवतः यह नाम इसलिए दिया गया था कि धरती में बोए गए धान या जौ दबे रहने के बाद नए अंकुर के रूप में नई सम्पति बनकर फिर से निकलते थे। पुष्य नाम इसलिए दिया गया था कि अंकुर बढ़कर पुष्ट हो जाते थे। आश्रेषा या आश्लेषा नाम इसलिए था तब तक धान या जौ के पौधे काफी बढ़ जाते थे और एक दूसरे का आश्लेष या आलिंगन करने लगते थे। मघा नाम इसलिए था कि धान या दूसरे पौधों में भरपूर फसल आ जाती थी जो स्वतः सम्पति थी। कृत्तिका नाम इसलिए था कि वे (छः या सात थे) चितकबरे हरिण की खाल जैसे लगते थे, जिन पर धार्मिक व्यक्ति वेदों के अध्ययन के लिए बैठते थे।

परिशिष्ट

वैदिक संहिताओं में नक्षत्रों की सूची-नाम और देवता

(वी० पी० काणे के 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र' से)

संख्या	वैदिक नाम	आधुनिक नाम	वैदिक देवता सामान्यतः	तै० सं० 4.4.10.1-3	तै० ब्रा० 1. 5	तै० ब्रा० 3. 1. 4-5	अथर्ववेद 19·7.2-5	काठक संहिता 39. 13	मैत्रायणी संहिता 2.13.20	वेदांग ज्योतिष मंत्र 25-26 (ऋग्वेद) 36-40 (यजुर्वेद) में केवल देवता बनाए गए हैं
1.	कृत्तिका	कृत्तिका	अग्नि	कृत्तिका	कृत्तिका	कृत्तिका	किसी नक्षत्र के किसी देवता का नाम नहीं बताता	कृत्तिका	कृत्तिका	अग्नि
2.	रोहिणी	रोहिणी	प्रजापति	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	प्रजापति
3.	मृगशीर्ष	मृगशीर्ष	सोम	मृगशीर्ष	इन्वका	मृगशिरस् या इन्वका	मृगशिरस्	इन्वका (देवता मरुत)	इन्वका (देवता मरुत)	सोम
4.	आर्द्रा	आर्द्रा	रुद्र	आर्द्रा	बाहु	आर्द्रा	आर्द्रा	बाहु	बाहु	रुद्र
5.	पुनर्वसु	पुनर्वसु	अदिति	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	अदिति

6.	तिष्य	पुष्य	वृहस्पति	तिष्य	तिष्य	तिष्य	पुष्य	तिष्य	तिष्य	वृहस्पति
7.	श्राश्रेषा	श्राश्लेषा	सर्पा:	श्राश्रेषा	श्राश्रेषा	श्राश्रेषा	श्राश्लेषा	श्राश्लेपा	श्राश्लेपा	सर्पा:
8.	मघा	मघा	पितर:	मघा	मघा	मघा	मघा	मघा	मघा	पितर:
9.	फल्गुनी	पूर्वाफल्गुनी	श्रर्यमन्	फल्गुनी	पूर्वाफल्गुनी	फल्गुनी	पूर्वाफल्गुनी	फल्गुनी (भग देवता)	फल्गुनी (भग देवता)	भग
10.	फल्गुनी	उत्तरा फल्गुनी	भग	फल्गुनी	उत्तरा फल्गुनी	फल्गुनी	नहीं बताया गया	उत्तरा फल्गुनी (श्रर्यमन्)	फल्गुनी (देवता श्रर्यमन्)	श्रर्यमन्
11.	हस्त	हस्त	सवितृ	हस्त	हस्त	हस्त	हस्त	हस्त	हस्त	सवितृ
12.	चित्रा	चित्रा	इन्द्र	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा (त्वष्टृ देवता)	चित्रा (त्वष्टृ)	चित्रा (त्वष्टृ)	त्वष्टृ
13.	स्वाती	स्वाति	वायु	स्वाति	निष्ट्या (वायु)	निष्ट्या (वायु)	स्वाती	निष्ट्या (वायु)	निष्ट्या (वायु)	वायु
14.	विशाखा	विशाखा	इन्द्राग्नी	विशाखे	विशाखे	विशाखे	विशाखे	विशाखम्	विशाखम्	इन्द्राग्नी
15.	श्रनुराधा	श्रनुराधा	मित्र	श्रनुराधा	श्रनुराधा	श्रनुर:धा	श्रनुराधा	श्रनुराधा	श्रनुराधा	मित्र
16.	रोहिणी	ज्येष्ठा	इन्द्र	रोहिणी	रोहिणी	ज्येष्ठा	ज्येष्ठा	ज्येष्ठा (इन्द्र)	ज्येष्ठा (वरुण)	इन्द्र

17.	विचृतौ	मूल	पितर:	विचृतौ (पितर:)	मूल भरणी (निर्ऋति)	मूल (निर्ऋति)	मूलम्	मूलम् (निर्ऋति	मूलम् (निर्ऋति)	—
18.	अषाढा	पूर्वाषाढा	आप:	अषाढा	पूर्वाषाढा	अषाढा:	आषाढा	आषाढा	अषाढा	आप:
19.	अषाढा	उत्तराषाढा	विश्वेदेवा:	अषाढा	उत्तराषाढा	अषाढा:	उत्तरा	उत्तराषाढा	अषाढा	विश्वेदेवा:
20.	अभिजित्	अभिजित (नहीं गिना गया)	ब्रह्मा	नहीं बताया गया	अभिजित् (देवता नहीं बताया गया)	अभिजित् (ब्रह्मा)	अभिजित्	नहीं बताया गया	अभिजित् (ब्रह्मा)	नहीं बताया गया
21.	श्रोण	श्रावण	विष्णु	श्रोण	श्रोण	श्रोण	श्रावण	अश्वत्थ	श्रोण (विष्णु)	विष्णु
22.	श्रविष्ठा	धनिष्ठा	वसव:	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	वसव:
23.	शतभिषक्	शतभिषक्	इन्द्र	शतभिषक्	शतभिषक् (इन्द्र)	शतभिषक् (वरुण)	शतभिषक्	शतभिषक् (वरुण)	शतभिषक् (इन्द्र)	—
24.	प्रोष्ठपदा	पूर्वभाद्रपदा	अज एकपाद	प्रोष्ठपदा	प्रोष्ठपदा	प्रोष्ठपदा	—	प्रोष्ठपदा	प्रोष्ठपदा (अहिबुध्न्य)	अज एकपाद
25.	प्रोष्ठपदा	उत्तरा भाद्रपदा	अहिर्बुध्न्य	प्रोष्ठपदा (अहिर्बुध्न्य)	प्रोष्ठपदा (अहिर्बुध्न्य)	प्रोष्ठपदा (अहिर्बुध्न्य)	प्रोष्ठपदा	उत्तरे प्रोष्ठपदा (अहिर्बुध्न्य)	प्रोष्ठपदा (अहिर्बुध्न्य)	अहिर्बुध्न्य
26.	रेवती	रेवती	पूषन्	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	पूषन्
27.	अश्वयुजौ	अश्विनी	अश्विनौ	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्विनौ
28.	अपभरणी	भरणी	यम	अपभरणी	अपभरणी	भरणी	भरण्य:	अपभरणी	भरणी:	यम

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

ऐत० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
अथर्व०	अथर्ववेद
का० सं०	काठक संहिता
मै० सं०	मैत्रायण संहिता
ऋ०	ऋग्वेद
सां० गृ०	सांख्यायन गृह्यसूत्र
तैत्ति० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्ति० सं०	तैत्तिरीय संहिता
यजु०	यजुर्वेद

विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम् ।
तपोपवासाध्ययन - ब्रह्मचर्य - व्रतायुषाम् ।।
तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः ।
समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे ।।

जब तप, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य और अन्य व्रत करने वाले देहधारियों के लिए
विघ्नों के रूप में बहुत से रोग पैदा हो गए, तो पुण्य कर्म करने वाले
महर्षिगण संसार के प्रति सहानुभूति की भावना को आगे रखकर
हिमालय के पवित्र ढलान पर एकत्र समवेत हुए ।

—चरक-संहिता, सूत्रस्थान, 1. 6-7

अध्याय : पांचवां

भरद्वाज द्वारा प्रथम वनस्पति गोष्ठी का सभापतित्व

७०० ई० पू०

रोगों के प्रसंग में जड़ी-बूटियों के उपयोग के बारे में दुनियां में हुई पहली गोष्ठी का सभापतित्व भरद्वाज ने किया था। इस गोष्ठी का विवरण चरक-संहिता में दिया गया है। आयुर्वेद नामक चिकित्सा विज्ञान का सूत्रपात करने वाले यही महान् ऋषि भरद्वाज थे। उनकी वंश-परम्परा अथर्वन् और अंगिरस् की ही है, जो अग्नि के प्रचारक रहे हैं और जिनका सम्बन्ध अथर्ववेद से रहा है। हम यहां पर अनेक भरद्वाजों के विवाद में नहीं पड़ेंगे, जिनका उल्लेख वेदों और पुराण-काव्य साहित्य में हुआ है। चरक संहिता में ही एक और कुमारशिरा भरद्वाज का जिक्र आया है। वस्तुत: जिस भरद्वाज का नामोल्लेख हम यहां पर कर रहे हैं, वह भारतीय चिकित्सा शास्त्र के पिता थे। बहुत से नुसखे उनके नाम से सम्बद्ध हैं, बहुत सी संहिताओं में या तो उनका नाम आया है या वे उनके द्वारा लिखी गई बताई जाती हैं। उन्होंने अपना ज्ञान इन्द्र से प्राप्त किया था, जो निश्चय ही इतिहास पुरुष नहीं हैं। इस वंश-परंपरा में सबसे पहले हमें उनका ही नाम मिलता है।

ऋषियों की सभा

अब हम उस महान् गोष्ठी का उल्लेख करेंगे, जो हिमालय के प्रदेश में सातवीं सदी ई० पू० में हुई थी, और यह सदी ही सम्भवत: चरक-संहिता के संकलन का समय है। चरक-संहिता के पहले ही अध्याय में इस गोष्ठी का विवरण और उसमें भाग लेने वालों के नाम दिये गए है। हम आज की गोष्ठियों और सेमिनारों से सुपरिचित हैं, लेकिन मानव इतिहास में इससे ज्यादा पुरानी किसी ऐसी गोष्ठी की कार्यवाही का अभिलेख नहीं मिलता, जो एक व्यावहारिक विज्ञान के निश्चित प्रयोजन के लिए बुलाई गई हो। उसका सभापतित्व ऋषि भरद्वाज ने किया था। इस बारे में हम संहिता के वास्तविक सन्दर्भ उद्धृत करेंगे :

अब हम दीर्घायुष्य की खोज से सम्बन्धित अध्याय को लेंगे। (1)

पूज्य आत्रेय ने कहा। (2)

आयुर्वेद की खोज में महर्षि भरद्वाज इन्द्र के पास गए, क्योंकि उन्होंने अमरों के देवता इन्द्र को इसके लिए सर्वथा उपयुक्त समझा था। (3)

महान् द्रष्टा ब्रह्मा द्वारा प्रचारित आयुर्वेद को सबसे पहले दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया और उनसे फिर यह ज्ञान अश्विनीकुमारों ने प्राप्त किया। अश्विनीकुमारों से इसे देवराज इन्द्र ने प्राप्त किया। इसलिए भरद्वाज ऋषियों के कहने पर इन्द्र के पास गए। (4: 5)

जब तप, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य और अन्य व्रत करने वाले देहधारियों के लिए विघ्नों के रूप में बहुत से रोग पैदा हो गए, तो पुण्यकर्म करने वाले महर्षिगण संसार के प्रति सहानुभूति की भावना को आगे रखकर हिमालय की पवित्र ढलान पर एकत्र समवेत हुए।[1] (6-7)

अंगिरस्, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु, आत्रेय, गौतम, सांख्य, पुलस्त्य, नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव, मार्कण्डेय, आश्वलायन, पारिक्षि, साधु आत्रेय, भरद्वाज, कपिंजल, विश्वामित्र, आश्वरथ्य, भार्गव च्यवन, अभिजित्, गार्ग्य, शांडिल्य, कौंडिन्य, वार्क्षि, देवल, गालव, सांकृत्य, वैजवापि, कुशिक, बादरायण, बडिश, शरलोमा, और दोनों काप्य और कात्यायन, काङ्कायन, कैकशेय, धौम्य, मारीच, काश्यप, शर्कराक्ष हिरण्याक्ष, लोकाक्ष और पेंगी: और इसी तरह शौनक शाकुनेय, मैत्रेय, मैमातयनी, वनवासी सन्यासी, बालखिल्य और ऐसे ही दूसरे बहुत से ऋषि—जो सभी बड़े ही ब्रह्मवेत्ता थे और संयम और अनुशासन के भण्डार थे और अग्नि की लपटों की तरह अपने तप के तेज से दीप्त थे—शान्ति से बैठ गए और उन्होंने यह चर्चा शुरू की। (8-14½)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सर्वोत्तम जड़ आरोग्य ही है। रोग आरोग्य को नष्ट करने वाले और जीवन के श्रेय और जीवन का ही अंत कर देने वाले है। इस तरह मनुष्यों की प्रगति के लिए यह एक बड़ा भारी विघ्न खड़ा हो गया है। इसको शान्त करने का उपाय क्या

---

1. विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्।
तपोपवासाध्ययन-ब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्॥
तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः।
समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे॥ —चरक, सूत्र॰ 1. 6-7

होना चाहिए। यह कहकर वे ध्यान करके बैठ गए।[1] (15. 16. 1-2)

'फिर उन्होंने अपने शरण्य इन्द्र को समझते हुए देखा। देवों के स्वामी वही हमें रोगों को वश में करने के सही तरीके बताएंगे।' (17. 17½)

'सहस्राक्ष, शचीपति इन्द्र के यहां इसके बारे में जिज्ञासा करने और उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए कौन जायगा ?' 'यह काम मुझे सौंपा जाएं', इन शब्दों को पहलेपहल बोलने वाले ऋषि भरद्वाज थे। इसलिए ऋषियों ने यह काम उनको ही सौंपा। (18-19)

इन्द्र के यहां पर पहुँचकर उन्होंने बलारि इन्द्र को देखा। वह देवर्षियों के बीच बैठे हुए थे और अग्नि की तरह दीप्त थे।

अमराधिप के यहां पहुँच कर जयघोष के साथ उनका अभिवादन करके बुद्धिमान् भरद्वाज ने विनम्रता से ऋषियों का सन्देश उनको सुनाया। (21)

रोग उठ खड़े हुए हैं, जो सभी मनुष्यों के लिए भय कारक हो रहे है। हे अमरेन्द्र, कृपया उनका इलाज करने के उपयुक्त साधन मुझे बतलाइए।' (22)

महेन्द्र ने भरद्वाज की ज्ञान-महिमा को ध्यान में रखकर थोड़े शब्दों में आयुर्वेद का ज्ञान उनको दिया। (23)

उन्होंने पितामह ब्रह्मा को विदित पुण्य शाश्वत आयुर्वेद का त्रिसूत्री हेतु, निदान और औषधज्ञान वाला तथा स्वस्थ्य और रोगी दोनों के लिए उपादेय ज्ञान उनको दिया।[2] (24)

बड़े ज्ञानी ऋषि भरद्वाज ने एकनिष्ठा से तीन आधारों वाला और अनन्त आयुर्वेद शास्त्र पूरा का पूरा शीघ्र ही ठीक-ठीक समझ लिया। (25)

इससे भारद्वाज को सुखमय अमित आयु प्राप्त हुई। उन्होंने फिर वह शास्त्र न ज्यादा न कम—पूरा-पूरा यथावत् ऋषियों को सिखाया। (26)

दीर्घायुष्य की इच्छा से से ऋषियों ने फिर उस समाज के कल्याण करने वाले और आयु बढ़ाने वाले शास्त्र को भरद्वाज से ग्रहण किया। (27)

---

1. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।
प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।
कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः॥ —चरक, सूत्र० 1. 15-16

2. हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥ —चरक. सूत्र० 1. 24

इन महर्षियो ने ज्ञान नेत्रों से इस शास्त्र के सत्य स्वरूप का, सामान्य और विशेष की प्रकृति का, गुणों, द्रव्यों और उनके कार्यों और उनके समवाय-शास्त्र में बताए गए नियमों के समुच्चय का अवलोकन किया और उसे जानकर उनको बड़ा सुख और दीर्घायुष्य प्राप्त हुआ। (28-29)

उसके बाद पुनर्वसु ने, जो सबके मित्र थे और सभी जीवों के प्रति जिनके मन में पूरी-पूरी सहानुभूति थी, इस आयुर्वेद का पुण्यकर ज्ञान छः शिष्यों को प्रदान किया। (30)

अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि ने उन ऋषि से यह ज्ञान प्राप्त किया। (31)

ऋषि ने कोई खास ज्ञान उपदेश अग्निवेश को नहीं दिया था, किन्तु यह उनके बुद्धि का ही वैभव था कि अग्निवेश इस शास्त्र के पहले तन्त्र के प्रणेता बने। (32)

फिर भेल आदि पांचों ने भी अपनी-अपनी संहिताओं की रचना की। इन पांच विद्वानों ने अपने-अपने तन्त्र महर्षि आत्रेय और बाकी सभी ऋषियों के समुदाय को पढ़कर सुनाए।[1] (33)

---

1. तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितम् ।
ऋषिभ्योऽनधिकं तच्च शशंसानवशेषयन् ॥
ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम् ।
दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुषः ॥
महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा ।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम् ॥
अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः ।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया ॥
अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्णः पराशरः ।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः ॥
बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः ।
तन्त्रस्य कर्त्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत् ॥
अथ भेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च ।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसङ्घं सुमेधसः ॥ —चरक, सूत्र० 1. 26-33

इन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत शास्त्र को सुनकर ऋषिगण बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि इस शास्त्र को ठीक ठीक रूप से प्रस्तुत किया गया है। (34)

उन सभी ने जीवों के कल्याण की इच्छा से इन लेखकों की प्रशंसा की और एक स्वर से बोले : 'जीवों के प्रति आपके हृदयों में पूरी पूरी सहानुभूति है।' (35)

देवर्षियों ने स्वर्ग में स्थित अमरों के साथ-साथ महर्षियों की इस शुभवाणी को सुना और इसे सुनकर उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। (36)

'बड़ा अच्छा हुआ' यह उदार गम्भीर ध्वनि सभी गगनचारियों द्वारा सहर्ष गुंजरित की गई और वह तीनों लोकों में प्रतिध्वनित हुई। (37)

सुखकर वायु बहने लगी, दिशाएं प्रसन्न होकर चमक उठीं और वर्षा के जल के साथ-साथ दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी। (38)

उसके बाद ज्ञान, अवबोध, सफलता, स्मृति, प्रतिभा, संकल्प, वाग्मिता, क्षमा और दया की देवियों ने अग्निवेश और बाकी के हृदयों में प्रवेश किया। (39)

इन शिष्यों के तन्त्रों ने जिनका अनुमोदन महर्षियों ने स्वयं किया था, लाखों-करोड़ों जीवधारियों के भले के लिए लोकप्रियता प्राप्त की। (40)

आयुर्वेद क्या है ?

आयुर्वेद वह शास्त्र है जिसमें जीवन के सत् और असत् बताए गए हैं और सुखी और दुखी जीवन और जीवन सीमा बताते हुए जीवन की हितकर और अहितकर चीजें बताई गई हैं। (41)

जीवन का पर्याय

जीवन देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और श्वास के समुच्चय का पर्याय है और वह अतीत और भावी जीवन के ज्ञान की कड़ी है। (42)

आयुर्वेद की सर्वोच्चता

ज्ञानी लोग आयुर्वेद को सभी शास्त्रों में श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि वह मनुष्य को दोनों लोकों में उसके लिए हितकर बात का ज्ञान देता है। (43)

—चरक-संहिता, सूत्र० अध्याय 1

परिशिष्ट : एक

वेद-ग्रन्थों में आए पेड़-पौधे

अजश्रृंगी
अपामार्ग
अरट्ट
अर्क
अलाबु
अश्वत्थ
इक्षु
उदुम्बर
उर्वारु, उर्वारुक
करंज
किंशुक
कुमुद
कुवल
कुष्ठ
खदिर
खर्जूर
गर्मुद
गवीधुक
गुग्गुलु
गोधूम
चीपुद्रु
जीवन्त
तण्डुल
तलाश
तिल
त्रायमाण
दर्भ
दूर्वा
धव
धाना
धान्य
नड
नलद
न्यग्रोध
परुष
पर्ण
पलाल
पाटा
पिप्पल
पिप्पली
पीलु
पुण्डरीक
पुष्कर
पूतिका
पूतुदारु
पृश्निपर्णी
प्रियंगु
प्लक्ष
बदर
बल्बज
बिल्व
मदुघ, मधुघ
मसूर
माष
मुंज
मुद्ग
यव
रजनी
लाक्षा
वंश
वरण
वल्क
विभीतक, विभीदक
विषाणक

वेणु
वेतस्
व्रीहि
शण
शमी
शाल्मलि
शिंशपा
श्यामाक
सह
सहदेवी
सुगन्धितेजन
सैर्यं
सोम
हारिद्रव

परिशिष्ट : दो

शतपथ ब्राह्मण में आए पेड़-पौधे

अपामार्ग
अर्क
अश्मगन्धा
उदुम्बर
करीर
कार्ष्मर्य्य
कुश
क्रमुक
खदिर
न्यग्रोध
पर्ण या पालाश
पीतदारु
पृश्निपर्णी
प्लक्ष
फाल्गुन
बिल्व
भूमिपाश
मुंज
वरण
विकङ्कत
विभीतक
वेणु, वंश
शण
शमी
शाल्मलि
श्येनहृत
स्फूर्जक

परिशिष्ट : तीन

चरक संहिता में आए पेड़-पौधे

अक्ष
अक्षोट
अगुरु
अग्निमन्थ
अंकोट
अजकर्ण
अजगन्धा
अजमोद
अतसी
अतिबला
अतिविषा
अन्तःकोटरपुष्पी
अपराजिता
अपामार्ग

अभीरुपत्री
अंबष्ठकी,
अम्लचांगरि
अम्लिका
अम्लिकाकन्द
अरिमेद
अर्क
अर्जक
अर्जुन
अवाक्पुष्पी
अशोक
अश्मन्तक
अश्वगन्धा
अश्वत्थ
असन
आखुपर्णी
आढकी
आत्मगुप्ता
आदित्यवल्ली
आमलक
आम्र
आम्रातक
आरग्वध
आरुक
आर्द्रक
इक्षु
इंगुदी
इत्कट
इन्द्रवारुणी
उच्चटक
उत्पल
उत्कीर्यक
उदुम्बर
उपकुञ्चिका
उपोदिका
उशीर
एरका
एरण्ड
एर्वारु
एल्वालुक
एला
एलापर्णी
कक्कोल
कङ्गु
कटभी
कटुतुम्बी
कटुफला
कटुरोहिणी
कट्फल
कट्वंग
कण्टकारी
कण्टकी-करञ्ज
कटक
कदंब
कदर
कदली
कनकपुष्पी
कपित्थ
कपीतम
कंपिल्लक
कमल
करञ्ज
करमर्द
करवीर
करीर
कर्कटकी
कर्कट श्रृंगी
कर्कन्धु
कर्कास
कर्कोटक
कर्चूर
कर्पूर

कर्बुदार
कलम्ब
कलाय
कशेरुक
काकनासा
काकमाची
काकाण्डोला
काकोदुम्बरिका
कारवेल्लिका
कार्पास
कालशाक
कालानुसारिका
कालेयक
काश
काश्मरी
कासमर्द
किराततिक्त
कुङ्कुम
कुटज
कुटुम्बक
कुमारजीव
कुमुद
कुम्भी
कुरण्टक
कुलत्थ
कुवल
कुष्ठ
कूष्माण्ड
कुसुम्भ
कुस्तुम्बुरु
कृतवेधन
कृष्णचित्रक
कृष्णशण
कृष्णशैरेयक
केशरम्
केशी
कैडर्य
कोद्रव
कोविदार
कोशाम्र
क्रमुक
क्षवक
क्षीरवल्ली
क्षीरविदारी
खदिर
खर्जूर
गजपिप्पली
गवेधुक
गुग्गुल
गुञ्जा
गुडूची
गोक्षुरक
गोजिह्वा
चक्रमर्द
चञ्चु
चन्दन
चर्मकषा
चविका
चांगेरी
चारटी
चित्रक
चिरबिल्व
चिरभट
चिल्ली
चुक्रिका
चुञ्चुपर्णी
चोरक
जम्बु
जया
जलपिप्पली
जाती
जाती (प्रवाल)

जिंगिनी
जीमूत
जीरक
जीवन्ती
जूर्णाह्वा
ज्योतिष्मती
टङ्क
टुण्टुक
तगर
तण्डुल
तण्डुलीयक
तमाल
तरुणी
ताडक
तामलकी
तांबूल
तालमूली
तालीश
तिनिश
तिन्दुक
तिल
तिलपर्णी
तुम्बी
तुम्बुरु
तुरुष्क
तुवर
तूद
तृणशून्य
त्रायमाणा
त्रिवृत
त्वक्
दन्तशठ
दन्ती
दर्भ
दाडिम
दारुहरिद्रा
दीप्यक
दुग्धिका
दुःस्पर्शा
दुरालभा
दूर्वा
देवदारु
द्रवंती
द्राक्ष
धन्वन
धव
धातकी
धान्यक
धामार्गव
नन्दीतक
नल
नलिका
नवमालिका
नाकुली
नागगला
नागरंग
नाडी
नालिकेर
निकोचक
निचुल
निम्ब
निर्गुण्डी
निष्पाव
नीलिका
नीवार
न्यग्रोध
पटोल
पसूर
पत्र
पद्मक
पनस
पयस्या

परूषक
पर्पटक
पर्पटकीफल
पलाङ्क्या
पलाण्डु
पलाश
पाटला
पाठा
पारावत
पाषाणभेद
पिण्डालु
पिप्पली
पीलु
पुनर्नवा
पुष्कर
पूग
पृथ्वीका
पृश्निपर्णी
प्रसारणी
प्राचीनामलक
प्रियंगु
प्रियाल
प्लक्ष
फञ्जीं
फल्गु
फेनिल
बकुल
बदरी
बला
विभीतक
बिम्बी
बिल्व
बीजक
बीजपूरक
बृहन्ती
ब्राह्मी

भद्रमुस्ता
भल्लातक
भव्य
भरद्वाजो
भार्गी
भूर्ज
भृङ्गराज
मकुष्ठ
मञ्जिष्ठा
मण्डूकपर्णी
मत्स्याख्यक
मदन
मदयन्तिका
मधूक
मरिच
मरूबक
मसूर
महाश्रावणी
मांसी
मातुलुङ्ग
मारिष
मालती
माष
माषपर्णी
मुकुलक
मुद्ग
मुद्गपर्णी
मुञ्जातक
मुष्कक
मुस्ता
मूलक
मूर्वा
मृगलीण्डिका
मृष्टक
मेषशृङ्गी
यमानी

यव
यवासक
यष्टिमधु
यूथिका
रक्तचन्दन
रक्तनाल
राजादन
रास्ना
रुहा
रोहिणी
रोहितक
रोहिष
लक्ष्मणा
लवङ्ग
लवलीफल
लशुन
लाङ्गलिकी
लामज्जक
लिकुच
लोट्टाक
लोणिका
लोघ्र
वंश
वचा
वञ्जुल
वट
वत्सनाभ
वरक
वरुण
वाताम
वार्ताक
वालक
वासा
वास्तुक
विकङ्कत
विडङ्ग
विषाणिका
वृक्षाम्ल
वृश्चिकाली
वेतस
शङ्खिनी
शण
शतकुसुमा
शतावरी
शमी
शल्लकी
शाक
शाल
शलिपर्णी
शालेय
शाल्मलि
शिंशपा
शिङ्गु
शिरीष
शुण्ठी
शूकरी
शृंगाटक
शैलेयका
शैवल
श्लेष्मातक
सप्तपर्ण
समङ्गा
सरल
सर्षप
सातला
सारिवा
सिम्बितिकाफल
सुधा
सुनिषण्णक
सुरसा
सैरेय
सोमराजी

स्थौणेयक
स्पृक्का
हंसपादी
हपुषा
हरिद्रा
हरीतकी
हरेणु
हस्तिदन्ती
हारिद्र
हिङ्गु
हिङ्गुपर्णी

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

अथर्व०	अथर्ववेद
ऋ०	ऋग्वेद
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
यजु०	यजुर्वेद
चरक०	चरकसंहिता
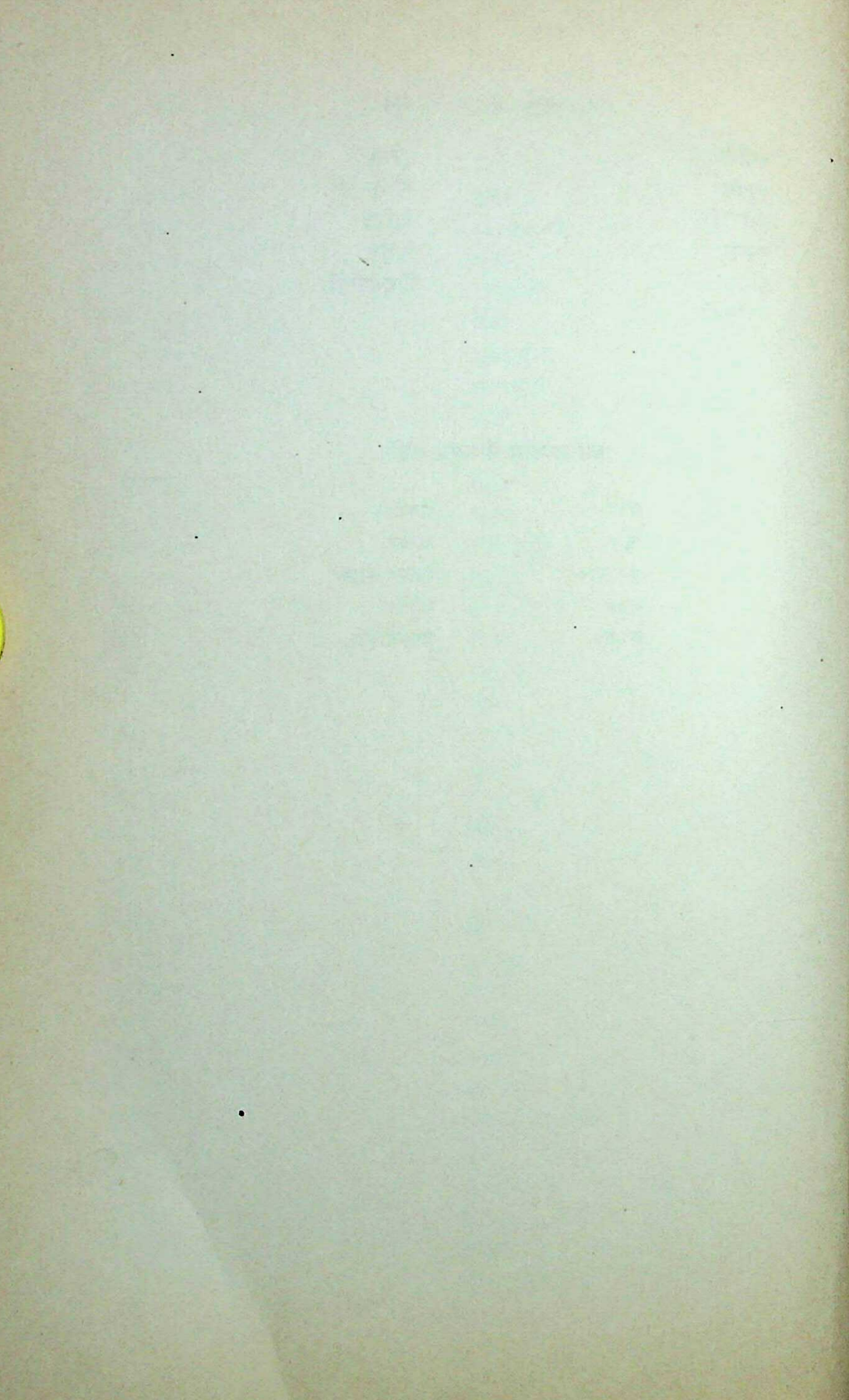
तद्विद्य संभाषा हि ज्ञानभियोगसंहर्षकरी भवति, वशारद्यमपि चाभिनिर्वर्त्तयति, वचनशक्तिमपि चाधत्ते, यशश्चाभिदीपयति पूर्वश्रुते च संदेहवतः पुनः श्रवणाच्छ्रुतसंशयमपकर्षति, श्रुते चासन्देहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति।

उसी शास्त्र की शाखा वाले व्यक्ति के साथ चर्चा करने से प्रसन्नता और शास्त्र
में विशारदत्व बढ़ता है। इससे बात ज्यादा स्पष्ट होकर समझ में आती
है, इससे कीर्ति भी बढ़ती है। पहले सुनी हुई बात को फिर सुनने
पर जो संशय या शंका होती है वह भी इससे दूर हो जाती
है और सुने गए ज्ञान में शंका न करने वाले के
विचारों को भी समर्थन और पुष्टि प्राप्त
होती है।

—चरक संहिता, विमानस्थान 8. 15

अध्याय : छठा

आत्रेय पुनर्वसु और उनका चिकित्सापीठ

महाभारत में एक कृष्ण आत्रेय का उल्लेख आता है जो चिकित्साशास्त्र या काय-चिकित्सा के एक महान् आचार्य थे।[1] आयुर्वेद के एक महान् ग्रन्थ चरकसंहिता को आत्रेय के उपदेशों का अंतिम संग्रह माना जा सकता है। इस संहिता का हर अध्याय इन शब्दों में शुरू होता है : 'भगवान आत्रेय ने इस तरह बताया[2]।' उनके कई शिष्य थे, जो चरक संहिता में शामिल की गई अनेक स्वस्थ चर्चाओं में भाग लेते थे। वह ऋषि भरद्वाज द्वारा चलाए गए आयुर्वेद शास्त्र का विधिवत् अध्यापन करने वाले पहले आचार्य थे। आयुर्वेद शास्त्र भरद्वाज से आत्रेय पुनर्वसु ने सीखा और उनसे उनके शिष्यों ने और फिर वह बड़ा ही लोकप्रिय हुआ। इस बारे में आत्रेय ने इतना गौरव प्राप्त किया कि कुछ परवर्ती लेखक आत्रेय और भरद्वाज को एक ही व्यक्ति मानने के लिए विवश हो जाते हैं। आत्रेय का शाब्दिक अर्थ है अत्रि वंश का परम्परागत पुत्र या शिष्य और उनका अपना नाम पुनर्वसु था। उनके नाम के पहले सदैव भगवान् (परम पूज्य) विशेषण आता है।[3] जिस प्रकार सुश्रुत को शल्यचिकित्सा का पिता माना जाता है उसी तरह आत्रेय पुनर्वसु को काय चिकित्सा का विधिवत् अध्यापन करने वाला पहला आचार्य माना जा सकता है। पुनर्वसु एक नक्षत्रमाला का भी नाम है और कुछ लोगों की यह धारणा हैं कि इस नक्षत्र में जन्म लेने के कारण आत्रेय इस नाम से प्रसिद्ध हुए : यह बहुत सत्य नहीं मालूम पड़ता।

आत्रेय को अत्रिपुत्र भी कहा गया है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अत्रि के बेटे थे। कुछ राजचिकित्सकों का नाम जैसे श्री हर्ष के

---

1. गान्धर्वंनारदो वेदं भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सतम्॥ —महाभारत, शांति, अध्याय 210
2. इति ह स्माह भगवानात्रेयः
3. तच्छ्रुत्वा काप्यवचो भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच। —चरक, सू॰ 12. 13
यथा प्रश्नं भगवता व्याहृतं चान्द्रभागिना॥ —चरक, सू॰ 130. 100

राजचिकित्सक का नाम, पुनर्वासव होता था (श्रीहर्ष के राजचिकित्सक का नाम रसायन पुनर्वासव था) इसका अर्थ सम्भवतः यह है कि राज-चिकित्सक आत्रेय पुनर्वसु द्वारा प्रचलित आयुर्वेद शास्त्र में निष्णात थे। चरक संहिता आत्रेय, पुनर्वसु और आत्रेय पुनर्वसु तीनों का प्रयोग पर्याय के रूप में ही करती है।[1] वह अग्निवेश के गुरु बताए गए हैं। परवर्ती ग्रन्थ जैसे काश्यप संहिता या वाग्भट का अष्टांग संग्रह ऋषि आत्रेय पुनर्वसु को प्रमाण पुरुष मान कर चलते हैं।[2] जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, महाभारत में वह कृष्ण आत्रेय बताए गए हैं, चरक संहिता में भी यह नाम[3] आया है और चक्रपाणि[4] और भेल संहिता में भी[5]। भेल और अग्निवेश दोनों ही आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य थे। हमारे इन महान् आचार्य को चरक संहिता में ही नहीं बल्कि दूसरे ग्रन्थों में भी चन्द्र भागिन नाम से पुकारते थे।[6]

चरक संहिता या आत्रेय पुनर्वसु की तिथि निश्चित करना आज बड़ा कठिन है। बुद्धधर्म की कहानियों में जीवक का नाम आता है, जिनके गुरु आत्रेय बताए जाते हैं तिब्बत की उपकथाओं में तक्षशिला के एक आत्रेय का जिक्र आता है, जो जीवक के आचार्य थे। दूसरे सूत्रों में दिशाप्रमुख या मणाकाचार्य या कपिलाक्ष को जीवक का गुरु बताया गया है। मेरी भी अपनी धारणा है कि आत्रेय कायचिकित्सक थे और उनका जीवक से कोई सम्बन्ध न था, जिसने शीर्ष-शल्य का अध्ययन किया था। चरक ने पेट की चीरफाड़ का तो जिक्र किया है, पर शिर की चीड़फाड़ का नहीं। तक्षशिला की कीर्ति बहुत आगे चलकर फैली, वैदिक युग में नहीं, जब आत्रेय पुनर्वसु ने आयुर्वेद की नींव रखी थी।

चरक संहिता में हमें काम्पिल्य और पंचाल के भी उल्लेख मिलते हैं, और ये दोनों नाम वैदिक लेखकों के लिए सुपरिचित थे। ये शब्द शुक्ल यजुर्वेद

---

1. षडेवरसा इत्युवाचं भगवानात्रेयः पुनर्वसुः। —चरक, सू० 25, क
   महर्षीणां मतिर्या या पुनर्वसुमतिश्च या —चरक, सू० 12. 17
2. अल्पान्तरत्वान्नेत्याह तमात्रेयः पुनर्वसुः। —का० सं०
   धर्मार्थकाममोक्षाणां विघ्नकारिभिरामयैः।
   नरेषु पीड्यमानेषु पुरस्कृत्य पुनर्वसुम्॥ —आ० श्रौ० सू० 1-4
3. अग्निवेशस्य गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम्। —चरक, 28-156
   कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितं। —वही, 28. 164
4. कृष्णात्रेयः पुनर्वसोरभिन्न एवेति वृद्धाः। —चक्र०
5. कृष्णात्रेयं पुरस्कृत्य कथाश्चक्रुर्महर्षयः। —भेल
6. यथाप्रश्नं भगवता व्याहृतं चान्द्रभागिना। —चरक, सू० 13. 100
   चान्द्रभागी पुनर्वसुः। —चक्र०
   सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच। —भेल

तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायणी काठक संहिता में आए हैं, चरक में हमें मारीच कश्यप का वायोर्विद् और मारीची के नाम आत्रेय के समकालीन के रूप में मिलते है। इनमें से कुछ हिमालय पर हुई गोष्ठी में शामिल हुए थे। काश्यप संहिता में वायोर्विद् और निमि के बीच हुए एक शास्त्रार्थ की चर्चा आती है, जिसकी अध्यक्षता ऋषि काश्यप ने की थी। इस सभा में आत्रेय पुनर्वसु, भेल और काश्यप भी इकट्ठे हुए थे और उन्होंने कौमारभृत्य के बारे में बातचीत की थी[1]।

शतपथ ब्राह्मण और चरक संहिता दोनों ही में हड्डियों की संख्या 360 बताई गई है, पर सुश्रुत एक मृत बच्चे के अस्थिविज्ञान के आधार पर इस संख्या को सुधार कर 300 बताते हैं। सुश्रुत चरक के प्रमाणों का उल्लेख करते हैं, कभी-कभी उनका खण्डन भी करते हैं। इससे स्पष्ट है कि चरक संहिता काल की दृष्टि से सुश्रुत से पहले रची गई थी। चरक संहिता की रचना या संकलन शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण के काल में किया गया था। कुछ विद्वानों का विचार है कि शतपथ ब्राह्मण में, जो वैदिकोत्तर कृति है, इस तरह के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि उसका लेखक आत्रेय और सुश्रुत दोनों के सिद्धान्तों से परिचित था। थोड़े से अन्तर भी हैं। चरक में वक्ष में 14 हड्डियां बताई गई हैं जबकि सुश्रुत में यह संख्या 17 है और शतपथ ने यह संख्या सुश्रुत से ली है। शायद शतपथ के समय आत्रेय की कायचिकित्सा और सुश्रुत की शल्यचिकित्सा दोनों ही धाराएं विद्यमान थीं।

शतपथ ब्राह्मण के अधिकांश के लेखक याज्ञवल्क्य हैं, जो विदेह के जनक की राजसभा में थे और अजात शत्रु के समकालीन थे, जिनका राज्याभिषेक 544 ई० पू० में हुआ था। यदि याज्ञवल्क्य की तिथि लगभग 575 ई० पू० है, तो आत्रेय और सुश्रुत की तिथि सातवीं सदी ई० पू० हो सकती हैं लेकिन ये तिथियां अन्तिम नहीं हैं इनकी तिथि परम्परा में कुछ गड़बड़ स्वाभाविक है। कुछ विद्वानों के अनुसार के आत्रेय के काल की सीमा एक ओर अथर्व युग का अंत है और दूसरी ओर शतपथ काल का आरम्भ।

उपनिषद् साहित्य में हमें अनेक संवाद (शास्त्रार्थ) मिलते हैं। ये ब्राह्मणों में भी आए हैं। चरकसंहिता में चिकित्सापीठ के सदस्यों के बीच कुछ बड़ी ही रोचक चर्चाएं हमें देखने को मिलती हैं। यद्यपि इस संवादों में हमें वह विशदता देखने को नहीं मिलती, जो ग्रीक संवादों में जिनमें सुकरात और अफलातून आदि भाग लेते थे और न वे उतने रोचक हैं जितनी बौद्ध कथाएं, फिर भी इनमें

---

1. शिर इति भरद्वाजः शरीरस्य तन्मूलत्वात्।
अवाक्‌शिरा इति भरद्वाजः, चक्षुरिति कश्यपः।
नेत्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः। —का० सं०

हमें विचारों का कुछ गम्भीर आदान प्रदान देखने को मिलता है। जिसका उपसंहार अन्त में आचार्य द्वारा किया जाता था।

चरक संहिता नीचे लिखे संवादों और संगोष्ठियों के लिए प्रसिद्ध है :

संगोष्ठी—एक

विषय—वात के हितकर और अहितकर प्रभाव।

भाग लेने वाले—1. सांकृत्य के पुत्र कुश, 2. कुमारशिरा भरद्वाज, 3. वाह्लीक के काङ्कायन, 4. बडिश धामार्गव, 5. वायोर्विद, 6. मरीची, 7. काप्य, 8. आत्रेय पुनर्वसु।

संदर्भ—सूत्रस्थान, अध्याय 12.

संगोष्ठी—दो

विषय—मनुष्य और रोगों का उद्भव।

भाग लेने वाले—1. काशी के राजा वामक, 2. पारीक्षि मौद्गल्य, 3. सारलोम, 4. वायोर्विद, 5. हिरण्याक्ष, 6. कुशिक, 7. शौनक, 8. भद्रकाप्य, 9. भरद्वाज, 10. काङ्कायन 11. आत्रेय।

संदर्भ—सूत्रस्थान अध्याय 25

संगोष्ठी—तीन

विषय—स्वाद रस और उनकी संख्या।

भाग लेने वाले—1. आत्रेय, 2. भद्रकाप्य, 3. शाकुन्तेय 4. मौद्गल्य पूर्णाक्ष 5. कौशिक हिरण्याक्ष 6. कुमारशिरा भरद्वाज, 7. वायोर्विद, 8. विदेह के निमि, 9. वडिश धामार्गव, 10. वाह्लीक देश के काङ्कायन।

सभास्थल—सुरम्य चित्ररथ वन।

संदर्भ—सूत्रस्थान, अध्याय 26

संगोष्ठी—चार

विषय—भ्रूण के अंगों का विकास।

भाग लेने वाले—1. अग्निवेश, 2. पुनर्वसु आत्रेय 3. कुमारशिरा 4. बाह्लीक देश के काङ्कायन 5. भद्रकाप्य 6. भद्रशौनक 7. बडिश 8. जनक विदेह 9. मारीचि काश्यप 10. धन्वन्तरि।

संदर्भ—शरीर स्थान अध्याय 6

संगोष्ठी—पांच

विषय—जमालगोटे का उपयोग और एनीमा की मात्रा।

भाग लेने वाले—1. मृग 2. कौशिक 3. काप्य 4. शौनक 5. पुलस्त्य 6. असित 7. गौतम 8. आत्रेय।

संदर्भ-सिद्धिस्थान, अध्याय 9

इस अध्याय में हम इन संगोष्ठियों में होने वाली चर्चाओं को उस रूप में उद्धृत करने का प्रयास करेंगे, जैसा कि उनका चरक संहिता में अभिलेख हुआ हैं। पर ऐसा करने से पहले हम निजी और सार्वजनिक शास्त्रार्थों के नियमों का वर्णन करेंगे। इनको मैत्रीपूर्ण और शत्रुतापूर्ण शास्त्रार्थ भी कहा जाता हैं। चरक संहिता मैत्रीपूर्ण शास्त्रार्थों को महत्त्वपूर्ण बताती है, जो ज्ञान की प्राप्ति के लिए विद्यापीठ में, हमेशा होते रहने चाहिएं। यह ठीक ही कहा गया है कि 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध:' अर्थात् आपस में लगातार वाद-विवाद करते रहने से तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। गोतम के न्याय ने, जिस पर वात्स्यायन की टीका है, इस देश में तर्कशास्त्र की विधिवत् नींव रखी। पर इस तर्कशास्त्र और तत्त्व तक पहुँचने के उपायों के कुछ संकेत हमें चरक संहिता, विमानस्थान, अध्याय 8 में भी मिल जाते हैं। इसका यहां उद्धरण उपयोगी होगा, क्योंकि यह इस तरह की शायद सबसे पहली विधिवत् चर्चा है, जब कि भारतीय तर्कशास्त्र की दूसरी प्रणालियों पर भारतीय अध्यात्म और दर्शन का भी प्रभाव पड़ा है। यहां चिकित्सा और शरीर से संबद्ध तर्कशास्त्र का अपना ही महत्त्व है।

वाद विवाद और कार्य संचालन के नियम

चर्चा की प्रशंसा

एक ही शास्त्र की शाखा का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के बीच चर्चा वस्तुत: प्रसन्नता और ज्ञान की वृद्धि करती है। इससे समझ साफ होती है द्वन्द्वात्मक प्रवीणता बढ़ती है। कीर्ति का प्रसार होता है, बार-बार सुनी हुई चीजों को दुहराते हुए सुनकर शंकाएं दूर हो जाती हैं, और जिनको कोई शंका नहीं होती, उनके विचार भी पुष्ट हो जाते हैं। चर्चा के सिलसिले में नई बातें सुनने का मौका मिलता है। कभी-कभी पट्ट शिष्य को शुभ अवसर पर आचार्य जो रहस्यपूर्ण अर्थ समझाते हैं, वे भी क्रमश. उत्तेजित विवादार्थी के निकट चर्चा के सिलसिले में विजयेच्छा से प्रकट कर दिए जाते हैं। इसीलिए शास्त्र की उसी शाखा के दो व्यक्तियों के बीच चर्चा की विद्वान् सदा प्रशंसा करते हैं। (15)

दो तरह की चर्चाएं

शास्त्र की उसी शाखा के विद्वान् के साथ यह शास्त्रार्थ दो तरह का होता हैं : मैत्रीपूर्ण शास्त्रार्थ और चुनौती वाला या शत्रुतापूर्ण शास्त्रार्थ (16)

(1) शास्त्रार्थ का मैत्रीपूर्ण तरीका

मैत्रीपूर्ण शास्त्रार्थ ऐसे व्यक्ति के साथ उपयुक्त ठहराया गया है, जो ज्ञानवान् और अनुभवी है, जो उत्तर-प्रत्युत्तर के द्वन्द्व से सुपरिचित है, जो नाराज नहीं होता, जिसे सहज ही समझाया जा सकता है, जो समझाने की कला में प्रवीण है, जिसकी वाणी में सहनशीलता और प्रसन्नता है।

ऐसे व्यक्ति के साथ शास्त्रार्थ करते समय व्यक्ति को गोपन बात बताते हुए बात करनी चाहिए और गोपन प्रश्न भी पूछने चाहिए। जब इस प्रकार विश्वास करके किसी से प्रश्न किया जाए, तो उसे भी विश्वास करके ही ऐसे प्रश्नकर्ता को स्पष्ट अर्थ बताना चाहिए। किसी को घिर जाने की चिन्ता न होनी चाहिए, न किसी को पराजित करके ही उसे खुशी होनी चाहिए। विषय का आंशिक या अपूर्ण ज्ञान होने पर किसी को धोखे में नहीं रहना चाहिए। किसी को उस बारे में विस्तार में नहीं जाना चाहिए, जिसके बारे में दूसरा बिल्कुल परिचित नहीं है। उसे शान्ति से और भलमनसाहत के साथ समझाने की कोशिश करनी चाहिए। इस ओर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। समुचित शास्त्रार्थ का यही तरीका है। (17)

(2) शत्रुतापूर्ण शास्त्रार्थ का तरीका

अब हम शत्रुतापूर्ण शास्त्रार्थ के तरीके की बात करेंगे, जिसमें किसी को अपनी सर्वोत्तम बातों को अच्छी तरह ध्यान में रखकर प्रवृत्त होना चाहिए।

उसे विरोधी की अच्छाई और बुराई वाली बातों और अपने और विरोधो क बीच विशेष ज्ञान के अन्तर की पहले से ही पड़ताल कर लेनी चाहिए। उसे सभा की प्रकृति की भी अच्छी तरह जांच कर लेनी चाहिए।

प्रवीण लोग ऐसी पड़ताल की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि इससे किसी चर्चा में शामिल होने या न होने के बारे में बुद्धिमान् व्यक्ति के चुनाव का फैसला हो जाता है। इसी से विद्वान् ऐसी पड़ताल को अच्छा मानते हैं।

यह परीक्षा करने के बाद ही उसे विवादार्थी की अच्छी और बुरी, लाभकर और हानिकर बातों का पता चल जाता है।

ये बाते हैं: विद्वत्ता, अनुभव, स्मृति, मौलिकता या साधन-पूर्णता और वाग्मिता। ये फायदे वाले गुण हैं और ये हानि वाले हैं: क्रोध, स्पष्टता का अभाव, कायरता, मन की स्थिरता की कमी और लापरवाही।

अपने और अपने विरोधी के इन गुणों की उसे परख करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि इसमें कौन आगे हैं। (18)

फिर इसमें भी तीन तरह के विवादार्थी होते हैं: श्रेष्ठ, नीचे स्तर के और बराबरी के, जो शास्त्रार्थ के उक्त गुणों की दृष्टि में ही होते हैं और बाकी सभी गुणों की दृष्टि से नहीं होते हैं। (19)

शास्त्रार्थ की सभाएं

सभाएं दो तरह की होती हैं, विद्वानों की और मूर्खों की। परिस्थिति के हिसाब से इन दो तरह की सभाओं को फिर तीन-तीन भेदों में बांटा जा सकता है (1) पक्षपोषक व्यक्तियों की सभा (2) निष्पक्ष व्यक्तियों की सभा और (3) पक्ष न करने वाले लोगों की सभा।

पक्ष न करने वाले लोगों की सभा में किसी को किसी भी स्थिति में किसी के भी साथ शास्त्रार्थ नहीं छेड़ना चाहिए, भले ही इस सभा में विद्वान्, अनुभवी या उत्तर-प्रत्युत्तर का द्वन्द्वात्मक ज्ञान रखने वाले लोग हों या अज्ञानी लोग।

यदि सभा अज्ञानी पर-पक्ष पोषक लोगों की है या अज्ञानी और निष्पक्ष लोगों की है, तो विद्या, अनुभव और द्वन्द्वात्मक ज्ञान में पूरी प्रवीणता न होने पर भी एक व्यक्ति को किसी ऐसे व्यक्ति के साथ शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होना चाहिए जो ज्यादा प्रसिद्ध नहीं है और लोग जिससे घृणा करते हैं।

ऐसे व्यक्ति से चर्चा करते समय उसे अस्पष्ट लम्बे लम्बे और जटिल वाक्यों में बात करनी चाहिए। समर्थन का पूरा ध्यान रखते हुए उसे प्राय: विरोधी की हंसी उड़ाते रहना चाहिए और सभा की प्रतिक्रिया देखते हुए विरोधी को बोलने तक का मौका नहीं देना चाहिए।

कठिन शब्दों का सहारा लेते हुए उसे यह घोषित करना चाहिए कि विरोधी उत्तर देने में असफल रहा है या विरोधी को बता देना चाहिए कि वह अपने वाद में हार गया है।

फिर विवाद के लिए बुलाए जाने पर उसे कहना चाहिए 'जाओ अभी पूरे साल भर और पढ़कर आओ। तुमने अपने आचार्य के उपदेशों को अभी अच्छी तरह नहीं पढ़ा है' या उसे विरोधी से कहना चाहिए 'तुम्हारे लिए इतना ही काफी है'। जब एक बार अपने विरोधी को हरा दिया गया, तो वह हमेशा के लिए हार गया, फिर उसके साथ कभी भी दुबारा शास्त्रार्थ नहीं करना चाहिए।'

कुछ लोगों का विचार है कि चुनौती वाले शास्त्रार्थ में अपने से श्रेष्ठ के साथ विवाद करते समय भी यह तरीका अपनाना चाहिए। लेकिन अपने से श्रेष्ठ के साथ यह शत्रुता पूर्ण शास्त्रार्थ विद्वानों ने उचित नहीं ठहराया है। (20)

लेकिन पक्षपोषक व्यक्तियों की सभा में नीचे स्तर के या बराबर के स्तर के व्यक्ति के साथ शत्रुतापूर्ण शास्त्रार्थ में किसी को कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। लेकिन निष्पक्ष व्यक्तियों की सभा में जिसमें ध्यान रखने वाले, विद्वान्, बुद्धिमान्, अनुभवी और स्मृति और द्वन्द्वात्मक ज्ञान वाले लोग हैं, व्यक्ति को शास्त्रार्थ करते समय विरोधी के गुण-दोषों की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए, जिस में विरोधी ज्यादा ज्ञान वाला हो वह धीरे से दूसरे विषय पर आ जाए और इस बात का ध्यान रखे कि इसका पता न चलने पाए।

लेकिन जिस किसी बात में विरोधी कमजोर दिखाई पड़े उसे शीघ्र उसी स्थल पर घेर कर पराजित करना चाहिए। निम्न स्तर के विवादार्थी को जल्दी पराजित करने में नीचे लिखे तरीके सहायक होंगे।

वे ये हैं: जिस व्यक्ति को वेदों का ज्यादा ज्ञान नहीं है, वह सूत्र-साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर ले। जिस व्यक्ति को विशद ज्ञान नहीं है, उसके साथ

कठिन शब्दों वाले वाक्यों से पेश आना चाहिए। जिस व्यक्ति की स्मरण शक्ति कम है, उससे लम्बे-लम्बे और अस्पष्ट वाक्यों से पेश आना चाहिए। जिस व्यक्ति में मौलिकता या साधन सम्पन्नता नहीं है, उसके साथ उसी अर्थ को विभिन्न रूपों में रखते हुए पेश आना चाहिए। जिस व्यक्ति की भाषण शक्ति पूर्ण नहीं है, उसकी अस्पष्ट बोलने के लिए निन्दा करते हुए इस बात पर आपत्ति करनी चाहिए। बुद्धिहीन व्यक्ति को लज्जित और असम्मानित करना चाहिए। क्रोधी व्यक्ति को शब्दों में ही थका देना चाहिए। अस्थिर-मन वाले व्यक्ति को धमकाना चाहिए। जो पूरी तरह ध्यान नहीं देता, उसके आगे हेत्वनुमान या यथाविधि विश्लेषण करते हुए उसे हराना चाहिए। इन तरीकों से एक निम्न स्तर के व्यक्ति को जल्दी ही हराया जा सकता है। ये दो श्लोक और भी हैं : (21)

शत्रुतापूर्ण शास्त्रार्थ में कुशलता के साथ बोलना चाहिए और सप्रमाण बातों पर कभी आपत्ति नहीं करनी चाहिए। चुनौती वाला यह गंभीर शास्त्रार्थ कुछ लोगों में क्रोध जगा देता है। (22)

और जिसे क्रोध आ गया, उस व्यक्ति के लिए ऐसी कोई बात नहीं जो वह न करने या कहने लगे, और विद्वानों ने कभी भी भले आदमियों की सभा में झगड़े को अच्छा नहीं बताया। (23)

विवाद में आदमी को इसी तरह करना चाहिए। (24)

शुरू में ही उसे ऐसा करने की कोशिश करनी चाहिए। उसे सभा द्वारा ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ चुनवाना चाहिए, जिससे वह पूरी तरह परिचित है या ऐसा प्रदांश चुनवाना चाहिए, जो विरोधी के लिए कठिन है या कम से कम ऐसी व्यवस्था कर लेनी चाहिए कि विरोधी की बात सभा के सामान्य रूख के विरुद्ध जाती है।

या उसे कहना चाहिए 'हम विषय चुनने में असमर्थ हैं। सभा ही विवाद का विषय और विवाद के नियम अपनी इच्छा से तय कर दे, जो भी वह ठीक समझे' और फिर उसे चुप रहना चाहिए। (25)

इस विवाद के नियम होते हैं—ऐसी बात कहनी है, ऐसी नहीं कहनी है। जो इस नियम का उल्लंघन करता है, हार जाता है। (26)

चर्चा में प्रयुक्त होने वाले शब्द

नीचे वस्तुतः ऐसे शब्द दिए जा रहे हैं, जो चिकित्सकों के बीच विवाद-चर्या का भाव द्योतित करते हैं :

वे ये हैं : वाद, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु, दृष्टांत, उपनय, निगमन, उत्तर, सिद्धान्त, शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य, औपमेय, संशय, प्रयोजन, सव्यभिचार, जिज्ञासा, व्यवसाय, अर्थप्राप्ति, संभव, अनुयोज्य, अनुयोग, प्रत्यनुयोग, वाक्य प्रशंसा, छल,

अहेतु, अतीत कथा, उपालम्भ, परिहार, प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तर, अर्थान्तर और निग्रहस्थान। (27)

विवाद का स्वरूप

चुनौती देते हुए शत्रुता के साथ विरोधी से जो विवाद प्रामाणिक ग्रन्थों का सहारा लेते हुए चलता है उसे शास्त्रार्थ कहते हैं। यह दो तरह का होता है : रचनात्मक शास्त्रार्थ या जल्प और ध्वंसात्मक शास्त्रार्थ या वितंडा। अपनी स्थिति को प्रतिष्ठित करने के लिए तर्क देना जल्प है। इसके विपरीत (अर्थात् दूसरे की स्थिति का लगातार खंडन) ध्वंसात्मक शास्त्रार्थ या वितंडा।

उदाहरण के लिए जब कोई कहता है कि पुनर्जन्म होता है और विरोधी कहता है कि नहीं होता और जब दोनों में से हर एक अपनी-अपनी बात की पुष्टि में तर्क देता है, तो यह शास्त्रार्थ जल्प कहलाता है। इसके विपरीत वितंडा ध्वंसात्मक शास्त्रार्थ होता है, जो विरोधी की स्थिति में दोष खोज निकालने तक ही सीमित रहता है। (28)

द्रव्य आदि की परिभाषाएं

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि के लक्षणों का निरूपण सामान्य सिद्धान्तों के खंड में किया गया है। (29)

'प्रतिज्ञा' आदि शब्दों की परिभाषा

जिस बात को सिद्ध करना होता है, उसे प्रतिज्ञा कहते हैं, जैसे 'मनुष्य शाश्वत है'। (30)

हेतु, दृष्टांत, उपनय, निगमन आदि के द्वारा प्रतिज्ञा को सिद्ध करना स्थापन है।

पहले प्रतिज्ञा बतानी होती है, फिर उसे सिद्ध करना होता है। जिस वस्तु की प्रतिज्ञा ही नहीं की गई है, उसे कैसे सिद्ध किया जा सकता है? उदाहरण के लिए एक प्रतिज्ञा वचन है 'मनुष्य शाश्वत है' हेतु—उसे कोई बनाता नहीं है। दृष्टांत जैसे आकाश है। उपनय-आकाश को कोई नहीं बनाता और वह शाश्वत है, इसी तरह मनुष्य भी है। निगमन-इसलिए वह भी शाश्वत है। (31)

प्रतिष्ठापन या प्रति-प्रमाण वह है, जो विरोधी की प्रतिज्ञा के विरुद्ध बात को सिद्ध करता है।

उदाहरण के लिए प्रतिज्ञावचन यह है कि 'मनुष्य शाश्वत नहीं है'। हेतु-मनुष्य इन्द्रियों का विषय है। दृष्टांत-जैसे कि एक पात्र है। उपनय-पात्र इंद्रियों का विषय होने से शाश्वत नहीं है। और ऐसा ही मनुष्य है। निगमन-अतः मनुष्य शाश्वत नहीं है। (32)

'हेतु' ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। यह चार तरह का है : प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द (आप्तवाक्य) और सादृश्य। [33 (1)]

इन साधनों से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह सत्त्व है। (33)

'दृष्टांत' वह उदाहरण है, जो वस्तुओं की समानता को इस रूप में स्पष्ट करता है, जो विद्वान् और अज्ञानी दोनों के लिए समान रूप से प्रकट होता है।

उदाहरण के लिए आग गरम होती है, पानी द्रव होता है, धरती स्थिर है और सूर्य प्रकाश देता है। सांख्य दर्शन का ज्ञान भी उतना ही प्रकाश देने वाला है, जितना सूर्य। (34)

स्थापना और प्रतिष्ठापना (तर्क और प्रतितर्क) की बात करते समय 'उपनय' और 'निगमन' की भी व्याख्या की जा चुकी है। (35)

उत्तर वह प्रत्युक्ति है, जो कारण-कार्य के बीच उस स्थिति में उसकी असमता बताती है, जब समता का तर्क दिया गया हो और जब उसकी असमता का तर्क दिया गया हो तो समता बताती है।

उदाहरण के लिए जब यह कहा जाए, 'सरदी (जुकाम) की बीमारी स्वरूप में अपने कारण जैसे बर्फ या ठंडी हवा से संपर्क जैसी ही है'। तो विरोधी को कहना चाहिए, 'बीमारियां स्वरूप में अपने कारणों से भिन्न होती हैं, क्योंकि ताप, जलन, खाल झड़ना या कफ पड़ना स्वरूप में ओस या ठंडी हवा को छूने जैसे नहीं हैं'। इसे उत्तर या प्रत्युक्ति कहते हैं, जो सकारात्मक और नकारात्मक दो तरह की होती हैं। (36)

सिद्धान्त या निष्कर्ष वह है, जो तरह-तरह से पड़ताल करके या विभिन्न हेतुओं से निगमन करके निश्चय किया जाता है।

सिद्धान्त चार तरह का होता है : सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त और अभ्युपगम सिद्धान्त।

इनमें सर्वतन्त्र सिद्धान्त वह है, जो उस विषय के सभी ग्रन्थों में मिलता है, जैसे हेतु हैं, रोग हैं और चिकित्सा-योग्य रोगों को ठीक करने के साधन भी हैं।

प्रतितन्त्र सिद्धान्त वह है, जो शास्त्र की शाखा विशेष के ग्रन्थों में मिलते हैं।

उदाहरण के लिए (1) और स्थानों पर आठ रस बताए गए हैं, पर यहां छः ही होते हैं, (2) यहां पांच ही इन्द्रियां दूसरी जगह छः, (3) दूसरी जगह रोग वात आदि से होते हैं यहां वात आदि से भी और दुष्ट (प्रेत) आत्माओं से भी।

अधिकरण सिद्धान्त का निर्णय तथ्य कथन के सिलसिले में निकले हुए निर्णय से होता है, जैसे मुक्त आत्माएं कर्मों के बंधन से बंधी आत्माओं की तरह

नहीं होतीं, क्योंकि वे लोग कर्मफलों में आसक्त नहीं होते, उनसे नहीं बँधते। इनका निर्णय हो जाने पर दूसरी बातें जैसे कर्मफल, मोक्ष, व्यक्ति और पुनर्जन्म का निर्णय इनसे निकले निहितार्थ से कर लिया जाता है।

अभ्युपगम सिद्धान्त वह है, जिसे चिकित्सक विवाद के समय निश्चित मान लेते हैं, यद्यपि न तो वह स्थापित हुआ है और न उसकी पड़ताल की गई है, न पढ़ाया ही गया है और न सकारण ही मालूम पड़ता हैं, जैसे हम द्रव्य को प्रथमोद्भूत मानते हैं, गुण को प्रथमोद्भूत मानते हैं, कर्म को प्रथमोद्भूत मानकर चलते हैं, आदि ये चार तरह के सिद्धान्त होते हैं। (37)

शब्द या शाब्दिक प्रमाण को लें शब्द अक्षरों का समुच्चय है। यह चार तरह का होता हैं, जिसका अर्थ देखा जा सकता है, जिसका अर्थ नहीं देखा जा सकता है, सत्य और असत्य।

इनमें से दृश्य अर्थ वाला शब्द उदाहरण के लिए ऐसा होता है: तीन कारणों से शरीर के मल (वात, पित्त, कफ) कुपित हो जाते हैं। छः प्रकार को चिकित्सा से वे कम हो जाते हैं। जो इन शब्दों को ध्यान से सुनता है, इनके अर्थ को समझ लेता है।

अदृश्य अर्थ वाले या न देखे (न समझे) जाने वाले अर्थ के शब्द ऐसे होते हैं, 'संसार में पुनर्जन्मं भी है, मोक्ष भी है।'

शब्द वह है जो यथार्थ के निकट हो जैसे आयुर्वेद का उपदेश है, ठीक किए जा सकने योग्य रोगों को चंगा करने के साधन हैं। परिश्रम से फल मिलता है।

सत्य का विपरीत असत्य होता है। (38)

प्रत्यक्ष वह है जो मस्तिष्क और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सीधे ही देखा जा सकता है। इनमें से सुख, दुख, इच्छा, अनिच्छा आदि तो मस्तिष्क से देखे जाते हैं। ध्वनि और दूसरे विषय ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखे जाते हैं। (39)

अनुमान हेतु पर आधारित सिद्धान्त को कहते हैं।

जैसे हम पचाने की शक्ति से जठराग्नि का अनुमान लगाते हैं। व्यायाम करने की ताकत से शक्ति का, किसी के श्रोत्र आदि ज्ञान से उसकी ध्वनि को समझने की क्षमता या दूसरी ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का अनुमान लगाया जाता है। (40)

ऐतिह्य का अर्थ है आप्त ऋषियों के उपदेश जैसे वेद आदि। (41)

औपम्य का अर्थ है जो एक वस्तु की दूसरी से तुलना करे। जैसे दंडक (शरीर सख्त होने का) रोग दण्ड शब्द से बताया जाता है, जिसका गुण लकड़ी जैसी कठोरता आ जाना होता है। धनुस्तम्भ (टेटानस) नामक रोग में शरीर

धनुष की तरह झुक जाने से यह धनुष से बताया जाता है। चिकित्सक को इष्वास बाण छोड़ने वाला कहते हैं क्योंकि वह लक्ष्य वेध करने वाले बाण की तरह सफलतापूर्वक रोग के कारण का वेध करते हैं और सुन्दर स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं। (42)

संशय वस्तुओं के बारे में मन के अनिश्चय को कहते हैं।

कुछ व्यक्तियों में दीर्घायुष्य के चिह्न होते हैं, कुछ में नहीं, कुछ इलाज कराते हैं, कुछ नहीं। पहले तरह के मर जाते हैं, पीछे वाली तरह के जीवित रहते हैं। दोनों तरह की बातें देखकर यह संशय पैदा होता है, 'क्या समय से पहले मृत्यु होती है या नहीं।' (43)

प्रयोजन वह है जिसकी सिद्धि के लिए प्रयत्न किए जाते हैं।

उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति कहता है, 'यदि असमय मृत्यु होती है तो मैं अपना इलाज कराऊंगा, जिसमें मैं अपना जीवन बढ़ाने वाले कारण पैदा करूंगा और वे कारण पैदा न होने दूंगा जो आयु कम करते हैं। तब फिर असामयिक मृत्यु मेरे पास कैसे फटक सकेगी?' (44)

सव्यभिचार कथन वह है, जिसमें निश्चित रास्ते से हेरफेर माना जाता है, जैसे उदाहरण के लिए इस रोग में यह दवा रामबाण हो भी सकती है (कभी नहीं भी हो सकती)। (45)

जिज्ञासा पड़ताल को कहते हैं, जैसा कि आगे बताई गई दवाओं के बारे में की जाएगी। (46)

व्यवसाय निश्चय करने को कहते हैं, जैसे उदाहरण के लिए यह बीमारी वात से पैदा होती है, यह निश्चय ही इसका इलाज है। (47)

अर्थापत्ति वह है जिसमें अभिव्यक्त किए गए से अभिव्यक्त न किए गए का अनुमान लगा लिया जाता है।

उदाहरण के लिए जैसे इस कथन में कि 'इस रोग की संपूर्ण चिकित्सा नहीं की जा सकती' यह भी गर्भित अर्थ है कि 'इस रोग की निशेषण चिकित्सा की जा सकती है। फिर यह 'आदमी दिन में खाना न खाए' की अर्थापत्ति यह भी है कि उसे रात में खाना चाहिए। (48)

संभव (या स्रोत) वह है, जहां से कोई चीज पैदा होती है, उदाहरण के लिए छः मूल तत्त्व गर्भधारण के लिए संभव (या स्रोत) हैं, जो अपुष्टिकर है, रोग का संभव है, जो पुष्टिकर है स्वास्थ्य का संभव है। (49)

अनुयोज्य (या अपूर्ण कथन) वह है जो वाणी के दोषों से भरा हुआ है। यह वही कथन है, जिसे साधारणतः कहने पर (और प्रश्न पूछे जाने पर) स्पष्ट करना होता है।

उदाहरण के लिए इस रोग को साफ करने वाली चिकित्सा की जा सकती है इस कथन से यह प्रश्न तुरन्त उठ सकता है कि 'इसके लिए विरेचन करना चाहिए या दस्त कराने चाहिए ?' (50)

पूर्ण कथन उपर्युक्त का विपरीत होता है, जैसे 'यह रोग चिकित्सा-योग्य नहीं है।' (51)

अनुयोग (या प्रश्न) वह है, जो एक विरोधी द्वारा एक ही शास्त्र की एक ही शाखा के दो व्यक्तियों से किसी समान ग्रन्थ या उसी के किसी अध्याय के किसी सामान्य या विशेष विषय पर वक्ता के ज्ञान, अनुभव और द्वन्द्वात्मक प्रवीणता की जांच के लिए चर्चा करने की दृष्टि से पूछा जाता है।

उदाहरण के लिए जब कोई कहता है 'मनुष्य शाश्वत है' तो दूसरा पूछता है, 'इसका हेतु क्या है ?' यही अनुयोग है। (52)

प्रत्यनुयोग वह प्रश्न है जो अनुयोग के बारे में किया जाए, जैसे प्रश्न का उत्तर देने में विवादार्थी फिर प्रश्न पूछता है 'उसका हेतु क्या है ?' (53)

वाक्य-दूषण (वाणी की कमी) वह है जिसमें शब्दों का अर्थ या तो अपर्याप्त होता है या अतिरिक्त (व्यर्थ) होता है या निरर्थक या प्रापक या परस्पर विरोधी होता है। लेकिन इन दोषों के कारण अर्थ खत्म नहीं होता।

कथन की अपर्याप्तता तब होती है, जब प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत उपनय और निगमन में से कोई भी चीज न हो या जहां किसी वस्तु को सिद्ध करने के लिए कई हेतु हों और कोई एक ही हेतु देकर उसे सिद्ध करे, इसे अपर्याप्तता कहते हैं।

शब्दों का अतिरेक तब होता है, जब अपर्याप्तता का उलटा हो, जैसे जब आयुर्वेद की चर्चा हो रही हो, तो बृहस्पति, उशनस् या अन्य असंगत ग्रन्थों के उद्धरण देना अतिरेक कहा जाएगा, या एक संगत पद भी जब बार-बार उद्धृत किया जाए तो उसे भी अतिरेक कहेंगे। क्योंकि पुनरुक्ति दोष के कारण इसमें शब्दों का अतिरेक आ जाता है। पुनरुक्ति भी दो तरह की होती है : (1) अर्थ की और (2) शब्दों की। अर्थ की पुनरुक्ति तब होती है, जब भेषज, औषध या साधन जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, हालांकि उन सभी का मतलब एक ही होता है। शब्दों की पुनरुक्ति तब होती है, जब एक ही शब्द को दुहराया जाए जैसे भेषज, भेषज आदि।

निरर्थक वाक्य वह है जो बिना किसी अर्थ वाले अक्षरों को जोड़ कर बना लिया जाए जैसे व्यंजनों क पांच वर्गों से।

भ्रामक वाक्य वह है, जहां शब्द सार्थक तो होते हैं, पर वे परस्पर असंबद्ध होते हैं जैसे चक्र, नक्र, वंश, वज्र, निशाकर आदि।

वाक्य की परस्पर विरोधिता वहां होती है, जो दिए गए दृष्टांत, निर्णय या परिस्थिति के विपरीत होता है। दृष्टांत और निर्णय की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है।

प्रसंग को लें। प्रसंग तीन तरह का होता है, आयुर्वेद का प्रसंग यज्ञ का प्रसंग और दर्शन का प्रसंग।

जहां तक आयुर्वेद का प्रसंग है, आयुर्वेद चतुष्पाद होता है। यज्ञ पशुओं की बलि यज्ञ के स्वामी द्वारा दी जाती है। दार्शनिक प्रसंग जैसे सभी जीवों के प्रति अहिंसा बरतनी चाहिए। जब कोई व्यक्ति प्रसंग के विपरीत बात करता है, तो यह विरोधिता होती है। ये वाणी या वाक्य के दोष हैं। (54)

अब वाक्य प्रशंसा को लें। वाक्य प्रशंसा तब होती है, जब वाक्य न तो अपर्याप्त है और न शब्दों के अतिरेक वाला। जो अर्थ से परिपुष्ट होता है, भ्रामक या परस्पर विरोधी अर्थ वाला नहीं और जिसका अर्थ स्पष्ट होता है। ऐसे ही वाक्य की परिपूर्ण कथन के रूप में प्रशंसा की जाती है। (55)

अब कपटी, भ्रामक और अर्थहीन शब्दजाल के विषय को कहते हैं। यह भी दो तरह का होता है। शब्दों का छल और अर्थ का छल।

इन में से शब्द का छल इस तरह होता है—एक दूसरे से कहता है : 'यह नव तन्त्र (नया-नया तन्त्र में प्रवेश पाने वाला) चिकित्सक है।' तब चिकित्सक यह सुनकर उत्तर देता है :' मैं नवतन्त्र (नौ तन्त्रों में या शास्त्र की नौ शाखाओं के ज्ञान वाला) ही हूँ।' तब वह व्यक्ति कहता है कि मेरा मतलब नौ शाखाओं के ज्ञान से नहीं था, बल्कि यह था कि तुम नव दीक्षित हुए हो।' तब फिर चिकित्सक नव का अर्थ नौ बार लगाते हुए कहता है 'मैंने अपना शास्त्र ज्ञान नौ बार प्राप्त नहीं किया है, बल्कि अनेक बार मैंने इसका प्रयोग किया है। इसे शब्दों का छल कहते है।

अर्थ का सामान्य छल या भुलावा इस तरह का होता है : यदि कोई कहता है आयुर्वेद का अर्थ रोग दूर करना है तो दूसरा कह उठे 'अरे क्या आपने सत् कहा, सत्-सत् को दूर करने के लिए है? 'सत् का अर्थ अस्तित्व है। रोग और आयुर्वेद भी सत् अस्तित्व हैं। एक सत् हमारे सत् को दूर करने में मदद देता है इसी तरह कफ भी सत् है और क्षय भी सत् है। तो आपके अनुसार कफ क्षय का कारण है। यह अर्थ का छल या सामान्य छल है। (56)

अहेतु को लें। अहेतु तीन तरह के होते हैं : (1) प्रकरण-सम एक कारण

से होने वाले अहेतु (2) संशय-सम संदेह से होने वाला अहेतु और (3) वर्ण्यं सम या समानता का अहेतु।

प्रकरण-सम अहेतु तब होता है, जब यह कहा जाए 'आत्मा शरीर से भिन्न होने के कारण शाश्वत है,' विरोधी को कहना होगा, 'चूंकि आत्मा शरीर से भिन्न है, अतः शाश्वत है। शरीर शाश्वत नहीं हैं। पर आत्मा का शरीर सें भिन्न होने को उसके शाश्वत होने के कारण रूप में लेना 'अहेतु' है। जो प्रतिज्ञा है उसी को हेतु-नहीं कहा जा सकता।

संशय-सम अहेतु तब होता है जब संशय के निवारण के लिए भी प्रयुक्त किया जाए। उदाहरण के लिए जब कोई कहता है 'यह व्यक्ति आयुर्वेद के एक अंश से परिचित मालूम पड़ता है। क्या वह वस्तुतः चिकित्सक है ?' उस समय दूसरा कह उठे, 'चूंकि यह व्यक्ति आयुर्वेद के एक अंश से परिचित मालूम पड़ता है, इसलिए उसे चिकित्सक होना चाहिए। वह ऐसा हेतु स्पष्ट नहीं करता, जो संशय का निवारण कर सके। यह अहेतु है। संशय का जो हेतु है वही संशय का निवारक नहीं बन सकता।

वर्ण्य-सम अहेतु तब होता है, जब दिया गया हेतु किसी वस्तु का एक गुण हो, जैसे कोई कहता है, 'बुद्धि शाश्वत नहीं है, क्योंकि दूसरा शब्द की तरह स्पर्श नहीं किया जा सकता'। यहाँ शब्द के गुणं को सिद्ध करना होगा और बुद्धि के गुण को भी। इसलिए यहां वर्ण्य सम का अहेतु है, क्योंकि बताए गए दोनों तत्त्व एक से हैं क्योंकि दोनों को सिद्ध करना है। (57)

अतिकाल को लें। यह तब होता है, जब जिस चीज को पहले कहना चाहिए, उसे बाद में कहा जाए। इसे 'अनुपयुक्त या बहुत देर पर' कहा जाता है। चूंकि इसे बहुत देर से कहा जाता है, इसलिए यह अस्वीकार्य हो जाता है।

जब कोई व्यक्ति किसी तर्क के प्रस्तुत करने के उपयुक्त अवसर को खो देता है और विरोधी दूसरे विषय को ले लेता है, तो प्रतिपक्षी को हराने के लिए दिए गए पक्ष वाले के तर्क को इस आधार पर युक्त नहीं माना जाएगा कि वह देर से दिया गया है। (58)

उपालम्भ को लें। उपालम्भ दूसरे के तर्क में छिद्र खोजना है, जैसे ऊपर अहेतु या अयुक्त कारणों के लिए दिए गए उदाहरणों में बताया गया है। (59)

परिहार को लें। परिहार दोषपूर्ण कथन को शुद्ध करना है। जैसे उस देह में जीवन-चिह्न सदैव मिलते हैं, जिनमें आत्मा का निवास होता है। जब आत्मा उड़ जाती है, ये चिह्न लुप्त हो जाते हैं। इससे आत्मा देह से भिन्न है और शाश्वत है। (60)

प्रतिज्ञा-हानि को लें। जब कोई व्यक्ति खण्डन हो जाने पर अपनी मूल प्रतिज्ञा को ही छोड़ देता है तो उसे प्रतिज्ञा-हानि कहते हैं।

जैसे कोई शुरू में वह प्रतिज्ञा वचन कहे कि मनुष्य शाश्वत है और खण्डन हो जाने पर मान ले कि मनुष्य शाश्वत नहीं हैं। (61)

अभ्यनुज्ञा को लें। जब कोई व्यक्ति ऐसी बात मान ले, जो उसकी पसन्द की न होकर प्रतिपक्षी की पसन्द की हो तो उसे अभ्यनुज्ञा कहते हैं। (62)

हेत्वन्तर को लें। यह तब होता है जब कोई किसी बात के लिए उपयुक्त कारण नहीं बल्कि अनुपयुक्त कारण प्रस्तुत करता है। (63)

अर्थान्तर को लें। अर्थान्तर या असंगत बात कहना तब होता है, जब कोई आदमी उस समय कुछ और बात कहे, जब कि उसे कुछ दूसरी बात कहनी चाहिए थी, जैसे जब ज्वर के लक्षणों की बात कहनी चाहिए तो कोई मूत्र के दोषों की बात कहने लगे।

निग्रहस्थान प्रतिपक्षी के द्वारा पराजय हो जाने को कहते हैं। यह एक विद्वत्सभा में तीन बार कहे जाने पर उसे समझने में अक्षमता होने पर होती है या किसी परिपूर्ण कथन पर प्रश्न करने में या अपूर्ण कथन पर प्रश्न न करने में होती है। (64)

यह मूल प्रतिज्ञा को छोड़ देने या प्रतिपक्षी की प्रतिज्ञा को मान लेने या अतिकाल या अहेतु, अपर्याप्त, अतिरेक निष्फल या निरर्थक तर्क प्रस्तुत करने, पुनरुक्ति करने या परस्पर विरोधी बात करने में भी होती है--इन सब के अहेतु को भी निग्रहस्थान (पराजय) माना जाता है। (65)

इस तरह यथोद्देश शास्त्रार्थ की सभी परिभाषाओं को निपटा दिया गया। (66)

चिकित्सकों के बीच होने वाले शास्त्रार्थ में उनको केवल आयुर्वेद पर ही चर्चा करनी चाहिए किसी और विषय पर नहीं। क्योंकि इसमें हर विषय पर कथन और उत्तर द्वारा सिद्धान्त पूरी तरह विकसित हो चुके हैं। सभी कथनों पर पूरा विचार करते हुए ही बोलना चाहिए। और कोई ऐसी बात न कहनी चाहिए, जो असंगत, अनधिकृत, न पड़ताल की गई, असहायक, विभ्रम या छल वाली या विशेप (सुविशिष्ट) हो। कही जाने वाली हर बात की युक्तियाँ देकर पुष्टि करनी चाहिए। ऐसे युक्ति द्वारा समर्थित और स्वरूप में स्पष्ट कथन चिकित्सा-शास्त्र में बड़े ही उपयोगी हैं। क्योंकि वे बुद्धि को स्पष्टक्करने में मदद देते हैं। बिना बाधा के बुद्धि अपने सभी प्रयासों में सफलता प्राप्त करती है। (67)

आयुर्वेद के कुछ विषय चिकित्सकों को पढ़ने चाहिए

ये विषय हैं, जिनको हम चिकित्सकों के ज्ञानवर्द्धन के लिए दे रहे हैं, क्योंकि विद्वान् किसी विषय के स्वरूप का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही उसमें कार्यारम्भ की प्रशंसा करते हैं।

यदि कोई व्यक्ति हेतु-साधन, कार्यस्रोत, कार्य की पुनरावृत्ति, देश, काल, औषध प्रदान और प्रदान करने के साधनों को पूरी तरह जानने के बाद कोई काम प्रारम्भ करता है, तो वह ईप्सित कार्य और अभीप्सित प्रतिफल को बिना विशेष कठिनाई के प्राप्त करता है। (68)

परिभाषाएं

हेतु (या कारण) वह है, जिससे कार्य होता है वह किसी वस्तु का कारण है। वह करने वाला है। (69)

साधन वह वस्तु है, जो करने वाला किसी कार्य का निर्वहन हाथ में लेने पर विहित करता है। (70)

वह कार्य-स्रोत है, जो परिवर्तन द्वारा कार्य की स्थिति है। (71)

कार्य वह है जिसकी पूर्ति के लिए करने वाला प्रयास करता है। (72)

कार्य का प्रतिफल वह है जिसकी प्राप्ति के लिए कोई कार्य किया जाता है। (73)

पुनरावृत्ति वह स्थिति है, जो करने वाले के कार्य के बाद में होने वाले प्रतिफल से सम्बद्ध है, चाहे वह स्वरूप से सुखकर हो या दुखकर (74)

देश कार्य का स्थल है। (75)

काल भी परिवर्तन है। (76)

प्रयास किसी अन्त के लिए किया जाने वाला कार्य है। यह कार्य, निर्वहन, प्रयत्न या किसी काम का आरम्भ है। (77)

कार्य के साधन : कार्य-साधनकर्ता आदि का कार्य, कार्य-प्रतिफल और कार्य-पुनरावृत्ति को अपवादरूप छोड़ कर एकीकरण या समुचित समंजन हैं। चूंकि इससे कार्य की सिद्धि होती है, इससे इसे साधन कहते हैं।

जो कार्य हो चुका है या जो कार्य चल रहा है, उसमें इससे कोई लाभ नहीं होता। कार्य की सिद्धि के बाद फिर कार्य के प्रतिफल आते हैं और फिर इसके बाद कार्य की पुनरावृत्ति। (78)

कार्य के इन सभी उपलक्षणों की पड़ताल की जानी चाहिए और उसके बाद ही कार्य को हाथ में लेना वांछनीय होगा।

इसलिए जो चिकित्सक कार्य करने के लिए इच्छुक है उसे अपना काम इन सभी तत्त्वों की, जिनकी पड़ताल करनी उपयुक्त है, पड़ताल करने के बाद ही कार्य शुरू करना चाहिए। (79)

चिकित्सकों की जांच के लिए प्रश्न

कोई व्यक्ति चिकित्सक हो या न हो, उसे चिकित्सक से यह पूछना चाहिए : कितने परीक्षण तरीकों से ऐसे चिकित्सक को परीक्षा करनी चाहिए जो जमालगोटा, दस्त करने की दवा, शुद्ध करने वाले या स्नेहक एनीमा और छींक लाने वाली दवाएं देने का इच्छुक है ? परीक्षा का सामाजिक विषय क्या है ? परीक्षा का उपयोग क्या है ? जमालगोटा आदि दिए जाने चाहिएं ? कब उनका देना टालना चाहिए और जब दोनों के संयुक्त चिह्न मिलें तो क्या करना चाहिए और इनके तैयार करने में कौन-कौन सी भेषजें काम में लाई जाती हैं ? (80)

इसके उत्तर

इस प्रकार पूछे जाने पर जो व्यक्ति प्रश्न कर्ता को विभ्रम में डालना चाहे उसे इस तरह उत्तर देना चाहिए 'परीक्षा कई तरह की होती है और परीक्षा के लिए बहुत सी भिन्न-भिन्न चीजें होती हैं। क्या आप परीक्षा के विभिन्न तरीकों के बारे में पूछ रहे हैं या जिन चीजों का परीक्षण होना है उनके अंतर के बारे में' ?

यदि आप भेदक गुण के कारण किसी वस्तु के बीच ऐसी परीक्षा पद्धति द्वारा आए अन्तर की बात पूछ रहे हैं, जो उसके भेदक लक्षणों के कारण भिन्न है, तो मैं उस वस्तु के एक या दूसरे प्रकार का वर्णन कर सकता हूं, जो इसके भेदक लक्षणों के कारण भिन्न है। और यह ऐसी परीक्षा-पद्धति द्वारा करूंगा जो अपने भेदक लक्षणों के कारण भिन्न है और यह शायद आपको पसन्द न आए। इसलिए कृपया बताइए कि निश्चित रूप से आप क्या चाहते हैं'। (81)

फिर वह जो उत्तर दे उसे अच्छी तरह परखने के बाद उचित रूप से उत्तर दिया जाना चाहिए। अगर भावना ठीक और सच्ची हो तो उसे फिर विभ्रम में नहीं डालना चाहिए। पर जब ठीक स्थिति पैदा हो जाए तो उसकी जानकारी के लिए सही-सही और पूरा-पूरा उत्तर दिया जाना चाहिए। (82)

दो प्रकार की परीक्षाएं

विद्वानों के लिए परीक्षा के दो ही तरीके हैं—प्रत्यक्ष अवलोकन और अनुमान। ये दो और प्रामाणिक ग्रन्थ-परीक्षण के प्रमुख तरीके हैं। इस तरह परीक्षा के दो तरीके हैं या प्रामाणिक-ग्रन्थों को शामिल करते हुए तीन तरीके हैं। (83)

परिचर्या—एक

वात के लिए हितकर और अहितकर प्रभाव

अब मैं 'वात के हितकर और अहितकर प्रभाव' नामक अध्याय की व्याख्या करूंगा। (1)

पूज्य आत्रेय ने इस तरह कहा। (2)

वात के हितकर और अहितकर पहलुओं के बारे में एक दूसरे के विचार जानने की इच्छा से महर्षियों ने एकत्र समवेत होकर आपस में इस तरह चर्चा की।

वात का क्या स्वरूप है ? इसका उत्पाती कारण क्या है ? इसे कम करने के घटक कैसे हैं ? वात अदेह और अस्थिर है, तो फिर उत्तेजक या दूर करने वाले कारण जो संपर्क में नहीं आ पाते वे उसे उत्तेजित या दूर करने में किस तरह सफल होते हैं ? देह के भीतर या देह के बाहर चलते हुए वात उत्तेजित होने पर या प्रशान्त होने पर देह के भीतर और बाहर समूचे विश्व में क्या काम करता है ? (3)

फिर सांकृत्य के पुत्र कुश बोले—'वात के छः लक्षण हैं। नामतः सूखापन, हलकापन, ठण्डक, कठोरता, खुरदुरापन और स्पष्टता।' (4)

वात के उत्तेजक कारण

यह कथन सुनकर कुमार शिरा नाम वाले भरद्वाज बोले—'श्रीमान् जैसा आपने कहा है, सचमुच यही वात के लक्षण हैं।

ऐसे ही गुणों के, ऐसे द्रव्यों के और ऐसी ही अंतःशक्ति की क्रिया से वात उत्तेजित हो जाता है, क्योंकि निश्चय ही देह के मल को बढ़ाने वाले कारक सधर्मी चीजें ही होती हैं' (5)

यह उक्ति सुनकर वाह्लीक देश के चिकित्सक कांकायन बोले, श्रीमान् जैसा आपने कहा है, सचमुच यही वात को उत्तेजित करने वाले कारक हैं।

इनके विपरीत वात को दूर करने वाले घटक होते हैं। क्योंकि निश्चय ही देह के मलों के सम्बन्ध में दूर करने वाले कारक बढ़ाने वाले कारकों के ठीक विपरीत होते हैं। (6)

इन कारकों की कार्य-प्रक्रिया

ये अभ्युक्तियां सुनकर बडिश धामार्गव बोले, 'ठीक है, यही वस्तुतः वात के उत्तेजक और दूर करने वाले कारक हैं'।

ये उत्तेजक और शमनकारक घटक और स्थिर वात के सम्पर्क में आने में अयोग्य होने पर भी किस तरह उत्तेजन या शमन करने में सफल होते है, इसके बारे में अब हम स्पष्ट करेंगे।

मानव शरीर में वात के उत्तेजक घटक वस्तुत: वे हैं, जो सूखापन, हल्का-पन, ठंडक, कठोरता और सच्छिद्रता बढ़ाते हैं।

इस तरह शरीर के स्थान पाने के बाद और शक्ति पाकर वात उत्तेजित या कुपित हो जाता है।

इसके विपरीत शमन कारक घटक वे हैं जो चिकनापन, भारीपन, गरमी, कोमलता, मुलायम होना, तनुता और संघनता बढ़ाते हैं।

इस प्रकार के शरीरों में शरीरगामी वात घूमता हुआ ठहरने का स्थान नहीं पाता और प्रशान्त होकर चला जाता है। (7)

देह में सामान्य वात के कार्य

वडिश का यह वक्तव्य सुनकर, जो सत्य के अनुरूप था, और जिसका ऋषि-सभा ने अनुमोदन किया, राजर्षि वार्योविद् बोले, 'श्रीमान् जैसा आपने प्रतिपादित किया है, ठीक है और इसमें कोई अपवाद नहीं हो सकता। अब हम देह के भीतर और बाहर घूमने वाले वात की उत्तेजित और अनुत्तेजित दोनों ही स्थितियों में मानव शरीर के भीतर और बाहर विशाल विश्व में कामों के बारे में यथासम्भव उनके व्यौरे वार वर्णन प्रत्यक्ष अवलोकन, अनुमान और प्रामाणिक-ग्रन्थ इन तीनों के आधार पर वात के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए करेंगे। वात देह के ढांचे और कृत्यों दोनों का ही प्रतिपादक है। वात के पांच रूप ही-नामत: प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान-देह में प्राणरूप होते हैं। यह ऊपर और नीचे हिलने-डुलने का प्रेरक है, मस्तिष्क का नियंत्रक और संचालक है, सभी इन्द्रियों को प्रेरणा देने वाला है और सभी तन्मात्राओं (इन्द्रिय-विषयों) को प्राप्त कराने वाला है, देह के मलों का व्यवस्थापक है, देह का समन्वयकारी सिद्धान्त है, वाणी का प्रेरक है, अनुभूति और श्रवण का हेतु है, श्रोत्र और स्पर्श इन्द्रियों का स्रोत हैं, सभी उत्तेजनाओं और प्राणवत्ता का उद्भव है, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला है, रुग्ण मलों (द्रवों) को सुखाने वाला है, टट्टी-पेशाब आदि को निकालने वाला है, शरीर की स्थूल सूक्ष्म प्रवाहिकाओं की बाधाओं को दूर करने वाला है, भ्रूण के रूप का माडल बनाने वाला है, जीवन का पोषक सिद्धान्त हैं--सामान्य वात के देह में ये सभी कृत्य होते हैं।

देह में प्रकुपित वात के कार्य

पर फिर जब वात देह में असमान्य हो जाता है, यह अंगों को अनेक

प्रकार की अनियमितताओं से प्रभावित करता है, उसकी शक्ति, रूप, नीरोगता और जीवन को हानि पहुंचाता है। यह मस्तिष्क को विषाद देता है, सभी ज्ञानेन्द्रियों को क्षति पहुँचाता है, गर्भाशय में भ्रूण को नष्ट करता है उसमें अंग-भंग कर देता है, गर्भकाल को अनुचित रूप से लंबा कर देता है, मद, वेदना, स्तम्भ भावनाओं में विषाद-वृत्ति और उन्माद को जन्म देता है और प्राणधारक कृत्यों में वाधा डालता है।

प्रकृति में सामान्य वात के कार्य

विशाल विश्व में व्याप्त सामान्य स्थिति वाले वात के कृत्य ये हैं : धरती को धारण करना, आग को जलाना, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रों और ग्रहों आदि की कक्ष्याओं और चालों का नियमन, वादलों का बनना, वर्षापात, धाराओं में गति, फूलों और फलों का उपजना, बीज में अंकुर फूटना, ऋतुओं का परिवर्तन। विभिन्न महाभूतों में विकास लाना, उनमें अंतर लाना, बोझ और आकार में उनमें अंतर लाना, बीजों में उर्वरता, फसलों का पनपना, पौधों में आर्द्रता का विलीन होना और परिवर्तन की सभी प्रक्रियाएं उसके सामान्य कृत्य हैं।

प्रकृति में असासान्य वात के कार्य

कुपित रूप में विश्व में घूमते हुए वात के जो कार्य हैं, वे ये हैं, पहाड़ों और पेड़ों का टूटना, समुद्रों का मन्थन (ज्वार-भाटा, तूफान), झीलों का उमड़ना, नदियों की धारा उलटी बहने लगना, भूकम्प आना, वादलों का विकट रूप लेना, वर्फ पड़ना, बिजली कौंधना, धूल, रेत, मछली, मेढ़क, सांप, क्षारीय पदार्थ, रक्त, बिजली का गिरना और पत्थर आदि की वर्षा होना, छः ऋतुओं में अव्यवस्था, फसलें कम होना, फसल में कीड़े पड़ जाना, सृष्टि की सभी वस्तुओं का विनाश, बादल, सूर्य, आग और आंधियों को प्रकुपित कर देना, जो विश्व की चतुर्युगी के अंत (प्रलय) का संकेत होता है।

वात की प्रशंसा

वात देवता है, पुराण और शाश्वत है, जीवों का स्रष्टा और संहारक है, प्रसन्नता और दुख एवं मृत्यु देने वाला है, अधोलोक का शासक है, जीवों का नियंत्रक और स्वामी है, अविभाजित है, विश्व का शिल्पी है, सर्वरूप है, सर्व व्यापी है, सभी वस्तुओं का देने वाला है, सबसे ज्यादा सूक्ष्म है, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है, सभी लोकों में रहने वाला है। वात ही देवता है। (8)

मरीची द्वारा किया गया प्रश्न

वार्योविद का यह प्रबंध सुनकर मरीची ने कहा : 'निःसन्देह, यह ठीक ही है, किन्तु चिकित्साशास्त्र के एक अंश के रूप में यह चर्चा शुरू हुई है और उस प्रसंग में यह ज्ञान प्राप्त करने और बनाए रखने का क्या प्रयोजन है'। (9)

वार्योविद् का स्पष्टीकरण

वार्योविद् ने कहा : 'अगर चिकित्सक बहुत ही तेजी से चलने वाले विनाशी वात के बारे में भविष्यवाणी नहीं करता, तो फिर वह अपनी तमाम सतर्कता के बावजूद विनाश से जनसमूह की रक्षा के लिए इसके सहसा प्रकोप को पहले से रोक सकेगा।

साथ ही वात की सच्ची प्रशंसोक्ति स्वतः रोगों से मुक्ति दिलाती है, शक्ति और रूप बढ़ाती है, देह की चमक, विकास ज्ञान-प्राप्ति और दीर्घायुष्य के वरदान की साधिका बनती है'। (10)

पित्त के परिणाम

मरीची ने कहा : 'केवल अग्नि ही पित्त में स्थित होकर अच्छे और बुरे प्रतिफल अपनी सामान्य और असामान्य स्थिति के अनुसार पैदा करती है।

ये प्रतिफल हैं अन्न का पचना और अजीर्ण, दिखाई देना और दिखाई न देना, तापक्रम का सामान्य और असामान्य होना, स्वस्थ और रुग्ण अंग, निर्भय और भय, क्रोध और प्रसन्नता, विभ्रम और स्पष्टता और ऐसे ही विरुद्ध गुणों वाले दूसरे द्वन्द्व। (11)

कफ के परिणाम

मरीची का यह कथन सुनकर काप्य बोले : 'यह तो सोम या जल तत्त्व ही है जो देह में कफ के रूप में विद्यमान रहकर अच्छे और बुरे प्रतिफल अपनी सामान्य और असामान्य स्थिति के अनुसार देता है।

वे ये हैं : संघनता और पृथुलता, मोटापा और दुर्बलता, फुर्ती और आलस्य, वीर्य और निर्वीर्यता, ज्ञान और अज्ञान, समझ और जड़ता और ऐसे ही विरुद्ध गुणों वाले दूसरे द्वन्द्व। (12)

आत्रेय द्वारा परिसंहार

काप्य का कथन सुनकर अत्रि के पुत्र पूज्य पुनर्वसु बोले : 'आप सभी लोगों ने ठीक बात ही कही है, केवल आप लोगों के अपने-अपने एकाकी दावों को छोड़कर।'

सच पूछा जाए तो वात, पित्त और कफ तीनों ही अपनी सामान्य स्थिति में मिलकर मनुष्य की इन्द्रियों को उद्बुद्ध करते हैं, उसे शक्ति, सुन्दर रूप और सरलता तथा दीर्घायुष्य भी प्रदान करते हैं, बल्कि धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग की तरह समुचित रूप से पोषित होने पर इस लोक और परलोक दोनों ही स्थलों पर उसका परम हित साधते हैं।

और ये तीनों ही रुग्ण होने पर मनुष्य को बहुत से कष्ट प्रदान करते हैं, जैसे तीनों ऋतुएं असामान्य होकर प्रलय के समय विश्व को पीड़ित करती हैं। (13)

सभी ऋषियों ने पूज्य आत्रेय के शब्दों का अनुमोदन किया और उनकी प्रशंसा की। (14)

एक यह श्लोक भी है—

आत्रेय का निर्णय सुनकर उसका सभी ऋषियों ने स्वागत किया और उसकी प्रशंसा की, जिस तरह देवता इन्द्र के वचनों का स्वागत और प्रशंसा करते हैं। (15)

सारांश

इन दो श्लोकों में परिचर्चा का सारांश दिया गया है—

वात के छः लक्षण, दो प्रकार के प्रभावी कारक, तरह-तरह के कार्य कलाप और कृत्यों के चार स्पष्ट भेद तथा पित्त और कफ के अपने अपने काम। (16)

इन मामलों में महर्षियों और पुनर्वसु के विचार-ये सब बातें 'वात के हितकर और अहितकर प्रभाव' वाले इस अध्याय में दी गई हैं। (17)

परिचर्चा-दो

मनुष्य और रोग का उद्भव

अब हम 'मनुष्य और रोग का उद्भव' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। ऐसा पूज्य आत्रेय ने कहा। (1-2)

बहुत समय पहले पूज्य आत्रेय के, जिनको सभी शास्त्र प्रत्यक्ष थे, चारों ओर इकट्ठे हुए महर्षियों के बीच पहले मनुष्य के जो इन्द्रियों, मन और तन्मात्राओं का समुच्चय है, आदिम उद्भव के संबंध में सत्य बात का सन्धान करने के लिए और उसको होने वाले रोगों के बारे में नीचे लिखी चर्चा हुई। (3-4)

इस अवसर पर काशी नरेश वामक ने, जो शास्त्रों में निष्णात थे, महर्षियों की सभा को नमस्कार और संबोधित करते हुए यह कहा : (5)

'सत्य क्या है ? क्या मनुष्य के शरीर को पीड़ित करने वाले रोग उसी स्रोत से पैदा होते हैं जिससे मनुष्य हुआ है या अन्यथा ?' जब राजा ने यह बात कही, तो पुनर्वसु ऋषियों को संबोधित करते हुए बोले : (6)

'ज्ञान-विज्ञान में अपने अगाध परिचय से आप हमारी सभी शंकाओं का निवारण कर चुके हैं। अब आपके लिए यह उचित ही है कि काशिराज द्वारा उठाई गई शंकाओं का समाधान करें।' (7)

इस प्रश्न पर विचार करके उसका उत्तर सबसे पहले देने वाले पारीक्षित मौद्गल्य थे। वह बोले : 'मनुष्य आत्मा से जन्म लेता है, उसी तरह सभी रोग भी आत्मा से जन्म लेते हैं क्योंकि आत्मा ही हर चीज का स्रोत है। (8)

आत्मा ही कर्म के गुण-दोष और फल क्रमश: प्राप्त करती और भोगती है। क्योंकि चेतना के तत्त्व के अभाव में सुखकर या दुखकर कोई भी कार्यकलाप न रहेगा। (9)

लेकिन ऋषि सारलोम बोले, 'नहीं ऐसी बात नहीं है क्योंकि निश्चय ही यह देखते हुए कि आत्मा दुख पसन्द नहीं करती वह कभी भी अपने को अपने-आप रोगों से नहीं आक्रान्त करेगी, क्योंकि उनसे दुख होता है। (10)

देह और पीड़ा दोनों का वास्तविक उद्भव हेतु मन है, जो आवेश और अज्ञान से लिप्त होने पर सत्त्व के रूप में जाना जाता है।' (11)

अब वार्योविद् बोले, 'नहीं यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मन स्वत: किसी भी चीज का हेतु नहीं हो सकता। इस तरह देह के बिना देह का कोई रोग नहीं हो सकता और न मन का अस्तित्त्व ही हो सकता है। (12)

सभी जीव रस से जन्म लेते हैं, उसी तरह विभिन्न रोग भी। आदि तत्त्व जल ही वस्तुन: सभी द्रवों का आधार है और वही उनके दृश्यमान होने का हेतु बताया जाता है।' (13)

तब हिरण्याक्ष ने कहा, 'नहीं, आत्मा रस से जन्म लेती हुई नहीं बताई जाती और मन भी नहीं जो इन्द्रियातीत है। फिर ऐसे रोग भी हैं, जो ध्वनि आदि से उपजते हैं। (14)

इसलिए मनुष्य छः तत्वों का प्रतिफल है। रोग भी छः तत्त्वों से पैदा होते हैं। इसलिए सांख्य शास्त्रियों ने मनुष्य को इन छः तत्वों, पांच महाभूतों और चैतन्य के सम्मिलन का प्रतिफल माना है।' (15)

इस प्रकार अपनी राय प्रतिपादित करने वाले कुशिक से शौनक बोले। 'नहीं ऐसी बात नहीं है। छः तत्त्वों से मनुष्य माता पिता के साधन के बिना कैसे पैदा हो सकता है ? (16)

इस तरह मनुष्य से मनुष्य पैदा होता है, बैल से बैल, घोड़े से घोड़ा, आदि। इस तरह पेशाब आदि के रोग वंश-परंपरा से प्राप्त होते हैं। इस तरह माता-पिता ही व्यक्ति और उसके रोगों के जनक होते हैं।' (17)

लेकिन भद्रकाप्य ने कहा, 'नहीं, क्योंकि अन्धे के अन्धे नहीं पैदा होते और न इस सिद्धान्त से पहले जनक-जननी के जन्म की गुत्थी सुलझाई जा सकती है। (18)

इसलिए प्राणधारी कार्य के गुण-दोष से ही पैदा होता हुआ बताया जाता है और उसी से उसको पीड़ित करने वाले रोग भी पैदा होते हैं। कर्म अभाव में न आदमी का उद्‌भव होता है न रोगों का।' (19)

इसका उत्तर ऋषि भरद्वाज ने दिया, 'नहीं क्योंकि कर्म से पहले सदा कर्ता होता है। हम बिना किए होने वाले किसी ऐसे कर्म को भी नहीं जानते, जिसका प्रतिफल व्यक्ति को बताया जा सके। (20)

इसलिए अकेली प्रकृति ही मनुष्य और रोगों की जननी है, जैसे खुरदुरापन, द्रव, गति और ऊष्मा क्रमशः धरती, जल, वायु और अग्नि की प्रकृति है।' (21)

इस पर कांकायन ने कहा, 'नहीं, क्योंकि तब केवल प्रकृति के मार्ग द्वारा ही प्रयास या तो पूरा होगा या पूरा न होगा। (22)

इसलिए यह भूतपति ब्रह्मा का पुत्र है, तो अक्षय कल्पना के भण्डार हैं, चेतन और अचेतन विश्व के और दुख-सुख दोनों के स्रष्टा हैं। (33)

इस पर आपत्ति करते हुए साधु आत्रेय बोले, 'नहीं, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि निश्चय ही भूतपति अपने बच्चों को, जिनका कल्याण वह हमेशा चाहते हैं, बुरा चाहने वाले व्यक्ति की भांति पीड़ित होने के लिए नहीं छोड़ देंगे। (24)

इसलिए मनुष्य काल का विकास है और इसी तरह मनुष्य के रोग भी काल से पैदा होते हैं सारी दुनियां काल के आधिपत्य के अधीन है और काल सर्वत्र विकासशील रहता है,। (25)

आत्रेय का निर्णय

इस प्रकार विवाद करते हुए ऋषियों को सम्बोधित करते हुए पूज्य पुनर्वसु ने कहा, 'इस तरह विवाद न कीजिए। किसी विवाद में एक पक्ष से चिपक कर सत्य को प्राप्त करना कठिन है। (26)

जो लोग तर्क-प्रतितर्क को अन्तिम मानकर चलते हैं, वे कभी किसी नतीजे पर नहीं पहुँचते, कोल्हू पर बैठे लोगों की तरह घूमते ही रहते हैं। (27)

अतः वाग्युद्ध को छोड़कर सत्य को समझो, लेकिन आवेश के मेघ को हटाए बिना रोग को नहीं जाना जा सकता। (28)

सच यह है कि महाभूतों का स्वस्थ संगम ही उनके द्वारा उद्‌भूत मनुष्य का कल्याण करता है, उनके अस्वस्थ संगम से तरह-तरह के रोग पैदा होते हैं'। (29)

पूज्य आत्रेय का उपदेश सुनकर काशिराज वामक ने एक बार फिर पूछा 'श्रीमन् वह कारक क्या है जो स्वस्थ संगम से पैदा हुए मनुष्य और अस्वस्थ संगम से पैदा हुए रोगों के विकास को आगे बढ़ाता है? (30)

उनका पूज्य आत्रेय ने उत्तर दिया, 'पोषक खुराक एकमात्र कारक है जो मनुष्य के स्वस्थ विकास को बढ़ाता है और जो कारक रोग पैदा करता है, वह अपोषक खुराक को खाना ही है।'

इस प्रकार बताते हुए पूज्य आत्रेय से अग्निवेश ने यह प्रश्न पूछा, श्रीमन्, हम पोषक और अपोषक दोनों तरह के खाने के गुणों को सही-सही किस तरह जानेंगे?

हम यह प्रश्न इसलिए पूछ रहे हैं कि हम देखते है कि जो भोज्य पदार्थ पोषक बताए जाते हैं, या जो अपोषक बताए जाते हैं, वही मात्रा, ऋतु, पकाने के तरीके, निवासस्थान, देहरचना, प्रभावी त्रिदोष और व्यक्ति में अन्तर हो जाने से उल्टा ही नतीजा पैदा करने लगते हैं। (32)

उनसे पूज्य आत्रेय बोले, 'अग्निवेश, यह समझ लो, भोजन के जो वर्ग समन्वय वाले देह तत्त्वों को अपनी स्थिति समताल पर बनाए रखने में और रुग्ण देह-तत्त्वों को समताल प्राप्त करने में मदद देते है, वही पोषक भोजन है और इसके विपरीत काम करने वाला अपोषक। पोषक और अपोषक की यह परिभाषा कभी ग़लत सिद्ध न होगी।' (33)

इस तरह प्रतिपादित करने वाले पूज्य आत्रेय से एक बार फिर अग्निवेश ने कहा, 'श्रीमन् ऐसे संक्षिप्त रूप में इस तरह दिया गया यह उपदेश साधारण वैद्यों की समझ में न आएगा।' (34)

पूज्य आत्रेय ने उनको उत्तर दिया, 'हे अग्निवेश, जिनको भोजन-शास्त्र के अंग और कार्य और उसके पूरे ब्यौरे तथा समुचित उपाय आदि का ज्ञान है, वे इस प्रकार दिए गए उपदेश से लाभ उठाना ठीक समझेंगे।

लेकिन साधारण वैद्य भी इस उपदेश को समझ सकें, हम उपायों आदि के उदाहरण दिए बिना ही अपने उपदेश देंगे। ये भी निश्चय ही विभिन्न स्तर के हैं।

भोजन सम्बन्धी नियम में अंतर के बारे में हम उसकी विशेष और साधारण दोनों के संदर्भ में व्याख्या करेंगे। (35)

भोजन के वर्गीकरण

भोजन के नियम इस तरह हैं—सब खाना एक ही तरह का होता है, खाए जाने योग्य होना ही उसका समान रूप है। लेकिन स्रोत के आधार पर यह दो तरह का होता है, एक सजीव और दूसरा निर्जीव, अपने कार्य के बारे में भी प्रभाव में पोषक और अपोषक होने के फलस्वरूप यह दो तरह का होता है लेने के तरीके में यह चार तरह का होता है अर्थात् पेय, खाद्य, चोष्य और लेह्य। रस के सम्बन्ध में यह छः तरह का होता है, क्योंकि रस के छः भेद होते हैं।

गुण के बारे में यह बीस तरह का होता है. अर्थात् भारी, हलका, ठंडा, गर्म, स्नेहिल, सूखा, धीमा, तेज, स्थिर, द्रव, मुलायम, कड़ा, स्पष्ट, अवलेह (अधगाढ़ा), शोधित, चिकना, खुरदरा, सूक्ष्म, स्थूल; गाढ़ा और द्रव : इसके अंगभूत पदार्थों और उनके यौगिकों तथा तैयार करने के तरीकों की विविधता के कारण इसके भेद असंख्य होते हैं। (36)

फिर भी, हम उचित क्रम में ऐसे विशिष्ट वर्गों का नामोल्लेख करेंगे जो आम तौर पर प्रयुक्त किए जाते हैं और अपनी प्रकृति के कारण अधिकांश मनुष्यों के लिए लाभकर या हानिकर होते हैं। (37)

परिचर्चा—तीन

रस और उनकी संख्या

अब हम 'रस और उनकी संख्या 'नामक अध्याय को लेंगे, जिसमें आत्रेय भद्रकाप्य और दूसरे लोगों के बीच हुई चर्चा को दिया गया है। (1)

पूज्य आत्रेय ने इस तरह कहा। (2)

आत्रेय, भद्रकाप्य, शाकुन्तेय, मौद्गल्य, पूर्णाक्ष और कौशिक हिरण्याक्ष, कुमारशिरा नाम वाले निष्पाप भरद्वाज, शुभ वार्योविद् राजा और बुद्धिमान पुरुषों में श्रेष्ठ, विदेह के निमि, सुप्रज्ञ बडिश, बाह्लीक देश के निवासी और बाह्लीक के वैद्यों में प्रमुख कांकायन—ये सब जो विद्वत्ता और आयु में अग्रणी थे, सभी संयमी और ऋषि विचरण करते हुए एक बार चैत्ररथ नामक सुन्दरवन में इकट्ठे हुए। (3-6)

ये सभी विद्वान जब वहाँ इकट्ठे हो आसीन हो गए, तो उनमें यह महत्त्वपूर्ण चर्चा हुई। (7)

भद्रकाप्य ने कहा, "रस एक है। विद्वान् उसे पाँच इन्द्रिय-तन्मात्राओं में से एक कहते हैं और रसना उसका अनुभव करती है और वह जल से भिन्न नहीं है।"

शाकुन्तेय नामक ब्राह्मण ने कहा, "रस दो होते हैं। एक खाली करने वाला और एक भरने वाला।"

मौद्गल्य पूर्णाक्ष ने कहा, "रस तीन होते हैं, भरने वाला, खाली करने वाला और समान बीच वाला।"

फिर कौशिक हिरण्याक्ष ने कहा, "रस संख्या में चार होते हैं, स्वादु और पोषक, स्वादु पर अपोषक, पोषक अस्वादु और अपोषक-अस्वादु।"

तब फिर कुमारशिरा नामक भरद्वाज बोले, "रस पाँच हैं, जिनका संबंध क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर से है।"

राजर्षि वार्योविद् ने बताया, "रस छः होते हैं, भारी, हल्का, ठण्डा, गर्म, चिकना और सूखा।"

विदेह के निमि ने कहा, "रस तो सात होते हैं, मीठा, खट्टा, नमकीन, तीखा, कड़ुआ, कसैला, और खारी।"

वडिश धामार्गव ने कहा, "रस आठ होते हैं, मीठा, खट्टा, नमकीन, तीखा, कड़ुआ, कसैला, खारी और अदृश्य।"

बाह्लीक के वैद्य कांकायन ने कहा "रस असंख्य हैं, क्योंकि उनके आधारिक द्रव्य, गुण, कार्य और मात्राएँ अनन्त हैं।" (8)

आत्रेय का निर्णय

पूज्य आत्रेय पुनर्वसु ने घोषणा की, "रस छः ही होते हैं, मीठा, खट्टा, तीखा, नमकीन, कड़ुआ और कसैला।"

इन छः रसों का स्रोत पानी है। भरना और खाली होना ये दो उनके दो कार्य मात्र हैं। इन दोनों कार्यों के मेल से तीसरा बीच वाला पैदा होता है। स्वादु होना या अस्वादु होना अपनी-अपनी पसन्द को बात है। पोषक और अपोषक होना तो बाद के प्रभाव हैं। पाँच महाभूतों का दृश्यमान होना केवल आधार है, जो प्रकृति, हेरफेर योग, जलवायु और ऋतु आदि के कारण बनते हैं। द्रव्य के आधार में भारीपन, हलकापन, ठंडक, गर्मी, चिकनापन, सूखापन आदि गुण निहित रहते हैं।

खारी नाम इसलिए है कि यह खारापन लाता है। यह अपने आप में एक रस नहीं है, बल्कि विभिन्न रसों वाले पदार्थों से, जिनमें तीखा और नमकीन सबसे ज्यादा होते हैं, बनने वाला एक द्रव्य ही है, साथ ही इसमें एक से ज्यादा इन्द्रियों द्वारा पहुंचाए जाने वाले गुण होते हैं और यह एक उत्पादित की जाने वाली चीज है।

जहां तक अदृश्य रस का प्रश्न है, यह उनके स्रोत में मिलता है जो पानी है या जिसे रस के बाद की स्थिति कहते हैं या ऐसे बाद के रस वाली चीज।

इन रसों को इस कारण असंख्य नहीं बताया जा सकता कि वे अनेक प्रकार के द्रव्यों में विद्यमान रहते हैं। अकेले-अकेले भी इनमें से कोई भी रस असंख्य प्रकार के द्रव्यों में मिल सकता है। इसलिए द्रव्यों की तरह रस संख्या में नहीं बढ़ सकते।

चूँकि ये रस ज्यादातर एक दूसरे के साथ यौगिक रूप में मिलते हैं, इसलिए उनके द्वारा दिखाए जाने वाले गुण-कर्म असंख्य नहीं होते हैं। इसलिए यह ठीक ही है कि बुद्धिमान इन रसों के गुणों का वर्णन उनके योग में नहीं करते।

इस कारण हम इन छः रसों में से प्रत्येक के लक्षणों का अलग-अलग वर्णन करेंगे। (9)

हर द्रव्य पांच तत्वों से बना है

पहले हम द्रव्यों के वर्गीकरण के बारे में कुछ सामान्य बातें बताएंगे।

इस शास्त्र के प्रयोजन के लिए सभी द्रव्य पंच महाभूतों की उपज हैं, द्रव्य दो तरह के होते हैं : सजीव और निर्जीव। उनके गुण पाँच होते हैं, जो भारीपन से शुरू होते हैं और द्रव में समाप्त होते हैं। उनके कार्य के बारे में हम विरेचक आदि पाँच बातों का जिक्र पहले ही कर चुके हैं। (10)

तत्वों के आधार पर द्रव्यों का विभाजन

इनमें से जो द्रव्य भारी, खुरदरे, सख्त, धीमे, स्थिर, स्पष्ट, घने और स्थूल और गन्धवान् होते हैं, उनका संबंध महाभूत पृथ्वी से होता है। ये मोटापन, संघट्टता, भारीपन और स्थिरता की वृद्धि करते हैं।

जो द्रव्य द्रव, चिकने, ठंडे, मंद, मुलायम और रस से युक्त होते हैं, उनका संबंध महाभूत जल से होता है। वे आर्द्रता, चिकनाई, सघनता, द्रवता, कोमलता और प्रसन्नता बढ़ाते हैं।

जो द्रव्य गर्म, तीखे, सूक्ष्म, हलका, सूखा और स्पष्ट तथा रूप गुण से युक्त होते हैं, उनका संबंध महाभूत अग्नि से होता है। वे जलन, पचना, दीप्ति चमक और रंग पैदा करते हैं।

जो द्रव्य हलके, ठंडे, सूखे, खुरदुरे, स्पष्ट और सूक्ष्म और स्पर्श गुण से युक्त होते हैं, उनका संबंध महाभूत वायु से होता है। वे सूखापन, दिल बैठना, डूबे-डूबे विचार, स्पष्टता और हलकापन पैदा करते हैं।

जो द्रव्य मुलायम, हलके, सूक्ष्म और चिकने और ध्वनि के गुण से युक्त होते हैं, उनका संबंध महाभूत आकाश से होता है। वे कोमलता सच्छिद्रता और हलकापन पैदा करते हैं। (11)

सभी द्रव्य औषधात्मक होते हैं

इस ज्ञान के प्रकाश में दुनिया में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जिसे इस या उस रीति से और इस या उस प्रयोजन से औषध के रूप में इस्तेमाल न किया जा सके। (12)

मात्र अपने गुणों के ही कारण द्रव्य सक्रिय नहीं होते।

इसलिए द्रव्य जो कुछ करते हैं, चाहे द्रव्य के रूप में अपनी प्रकृति के कारण या अपने गुणों के कारण या दोनों के कारण, उनकी द्रव्यात्मक या गुणात्मक प्रकृतियाँ किसी निश्चित देश या काल में एक निश्चित लक्ष्य को ध्यान में रखकर

एक निश्चित तरीके से उनका औषध के रूप में दिया जाना-यही सब उनका कार्य होता है। जिसके द्वारा वे कार्य करते हैं, वह स्थान होता है। जब वे काम होता है। जो करते हैं, तो वही काल होता है। जिस तरह के काम करते हैं वही तरीका वे प्राप्त करते हैं, वही नतीजा होता है। (18)

उनके स्वाद के अनुसार त्रेसठ भेद

स्वाद के भेद जो उनके त्रेसठ वर्गों को जन्म देते हैं। वे द्रव्यों, देश और काल के विभिन्न प्रभाव से पैदा होते हैं। अब हम इसका वर्णन करेंगे। (14)

मधुर को खट्टे और दूसरे रसों से मिलाने पर और खट्टे और दूसरे रसों को बाकी के साथ उसी क्रम में मिलाने पर दोनों रसों के पन्द्रह द्रव्य या निवासस्थल बनते हैं। $-[(6\times5)/2=15)]$

मधुर को अलग से बाकी खट्टे आदि पाँच रसों में मिलाने से पाँच दुहरे रस बनते हैं। इसी तरह से खट्टे से शुरू होने वाले दूसरे रसों को भी एक दूसरे से मिलाने पर रस और दुहरे रसों के वर्ग हैं। मधुर, खट्टा, नमकीन और तीखे रसों को, एक बार अलग-अलग खट्टे से शुरू होने वाले रसों से मिलाए जाने के बाद फिर अलग-अलग बाकी रसों में से एक में दिए हुए क्रम से मिलाने पर तिहरे रसों के कुल बीस सुस्पष्ट वर्गों को जन्म देते हैं। (16)

रसों के चौहरे वर्ग पन्द्रह बताए गए हैं।

रसों के चौहरे वर्ग, जो पन्द्रह होते हैं, इस तरह बनते हैं। मधुर और खट्टे रसों के दुहरे वर्ग को छः अलग तरीकों से नमकीन से शुरू होने वाले बाकी रसों में से किन्हीं दो में मिलाया जा सकता है। इस तरह वे रसों के चौहरे वर्ग बनाते हैं। (17-18)

इसके बाद मधुर और नमकीन रसों के दुहरे वर्ग को लगातार तीखे, कड़ुए और कसैले के साथ क्रमशः खट्टे, कसैले और तीखे रसों से मिलाने पर रसों के तीन अलग चौहरे वर्ग बनते हैं। इसके बाद मधुर और तीखे रसों के छहों वर्ग को कड़ुए और कसैले रसों के बाकी दुहरे वर्ग के साथ मिलाकर रसों का चौहरा वर्ग बनता है। इस तरह मधुर रस को लगातार रखने पर चार अलग सुस्पष्ट चौहरे रस-वर्ग बनते हैं। अब मधुर रस को छोड़ देने पर खट्टे और नमकीन रसों के दुहरे वर्ग को लगातार तीखे, कड़ुए और कसैले के साथ क्रमशः कड़ुए, कसैले और तीखे रसों से मिलाने पर रसों के तीन अलग चौहरे वर्ग बनते हैं। (1) खट्टा, नमकीन, कसैला, तीखा। अब नमकीन को छोड़ देने पर खट्टे और तीखे के दुहरे वर्ग के साथ मिलाने पर एक और चौहरा वर्ग बनता है। आखीर में दोनों मधुर और खट्टे रसों को छोड़कर नमकीन और तीखे को

कसैले और कड़ुए के साथ मिलाने पर रसों के चौहरे वर्ग का पन्द्रहवाँ या आखिरी रस वर्ग बनता है। (19-20)

रसों के कुल समूह में से एक रस को एक बार छोड़ देने पर पचहरे रसों के छः वर्ग बनते हैं। अब अकेले रस के छः वर्ग और छः के छः रसों का एक वर्ग बन जाता है। (21)

[योग $=6\text{ ग}_1+6\text{ ग}_2+6\text{ ग}_3+6\text{ग}_4+6\text{ ग}_5+6\text{ ग}_6=6+15+20+15+6+1=63$]

रसों और परवर्ती रसों के योग से अनेक भेद

इस तरह द्रव्य रसों के विभाजन के हिसाब से 63 वर्गों में बाँटे जाते हैं। यदि परवर्ती रसों को भी जोड़ा जाए, तो 63 की यह संख्या बहुत बढ़ जाती है, उसी तरह यदि रसों के "तर" और "तम" वाली मात्राओं को भी ध्यान में रखा जाए, तो यह कुल संख्या अगणनीय हो जाती है। (22-33)

भेषजों के प्रयोजन से 63 भेदों का माना जाना

उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए रस-विज्ञान के विशारदों ने वैद्यक की व्यावहारिक जरूरतों को ध्यान में रखकर मिले-जुले रस वर्गों की संख्या 57 और अकेले और मिले-जुले रसों की कुल संख्या 63 निर्धारित की है। (24)

रसों का योग

सफलता की कामना से वैद्य को रोग का स्वरूप और औषध की क्रिया को ध्यान में रखकर यथापेक्षित एक रस या रसों के वर्ग को विहित करना चाहिए। (25)

रोग के अनुसार दो या ज्यादा रसों के द्रव्यों या एक या अनेक रसों के यौगिकों का बुद्धिमान वैद्यों द्वारा प्रयोग किया जाता है। (26)

रसों और परवर्ती रसों का स्वरूप

जिसे रसों के वर्गीकरण और रुग्ण त्रिदोषों के वर्गीकरण का अच्छी तरह ज्ञान है, वह कारण, निदान और उपचार के उपायों के बारे में भी भूल न करेगा। (27)

एक सूखे द्रव्य का जीभ से पहले संसर्ग में जो स्वाद स्पष्ट होता है, उसे उसका रस कहा जाता है। जिसे अन्यथा जाना जाता है, वह उसका अन्तर्हित या परवर्ती रस होता है।' (28)

परिचर्चा-चार

गर्भ के अंगों का विकास

जो वैद्य शरीर के हर हिस्से को और पूरी तरह से और हर समय जानता

हैं, वह आयुर्वेद को पूरी तरह जानता है, जो कि दुनियां को आनन्द प्रदान करता है। (29)

इस प्रकार का उपदेश दे रहे पूज्य आत्रेय से अग्निवेश ने कहा, 'श्रीमन् आपने शरीर के विषय में जो कुछ कहा है, उसे हमने सुना है। अब हम जानना चाहते हैं कि गर्भाशय में भ्रूण का कौन सा अंग पहले विकसित होता है? इसका चेहरा किन स्थितियों में होता है? किस रूप में यह बाहर आता है? पैदा होने पर कौन सा गलत भोजन या औषध लेने पर वह तत्क्षण मर जाता है? फिर कौन सा सही भोजन और औषध लेने पर यह नीरोग रहकर बढ़ता है? क्या शैशव की कुछ ऐसी अव्यवस्थाएं होतीं है, जो अतिभौतिक के प्रकोप के कारण पैदा होती हैं, या ऐसी कोई बात नहीं है? इस मनुष्य की समय से या असमय मृत्यु की विभिन्नता आदि के बारे में आपके क्या विचार हैं? अधिकतम दीर्घायुष्य क्या है? और फिर यह अधिकतम दीर्घायुष्य पाने के साधन क्या हैं?' (20)

'अग्निवेश द्वारा इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाने पर ऋषि पुनर्वसु आत्रेय ने कहा, 'जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, भ्रूण गर्भ में बढ़ता जाता है, अंगों का कब क्या भेद सुस्पष्ट होता है, यह इस विषय के अध्याय में पहले ही बता चुके हैं। इस बारे में सभी ऋषि-सूत्रकारों के भिन्न-भिन्न परस्पर-विरोधी सिद्धान्त हैं। मैं उनको गिना रहा हूँ, सो सुनो।

'यह देखते हुए कि सिर ही सभी तन्मात्राओं के ज्ञान का केन्द्र है, वही भ्रूण में पहले विकसित होता है,' ऐसा कुमारशिरा भरद्वाज का विचार है। बाह्लीक के वैद्य कांकायन का कहना है, 'हृदय पहले बनता है, क्योंकि वही प्राणवत्ता का केन्द्र है।' भद्रकाप्य का कहना है, 'नाभि, क्योंकि वही पोष्य पदार्थ भीतर जाने का मार्ग होती है'। भद्रशौनक का कहना है, 'पेट की आंते, क्योंकि वे संचलन कार्य का केन्द्र होती हैं'। बडिश कहते हैं, 'हाथ और पैर, क्योंकि वे मनुष्य के पहले साधन हैं'। जनक विदेह का कहना है, 'ज्ञानेन्द्रियां, क्योंकि वे मनुष्य के ज्ञान-ग्रहण का आधार होती हैं।' मरीचि काश्यप का कहना है 'चूंकि भ्रूण आंखों से दिखाई नहीं देता है, इसलिए कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता'। 'धन्वन्तरि का कहना है कि सभी अंग साथ-साथ बढ़ते हैं। यह आखिरी ही मानने योग्य है, क्योंकि हृदय के नेतृत्व में सभी अंगों के विकास में एक जैसा समय ही लगता है। चूंकि हृदय देह के सभी अंगों के लिए मुख्य केन्द्रबिन्दु है, वे उसके चारों ओर इकट्ठे होते हैं और यही अनेक कार्यकलाप का केन्द्र है। इसलिए इन बाकी अंगों के पहले दिखाई पड़ने का कोई प्रश्न नहीं है। इसलिए हृदय समेत शरीर के सभी अंगों का विकास साथ-साथ ही होता है। वस्तुतः सभी आंगिक कार्य स्वतंत्र रूप से होते हैं। इसलिए विषयनिष्ठ दृष्टिकोण ही सही दृष्टिकोण है। (21)

भ्रूण गर्भाशय में मां की पीठ की ओर मुख करके, सिर ऊपर करके और अंगों को मोड़े हुए रखकर ठहरता है। (22)

भ्रूण भूख प्यास से मुक्त होता है और उसकी गति का नियंत्रण वह स्वयं नहीं, कोई दूसरा करता है, वह गर्भाशय में मां के ऊपर निर्भर रहकर उपस्नेह और उपस्वेद के साधनों से बढ़ता है और उसके अंग अपूर्ण रूप से पृथक् रहते हैं। बाद में भ्रूण अंशतः रोमों की जड़ों के छेदों द्वारा और अंशतः नाभिनाल द्वारा अपना भोजन प्राप्त करता है। भ्रूण की नाभि से नाभिनाल संलग्न रहता है, यह नाभिनाल जेर (प्लेसेंटा) से जुड़ा रहता है और वह मां के हृदय से। मां का हृदय ही नाड़ियों (धमनियों) द्वारा प्लेसेंटा को भरता रहता है। इस तरह भेजा गया द्रव शक्ति और रंग देने वाला होता है, क्योंकि वस्तुतः यह सभी पोष्य तत्त्वों वाला भोजन होता है। गर्भवती स्त्री में यह पोष्यरस तीन तरह से वितरित होता है—उसके अपने पोषण के लिए, छाती में दूध बनाने के लिए और भ्रूण के विकास के लिए, जो इस तरह पोषण प्राप्त करके गर्भाशय के भीतर बढ़ता है। (23)

जब जन्म का समय आता है, बच्चे का प्रसव होता है, उसका सिर सबसे आगे रहता है, जो प्रसव वात (योनि संकुचन) के जोर से गर्भमार्ग द्वारा निकलता है। यह सामान्य वात है, ऐसा न होना असामान्य कहा जाएगा। इसके बाद बच्चा अपने चलने-फिरने में मां से स्वतन्त्र हो जाता है। (24)

'जातिसूत्रीय' अध्याय में जन्म से पूर्व पोषण और देखभाल के बारे में जो बातें बताई गई हैं, वे रोग की स्थिति रोकने में मदद देती हैं और समुचित विकास करती हैं। (25)

ये दो चीजें (पोषण और देखभाल) ही अनुचित रूप में हो जाने पर बच्चा जन्म लेते ही मर जाता है, जैसे हाल में लगाया गया पौधा धूप और हवा में कुम्हला जाता है। (26)

अतिभौतिक शक्तियों के प्रकोप द्वारा बच्चों में आई अव्यवस्थाएं, जो कुपित मलों द्वारा पैदा होने वाले रोगों के अनुरूप नहीं होतीं, प्रामाणिक ग्रन्थों के उपदेशों द्वारा, असाधारण संकेतों को पंहचान कर और कारण, निदान और उपचार की प्रतिक्रिया के अस्वाभाविक रूप को देखकर जानी जा सकती हैं। (27)

परिचर्चा—पांच

वमनकारी औषध का प्रयोग

अब हम 'वमनकारी औषध का प्रयोग' और एनीमा की मात्रा नामक अध्याय को लेंगे। (1)

पूज्य आत्रेय ने इस तरह कहा। (2)

व्यापक ज्ञान, विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता से पूर्ण मस्तिष्क वाले अत्रि के पूज्य पुत्र के पास ऋषि लोग अपना यह विवाद लेकर आए कि एनीमा तैयार करने में वमन जड़ी का प्रयोग कितना उत्तम है। ऋषियों में थे : भृगु, कौशिक, काप्य, शौनक, पुलस्त्य, असित, गौतम आदि। उनकी चर्चा का विषय था कि वमन-जड़ी आदि फलों से शोधक एनीमा के लिए किसको पहला स्थान दिया जाना चाहिए। (3-4)

शौनक ने कहा कि एनीमा के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले फलों में कुम्हेड़ा (ब्रिस्टली लफ्फा) सबसे अच्छा होता है, क्योंकि वह पित्त और कफ की दशा को ठीक करता है। हस्तक्षेप करते हुए राजा वामक बोले, 'अपनी लघु क्षमता के कारण यह दस्त को ढीला नहीं कर पाता। कडुई लौकी (बिटर बोटल गौर्ड) इसके लिए सर्वोत्तम हैं, क्योंकि यह वमन और रुग्ण पदार्थों को निकालने के लिए सर्वश्रेष्ठ है।' (5)

गौतम ने कहा, 'नहीं', इसके कामेच्छा कम करने वाले गर्म, तेज, तिक्त और शुष्क गुणों के कारण यह उपयुक्त नहीं, पर कफ और पित्त की दशा ठीक करने के लिए तुम्बो (बिटर रैंग गौर्ड) को उपयुक्त औषध माना जाता है।' (6)

वडिश ने कहा, 'यह ऐसी नहीं, है क्योंकि यह वात में विसंगति और मंदता लाती है और ऊर्जा कम करती है पर कुर्ची बहुत श्रेष्ठ दवा है, क्योंकि यह प्राणवत्ता को कम नहीं करती और मन्द पड़े पित्त और कफ को चंगा करती है।' (7)

काप्य ने कहा, 'नहीं, यह औषध बड़ी अधगाढ़ी है। यह मुख्यत: वमन-कारी है और यह वात की गति को बिचलित करती है, पर कड़ुई लौकी (बिटर लफ्फा) सर्वोत्तम है, क्योंकि यह वात को भी बढ़ाती है और कफ और पित्त की तेज विसंगति को भी ठीक करती है। (8)

भद्र शौनक ने कहा, 'नहीं यह ठीक नहीं है। यह तिक्त है और प्राणवत्ता को बहुत हानि पहुँचाती है।' (9)

युक्तियों के साथ प्रस्तुत किए गए इन रोचक तर्कों को सुनकर अत्रि के विद्वान् पुत्र ने वक्ताओं की प्रशंसा की और फिर इस बारे में कि एनीमा के लिए कौन सा फल सर्वश्रेष्ठ हैं नीचे लिखा निर्णय दिया। (10)

विभिन्न फलों के लाभकर और हानिकर गुणों के बारे में ठीक ही कहा है। ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जिसमें नितान्त गुण या नितान्त दुर्गुण ही भरे

हों। इसलिए हमें ऐसे द्रव्य चुनने चाहिए जिन में अपेक्षित सद्गुण ज्यादा मात्रा में हों (11)

चर्मरोगों में कुम्हेड़ा (ब्रिस्टली लफ्फा) सर्वश्रेष्ठ है और मूत्र रोगों में कड़ुई लौकी (बिटर बोटल गोर्ड) को उपयुक्त माना जाता है। पेट के रोगों में कुर्ची के बीज ठीक माने जाते हैं, रक्तहीनता में कटुतुम्बी (बिटर रैंग गौर्ड) अच्छी है और कड़ुई लौकी (बिटर लफ्फा) उदर के रोगों में लाभकर मानी जाती है। (12)

और वमन जड़ी किसी रोग में प्रतिकूल संकेत नहीं देती। यह स्वाद में मीठी, कुछ कसैली और कटु होती है। यह अशुष्क, तिक्त, गर्म और अधगाढ़ी होती है और यह पेट में से कफ और पित्त को जल्दी दूर कर देती है। गह निरीह है और यह वात की क्रमाकुंचक गति को नियमित करती है। इन सभी श्रेष्ठ गुणों के कारण इसे सभी फलों में श्रेष्ठ फल का नाम दिया जाता है। (13-14)

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

अ० सं	अष्टांग संग्रह
भेल सं०	भेल संहिता
चक्र०	चक्रपाणि संहिता
च० सं०	चरक संहिता
का० सं०	काश्यप संहिता
सूत्र०	सूत्रस्थान
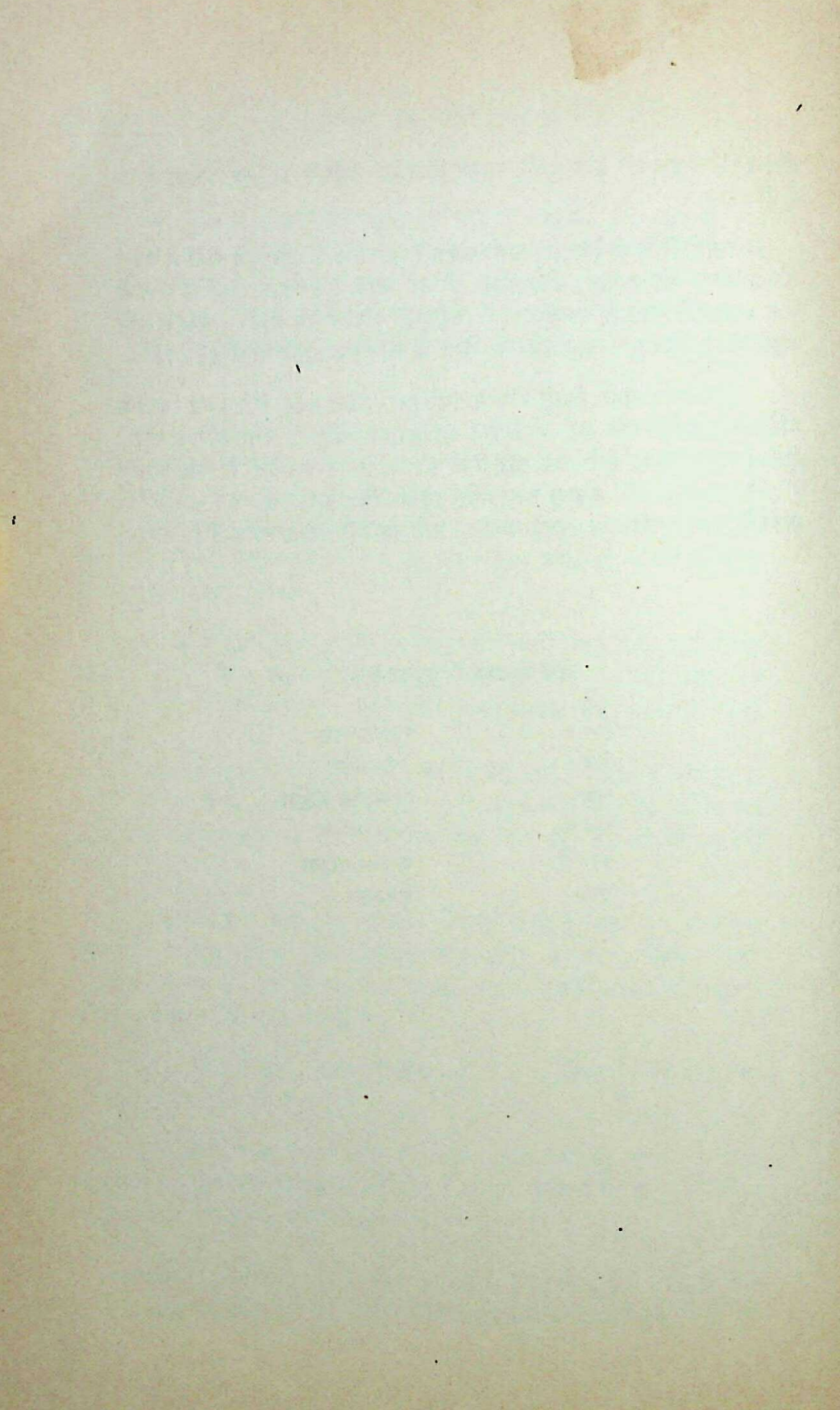
शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशु लोहलोष्ठास्थिबाल-
नखपूयास्रावद्रुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं यन्त्रशस्त्रक्षाराग्नि-
प्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च ।

चिकित्साशास्त्र की एक शाखा शल्य तन्त्र के क्षेत्र में किसी व्रण में से तृण के
हिस्से, लकड़ी के टुकड़े, पत्थर के टुकड़े, धूल लोहे के खंड, हड्डी, बाल,
नाखून, शल्य, बमा खून या पिघला पीव, जैसे बाहरी द्रव्यों को
निकालना, गर्भ में से मृत भ्रूण को निकालना, बच्चे के उलट
जाने पर सुरक्षित प्रसव कराना और शल्य के यंत्रों का
साधारणतः प्रयोग करने के तरीके और सिद्धान्त
का ज्ञान और क्षारक और निदाहक लगाना
और व्रणों का निदान और उपचार
करना आता है ।

—सुश्रुत, सूत्रस्थान 1. 4

अध्याय : सातवां

शल्य के पिता, सुश्रुत

सभी देशों में शल्य-क्रिया उतनी ही पुरानी है, जितनी मानव आवश्यकताएं। खून निकलना बन्द करने, बाण देह में से निकालने, व्रणों पर पट्टी बांधने, टूटे अंगों को चपट्टियों से सहारा देने आदि में कुछ प्रवीणता और अंगों के स्वत: स्वस्थ होने की प्रवृत्ति पर विश्वास दुनियां भर में मनुष्य को सर्वत्र कुछ न कुछ रहा है। ब्रितानी विश्वकोष के बहुत पुराने संस्करण (1887) में चार्ल्स क्रेटन ने शल्य के बारे में जो लिखा था, उसमें से अब हम कुछ उद्धरण देंगे। वह कहते हैं : आर्य जाति की दोनों शाखाओं में शल्यक्रिया का (और चिकित्सा का भी) व्यवहार बड़े ही पुराने जमाने में उच्चकोटि की सफलता प्राप्त कर चुका था। यह विवाद का प्रश्न है कि ग्रीस ने अपना चिकित्साशास्त्र (या इसका कोई भाग) हिन्दुओं से सीखा था। (मिश्र के पुजारियों के जरिए) या हिन्दुओं का चिकित्सा और शल्य का उच्च कोटि का ज्ञान या प्रावीण्य, जो चरक और सुश्रुत (यजुर्वेद के अज्ञात तिथि के टीकाकार) में प्रतिविम्वित है, सिकन्दर के अभियान के बाद पश्चिमी सभ्यता के साथ उनके संपर्क से उनको प्राप्त हुआ था। पहले विचार के पक्ष में जो साक्ष्य मिलते हैं, उनका समर्थन वाइज ने अपने 'हिस्ट्री आफ मेडिसिन अमंग दि एशियाटिक्स' (लन्दन, 1868) ग्रन्थ की भूमिका में किया है। सुश्रुत और हिप्पोक्रेट के संग्रह में समानता चिकित्सा कार्य के नीतिशास्त्र सम्बन्धी अध्यायों में सबसे ज्यादा देखने को मिलती है। सुश्रुत में पथरी को काट निकालने का जो विवरण है, वह सेलसस द्वारा दिए गए ग्रीकों के तरीकों के विवरण से बहुत ही मिलता जुलता है। लेकिन निश्चय ही सुश्रुत में कुछ ऐसे शल्यकर्म बताए गए हैं (जैसे कटी हुई नाक की प्लास्टिक सर्जरी), जो स्थानीय आविष्कार ही हैं, और विशद और उच्च कोटि की नीतिशास्त्रीय व्यवस्था भी ब्राह्मण उद्भव वाली ही मालूम पड़ती हैं और बड़ी विस्तृत भेषज-सूची (जिस में संखिया, पारा, जस्त और स्थायी महत्त्व के दूसरे द्रव्य शामिल हैं) में विदेशी स्रोत की एक भी वस्तु शामिल नहीं है। (एरियन, स्ट्रैबो और दूसरे लेखकों में) ऐसे साक्ष्य भी मिलते हैं कि सिकन्दर के आक्रमण के समय पूर्व देश चिकित्सा और शल्य के लिए बहुत ही सुप्रसिद्ध था। अत: हम शल्य के विकास का खाका खींचते समय आर्य जाति की पूर्वी शाखा को पहला स्थान दे सकते हैं, भले ही संस्कृत

संहिताओं की, जो चरक और सुश्रुत दो प्रतिनिधि नामों पर प्रचलित हैं, तारीख के प्रश्न को हम छोड़ भी दें (जो हर ईस्वी सन् की गणना से 500 साल के विस्तृत समय तक मानी जा सकती है)।

इस अध्याय में हम सुश्रुत के ग्रन्थ से (संहिता भी उनके नाम से सुश्रुत ही कही जाती है) कुछ मूल पाठ उद्धृत करेंगे। सुश्रुत पूरे ग्रन्थ में एक ही वर्ग के चिकित्सकों की बात करते हैं, जो शल्य और चिकित्सा दोनों ही कामों को अपनाते थे। व्यवसाय में भी प्रवीणता की कोई निश्चित मात्रा या क्रम भी न था, पथरी निकालने का काम जहां कुस्तुन-तुनियां में विशेषज्ञ करते थे, वह यहां पहले राजाज्ञा लेकर कोई भी कर सकता था। चिकित्सा और शल्य के बीच अगर कोई मान्य भेद था, तो वह निचले तबकों में था, नाइयों में, नाखून बनाने वालों में, कान छेदने वालों में, दांत उखाड़ने वालों में और फस्त (खून) खोलने वालों में, जो ब्राह्मण जाति से बाहर के होते थे।

सुश्रुत स्टील के बने सौ से अधिक शल्य यंत्रों का वर्णन करते हैं। उनके हत्थे अच्छे और जोड़ मजबूत होने चाहिए। अच्छी तरह पालिश होनी चाहिए और वे इतने तेज होने चाहिए कि बाल को भी चीर सकें। वे बिलकुल साफ होने चाहिए और फलालेन के भीतर एक बक्स में रखे जाने चाहिए। इन में तरह-तरह के स्काल्पेल (क्षुरिका), पतले चाकू (बिस्टूरी), छुरियां (लेंसेट) उत्पादक (स्केरीफाइर), आरे, अस्थि काटने वाले, कैंचियां, शलाकाएं और सुइयां हुआ करती थीं। मुथरे हुक, फन्दे, एषणियां (प्रोब्स, जिनमें कास्टिक दानियां शामिल हैं), संचालक, पता लगाने वाले, डोइयां और चिमटियां भी होती थीं तथा मूत्र-नलिकाएं, सिरींजे, उदर-वीक्षक और वर्ति (सलाइयां) थी। पट्टियां चौदह तरह की होती थीं। ज्यादातर पसंद की जाने वाली चपट्टियां बांस की बनाई जाती थीं, उनको रस्सी से साथ-साथ बांध दिया जाता था और अपेक्षित लंबाई में काट लिया जाता था। वाइज का कहना है कि उसने इस प्रशंसनीय चपट्टी का अक्सर प्रयोग किया है, खास तौर पर जांघ, प्रगंडिका (ह्यूमरस) बहिः प्रकोष्ठिका (रेडियस) और अन्तः प्रकोष्ठिका (अलना) की हड्डियों के फ्रेक्चर होने पर। बाद में इनको अंग्रेजी फौज में पेटेंट रतन-बेंत चपट्टी के नाम से अपना लिया गया।

हड्डी के टूटने की नापजोख अन्य चिह्नों के साथ-साथ क्रेपिटस (टूट नापने वाला) से भी की जाती थी। हड्डी उतरने को विशद रूप से वर्गीकृत किया जाता था और अलग-अलग निदान किया जाता था। उपचार कर्षण प्रतिकर्षण और पर्यावर्तन द्वारा तथा अन्य कुशल हाथ मालिश आदि तरीकों से किया जाता था। व्रणों को कटा-फटा, छेदवाला, विदीर्ण, गुमचोट आदि में बांटा जाता था। सिर और चेहरे के कटानों को सिया जाता था। बाहर की चीजें

निकालने में बड़ी प्रवीणता दिखाई जाती थी कुछ विशिष्ट स्थितियों में लोहे के टुकड़े निकालने के लिए चम्बक का भी इस्तेमाल किया जाता था। सूजन को ठीक करने के लिए सामान्य सूजनहर उपचारों और पथ्यों तथा उपकरणों का प्रयोग किया जाता था। कुहनी के मोड़ के अलावा कई अन्य जगहों पर भी शिरावेधन किया जाता था। खून निकालने के लिए छुरिका के स्थान पर जोंकों को ज्यादा इस्तेमाल किया जाता था। इस काम के लिए सिंगी (प्यालेनुमा) का भी उपयोग होता था, पुल्टिस बांधना, सेक करना आदि उसी तरह से किए जाते थे, जैसे आज किए जाते हैं। यद्यपि खून रिसना रोकने पर पूरा नियंत्रण न था, फिर भी कभी-कभी अंग काट भी दिए जाते थे। ठूंठ पर खौलता हुआ तेल लगाया जाता था, प्याले जैसी पट्टी बनाकर उसके लिए दबाव भी डाला जाता था, कभी-कभी डामर भी मिला लेते थे। रसौली और बढ़ी हुई लसीका ग्रन्थियों को काट दिया जाता था। वे फिर न हों, इसके लिए कच्ची सतह पर संखिया का एक मलहम भी लगाया जाता था। पेट के जलशोथ और हाइड्रोसील का इलाज शलाका से छेद करके किया जाता था। हार्निया के भेद भी विदित थे और वपा के हार्निया को अंडकोश पर आपरेशन करके हटाया जाता था। धमनी की असामान्य वृद्धि को भी लोग जानते थे, पर इलाज न होता था। धमनी के सातत्य, कटाव या पल्ले पर बंध का उपयोग एक ऐसी बात है, जिसे आधुनिक सर्जन प्राचीन हिन्दू शल्यतंत्र में अनुपस्थित पाकर अचंभे में पड़ सकते हैं। इस मामले में उनके पिछड़े-पन का कारण निःसन्देह धमनियों की प्रणाली और प्रवाह से उनका अपरिचय ही था। ऊपर बताए गए आपरेशन के अलावा नाभि के नीचे मध्यरेखा से थोड़े बाईं ओर चीरा लगाकर पेट को फाड़ा जाता था और संग्रन्थि या बाधा को हटाया जाता था (उदर-शल्य)। एक बार आंतों के एक छोटे से हिस्से को ही खोला जाता था। फिर जोड़ दिया जाता था। उन पर घी या शहद मलकर उनको फिर उदरगुहा में रख दिया जाता। पथरी निकालने के लिए भी आपरेशन किया जाता था, पर दंड का प्रयोग नहीं होता था। नाक को ठीक करने के लिए प्लास्टिक सर्जरी भी चलती थी, पास के गाल से खाल को लिया जाता था और ऊतक का पुल सा बनाकर वाहिकामयता को बनाए रखा जाता था। आंख के शल्य . मोतियाबिन्द का निकाला जाना भी शामिल था। गर्भ-जनन के लिए भी तरह-तरह के आपरेशन किए जाते थे। जिनमें शल्य करके गर्भ निष्कासन और भ्रूण को कुचलना भी शामिल था।

चिकित्सागत उपचार

शल्य वाले रोगों में चिकित्सा और शरीर उपचार हिन्दुओं के आयुर्वेद शास्त्र की साधारण देखभाल और विशदता एवं उनकी औषध द्रव्य तालिका की विशालता के अनुरूप ही होता था। मलहम और बाहरी लगाने वाली चीजों में घी का प्रयोग आधार के रूप में किया जाता था और उसमें और चीजों के अलावा

संखिया, जस्ता, ताँबा और लोहे के सल्फेट का भी इस्तेमाल होता था। हर आपात और विदित रोग के लिए शास्त्रों में विशद और विस्तृत हिदायतें दी हुई होती थीं, जो ऋषि वैद्यों द्वारा युवा छात्रों को पढ़ाए जाते थे। आपरेशनों में हाथ से काम करने के व्यावहारिक ज्ञान के बिना केवल किताब पढ़ना निरर्थक माना जाता था। छात्रों को विभिन्न शल्य आपरेशन तख्ते पर मोम बिछाकर, या लौकी, खीरे आदि मुलायम फलों पर करके दिखाए जाते थे। चमड़े के थैले में पानी या मुलायम कीचड़ भरकर नली डालना या छेद करना सिखाया जाता था। पशुओं की ताजी खालों से बालों को साफ करके उपाड़ने और खून निकालने का अभ्यास कराया जाता था, छेद करना या शलाका डालना कमलिनी के पोले डंठलों या मरे पशुओं की वाहिकाओं पर सिखाया जाता था। मानव शरीर के हिलने योग्य माडलों पर पट्टी बांधने का अभ्यास कराते थे, सीवन का चमड़े और कपड़े पर, प्लास्टिक आपरेशन मरे पशुओं पर और क्षारक और विदाहकों का उपयोग जिन्दा पशुओं पर। शरीर-रचना का ज्ञान जरूरी समझा जाता था, पर ऐसा नहीं लगता कि शवच्छेदन द्वारा उसका विधिवत् ज्ञानार्जन किया जाता था। नीचे तबके के लोगों पर प्रभाव डालने के लिए अन्धविश्वास और जादू-टोने के विचारों को भी बुद्धिमानी के साथ व्यवहार में लाया जाता था। निदान के सिद्धान्तों की कमी न थीं, पर उनका उद्भव विशुद्धतः मनमाने या परम्परागत क्रियाविज्ञान (वात, पित्त और कफ) पर ही आधारित माना जाता था, और नियमों और अनुदेशों के सारे विशद निरूपण का उपयोग यद्यपि कई पीढ़ियों तक बहुत शुद्ध बना रहा, पर उसमें तर्क और आजादी की गतिशीलता न थी इसलिए वह अनिवार्यतः कठोर हो गया और पुराना पड़कर क्षयशील हो गया।

समकालीन शल्य क्रिया

चीन

उसी लेख में चार्ल्स क्रेटन ने बताया है कि चिकित्सा और शल्य के अपने ज्ञान में चीनी भारतीयों से बहुत से पीछे थे, हालांकि बौद्ध धर्म के प्रचार का लाभ चीन ने भी प्रायः उसी समय उठाया था, जब तिब्बत ने। वे मृत व्यक्तियों का बहुत धार्मिक सम्मान करते थे और खून निकालने या सजीव प्राणियों से छेड़छाड़ में वे अनिच्छुक रहते थे, इसलिए शल्यक्रिया का विकास चीनियों में आरम्भिक मोटी-मोटी बातों के अलावा बिलकुल न हुआ। शुरू के जमाने से ही उनका क्रिया विज्ञान और शरीररचना का ज्ञान असामान्य रूप से कल्पनापूर्ण था और उनका शल्य-कर्म प्रायः सारा का सारा बाहरी दवा लगाने तक ही सीमित था। रसौली या फोड़ों का इलाज उपाड़ कर या छेद करके किया जाता था। शल्य के क्षेत्र में चीनियों की विशिष्ट खोज दर्द के क्षेत्र या सूजन में दर्द कम करने के लिए धमनी में पतली सुइयां छेदना या सख्त चांदी या सोने को

एक इंच या ज्यादा दूरी तक डालना (और उसे थोड़ा सा चुभाना)। वाइज बताते हैं कि 'सुई को उस हिस्से में कई मिनटों तक या तन्त्रिकाशूल जैसे कुछ मामलों में कई दिनों तक रहने दिया जाता है और इससे काफी लाभ होता हैं,' गठिया या पुराने वात का भी इन स्थानीय दर्दों के रूप में इस तरह इलाज किया जाता था। इसके लिए 367 जगहें बताई गई हैं, जहां बड़ी वाहिकाओं या प्राणवान् अंगों को चोट पहुंचाए बिना सुइयां डाली जा सकती हैं।

मिस्र

गाय के सींगों की बनी खून निकालने की प्यालेनुमा सिंगिया पुराने मिस्र के मकबरों में मिली हैं। स्मारकों और मन्दिरों की दीवालों पर पट्टी बांधे हुए रोगियों या सर्जनों के द्वारा आपरेशन कराने वाले रोगियों की आकृतियां भी पाई गई हैं। मिस्र की प्राचीन वस्तुओं के संग्रहालयों में छुरियां, चिमटियां, चाकू, एषणियां, कैंचियां आदि विद्यमान हैं। एबर्स ने अपने द्वारा खोजे गए पेपिरस के एक पदांश की यह व्याख्या की है कि उसका सम्बन्ध मोतियाबिन्द के आपरेशन से है। कान के लिए शल्य-यन्त्रों की आकृतियां मिली हैं और ममियों में नकली दांत भी पाए गए हैं। कुछ ममियां ऐसी भी मिली हैं, जिनमें टूटी हड्डियों को ठीक से जोड़ा गया है। हैरोडटोस ने लिखा है कि यद्यपि मिस्र का जलवायु बढ़िया है, फिर भी वहां पर बहुत से चिकित्सक हैं जो सभी विशेषज्ञ हैं। साइप्रस के दरबार में आंख के सरजन प्रेक्टिस करते थे और उनका बड़ा सम्मान होता था।

ग्रीस

संस्कृत की चिकित्सा सम्बन्धी रचनाओं के समान ही ग्रीक की पुरानी शल्य संहिताओं में भी कई पीढ़ियों तक ज्ञान और प्रवीणता के सजीव विकास की छाप मिलती है। होमर के समाज में शल्य-तन्त्र युद्धक्षेत्र का ही है और यह बड़े ही स्वल्प स्वरूप का है। एचाइल्स इस आधार पर मैचाओन को स्वस्थ पाने के लिए चिन्तित है कि बाणों को काट निकालने और मलहम लगाने में उसकी प्रवीणता किसी भी प्रकार से उस सेवा से कम महत्त्वपूर्ण सेवा नहीं है, जो कोई वीर ग्रीक सेना की कर सकता है। मैचालोन शायद एक अभ्यासी चिकित्सक हैं, जिसकी अभिरुचि मैलम्पस की भांति अश्व पुरुषों से बात-चीत करने में थी और उनसे वह कुछ परम्परागत ज्ञान प्राप्त करता था। सभ्यता की आदिम स्थिति और ग्रीक महाग्रन्थों के समय के बीच क्रमिक विकास का लम्बा समय रहा था।

हिप्पोक्रेट (पेरिकिलस का युग) के संग्रह के शल्य में सफाई से काम पूरा करने और विस्तृत ब्योरे देने का पूरा साक्ष्य मिलता है। हड्डी टूटने और उतरने संबंधी दो अध्याय आज के यन्त्र युग में भी शायद पिछड़े नहीं कहे जा सकते।

कन्धे की हड्डी उतरने के चार भेदों में से नीचे कांख में उतर जाने को ही ज्यादातर उतरने वाले एकमात्र भेद के रूप में दिया गया है। फीमर की हड्डी (ऊर्वस्थि) उतरने के ज्यादा सामान्य भेद पीछे की ओर श्रोणिफलक पृष्ठ की ओर और आगे की ओर श्रोणि-गवाक्ष प्रदेश की तरफ हड्डी के उतरने के दो ही भेद थे। कशेरुकाओं की रीढ़-शृंखला की हड्डी उतरने की भी चर्चा की गई है और उनके ऊपर विश्वास करने के खिलाफ सतर्कता बरतने को कहा गया है, जो इस चोट को रीढ़ टूटने की ही बात बताकर बढ़ा-चढ़ा कर डराना चाहेंगे। रीढ़ में मोड़ आ जाने का कारण गुलिकाएं (ट्यूबर्किल्स) बताई गई हैं, जो पोट द्वारा बताए गए निदान की पूर्व-झांकी ही है। उपचार के हर मामले में साधनों की वही बहुलता पाई जाती है, जो हिन्दू चिकित्साशास्त्र में, सबसे ज्यादा ध्यान देने की बात यह है कि ऊर्वस्थि में साधारण टूट आ जाने पर बहुत से लोग उसके छोटे पड़ जाने को अनिवार्य मानते थे। हिप्पोक्रेट के शल्यतंत्र में हड्डी टूटने और उतरने की बात पूरी-पूरी तौर पर एक अध्याय में कही गई है, उनका पूरा सिद्धान्त और व्यावहारिक कला (मूर्तिकला की भांति) का विकास शवच्छेद की मदद लिए बिना हुआ और प्रत्यक्ष ही इसका विकास मल्ल शाला के लिए उपलब्ध बढ़िया अवसरों के कारण हुआ। दूसरा सबसे ज्यादा विशद अध्याय सिर की चोटों और घावों के बारे में है, जिसमें उनकी छोटी से छोटी चोट (कांट्कूप) भी शामिल हैं। संपीडन न भी हो फिर भी आमतौर पर कपालच्छेदन का उपाय अपनाया जाता था। अन्य अंगों के अनेक घावों और चोटों को भी स्पष्ट किया गया है। फटन, बवासीर, मलाशय पोलिपी, भगन्दर, गुद-भ्रंश आदि का भी इलाज किया जाता था। रसौली का काटना या छेदना उतना ज्यादा प्रचलित नहीं था, जितना हिन्दू शल्य-क्रिया में, पथरी का शल्य भी कभी-कभी किसी विशेषज्ञ द्वारा ही किया जाता था। प्लूरा (फेंफड़े की ऊपर की झिल्ली) में पड़ने वाले पीव से भी लोग परिचित थे और पर्शुकान्तर जगह में छेद करके पीव को निकाल दिया जाता था। उनके औजारों में चिमटियां, एषणियां, निदेशिकाएं सिरींज, मलाशय वीक्षण यंत्र, मूत्र नलिकाएं और अनेक तरह के प्रदाहक शामिल थे।

अलेक्जेंड्रिया का काल

हिप्पोक्रेट के काल और अलेक्जेंड्रिया के काल (300 ई० पू०) के बीच शल्य की प्रगति बताने वाली कोई विशेष बात नहीं हुई। हैरोफिलस और एरेसिस्टेट द्वारा मानव-शरीर का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त करने के लिए अलेक्जेंड्रिया काल सुप्रसिद्ध है—सजीव छेदन के भी आरोप लगाए जाते हैं। इस आन्दोलन का मूल सारांश था निदान में यथातथ्यता (जिसमें पांडित्यपूर्ण ब्यौरे-बाजी भी कम न थी), लेकिन शरीर विक्रिया सम्बन्धी विचारों में कोई खास नई बात नहीं जोड़ी गई और न हिप्पोक्रेट के परम्परागत ज्ञान में ही कोई बात बढ़ाई गई।

'अलेक्जेंड्रिया की धारा के शल्यचिकित्सक इसलिए प्रसिद्ध हुए कि उन्होंने तरह-तरह की पट्टियों का आविष्कार किया था।' हैरोफिलस ने जिगर और तिल्ली जैसे भीतर के अंगों के ऊपर भी चाकू चलाया था जिनको वह पशु व्यवस्था में बिना मतलब की चीज मानता था।' उसने खास तरह की मूत्र नालियों द्वारा पेशाब रुकने का इलाज किया और इस इलाज के साथ बहुत समय तक उसका नाम जुड़ा रहा। कुछ विशेषज्ञ पत्थरी को निकालने का शल्य भी खूब व्यवहार में लाते थे और उनमें से एक के बारे में कहा जाता है कि वह पत्थरी को ब्लेडर में कई टुकड़ों में तोड़ देता था, जब वह बहुत बड़ी होती थी और उसे पूरा का पूरा निकाला जा सकता था। उस समय की एक पाप भरी कथा यह भी बताई जाती है कि सीरिया के राजा अलेक्जेंडर के पुत्र को पथरी का शल्य करने वालों ने इस बहाने से कि उसके ब्लेडर में पथरी है उसे जान से मार डाला था और इस अपराध को उसके रक्षक और हटाने वाले डायोडोटस ने बढ़ावा दिया था।

बड़ा केटो और कैलसस

कैलसस के ग्रन्थ डे रे मेडिका (औगस्टस का राज्य काल) में कई शताब्दियों तक उस पुरानी दुनियां में शल्य की स्थिति का ब्यौरा दिया गया है। अलेक्जेंड्रिया की चिकित्सा-पद्धति का ही यह सबसे ज्यादा अच्छा अभिलेख है। और यह बाद के रोमन युग की चिकित्सा का भी ब्यौरा माना जा सकता है। गणराज्य के बहुत से रोमनों ने ग्रीक चिकित्सा और शल्य के प्रति अपनी ईर्ष्या को व्यक्त किया था, जैसे खास तौर पर बड़े कैटो (234-149 ई० पू०) ने, जो स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार अपने राज्य में चिकित्सा किया करता था। उनके चिकित्सा सम्बन्धी विचार डे रे रस्टिका में दिए गए हैं। हड्डी उतरना कम करने के लिए वह इस मन्त्र का जाप करता था--हुवात हनात इस्ट पिस्ट सिस्ट डैमियाटो डैम-नौस्ट्रा। जिस पहले ग्रीक शल्य चिकित्सक ने अपने आपको रोम में सुस्थापित किया उसका नाम आचगिथ्स बताया जाता है, जिसे चाकू और विदाहकों के प्रयोग का इतना शौक था कि जनता ने उसे देश निकाला ही दे दिया। सिसरो के समकालीन और मित्र एस्क्लेपिआइड्स के व्यक्तित्व द्वारा ग्रीक चिकित्सा पद्धति ने रोम में स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया। इस विख्यात और प्रशंसित ग्रीक ने अपना काम ज्यादातर काय-चिकित्सा तक ही सीमित रखा, पर उसके लिए प्रसिद्ध है कि वह श्वास नली का आपरेशन किया करता था। वह उनमें से था जिनके बारे में टैरटुलियन ने यह बताया है कि 'जो जिज्ञासा के समाधान के लिए अपना ही सजीवच्छेदन कर डालते थे।' (डे एनिमा 15)

शल्य के इतिहास में दूसरा प्रसिद्ध व्यक्ति कैलसस है जो अपने ग्रन्थ 'डे रे मैडिका' के सातवें और आठवें खंडों में शल्य का ही वर्णन करता है। इनमें ब्राह्मणों की शल्य संबंधी धारणाओं और ग्रीक शल्य क्रिया के सिद्धान्तों और नियमों के अलावा कोई नई बात नहीं है। नाक, होंठ और कान का पुनरुद्धार

करने के लिए प्लास्टिक ग्रापरेशनों के ब्यौरे दिए गए है और हार्निया के उतरने का भी हाथ से चढ़ाने और ग्रापरेशन द्वारा इलाज बताया गया है। हार्निया के मामले में हार्निया के वापस लौटा देने के बाद नली में विदाहक लगाने की भी बात कही गई है। पथरी के शल्य का प्रसिद्ध ब्यौरा भी वही है, जो बहुत पहले से भारत और अलेक्जेंड्रिया में प्रचलित था। जगह जगह की पीव वाली दरारों का इलाज बताते हुए भोजन-नलिका की दरार के प्रसंग में पसली को काट देने का जिक्र किया गया है। कपालच्छेदन को भी वही प्रमुख स्थान प्राप्त था, जो ग्रीक शल्य तंत्र में।

गैलेन

गैलेन ने (जन्म 130 ईसवी) शल्य का काम ज्यादातर अपने जीवन-काल के आरम्भ में किया था और उनकी रचनाओं का यद्यपि शरीर-क्रिया-विज्ञान और रोग-सिद्धान्तों आदि के लिए बहुत महत्त्व है, तथापि उन में विशेषतः शल्य के ही महत्त्व की ज्यादा बातें नहीं मिलतीं। उनका नाम जिन आपरेशनों के साथ जुड़ा है, उनमें उरोस्थि के हिस्से को अस्थिक्षय के कारण से काट निकालना और शंखधमनी का बंध प्रमुख हैं। ओरिबेसियस ने एंटाइलस, ल्योनाइड्स रुफुस और हैलियाडोरस जैसे बड़े-बड़े सरजनों का जो लेखा-जोखा सुरक्षित रखा है, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि साम्राज्य के पूरे काल में शल्य-क्रिया का खूब अच्छी तरह चलन रहा होगा। हासर ने एंटाइलज (300 ई०) को दुनिया के बड़े सरजनों में माना है। उसने धमनी-वृद्धि का एक ग्रापरेशन किया था (धमनी को कोश के आगे-पीछे बांध कर खाली कर दिया था), मोतियाबिन्द और हकलानेका भी ग्रापरेशन किया था। अपकुंचनों का कण्डरा शल्य-क्रिया से इलाज किया था। कहा जाता है कि रुफुस और हैलियाडोरस रक्तस्राव रोकने के लिए ऐंठन को काम में लाते थे, पर परवर्ती समय में इसे और बंध को छोड़ कर वस्तुतः विदाहकों को अपनाया गया। हासर ने हैलियाडोरस के नाम से संबद्ध हार्निया के ग्रापरेशन को 'साम्राज्य में शल्य प्रवीणता का एक अद्भुत उदाहरण' बताया था। उसी सरजन ने मूत्रमार्ग के अपकुंचन का इलाज करने के लिए अंतश्छेद द्वारा इलाज किया था। ल्यौनाइड्स और एंटाइलज दोनों गरदन की ग्रन्थिल सूजन को हटाया करते थे, पिछला उनको काटने से पहले वाहिकाओं में बंध लगा देता था और उसने ग्रीवा धमनी और गलशिरा को वचाने के लिए हिदायतें दी हैं। एंटाइलस द्वारा किए गए धमनी वृद्धि के सुप्रसिद्ध ग्रापरेशन का पहले ही जिक्र किया जा चुका है। ल्योनाइड और हैलिओडोरस पल्ले को काटने का (फ्लेप एम्पुटेशन) इलाज भी करते थे। पर सम्भवतः इस युग के सबसे ज्यादा विकसित शल्य का उदाहरण लंबी हड्डियों, निचले जबड़े और ऊपरी जबड़े को शामिल करते हुए आजादी के साथ हड्डियों को काटने की प्रथा का दिया जा सकता है।

ऐजिना का पौलस

उसने (650 ईसवी) एक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें सात खण्ड हैं। इसके छठे खण्ड में शल्य आपरेशनों और चौथे में ज्यादातर शल्य वाले रोगों की चर्चा की गई है। छठे खण्ड में इस युग में उपलब्ध प्राचीन शल्य का सबसे ज्यादा पूर्ण विवरण है। बाद के लेखकों ने पौलस की बहुत नकल की है। हेली अब्बास ने अपने ग्रन्थ 'प्रेक्टिका' के नवें खण्ड में पौलस की प्रायः हर चीज की नकल की है। एलबुकेसिस (अब्लकेसि) ने अन्य अरबी लेखकों की तुलना में शल्य के बारे में बहुत कुछ मौलिक सामग्री दी है. किन्तु वह भी पूरे-पूरे अध्यायों के लिए पौलस का ऋणी है। यहां पर पौलस के शल्य पर विशद टिप्पणी देना कठिन है। उनके ग्रन्थ का छठा खण्ड एडम्स की महत्त्वपूर्ण व्याख्या के साथ प्राचीन शल्य के समग्र रूप पर अच्छा प्रकाश डालता है, पौलस के बारे में बताया जाता है कि उसने सामान्य की अपेक्षा स्थानीय निःशोषण के सिद्धान्त का समर्थन किया था और पथरी के लिए मध्य के आपरेशन की जगह पार्श्विक आपरेशन का और वह पूरे-पूरे बाहरी छेदन और सीमित भीतरी छेदन को उपयोगी समझता था और वह सम्मिलन द्वारा धमनी की वृद्धि का निदान करता था। एंटाइलस की तरह धमनी-वृद्धि के लिए आपरेशन करता था। छाती के कैंसर का उपयुक्त छेदन द्वारा इलाज करता था। वह जानुफलक की हड्डी टूटने का भी इलाज करता था।

अरबवासी

प्राचीन युग के रिक्थ को यथावत् रखने के अलावा अरब वासियों ने चिकित्सा में कोई विशिष्ट योगदान नहीं दिया। खास तौर पर शल्य के क्षेत्र में उनकी सेवाएं बहुत थोड़ी ही हैं। पहला कारण तो यही है कि उसके धर्म में शरीर-चिकित्सा का निषेध था और दूसरे उनकी जाति का यह गुण था कि होने वाली तकलीफ को शान्ति से बरदाश्त किया जाए और उसे कम करने के साधनों को न अपनाया जाए। अरब चिकित्सा के सुप्रसिद्ध नाम अविचेन्नो और अवेरोज शल्य के क्षेत्र में बिल्कुल महत्त्वहीन हैं। उनका एक विशिष्ट शल्य लेखक अबुलकासिम (मृत्यु 1122 ईसवी) था, जिसको विदाहकों और क्षारकों का वास्तविक उपयोग करने के लिए याद किया जाता है। गलगंड का आपरेशन करने से इनकार करके उसने अपने दृढ़ चरित्र का परिचय दिया था, वह श्वासनलिका को काटने के लिए कभी-कभी ही तैयार होता था और बड़े-बड़े फोड़ों को धीरे-धीरे ही साफ करता था।

अब हम सुश्रुत-लेखक और उसके नाम से प्रचलित ग्रन्थ दोनों के विस्तृत उल्लेखों को लेंगे।

सुश्रुत और दिवोदास एक ही व्यक्ति

सुश्रुत का सम्बन्ध संभवतः विश्वामित्र वंश से था। महाभारत[1] उनको उक्त राजर्षि का पुत्र बताता है। संहिता के वर्तमान पाठ में उनके बारे में जो वर्णन दिया गया है, वह इसके अनुकूल ही बैठता है। गरुड़ पुराण[2] पृथ्वी पर चिकित्सा शास्त्र के पहले व्याख्याता धन्वन्तरि की वंश परंपरा में दिवोदास को चौथा बताता हैं, जबकि सुश्रुत संहिता दोनों को एक ही व्यक्ति मानती है। पर संहिता के इस प्रत्यक्ष अपवाद का कारण बताया जा सकता है, अगर हम भारत के कुछ भागों में अच्छी तरह से पहचान करने के लिए उसके पिता के नाम को या उस वंश के किसी सुप्रसिद्ध पूर्वज का नाम अपने नाम के साथ जोड़ने की आज भी प्रचलित प्रथा को ध्यान में रखें और इसलिए यह अचम्भे की बात नहीं है कि दिवोदास (सुश्रुत के उपदेशक) जो मानसिक जन्मान्तर में दृढ़ विश्वास रखते थे अपने को धन्वन्तरि के अवतार के रूप में मानें और अपना नाम आदि सामान्य तरीके से रखें।

सुश्रुत संहिता का रचना काल

हमारे पास अब यह जानने का कोई साधन नहीं है कि सुश्रुत द्वारा मूलतः लिखित संहिता का क्या रूप था। वर्तमान संहिता तो संशोधित संस्करण या नागार्जुन[3] द्वारा संशोधित पाठों में से तैयार किया गया पाठ मात्र है। उनको

---

1. श्यामायनोऽथ गार्गश्च जाबालिः सुश्रुतस्तथा।
विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः। —महाभारत, अनुशासन पर्व; अध्याय 4
2. विश्वामित्राद्देवरातमधुच्छन्दादयः सुताः।
आयुषो नहुषस्तस्मादनेनारजिरम्भिकौ॥
क्षत्रवृद्धः क्षत्रवृद्धात् सुहोत्रश्चाभवन् नृपः।
काश्यकाशगृत्समदाः सुहोत्रादभवंस्त्रयः॥
गृत्समदाच्छौनकोऽभूत् काश्याद्दीर्घतमास्तथा।
वैद्यो धन्वन्तरिस्तस्मात् केतुमांश्च तदात्मजः।
भीमरथः केतुमतो दिवोदासस्तदात्मजः॥ —ग० पु०, अध्याय 139, श्लोक 8-11
3. यत्र यत्र परोक्षे नियोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यम्।
प्रतिसंस्कर्त्तापीह नागार्जुन एव। —सू० अध्याय 1-1 पर डल्हन की टीका।

डल्हन जेज्जड, गयदास आदि के नाम मूल संहिता के संपादकों के रूप में लेते हैं और उन पाठकों को जो संहिता के उनके संस्करण में नहीं मिलते, जाली या प्रश्नास्पद प्रमाण वाला मानते हैं। बहुत संभव है कि प्रामाणिक श्लोक वृद्ध सुश्रुत के उद्धरण हों।

[अगले पृष्ठ पर—

सभी लोग बौद्ध दर्शन की महायान शाखा के सुप्रसिद्ध प्रवर्तक के रूप में मानने को तैयार हैं और यह बात हमें सुश्रुत संहिता के वर्तमान पाठ का काल निर्धारित करने में बहुत मदद देती है। मूल संहिता में वृद्ध (पुराने) सुश्रुत के कुछ ही उद्धरण मिलते हैं।

नागार्जुन-प्रथम का काल

जिन नागार्जुन प्रथम ने सुश्रुत संहिता का पाठ तैयार किया था उनके ईसापूर्व की चौथी सदी के उत्तरार्द्ध में जीवित होने की बहुत संभावना[1] है। वृद्ध सुश्रुत मूल रूप में इससे कम से कम दो सदी पहले जरूर लिखा गया होगा, ताकि प्राचीनता के कारण प्रसिद्धि प्राप्त कर सके और इसी कारण उसका प्रामाणिक पाठ तैयार करने की जरूरत उस समय समझी गई होगी। कई विद्वान् डल्हन की टीका संहिता के पाठ के बारे में एक बहुत अस्पष्ट और सामान्य कथन के प्रमाण पर 'उत्तर तन्त्रम्' (संहिता के उत्तरार्द्ध) का लेखक नागार्जुन को मानते हैं। पर हम बहुत से लोग उत्तरार्द्ध को न तो क्षेपक मानते हैं और न बाद में जोड़ा गया, बल्कि यह मूलतः लिखित ग्रन्थ का अंगभूत हिस्सा था, भले ही इसकी योजना ऋषि ने न बनाई हो। सूत्रस्थान के पहले अध्याय में दिवोदास आयुर्वेद शास्त्र को औपचारिक रूप में आठ उपखण्डों में बांटते हैं, जैसे शल्य (चीरफाड़) शालाक्य (आंख आदि हंसली से ऊपर के हिस्सों का इलाज), काय चिकित्सा (ज्वर आदि शरीर के साधारण रोग) आदि, पर वह ग्रन्थ के पहले पांच स्थानों (खण्डों में) उनके बारे में कुछ नहीं कहते। सूत्रस्थानम् के पचीसवें

--पिछले पृष्ठ से]

प्रतिसंस्कार (संपादन) प्रायः इस रूप में मिलता है कि असाधारण रूप से विशद विवरणों को हटा दिया गया है और ऐसी बातों के लम्बे विवरणों को भी, जिनको मूल पाठ में संक्षिप्त सम्मिलित रूप में निपटाया गया है। प्रतिसंस्कर्ता पुरानी पुस्तक को फिर से नया बना देता है।

संक्षिपत्यतिविस्तीर्णं लेशोक्तं विस्तृणाति च।
संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणञ्च पुनर्नवम्॥

दूसरी ओर संहिता में मूल सूत्रों को, जो शायद वेद में निबद्ध हैं, लिया जाता है।

वेदवाक्यनिबद्धत्वात् संहितास्ताः प्रकीर्त्तिताः।

1. तदा भगवतः शाक्यसिंहस्य परनिर्वृतेः।
अस्मिन्महीलोकधातौ सार्द्धं वर्षशतं ह्यगात॥
बोधिसत्त्वश्च देशेस्मिन्नेको भूमीश्वरोऽभवत्।
स च नागार्जुनः श्रीमान्॥ —रा० त०, तरंग 1. श्लोक, 172-173

अध्याय में एक बार ही वह शल्य आपरेशनों का वर्गीकरण करते हुए नेत्रवर्त्म (पलकों की बीमारियों) का नाम लेते हैं। यह असंभव है कि यथोद्देश अपने वचन के अनुसार आयुर्वेद के सभी उपखण्डों के बारे में उपदेश न देकर दिवोदास अपने कर्तव्य का निर्वाह न करेंगे या सुश्रुत अपनी संहिता में से, जो मुख्यतः शल्य का ग्रन्थ है, आंख के शल्य, कंठ (स्वरयन्त्र) के शल्य और ज्वर चिकित्सा की बात को बिल्कुल ही निकाल देंगे। ग्रन्थ की सामान्य योजना के आधार पर हम सकारण यह मान सकते हैं कि अपनी संहिता के पहले पांच स्थानों में आधुनिक प्रगतिशील पुस्तकों की तरह सुश्रुत ने आसान और ज्यादा प्रारम्भिक विषयों को लिया और ज्यादा आगे की प्रवीणता और ज्ञान की अपेक्षा करने वाले विषयों को उत्तरतंत्र के लिए सुरक्षित रखा। उत्तरतन्त्र को संहिता के पहले पांच स्थानों में शामिल नहीं किया गया है, क्योंकि उसमें ऐसे विषयों का विशद वर्णन है जिनका वहां प्रासंगिक वर्णन ही किया गया हैं। इसलिए यह मूलतः निर्धारित स्थानों (खण्डों) की जरूरतों के अनुसार ही एक परिशिष्ट या पूरक के रूप में हैं। यह सम्भव है कि नागार्जुन ने अन्य हिस्सों की तरह संहिता के इस हिस्से का भी प्रतिसंस्कृत (सम्पादित) पाठ तैयार किया हो।

पश्चिम के विद्वानों का बहुमत नागार्जुन को तीसरी सदी ईसवी की पहली तिमाही में रखने के पक्ष में है[1] और सुश्रुत को शाक्य सिंह बुद्ध का समकालीन मानते हैं। तर्क दिया जाता है कि शाक्य मुनि से तत्काल पहले का युग हिन्दू विचार-धारा में अवनति का युग था और सुश्रुत संहिता पुनर्जागृत बौद्धिक कार्यकलाप का प्रतिफल रही होगी जो नए मत के आरम्भ के युग में चल निकलता है। यह एक ऐसा अनुमान है, जो हिन्दू चिकित्सा-प्रणाली पर ग्रीक प्रभाव की प्रकल्पना के अनुकूल पड़ता है। लेकिन बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व भारत की महानता से इनकार नहीं किया जा सकता। सच कहा जाए तो बुद्ध से तत्काल पूर्व का युग अवनति का युग न था, दूसरी ओर बुद्ध धर्म के पतन के बाद के युग में अवनति के वास्तविक चिह्न देखने को मिलते हैं। भारत में महान् बुद्ध के प्रायः समकाल ही में बड़े-बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक विद्यमान थे। ऊपर महाभारत और गरुड़पुराण से जो तिथि क्रम सम्बन्धी तथ्य इकट्ठे किए गए हैं, वे यह सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किए जा सकते थे कि सुश्रुत का काल महाभारत से पहले का था, पर संहिता में इसकी रचना के काल के बारे में एक ऐसा अन्तःसाक्ष्य है, जो इसके विरुद्ध जाता है और जिसका आगे-चलकर यथावसर उल्लेख किया जाएगा।

---

1. बाएल का 'बुद्धिस्टिक रिकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड,' स्टीन की राजतरंगिणी। जिल्द 2, पृष्ठ 212

सुश्रुत का नामोल्लेख कात्यायन (चौथी सदी ई० पू०) के वार्तिकों[1] में किया गया है और यह कहने में किसी को संकोच नहीं हो सकता कि मूल संहिता बुद्ध के जन्म से कम से कम दो सदी पहले लिखी गई होगी। दूसरी ओर यह आसानी से माना जा सकता है कि नागार्जुन ने संहिता का अंतिम प्रतिसंस्करण दूसरी सदी ई० पू० के आस पास तैयार किया होगा।

दो नागार्जुन

डल्हन (सुश्रुत संहिता के सुप्रसिद्ध टीकाकार) के प्रमाण पर कई विद्वान् यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि नागार्जुन (इस संहिता का प्रतिसंस्कर्ता) और उनके ही नाम वाले आठवीं सदी के प्रसिद्ध कीमियागर नागार्जुन-द्वितीय एक ही व्यक्ति थे।[2] सुश्रुत संहिता के अनेक श्लोक वाग्भट के ग्रन्थ (अष्टांगहृदय और माधव निदान) में आते हैं। और ये दोनों ग्रन्थ आठवीं सदी के क्रम प्राप्त ख़लीफा ने[3] अनूदित कराए थे। पुस्तक के अन्तःसाक्ष्यों से हमें ऐसी कोई प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं होती, जिससे हम शल्य के जनक सुश्रुत की जीवनी पर कुछ प्रकाश डाल सकें।

अन्तःसाक्ष्य

संहिता की वह पंक्ति, जो उसके संभावित रचनाकाल पर प्रकाश डालने के कारण विद्वानों में चर्चा का विषय बनी सूत्रस्थान में भ्रूण के विकास के प्रसंग में आती है और इस तरह है: 'सुभूति गौतम ने कहा कि पहले धड़ विकसित होता है'।

यह निश्चित इतिहास की बात है कि सुभूति शाक्यसिंह बुद्ध के एक निजी शिष्य थे और समकालीन बौद्धों के बीच यह प्रथा थी कि दुनियां में उस मत को स्वीकार करने वालों की बुद्धि और पुनीतता को बढ़ाकर जताने के लिए उसके नामके आगे उनके स्वामी[4] (गोतम या बोधिसत्त्व) का नाम जोड़ दिया जाता

---

1. सुश्रुतेन प्रोक्तं सौश्रुतं। —पाणिनि व्याकरण पर कात्यायन का वार्तिक
2. नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनं।
तस्यार्थस्य स्मृतयेवमेतद्विशदाक्षरैर्ब्रूमः। चक्र०—रसायनाधिकार
3. हिन्दू कैमिस्ट्री में पी० सी० राय ने नागार्जुन का काल दसवीं सदी बताया है पर उनके संशोधित संस्करण में पी० रे (1756) ने उनको आठवीं सदी ईसवी में रखा है।
4. नागार्जुन बोधिसत्व को औषध तैयार कराने की कला खूब आती थी। नागार्जुन बोधिसत्व सभी बड़े पत्थरों को एक दिव्य और श्रेष्ठ क्वाथ में भिगोकर उनको सोना बना देते थे। बाएल का 'बुद्धिस्टिक रिकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड', जिल्द 2

[अगले पृष्ठ पर—

था। विद्वानों का एक वर्ग इस तर्क-परंपरा को देने का अनथक प्रयत्न करता रहा है कि संहिता ज्यादा से ज्यादा प्रारंभिक बुद्धधर्म की एक समकालीन कृति थी। किन्तु ये लोग शौनक आदि द्वारा पुस्तक के उसी अंग में प्रकट किए गए विचारों की ओर से अपनी आखें मूंद लेते हैं, जो इसकी रचना तिथि को कम से कम कई सदी पहले पहुँचा देते हैं। शौनक अमर व्यास की शिष्य-परंपरा में छठे थे, अथर्वन् की सुप्रसिद्ध शौनक संहिता के रचयिता थे। ये तथ्य हमारी प्रकल्पना को काफी संभव बना देते हैं कि मूल सुश्रुत सहिता की रचना पहले पहल शौनक आदि वैदिक भ्रूणवेत्ताओं के समय में हुई थी जबकि नागार्जुन ने इस ग्रन्थ का प्रतिसंस्कार करते समय और किसी प्रयोजन से नहीं तो कम से कम अपने रामकालीन सुभूति को वैदिक ऋषि का दरजा देने के लिए उनका विचार उद्धृत किया था।

सुश्रुत और हिप्पोक्रेट्स

संहिता और हिप्पोक्रेट्स के सूत्रों में बड़ी ही आभासी समानता देखकर सहसा कोई यही निष्कर्ष निकालेगा कि इलाज की कला में भारत वासियों ने ग्रीक चिकित्सा ग्रन्थों से प्रेरणा ली थी। पर इसके विपरीत बात ग्रीकों के संबध में भी कही जा सकती है, क्योंकि ऐसी धारणा का समर्थन ऐतिहासिक तथ्यों से होता है और पश्चिम के विद्वानों के अनुसंधान से भी इसकी पुष्टि होती है।[1] सभी उपलब्ध ब्यौरों के अनुसार ग्रीकों में और साधारणतः सभी हैलेनिक लोगों में इलाज की कला की नींव पैथागोरस ने डाली थी।[2] इस महान् दार्शनिक ने अपने रहस्य और अध्यात्म का ज्ञान भारत के ब्राह्मणों से प्राप्त किया था। पौकोक ने अपने ग्रन्थ 'इंडिया इन ग्रीस' में इसकी पहचान बुद्धागुरुस या बुद्ध से की है और यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि वह अपने गुरु के आयुर्वेद के बहुत से नुसखे और सूत्र अपने साथ ले गया था। पैथेगोरस की पवित्र फली भारतीय नीलम्बियम् (नीलोत्पल) बताई जाती है।[3] हम जानते हैं कि बौद्ध धर्म के आविर्भाव के साथ-साथ बौद्ध श्रमणों को ग्रीस, एशिया माइनर, मिस्र

—पिछले पृष्ठ से]

प्रजापतिष्ट्वाबध्नात् प्रथममस्तृतं वीर्य्यायकम्।
तं ते बध्नाम्यायुषे ओजसे च बलाय चास्तृत्वाभिरक्षतु ॥

—अनुवाक् 19.45. 46. 5

1. यह मानने का कोई कारण नहीं है कि सुश्रुत ने अपनी चिकित्सा पद्धति को ग्रीकों से उधार लिया था। दूसरी ओर इसके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है।
—वेबर का हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर
2. दि ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ दि हीलिंग आर्ट —बेडरो, पृष्ठ 162
3. फ्लावरिंग प्लांट्स, जिल्द 1। प्राट, पृष्ठ 57

और दूसरे सुदूर देशों में उनके नए धर्म का उपदेश देने के लिए भेजा गया था। ग्रीक उनको जानते थे और यह सकारण माना जा सकता है कि ग्रीक 'सिमनोई' (आदरणीय) बौद्ध 'श्रमणों'[1] के अलावा और कोई न थे। आज भी एक धर्म प्रचारक अपने धर्म का उपदेश देने के साथ-साथ सामान्यतः अपने देश के विज्ञान को भी सिखाता है बुद्ध धर्म के दूर स्थित मठ उन सुदूर देशों में ब्राह्मण संस्कृति का प्रचार करने के प्रमुख केन्द्र थे और हिप्पोक्रेट्स ने यद्यपि कल्पनात्मक दर्शन से चिकित्साशास्त्र को मुक्ति दिलाने के लिए भरसक सब कुछ किया। तथापि उसने आयुर्वेद के उन्हीं तथ्यों को रखना जरूरी समझा होगा, जिनका उस देश में आयात पैथागोरस और बौद्ध प्रचारकों ने किया था और जिनका वस्तुतः विशुद्ध अध्यात्म के क्षेत्र से सम्बन्ध न था। वस्तुतः विभिन्न नागरिकताओं वाले मनुष्यों के लिए स्वतन्त्र रूप से उन्हीं सत्यों या निष्कर्षों तक पहुँचना बिलकुल संभव है। विज्ञान में भी कला या दर्शन की ही भांति एक साथ के संपात देखने को मिलते हैं। हम यह बताना चाहेंगे कि चरक और सुश्रुत संहिता के उपदेश अरबी, फारसी और लेटिन अनुवादों के जरिए समग्र संस्कृत देशों तक प्रसारित हो गए।[2]

सुश्रुत एक सरजन के रूप में

सुश्रुत मुख्यतः एक सरजन थे और सुश्रुत संहिता ही एकमात्र ऐसी परिपूर्ण पुस्तक है जो व्यावहारिक शल्य और कौमारभृत्य (मिडवाइफरी) को लेती है। सुश्रुत के साथी छात्रों द्वारा लिखी गई बाकी सभी संहिताएं या तो खो गई हैं या अपूर्ण रूप से परिरक्षित हैं। क्षुरिका या चिमटियों का उपयोग करने का श्रेय सुश्रुत को ही दिया जाता है। सुश्रुत से पूर्व के समय के आयुर्वेद का

---

1. ये सिमनोई (आदरणीय), जिनके बारे में एलेक्जेंड्रिया के क्लीमेंट ने देवताओं के अवशेष वाले पिरामिड की पूजा करने का उल्लेख किया है, बौद्ध अर्हत् (आदरणीय) श्रमण थे। —ललित विस्तरम्, राजेन्द्र लालमित्र का संस्करण, अध्याय 1
2. (क) चरक और सुश्रुत के महान् ग्रन्थों का अनुवाद खलीफा अलमनसूर की संरक्षकता में सातवीं सदी में किया गया था। सुश्रुत के अरबी रूपान्तर का नाम है—केलले शवशुरे-अल-हिन्दी। ये अनुवाद फिर लेटिन में अनूदित किए गए। लेटिन रूपांतर ही यूरोपीय चिकित्सा का आधार बना, जो सत्रहवीं सदी तक पूर्वी चिकित्सा शास्त्र का ऋणी बना रहा है।
—'हिस्ट्री आफ दि एयंन मेडिकल साइन्स' ठाकुर साहेब गोंडल पृष्ठ 196
(ख) चिकित्सा की अरबी शाखा पर भारतीय मूल लेखकों के ऋण के लिए देखिए पुशमान, पृष्ठ 162।
(ग) वेडरो, जिल्द 4, अध्याय दो, 286-299

इतिहास यहां पर संक्षेप में देना अप्रासंगिक न होगा। इससे कम से कम सुश्रुत द्वारा चिकित्साशास्त्र के हर क्षेत्र में शुरू किए गए सुधारों पर समुचित प्रकाश डालना संभव हो सकेगा।

हम जेज्जड आचार्य, गय दास, भास्कर, माधव, ब्रह्मदेव और चक्रपाणिदत्त के बड़े ऋणी हैं, जो सुश्रुत संहिता के सुप्रसिद्ध टीकाकार और प्रवर्तक हैं, और जिन्होंने इस संहिता को अमूल्य ज्ञान और अनुभव का कोश बनाने के लिए बहुत ही श्रम किया है। सुश्रुत संहिता के पाठ का प्रतिसंस्कार और संकलन करने में डल्हन ने इन सभी टीकाओं का लाभ उठाया था।

आयुर्वेद का इतिहास और उदय

चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में, जैसा कि अध्ययन के दूसरे सभी क्षेत्रों में भी होता है, प्राचीन आर्यों का यह दावा रहा है कि उनको अपना ज्ञान सीधे-सीधे प्रकट होकर मिला है। सुश्रुत ने अपनी संहिता में आयुर्वेद को अथर्ववेद का एक उपांग माना है। दूसरे लोगों के अनुसार आयुर्वेद का उदय ऋक् संहिता से हुआ है। शायद निम्न पशुओं का उदाहरण अपनाकर हमारे प्राच्य पूर्वजों ने बहुत सी जड़ी बूटियों के गुणों के बारे में अकस्मात् अपना ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ऋग्वेद[1] में एक मन्त्र में कहा गया है कि खाद्य और औषधियों के चुनाव में ये निम्न पशु मानव के पथ-प्रदर्शक थे। अथर्ववेद[2] ने भी इसी बात पर जोर दिया है। स्वास्थ्य रक्षा और इलाज के क्षेत्र में व्यक्तिगत अनुभवों को इकट्ठा किया गया और उनको संहिताबद्ध किया गया और वे वर्तमान आयुर्वेद के आधार बने। वेदों के मन्त्रों में चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान की प्रगति के प्रत्येक कदम का जिक्र किया गया है। कई जड़ी बूटियों के गुणों का वर्णन वैदिक सूक्तों में किया गया है।

त्रुटियों का निराकरण

चिकित्सा स्वास्थ्य रक्षा और शल्य आदि से सम्बन्धित श्लोक चारों वेदों में मिलते हैं। विशुद्ध चिकित्सा से सम्बन्धित श्लोक ज्यादातर ऋग्वेद में मिलते हैं और शायद इसी कारण चिकित्सक अग्निवेश ने आयुर्वेद का जन्म ऋग्वेद के रहस्य-ज्ञान से जोड़ा है। शल्य की कला और प्रेक्टिस से सम्बंधित अनुदेश

---

1. उतो स मह्यमिन्दुभिः षड्युक्तां अनुसेषिधत्।
गोभिर्यवं न चर्कृषत् ॥ —ऋ० 1. 23. 15
2. वराहो वेद वीरूधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ —अथर्व० 8. 7. 23

ज्यादातर अथर्वन्[1] में मिलते हैं, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सुश्रुत ने स्वयं मुख्यतः एक शल्य चिकित्सक होने के नाते आयुर्वेद को अथर्ववेद का एक उपांग माना था।

चिकित्सकों के भेद

प्राचीन मिस्र की भांति ही वैदिक भारत में चिकित्सा की कला के अनुयायी श्रम के विभाजन की उपयोगिता को समझते थे। शल्य वैद्य (सरजन) भी होते थे और भिषक् (फिजीशियन) भी और भिषगथर्वन् (पुजारी-चिकित्सक) भी। हम देखते हैं कि महा भारत के समय, जो लगभग सुश्रुत के समय तक ही आ जाता है, इन वर्गों की संख्या पांच तक पहुंच गई थी, जिनके नाम थे: रोगहर (फिजीशियन), शल्यहर (सरजन), विषहर, (जहर का इलाज करने वाले,) कृत्याहर (भूत-वैद्य) और भिषगथर्वन् (पुजारी-वैद्य)।[2]

वैदिक युग में (सुश्रुत के युग से पहले) वैद्यों को रोगियों को पुकारते हुए खुली गलियों में जाना होता था[3]। वे जड़ी बूटियों के उद्यानों से घिरे हुए मकानों में रहते थे। ऋग्वेद[4] एक हजार एक औषधियों के नाम लेता है। सब रोगों को दूर करने वाले जल की प्रशंसा करने वाले मन्त्र और वातावरण को शुद्ध करने वाले कुछ पेड़-पौधों सम्बन्धी मन्त्र वेदों में आमतौर पर मिलते हैं। वस्तुतः भ्रूणशास्त्र, कौमारभृत्य, शिशुपालन (शिशु रोग) और स्वच्छता के नियम वेदों और ब्राह्मणों के युग में ही सुनिश्चित कर दिए गए थे और जैसा हम अब देखेंगे इस थोड़ी सी सामग्री से सुश्रुत ने किस तरह एक विज्ञान और एक संहिता को जन्म दिया जो मानव प्रगति के हजारों साल बाद भी आज दुनिया में प्रशंसा का पात्र बनी हुई है।

आयुर्वेदिक शल्य का उद्भव

भारत में अन्य शास्त्रों की तरह चिकित्सा और शल्य का जन्म भी यज्ञ के चतुर्दिक् ही हुआ। भारत में चिकित्सा जानने वाला पहला व्यक्ति एक

---

1. बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या। —अथर्व० 2. 8 .3.
प्रते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ —अथर्व० 1. 3. 7
वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्॥ —अथर्व० 1. 11. 5
2. म० भा० शान्तिपर्व (राजधर्मानुशासन पर्वाध्याय)।
3. तक्षा रिष्टं रुतं भिषक्॥ —ऋ० 9. 112. 1
4. शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः। —ऋ० 10. 97. 2
शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्ठे अस्तु। —ऋ० 1. 24. 9

ऋत्विग्-भिषग् या शल्य-वैद्य भिषगथर्वन् ही था, जिसका स्थान समाज में व्यावसायिक शल्य-वैद्य से ऊंचा था। ऋग्वेद में हमें पढ़ने को मिलता है कि टांगें काट दी जाती थीं और उनके स्थान पर लोहे के स्थानापन्नों का उपयोग किया जाता था[1]। चोट खाई हुई आंख को निकाल दिया जाता था और आर्यवीरों के अंगों से बाणों को निकाला जाता था। यही नहीं, यह मानने का भी कारण है कि बहुत से कठिन शल्य-कर्म भी सफलतापूर्वक किए जाते थे, यद्यपि उनमें से कुछ अविश्वसनीय मालूम पड़ते हैं। फिर भी यद्यपि शल्य की सदा सहायता ली जाती थी, कुछ लोगों की यह कल्पना है कि वैदिक युग के ब्राह्मण समाज में शल्य-वैद्य घुलमिल नहीं सकते थे। यह संकेत उन स्थलों पर दिया गया है जहां बताया गया है कि देवासुर संग्राम स्वर्ग के शल्य-वैद्य अश्विनी कुमार तब तक किसी भी हक में अंश पाने के अधिकारी न रहे, जब तक उन्होंने यज्ञ पुरुष के सिर को उनके कटे हुए धड़ से जोड़कर अपने को उस द्रव्य का अधिकारी सिद्ध नहीं कर दिया। आयुर्वेद के शल्य की प्रगति का इतिहास काफी लंबा और रोचक है, पर यहां पर यही बताना काफी होगा कि शांति लौटने पर छोटे-छोटी आर्य बस्तियां संख्या और समृद्धि में बढ़ गईं। और अब समृद्ध आर्य श्रेष्ठजन भव्य रथों में निकलने लगे और लगातार दुर्घटनाओं के होने के कारण शल्य-वैद्यों के एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ, जो लगातार घायल पशुओं की चिकित्सा में ही तल्लीन रहता था। अब शल्य-वैद्यों की मांग शिविरों या युद्ध क्षेत्रों में न थी और अब श्रेष्ठजनों के महलों में प्रसव के समय धनी महिलाओं द्वारा उनकी मांग की जाती थी और जो भिषगथर्वन् ज्वर कम कर सकता था और प्रेम का काढ़ा बना सकता था, वही उनमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता था[2]।

सुश्रुत के शल्य का क्षेत्र और स्वरूप

सुश्रुत संहिता में ही पहली बार हमें पुराने शल्य-वैद्यों के शल्य-अनुभवों को यथाक्रम लेखबद्ध और विस्तृत वैदिक साहित्य में बिखरे हुए इस विज्ञान के संग्रह के रूप में देखने का अवसर मिलता है। सुश्रुत की इच्छा वेद को छोड़कर स्वतन्त्र विज्ञान स्थापित करने की कदापि न थी। शल्य के स्थूल तरीके और छेदने के स्थूल औजार जैसे कांच के टुकड़े, बांस की खपच्ची आदि जिनका संहिता

---

1. हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादा। —ऋ० 1. 163. 9
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्। — ऋ० 1. 116. 15
शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं। तं पितान्धं चकार।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् —ऋ० 1. 116. 16
2. इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविंदते पतिम्॥ —ऋ० 10. 145. 1

में वर्णन है, पुराने औजारों के अवशेष हैं, जिनका उपयोग हमारे अत्यन्त प्राचीन पूर्वज किया करते थे। व्यावहारिक शल्य शरीर के व्यावहारिक ज्ञान की अपेक्षा करता है। यज्ञ ही शारीर ज्ञान की प्रयोगशाला बन गया। यज्ञ में बलि के लिए इकट्ठे किए गए पशु तुलनात्मक शारीर ज्ञान के लिए श्रेष्ठ सामग्री प्रदान करते थे।[1] सुश्रुत ने अपना सारा जीवन विशुद्ध शल्य शास्त्र को अर्पित किया। पहले पहल उन्होंने शल्य आपरेशनों को आठ विभिन्न वर्गों में बांटा और उन्हें इन समूहों के अंतर्गत रखा : आहार्य (ठोस देह का निकालना), भेद्य (भेदना), छेद्य (छेदना) और विस्राव्य (द्रव निकालना)[2]। सुश्रुत के शल्य-शास्त्र में 125 विभिन्न शल्य-औजारों के नाम दिए गए हैं, जिनका निर्माण पशु-पक्षियों के आकार पर होता था और वह शल्य-वैद्यों को हर अवसर के अनुसार नए औजार गढ़ लेने की भी अनुमति देते हैं। शल्य वैद्यों की योग्यताएं और साजसामान व्यवहारतः वही थे जो आज जरूरी होते हैं। शल्य आपरेशन से पहले रोगी को हलका भोजन देने को कहा गया है, बल्कि पेट और मुंह के आपरेशन उस समय करने को कहा गया है, जब रोगी उपवास कर रहा हो। सुश्रुत संहिता में बताया गया है कि रोगी के कमरे में सफेद सरसों, राल, नीम की पत्तियों और साल वृक्ष आदि के गोंद का धुंआ करना चाहिए, जिसे आज की एंटीसेप्टिक (बैसिली) सिद्धान्त की भविष्यवाणी कहा जा सकता है। हम सुश्रुत में देखते हैं कि आंख गर्भाशय और दूसरे आपरेशन बड़ी ही प्रवीणता और सतर्कता के साथ सम्पन्न किए जाते थे।

प्लास्टिक और कान की प्लास्टिक सर्जरी

बर्लिन के डाक्टर हिर्शबर्ग का कहना है कि 'यूरोप की समग्र प्लास्टिक सर्जरी ने भारत के थे चातुरीपूर्ण तरीके जानने के बाद एक नई उड़ान भरी।' संवेदनशील खाल के पल्लों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लगाना भी पूर्णतः भारतीय पद्धति है। (सुश्रुत, सूत्र अध्याय 16)। सुश्रुत ने ही पहली बार कटे हुए कान को गरदन या पास की जगह से खाल उपाटकर ठीक करने की संभावना का प्रदर्शन किया।

मोतियाबिंद को दबाने की कला का आविष्कार करने का श्रेय भी सुश्रुत को दिया जाता है। इसका ज्ञान प्राचीन ग्रीस और मिस्र के शल्य-चिकित्सकों को न था। अंग काट दिए जाते थे, पेट का आपरेशन होता था, टूटी और उतरी

---

1. देखिए ऐ० ब्रा० 1. 12; 2. 12; 3. 37
2. और देखिए चरक,

पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा।
प्रोंछनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म यत् ॥

हड्डियां बैठाई जाती थीं, हार्निया और फटन को कम किया जाता था, बवासीर के मस्सों और भगन्दर को दूर किया जाता था और यह कहने में हमें गर्व का अनुभव होता है कि सुश्रुत संहिता में बताए गए तरीके कभी-कभी आज के सरजनों द्वारा अपनाए गए तरीकों से भी ज्यादा कारगर सिद्ध होते थे। आंतों के चोटिल हो जाने पर सुश्रुत की सलाह है कि 'निकले हुए भाग की अंगुली को धीरे-धीरे चलाते हुए यथावस्थित कर देना चाहिए। जरूरी हो, तो शल्यवैद्य इस घाव को चाकू से बढ़ा दे। आंत टूट गई हो तो टूटे हुए टुकड़ों के छोरों पर जिन्दा चींटे लगाकर जोड़ देने चाहिए। फिर उनकी देह काट देनी चाहिए और केवल सिर वह काम करने के लिए लगा रहने दिया जाना चाहिए, जो काम आज के सुधरे हुए यूरोपीय शल्य में तांत जैसे पशु ऊतकों से पूरा करने की उम्मीद की जाती है। यह करने के बाद आंतों को उदर गुहा में अच्छी तरह रख देना चाहिए और बाहरी खुले भाग को सीकर अच्छी तरह रख देना चाहिए। हम यहां पर सुश्रुत द्वारा पेट या उदर्या घावों के बारे में बताए गए विभिन्न तरीकों का लंबा ब्यौरा नहीं दे रहे हैं। हम पाठकों से यही कहते हैं कि सुश्रुत संहिता के इस अध्याय (चिकित्सा स्थान-दो) की तुलना प्राचीन यूरोपीय शल्य शास्त्र के किसी ग्रन्थ के इसी विषय के अध्याय से कर के देख लें।[1] घायल सिपाहियों के अंगों में घुसे हुए बाणों के टुकड़ों का स्थान-निश्चय करने के लिए कुछ औषधीय प्रलेपों का उपयोग किया जाता था और ऐसे प्रलेप के कारण आई सूजन से बड़े ही ठीक रूप में उनके स्थान का निर्णय कर लिया जाता था और यह तरीका रौंटजेन किरणों के इस युग में कभी-कभी ज्यादा पसंद किया जाएगा।

पथरी का आपरेशन

इन मामलों में उपजंघिका छेदन करने और आपरेशन के बाद रोगी की देखभाल और सामान्य व्यवस्था के लिए विस्तृत हिदायतें दी गई हैं। शुक्राश्मरी के मामले में जिसके बनने और अस्तित्व का पता अंग्रेज विकृति वैज्ञानिकों को अभी हाल में ही चला है, सुश्रुत का कहना कि यह पथरी अगर मूत्र मार्ग में हो तो उसे अनुवासनम् और मूत्र मार्ग वस्ति द्वारा निकालना चाहिए पर यदि इसमें सफलता न मिले, तो शिश्न को काटकर खोलना चाहिए और संग्रन्थन को एक हुक की मदद से निकालना चाहिए। वैद्यक शब्दसिन्धु की अपनी भूमिका में कविराज उमेशचन्द्र गुप्त का कहना है कि उन्होंने और डा० दुर्गादास गुप्त ने पथरी के आपरेशनों और औजारों द्वारा प्रसव संबंधी अध्यायों का अनुवाद मेडिकल कालेज, कलकत्ता के तत्कालीन प्रिंसिपल डा० चार्ल्स को दिखाने के लिए किया। डा० चार्ल्स ने कठिन मामलों में प्रसव कराने की प्रक्रिया की बड़ी प्रशंसा की और

---

1. देखिए एफ० सी० टिटजेल का लेख 'हियरेडिटी एंड सम आफ इट्स सर्जिकल एसपेक्ट्स' दि मेडिकल एडवान्स, जिल्द 64, जून 1906, पृष्ठ, 357

माना कि मिडवाइफरी और सर्जरी के अपने इतने सारे अनुभव के बावजूद उनको ध्यान नहीं कि ऐसी कोई बात उनके द्वारा पढ़े गए किसी भी चिकित्सा ग्रन्थ में कभी उनके देखने में आई हो।

विच्छेदन

विच्छेदन या अंगविच्छेदन आजादी से किए जाते थे और संवेदनाहरण के रूप में रोगियों को औषधों वाली मदिरा दे दी जाती थी।[1] यह स्पष्ट कर देता है कि सुश्रुत का शल्य केवल किसी फोड़े या खोलने या अकस्मात् हुए घाव को चंगा करने तक ही सीमित न था। बल्कि उसमें बड़े-बड़े आपरेशनों के करने की प्रक्रिया भी दी गई है। घाव के चिन्ह को तब तक मिटाने जब तक वह आस-पास की खाल के रंग का ही न हो जाए और उस पर बाल उगाने की बात और कहीं नहीं मिलती।

आंख का शल्यकर्म

आंखों की बीमारियों के छिहत्तर भेदों में सुश्रुत के विचार से इक्यावन का संबंध शल्य से है (उत्तर तन्त्र अध्याय आठ)। हर मामले में किए जाने वाले आपरेशन का तरीका संहिता में विशद रूप से बताया गया है और अधिकांश मामलों में आँख की चिकित्सा के आधुनिक तरीकों की तुलना में बुरा नहीं कहा जा सकता। सुश्रुत को पता था कि परावर्तन कोण आपतन कोण के बराबर होता है और दृष्टिपटल पर पड़ने वाली किरण ही आंख और बाहरी दुनिया दोनों को चमकाने का काम करती है और स्वतः प्रकाश के संवेदन में बदल जाती है।

धात्री विद्या

व्यावहारिक धात्रीविद्या के क्षेत्र में पाठक पर सुश्रुत की महानता का बड़ा ही असर पड़ता है। विभिन्न उलट फेर, आकुंचन, सरकने की गतियां, कठिन प्रसूति मामलों में चिमटियों का प्रयोग और दूसरे प्रसूति आपरेशन जिनमें कपालछेदन आदि द्वारा बच्चे को नष्ट करना या अंग-भंग शामिल थे, सुश्रुत संहिता में पहली बार क्रमबद्ध रूप में वर्णित किए गए और यह भी तब जब दूसरे देश चपती और चिमटियों का स्वप्न भी नहीं देख पाए थे। सुश्रुत बाधा के आशारहित मामलों में औजारों से आपरेशन करने की बात करते हैं और स्पष्ट कर देते हैं कि औजार का प्रयोग उन्हीं मामलों में करना चाहिए, जिनमें बच्चे और पातमार्ग का अनुपात इतना त्रुटिपूर्ण है कि औषधों के प्रलेप और धूम्रां

1. शल्य के प्रयोजन से सम्मोहिनी (या सवेदनाहरणों) के प्रयोग के बारे में बल्लाल पंडित के भोजप्रबन्ध को देखिए।

देने आदि से स्वाभाविक प्रसव नहीं कराया जा सकता। सूतिकावस्था और चुनाव आदि के बारे में उन्होंने जो हिदायतें दी हैं, वे वही हैं, जो आज के लेखकों के आधुनिक वैज्ञानिक ग्रन्थों में देखने को मिलती हैं। उस पुराने जमाने में शायद अस्पताल न थे, जो रोगियों को उसी कमरे में इकट्ठे रख दिया जाता और इससे नकलो रूप से पूति-विष पैदा हो जाते, जैसा अब इन विश्राम के कमरों में इतना सामान्य और घातक हो गया है। हर व्यक्ति के लिए नया बना विश्राम कक्ष, जो खुली जगह में धूप और जलती हुई आग की व्यवस्था से अच्छी तरह पूर्ण हो, और गर्भनाल काटने के लिए बांस की चपती का उपयोग ऐसे सुझाव हैं, जिनका महत्व हमें अब भी स्वीकार करना होगा।

शवच्छेदन

सुश्रुत स्वयं एक व्यवहारिक शल्य-वेता थे और शल्य के सफल छात्र के लिए उन्होंने शवच्छेद का अनिवार्य रूप से समर्थन किया था। प्राचीन मिस्र के 'परुसचित्रों' ने शायद अपनी कला प्राचीन भारत के पुरुषछेत्ताओं (शवछेदकों) से सीखी थी। इस बारे में डा० वाइज का विचार है 'हिन्दू दर्शन को निःसन्देह इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि दृढ़ पूर्वाग्रहपूर्ण विरोध के बावजूद उसमें जीवित के लिए मृत के उपयोग के बारे में ठोस और दार्शनिक दृष्किोण था और वे व्ययहारिक शरीर जैसे चिकित्सा शास्त्र के सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य विषय का सफल अनुस्ररण हिन्दुओं द्वारा ही किया गया था।' भूल करने वाला शल्य-वैद्य जनता के लिए एक बड़ा खतरा है और सुश्रुत का कहना है कि 'बिना व्यवहार के सिद्धान्त का ज्ञान एक पंख की चिड़िया है, जो उड़ नहीं सकती।'

व्यवहारिक शल्य का अध्ययन

शल्य आपरेशनों में क्षमता प्राप्त करने के लिए धन्वन्तरि के शिष्य (सुश्रुत आदि) से कहा जाता था कि वास्तविक आपरेशन करने के पहले शरीर के रुग्ण अंग से मिलते-जुलते प्राकृतिक या नकली पदार्थों पर बार-बार चाकू चलाते रहें। उदाहरण के लिए भीतर छेदने के काम का अभ्यास पुष्पफल (कुम्हेड़ा), लौकी, या त्रपुस पर किया जाता था, निकालने का अभ्यास पानी से भरे चमड़े के थैले या मृत पशुओं के अंडकोश पर और छीलने का अभ्यास मृत पशुओं की खाल पर किया जाता था। जिस पर बाल बने रहने दिए जाते थे। वाहिकाओं को काटने का अभ्यास मृत पशुओं की वाहिकाओं या कमलिनी के डंठलों पर किया जाता था। घुसेड़ने या एषणी का अभ्यास बांस आदि और ठोस पदार्थ निकलने का अभ्यास पनस (कटहल) जैसे फलों पर खुरचने का अभ्यास सेंवले के तख्ते पर मोम लगाकर और सीने का अभ्यास खाल, चमड़े के या कपड़ों के टुकड़ों पर। बन्ध लगाने या पट्टी बांधने का अभ्यास डमी बनाकर उन पर

किया जाता था और विदाहक (वास्तविक और संभाव्य) का अभ्यास, कच्ची मिट्टी के बरतनों में पानी भरकर। हम मूत्र मार्ग के अवरोधों को निकालने की बात और पेशाब की रसौली (रक्तार्बुद) का शल्य आपरेशन करने में सतर्कता बरतने के बारे में उनके उपदेश बड़े आश्चर्य के साथ पढ़ते है।

शरीर का व्यावहारिक अध्ययन

यह बहुत संभव है कि यज्ञ के लिए एकत्र वध्य पशुओं द्वारा तुलनात्मक शरीर के अध्ययन के लिए बहुत सुन्दर सामग्री प्रस्तुत की जाती होगी। ऐतरेय ब्राह्मण में इन पशुओं के वांधे जाने के बारे में निषेध दिए गए हैं[1] और हमें बताया गया है कि इन धार्मिक सूत्रों में आचार्य प्रत्यक्ष या व्यावहारिक शारीर के प्रदर्शनात्मक पाठ भी कभी सिखाया करते थे। हमें हृदय, पेट, मस्तिष्क, आंत, गुद, यकृत्, प्लीहा, गर्भाशय जैसे शब्द भी ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण में मिलते हैं।[2] राज्यक्ष्मा के इलाज के बारे में एक पूरा ही मन्त्र दिया गया है, जो फेफड़ों और हृदय ढांचे के बारे में ठीक-ठीक ज्ञान न होने पर निरर्थक ही हो जाता है। वैदिक आर्य मानव अंगों के फलाफल को खूब समझते थे। आज भी दाह संस्कार के अवसर पर जो ऋचा पढ़ी जाती है। वह इसका प्रमाण है कि आर्य मर्त्य शरीर को भौतिक तत्वों का समुच्चय ही मानते थे।[3] वह विभिन्न भेषजों द्वारा पाचन क्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव के जानकार थे और जानते थे कि शरीर तन्त्र में कण्डरा, पेशी, मांस, तन्त्रिका आदि के अलग-अलग काम क्या हैं। सुश्रुत संहिता में हमें पहली बार इस शारीर ज्ञान को इकट्ठा करने का प्रयास देखने को मिलता है। सुश्रुत का युग या आयुर्वेद का आचार्य युग वैज्ञानिक पड़ताल

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण वध्य पशुओं के बाहरी अंगों और छाती और पेट के अंगों के बांटे जाने का खास तरीका बताता है, जिसे ऋत्विक् रहस्य रखते थे। —ऐ० ब्रा० 8. 1
2. (क) आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे। —ऋ० 6. 53. 7
   (ख) तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु। —ऋ० 6. 53. 8
   (ग) हृदा इव कुक्षयः सोमधानाः। —ऋ० 3. 86. 8
   (घ) और देखिए ऐ० ब्रा० 1. 2; 2. 12; 3. 37
3. भूतों के समुच्चय से बने मानव शरीर का स्वरूप नीचे के श्लोक में स्पष्ट बताया गया है :—

   सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
   अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥
   —ऋ० 10. 16. 3

   आंख सूर्य के पास जाए, प्राणवायु आकाश की वायु में मिल जाए और आकाश पृथ्वी और जल से बने अंग इन महाभूतों में जाकर ही मिल जाएं आदि।

का युग था। सामान्य बीमारियों की संख्या बहुत ज्यादा थी। व्यर्थ में ही ऋषि नारद सादा जीवन और उच्च विचार का उपदेश देते हुए कैटो को भाँति उन को वापस सादा जीवन पद्धति अपनाने की बात बता रहे थे।[1] उसी समय भरद्वाज, कपिष्ठल असमर्थ, भार्गव, कुशिक, काप्य, कश्यप, शर्कराक्ष, शौनक, मन्मथायनी, अग्निवेश, चरक, सुश्रुत, नारद, पुलस्त्य, असित, च्यवन, पैंगी और धौम्य, जैसे आचार्य संहिताएं लिखने लगे थे। हर आश्रम आयुर्वेद का कालेज बन गया था और आयुर्वेद विज्ञान की हर शाखा में पड़ताल के अनुभवाश्रित तरीके का प्रयोग किया जाता था।

संहिता में शारीर वाद

सुश्रुत संहिता के वर्तमान पाठ में कुछ ऐसे अपवाद और भूलें मिलती हैं, जो या तो उसमें घुस गए हैं या रहने दिए गए हैं। उदाहरण के लिए उन पंक्तियों को लिया जा सकता है, जिनमें धन्वन्तरि मानव शरीर की तीन सौ हड्डियों की बात करते हैं। यह सम्भव है कि मानव शरीर ने सिर्फ अनुपयोग के ही कारण या बदले परिवेश में उनके बेकार हो जाने के कारण अपने ढांचे के इतने ज्यादा उपभागों से छुटकारा पा लिया हो। यह सोचना भी मूर्खता मालूम पड़ती है कि सुश्रुत जो निश्चित प्रत्यक्ष ज्ञान के अलावा किसी प्रमाण को नहीं मानते, ऐसी बात लिखेंगे जिसे शवच्छेद कक्ष में केवल अन्धा ही मान सकेगा। जिस युग में वह जन्मे थे, उसकी भावना को देखते हुए ही ऐसी चूक नहीं हो सकती थी।

प्राचीन भारत में प्रत्यक्ष शारीर के प्रदर्शन के लिए चुने गए विषयवस्तु प्रायः बच्चे[2] होते थे और वस्तुतः प्रौढ़ आयु में जो हड्डियां एक में मिलकर शरीरांग बन जाती हैं, उनके अलग से नाम गिनाए गए हैं। यह परिस्थिति इस संहिता में दी गई हड्डियों की संख्या का कुछ उत्तर दे सकती है। उसी तरह

1. देखिए ऐ० ब्रा० (7. 13)
2. हिन्दू शास्त्रों में यह नियम है कि 'दो साल से ज्यादा आयु के व्यक्तियों के शरीर का दाह करना चाहिए।' मृत व्यक्तियों का दाह संस्कार सरकार और व्यक्तियों दोनों के ही लिए बाध्यकर था, इसलिए पुराणकालीन भारत में पूरे मनुष्य के शरीर को प्राप्त करना प्राय. असंभव था, खासकर इसलिए कि हिन्दू शव को न जलाना और अंगभंग करना बड़ा दुष्कृत्य मानते थे क्योंकि इससे आत्मा दाहाग्नि द्वारा अपनी मलिनता से मुक्ति न पा सकती और उच्चतर अध्यात्म जीवन को प्राप्त नहीं कर सकती। स्वभावतः बाद के ज्यादा संस्कारप्रिय समय में दो वर्ष से कम आयु के बच्चों के धरती में दबाए हुए शव शारीर ज्ञान के लिए खोदकर निकाले जाते थे और काटे जाते थे और परवर्ती टीकाकारों ने सुश्रुत संहिता के इन अंशों में उनको रहस्य प्रमाणों के अनुरूप रखने के लिए परिवर्तन कर दिए होंगे। —टी० आर०

यह सिद्धान्त भी कि सुश्रुत ने दांतों और उपास्थियों को ढांचे की हड्डियों में गिन लिया था, सत्य के निकट है, पर यह पूरी बात नहीं बताता। सचाई यह है कि मूल सुश्रुत संहिता के कई प्रतिसंस्करण हो चुके हैं, और यह मानने का कारण है कि नागार्जुन द्वारा सम्पादित वर्तमान संस्करण ही एकमात्र या आखिरी संस्करण नहीं है। सम्पादकों ने अपनी तबियत से मूलपाठ में बहुत से क्षेपक डाल दिए हैं और यदि वे ब्राह्मण थे, तो वेद के उपदेशों से असहमति होने पर उन्होंने किसी समझौते पर पहुँचने की भी कोशिश की है। इसी कारण हमें संहिता में ऐसे कथन मिलते हैं: 'मानव शरीर में 360 हड्डियां होती हैं।' यह वेद में कहा गया है, पर शल्य तन्त्र ढांचे की 300 हड्डियों को ही मान्यता देता है। इस प्रकल्पना पर इस बात से और रंग चढ़ जाता है कि सुश्रुत 'मर्मशारीरम्' वाले अध्याय में हड्डियों के मिलने और बंधों, तंत्रिकाओं, शिराओं और धमनियों के संग्रथनों आदि का यथातथ्य वर्णन करते हैं, तो उन्होंने उनके पथ और स्थल का भी ठीक-ठीक वर्णन किया होगा, नहीं तो व्यावहारिक शल्य-वैद्यों के लिए, जिनके लिए यह संहिता लिखी गई थी, अंगों का शल्य आपरेशन करना और उसमें बताए गए मर्मस्थलों और संग्रन्थनों को बचाना बिलकुल असम्भव होता। इन मर्मों को तीन वर्गों में बांटा गया है, अर्थात् सद्यः प्राणहर, काल प्राणहर और वैकल्यकर अर्थात् उनमें लगी चोट से तुरन्त प्राणान्त हो जाएगा, कुछ समय में प्राणान्त होगा या सम्बन्धित अंग निष्कृत्य हो जाएगा। सच बात यह है कि अशोक प्रियदर्शी के शासनकाल में प्रत्यक्ष शारीर का अध्ययन एक प्रकार से बन्द कर दिया गया था क्योंकि धार्मिक यज्ञ राजाज्ञा से बन्द कर दिए गए थे और सुश्रुत के परवर्ती टीकाकारों को (जो थोड़े बहुत प्रतिसंस्कर्ता थे) विषय का निश्चित ज्ञान न होने से अंधकार में होकर यथाशक्य अपना मार्ग खोज निकालना पड़ा था। इसी कारण सुश्रुत संहिता के सूत्र-स्थान के पाठ में वह गड़बड़ी और श्लोक में यह भ्रान्ति देखने को मिलती है।

हड्डियों की संख्या

इस बारे में पाठक अथर्ववेद के पार्ष्णि सूक्त (अथर्व० 1002) का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिसका संबंध ऋषि नारायण से है:

(एक) केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छलङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥

(दो) कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत॥

(तीन) चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव॥

(चार) कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्ठीरचिन्वन् ॥

(पांच) को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ।
अंसौ को अस्य तद् देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥

(छः) कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षाणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥

(सात) हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥

(आठ) मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥

इन श्लोकों में अनेक ऐसी हड्डियों का जिक्र भी है, जो चरक और सुश्रुत संहिताओं में भी थोड़े से बदले हुए नामों के साथ आती हैं ।

(एक) पार्ष्णि
गुल्फ
अंगुलि
उच्छलंख

(दो) अस्थिवत् (जानु) जंघा

(तीन) श्रोणि
ऊरु

(चार) उरस
ग्रीवा
स्तन
कफोड
स्कन्ध
पृष्ठि

(पांच) अंस

(छः) ललाट
ककाटिका
कपाल
हन्वोःचित्य

शतपथ ब्राह्मण में (10. 5. 4. 12) कई जगहों पर हड्डियों की संख्या वर्ष के दिनों की उपमा के आधार पर 360 दी गई है :

तस्यास्थीन्येव परिश्रितस्ताः षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति षष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शतानि पुरुषस्यास्थीनि मज्जानो यजुष्मत्य इष्टकाः ।
और देखिए शतपथ 12. 3. 2. 3

चरक संहिता में भी हड्डियों की संख्या नीचे लिखे प्रकार से 360 तक गिनाई गई है (जिस में दांत, नाखून आदि शामिल हैं) :

दन्त	32	अक्षक	2
दन्त उलूखल	32	जत्रु	1
नख	20	तालुक	2
अंगुलि	60	श्रोणिफलक	2
शलाका	20	भगास्थि	1
अधिष्ठान	4	पृष्ठास्थि	45
पार्ष्णि	2	ग्रीवा	15
गुल्फ	4	उरस्	14
मणिक	2	पार्श्व-पर्शुका	24
अरत्नि	4	पर्शुका स्थालाक	24
जंघास्थि	4	स्थलकार्बुद	24
जानु	2	हन्वस्थि	1
जानु कपालिका	2	हनुमूलबन्धन	2
ऊरुनलक	2	गंडाकूललाट	1
बाहुनलक	2	शंख	2
अंस	2	शिरकपाल	4
अंसफेलक	2		
	196		164

योग 196+164=362

वैदिक परम्परा में मानी गई 360 हड्डियों के आगे सुश्रुत केवल 300 हड्डियों को मानते हैं ।[1]

1. त्रीणि सषष्ठीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते; शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्येव शतानि । तेषां स विंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवा प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते । —सुश्रुत, शरीर 5. 18

वेदवादियों के अनुसार शरीर की हड्डियों की पूरी संख्या 360 है पर शल्य तंत्र 300 ही मानता है। इन में 120 शाखाओं में 117 श्रोणि, पार्श्व, पृष्ठ और उरस और उदर क्षेम में और 63 ग्रीवा और ऊपर के अंगों में। इस तरह कुल 300 हड्डियां होती हैं।

अब हम सुश्रुत संहिता से शल्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण अंशों को उद्धृत करेंगे। इस अनुवाद में कविराज कुञ्जलाल भिषगरत्न द्वारा किए गए संहिता के अंग्रेजी अनुवाद (1907) में मदद ली गई है।

शल्य के यन्त्र

शल्य साधित्र संख्या में कुल 101 होते हैं, जिनमें से हाथ सबसे महत्त्वपूर्ण है (क्योंकि सभी अपने प्रमुख सहायक के रूप में हाथ पर निर्भर रहते हैं) और चूंकि कोई भी उनके बिना नहीं चलाया जा सकता और चूंकि सभी शल्य क्रियाओं में इसके सहयोग की जरूरत पड़ती है। कोई विदेशी या बाह्य तत्त्व जो मनुष्य के शरीर में स्थान पर शरीर और दिमाग में दर्द करने लगता है, उसे 'शल्य' कहते हैं और शल्य साधित्र (उस जगह से जहां पर वह अटक जाता है) उसे निकालने में काम आते हैं। (2)

शल्य यन्त्रों को छः भिन्न-भिन्न वर्गों या प्रकारों में बांटा जा सकता हैं, जैसे स्वस्तिक, संदंश, ताल, नाडीयंत्र और शलाका इनके अलावा उपयंत्र भी होते हैं। (3)

स्वस्तिक यंत्रों (चिमटियों) को फिर 24 उपवर्गों में बांटा जाता है, संदंश (संड़ासियों) को दो में, तालयंत्रों को दो में, नाड़ी यंत्रों को बीस में और शलाकाओं को अट्ठाइस उपवर्गों में। उपयंत्रों को पचीस विभिन्न प्रकारों में बांटा जा सकता है। ये सब यंत्र लोहे से बनते हैं जिसकी जगह पर वैसी हीं दूसरीं धातु स्तेमाल में लाई जा सकती है, जहां लोहा उपलब्ध न हो। (4)

इन यन्त्रों के मुख पशु-पक्षियों के मुख जैसे बनाए जाते हैं, इसलिए पुराने शल्य-वैद्यों की सलाह के अनुसार स्वरूप में कुछ खास पशुओं के मुखों जैसे बनाने चाहिए या शास्त्रों (प्रामाणिक चिकित्सा ग्रन्थों में) लिखे गए निदेशों के अनुसार बनाने चाहिए या परिस्थिति के अनुसार या वैसे ही अवसरों पर प्रयुक्त दूसरे यन्त्रों की रचना या स्वरूप के अनुसार बनाने चाहिए। (5)

यंत्र न तो बहुत बड़े होने चाहिए और न बहुत छोटे और उनके मुख और धारें तेज और नुकीली बनानी चाहिए। मजबूती और टिकाऊपन की दृष्टि से बनाना चाहिए और उनमें सुविधाजनक हत्थे लगाए जाने चाहिए। (6)

स्वस्तिक वर्ग के यंत्र लंबाई में अठारह अंगुल लंबे होने चाहिए। उनके मुख शेर, चीता, भेड़िया, बाघ, बिल्ली, सियार, हरिण, एर्वारुक (हरिण की एक जाति), कौवा, जलगोध, कुरर, चाप, गोध, बाज, उल्लू, चील, हारिल, भृंगराज, अंजलिवर्ण, अवभंजन, नाडीमुख (पक्षियों के भेद) और दलों को आपस में मसूर दाल जैसे आकार के बोल्टों से कसना चाहिए और गदा या अंकुश की तरह भीतरी ओर हत्थे होने चाहिए। इस तरह के हथियारों का उपयोग कांटा या दूसरी बाहरी चीज भीतर हड्डियों में घुस जाने पर करना चाहिए। (7)

संदंशों को दो वर्गों में बांटा गया है, क्योंकि वे बिना बोल्ट के आपस में कसे जाते हैं। उनकी लंबाई सोलह अंगुल होनी चाहिए और खाल, मांस, नसों या तंत्रिकाओं के नीचे से कांटे आदि जैसी चीजें निकालने के लिए उनका उपयोग करना चाहिए। (8)

ताल यंत्रों की लंबाई बारह अंगुल होती है। उनको दो वर्गों में बांटा गया है—इकहरे ताल और दुहरे ताल। पहले प्रकार के स्वरूप में मछली के कांटों जैसे होते हैं, जबकि दूसरे प्रकार के कुछ आचार्यों के अनुसार भेतुली मछलियों के पूरे मुख की तरह ही बनाए जाते हैं। इन यंत्रों का उपयोग नाक, कान और देह के छिद्रों या प्रणालियों में से शल्य आदि निकालने के लिए किया जाता है। (9)

नाडी यंत्र (सिरींज, एनीमा आदि जैसे ट्यूब वाले यंत्र, जिन में पूरे में नली जैसी रहती है) तरह-तरह के आकारों में तरह-तरह के कामों के लिए बनाए जाते हैं। कुछ एक छोर पर खुलते हैं और कुछ दूसरे छोर पर। इन यंत्रों का उपयोग देह के बाह्य छिद्रों और स्रोतों में घुसे शल्यों को निकालने और बवासीर आदि में पीड़ित स्थान का निरीक्षण करने के लिए या (किसी पीड़ित भाग से खून आदि) चूसने के लिए या अन्य शल्य-यंत्रों के उपयंत्र के रूप में किया जाता है। नाड़ी यंत्र की लंबाई और परिधि मनुष्य शरीर के उस स्रोत या छिद्र के आकारस्वरूप के अनुसार बनानी चाहिए, जिसमें उसका उपयोग करना है। आगे चलकर हम ऐसे नाड़ी यंत्रों का वर्णन करेंगे, जिनका उपयोग भगन्दर, बवासीर आदि, रसौली, फोड़ा, मूत्रवृद्धि (आंत्रवृद्धि), निरुद्ध प्रकाश, निरुद्धगुद, जलोदर आदि के लिए या मूत्र-मार्ग, आंतड़ियों, भग, गर्भाशय आदि में कुछ इंजेक्ट करने के लिए या औपधि सहित मांस लेने के लिए या फिर अलाबुयंत्रों (प्याले के लिए लौकी का स्तेमाल) के जैसे उपयोग के लिए। (10)

शलाका यंत्र भिन्न-भिन्न आकार के होते हैं और तरह-तरह के कामों में स्तेमाल किए जाते हैं। हर एक चीज को जरूरत के अनुसार इन यंत्रों की लंबाई-चौड़ाई रखनी चाहिए। एषणियां या निदेशिकाएं दो जोड़ों में होती हैं और पके हुए हिस्से या अंग में पीव को खोजने के लिए, या व्यूहन (उठाने) के लिए या

काट कर फिर भीतर लगे शल्य को बाहर निकालने में काम आती हैं, या ऐसी चीज को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह ले जाने (चलनम्) के लिए या उसे प्रभावित अंग से निकालने (आहरण) के लिए स्तेमाल की जाती हैं। इन दो तरह की निदेशिकाओं के मुख क्रमशः गंडूपद और शरपुंख की तरह होते हैं और बाकी दो के सांप के फन या मछली फंसाने के कांटे की तरह के होतीं हैं। बाहरी चीज को स्रोतों से निकालने के लिए जोड़ों में निदेशनियों आदि का स्तेमाल किया जाता है। इन निदेशनियों के सिरे थोड़े झुके हुए होते हैं और वे आकार में दाल के दाने जैसे होते हैं। छः तरह की एषणियों या निदेशनियों का उपयोग (मनुष्य शरीर के पीड़ित अंग से) पीव आदि निकालने के लिए किया जाता है और उनके सिरों पर ढीली सूती टोपियां चढ़ा दी जाती हैं। क्षार औषधियां आदि लगाने के लिए तीन तरह की निदेशनियों को काम में लाया जाता है और वे स्रुवा की तरह होती हैं और उनके गोलक छेद खरल की तरह के होते हैं। अग्नि-कर्म (विदाहकों के प्रयोग) के लिए सिलसिले में जो छः तरह की निदेशनियां काम में लाई जाती हैं उनमें से तीन के मुख जामुन के फल की तरह होती हैं, बाकी तीन के मुख गदा या अंकुश की तरह के होते हैं। नाक की रसौली निकालने के लिए बनाई जाने वाली एषणी बेर की गुठली के भीतर के आधे गूदे की तरह के मुख वाली होती है। इसके बीच में थोड़ा गड्ढा होता है और होंठ या सिरे तेज धार वाले होते हैं। पलकों में अंजन लगाने के लिए एषणियां मटर दाल की तरह दो छोटी गोल पालियों में होती हैं और धार मुथरी होती है और मूत्रमार्ग को साफ करने वाली एषणियां मालती फूल के डंठल के सिरे की तरह गोल बनाई जाती हैं। (11)

उपयन्त्र

इनमें रस्सी, बेणिका, (पट्टी वाले बाल), रेशम का धागा, पेड़ों की छाल और भीतर गूदा, लताएं, कपड़ा, अष्ठील (पत्थर) बड़े अडाकार पत्थर, हथौड़ा, हथेलियां, पैरों के तले, अंगुलियां, जीभ, दांत, नाखून, बाल, घोड़ों के अयाल, पेड़ों की शाखाएं, चुम्बक, क्षार, और औषध और थूकना, कुंठनम् (कूटना), प्रोत्साहन और धमकाना आदि क्रियाएं शामिल हैं। (12)

ये उपयन्त्र रोगी के पूरे शरीर में या उसके कोई अंग शिराओं, आन्तरोग, जोड़ों आदि में शल्य-वैद्य के निर्णय के अनुसार ही मामले की जरूरतों के अनुसार काम में लाए जाने चाहिए। (13)

शल्य-यन्त्रों के कृत्य

ये कृत्य हैं निर्घातनम् (हिला डुला कर शल्य को बाहर निकालना), इंजेक्ट करना या भरना, बांधना, उठाना, काटना और फिर शल्य निकालना, घुमाकर फिर ठीक से जमाना, शल्य को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाना,

घुमाना, फैलाना, दबाना, स्रोत साफ करना, निकालना खींचना, सतह पर लाना, ऊपर उठाना, नीचे रखना, किसी हिस्से या श्रंग को चारों श्रोर से दबाना, चलाना, चूसना, खोजना, काटना या खुरचना, सीधा करना, धोना या पानी से बहाना, नाक को भरना श्रौर साफ करना । ये सब गिनती में चौबीस हैं । (14)

चतुर वैद्य अपने विवेक से काम लेकर हर मामले में जरूरी शल्य-ग्रापरेशन का फैसला करेगा क्योंकि निश्चय ही शल्य-वैद्य की मदद चाहने वाले रोग ग्रनंत हैं श्रौर उनके श्रनेक भेद हैं । (15)

जो यंत्र बहुत मोटा है, या (धातु श्रच्छी न होने से) ठीक मजबूती से नहीं बना है या ज्यादा छोटा या ज्यादा लंबा है या जो श्रासानी से स्तेमाल नहीं किया जा सकता या जो पूरे शल्य को पकड़ने से असमर्थ है, या वक्र है, ढीला है, या जिसके बोल्ट ढीले हैं, या रस्सियों से ढीला बंधा है, (उसको शल्य-क्रियाश्रों में स्तेमाल नहीं करना चाहिए) । शल्य-यंत्रों के ये बारह दोष हैं । (16)

इन दोषों से रहित अठारह श्रंगुल लंबे यंत्रों की शल्य-क्रियाश्रों में उपयोग की सिफारिश की गई है। जो शल्य केवल श्रांख से ही देखे जा सकते हैं श्रौर प्रत्यक्ष हैं, सिंह मुख प्रकार के यंत्रों से निकाले जाने चाहिए, पर जो दिखाई नहीं देते उनको कंकमुख श्रादि यंत्रों से शास्त्रों (प्रामाणिक चिकित्सा या शल्य-ग्रन्थों में) दी गई हिदायतों के श्रनुसार निकालना चाहिए। कंकमुख यंत्र बाकी सभी प्रकार के यंत्रों से ज्यादा श्रच्छे होते हैं । क्योंकि उनको बिना किसी दिक्कत के डाला या निकाला जा सकता है श्रौर इनसे शल्य को श्रासानी से निकाला जा सकता है श्रौर (शिरा हो या हड्डियों का जोड़) उनका स्तेमाल शरीर के किसी भी हिस्से में किया जा सकता है । (17) —सूत्रस्थान श्रध्याय 7

शल्य-क्रिया श्रौर यंत्र

श्रब मैं शल्य क्रिया में स्तेमाल होने वाले यंत्रों के श्रध्याय को लूंगा । (ये यंत्र संख्या में बीस होते हैं जैसे मंडलाग्रम्, करपत्रम्) वृद्धिपत्रम्, नखशस्त्रम्, मुद्रिका, उत्पलपत्रम्, श्रर्द्ध धारम्, सूची, कुशपत्रम्, शरारि मुखम्, अन्तर्मुखम्, त्रिकूर्चकम्, कुठरिका, ब्रीहिमुखम्, श्ररा, वेतस पत्रकम्, बडिश, दन्तशंकु श्रौर एषणी ।[1] (2)

---

1. मंडलाग्रम् की लंबाई छः श्रंगुल होती है श्रौर उसका मुख गोल या वर्तुल होता है । करपत्रम् श्राज की श्रारी है । वृद्धिपत्रम् शब्द का श्रर्थ छुरा लगता है । वृद्धिपत्रम् सात श्रंगुल लंबा होता है श्रौर हत्था भी पांच श्रंगुल का होता है । नखशस्त्र श्राज का नाखून काटने का यन्त्र है उसका फल चौड़ाई में एक श्रंगुल होता है । उत्पलपत्रम्

[श्रगले पृष्ठ पर—

उपर्युक्त यंत्रों में मंडलाग्रम् और करपत्रम् का उपयोग छेदने और खुरचने में करना चाहिए, वृद्धिपत्रम्, नखशस्त्रम्, मुद्रिका, उत्पलपत्रम् और अर्द्धधारम् का उपयोग छेदन और भेदन में, और कुशपत्रम्, सूची, अटी मुखम्, शरारि मुखम्, त्रिकूर्चकम् और अन्तर्मुखम् का उपयोग विस्रावण (पीव आदि निकालने में) करना चाहिए। कुठरिका, व्रीहिमुखम्, अरा, वेतसपत्रम् और सूची का उपयोग छेद करने या फाड़ने में करना चाहिए। बडिश और दंतशंकु का उपयोग ठोस चीजों को निकालने में करना चाहिए। एषणी का उपयोग पीव (पके हुए भाग में) को खोजने और उसके मार्ग या दिशा का पता लगाने के लिए और सूची का उपयोग सीवन के लिए करना चाहिए। इस तरह शल्य-क्रियाओं के सिलसिले में यंत्रों के आठ तरह के कृत्य बताए गए। (3)

अब मैं उपर्युक्त यंत्रों को चलाने की रीति बताऊंगा। वृद्धिपत्रम् और भेदन के दूसरे यंत्र फल और हत्थे के बीच के एक हिस्से में पकड़ने चाहिए।

—पिछले पृष्ठ से]

स्वरूप में कमलदल सा होता है। अर्द्धधारम् (छुरिका) आठ अंगुल लंबा होता है, और एक अंगुल चौड़ा। सूची आज की सूई ही है। कुशपत्रम् का नाम कुश के दल से मिलते-जुलते होने के कारण रखा गया है। अटीमुखम् अटी जाति की चिड़ियों के चोंच जैसा होता है। अटीमुखम् का फल दो अंगुल लंबा और हत्था पांच अंगुल लंबा होता है, इस तरह यह कुल सात अंगुल लंबा होता हैं। शरारिमुखम् (कैंची) का नाम इसके फल शरारि पक्षी की चोंच की तरह होने से रखा गया है, जो आजकल के लुहार की कैंची जैसी होती है और इसकी पूरी लंबाई बारह अंगुल होती है। अन्तर्मुखम् स्वरूप में अर्द्धवर्तुल होता है और हथ-आरे की तरह इसकी धार दांतों वाली होती है। त्रिकूर्चकम् में तीन अलग फल होते हैं। दो फलों के जो हत्थे में जुड़े होते हैं, बीच की जगह पांच अंगुल लंबी होती है और व्रीहि के बीज जितनी लंबी होती है और इसकी कुल लंबाई आठ अंगुल होती है।

कुठरिका (छोटी मुथरी कुल्हाड़ी) सात अंगुल लंबी होती है और आधी हत्थे में। फल आधी अंगुल चौड़ा होता और गाय के दांत की तरह मुथरा होता है। व्रीहिमुखम् की कुल लंबाई छः अंगुल होती है और इनका सिरा व्रीहि के बीज जैसा होता है और धार छोटे-छोटे कांटों जैसे किनारों की होती है। अरा मोची की रांपी जैसा होता है और उसकी कुल लंबाई दस अंगुल होती है। फल तिल के बीज सा चौड़ा और चौड़ाई, दूब के डंठल जैसी होती है। वेतस पुत्रम् (चाकू) वेतस के पौधे की पत्ती जैसा होता है। फल चार अंगुल लंबा और एक अंगुल चौड़ा होता है और धार खूब तेज होती है। हत्था चार अंगुल लंबा होता है। दंतशंकु (दांत निकालने की संडसी) स्वरूप में व्रीहिमुखम् जैसी होती है। एषणी का मुख गंडूपद (केंचुआ) जैसा होता हैं।

खुरचने में वृद्धिपत्रम् और मंडलाग्रम् को हथेली को थोड़ा-सा मोड़ कर उसे काम में लाना चाहिए। पीव आदि निकालने के यंत्र काम में लाते समय उनके फल की जड़ में पकड़ने चाहिए—खास तौर पर राजा, वृद्ध, भीरु, सुकोमल व्यक्ति, बाल स्त्री, राजकुमार आदि के मामले में, त्रिकूर्चम् का इस्तेमाल खून-पीव आदि निकालने के काम में करना चाहिए। व्रीहिमुखम् के हत्थे को हथेली में छुपाकर रखना चाहिए और फल को पहले बाएं हाथ का सहारा देकर फिर दाएं अंगूठे और बीच की अंगुली से दबाना चाहिए। अरा, करपत्रम् और एषणी को उनके मूल में पकड़ना चाहिए। बाकी शल्य यन्त्रों को जरूरत के अनुसार पकड़ना चाहिए। (4)

उपर्युक्त यन्त्र उनके नामों द्वारा बताए जाने वाले स्वरूप के होते हैं और इसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है नखशास्त्रम् और एषणी आठ अंगुल लंबे होते है। सूची का वर्णन आगे किया जाएगा। बडिश और दंतशंकु के ऊपरी सिरे थोड़े झुके हुए होते हैं और उनके मुख तेज कांटों जैसे बनाए जाते हैं या नए निकले जौ के अंकुरों जैसे। एषणी का ऊपरी सिरा केंचुए के मुख जैसा होता है। मुद्रिका की लंबाई (औसत लंबे मनुष्य की) तर्जनी के ऊपरी पौरों के बराबर होती है। शरारि मुखम् दस अंगुल लंबा होता है। बाकी यन्त्र ज्यादातर छः अंगुल लंबे बनाए जाते हैं।

शल्य-यन्त्र की प्रशंसनीय बातें

आसान पकड़ वाले हत्थों के यन्त्र अच्छे और शुद्ध लोहे के, ठीक आकार के, तेज और ऐसी धार के होते हैं, जिसमें दांते नहीं पड़ते और सिरे ठीक-ठीक बने होते हैं। ऐसे यन्त्रों को सर्वोच्च कोटि का मानना चाहिए। (6)

वक्रता, भुथरापन (बाल काटने में असामर्थ्य) धार की असमान प्रखरता, खुरदुरापन और ज्यादा छोटा होना शल्य-यन्त्रों के दोष हैं। इनके विपरीत गुण वाले यन्त्र लेने चाहिए। पर काफी मोटी (दांते वाले) धार के करपत्रम् को हड्डियों को काटने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। (7)

भेदने के लिए इस्तेमाल होने वाले शल्य-यन्त्र की धार मसूर की दाल जैसी पतली होनी चाहिए। खुरचने के लिए इस्तेमाल होने वाले यन्त्र की धार उससे आधी पतली होनी चाहिए। व्यधन या उठाकर काटने या पीव निकालने के सिलसिले में इस्तेमाल होने वाले यंत्र की धार आदमी के बाल जितनी पतली होनी चाहिए। छेदन वाले यन्त्र की नोंक इससे आधी पतली होनी चाहिए। (8)

शल्य-यन्त्रों को क्षार, पानी या तेल जैसे द्रव्यों में लगाकर रखना चाहिए। बाण, हड्डी या बाहरी चीज (शल्य) आदि मानव-शरीर में घुसे हुए द्रव्यों को काटने के लिए इस्तेमाल होने वाले यन्त्र क्षार में लगाने चाहिए, पर काटने, तरा-

शने या पीड़ित से मांस उपाटने के लिए प्रयुक्त यन्त्र या स्नायु को काटने के यन्त्र तेल में रखने चाहिए और माष की दाल के रंग के पत्थर के टुकड़े पर उनकी धार को पैना करना चाहिए और उनकी बनी हुई धार को शाल्मलि लकड़ी की म्यान में रखकर उसकी रक्षा करनी चाहिए। (9)

शल्य-क्रिया में ठीक आकार वाला, सुविधाजनक हत्थे वाला, बाल को दो हिस्सों में काट सके इतना पैना और शास्त्रों में दिए गए मानकों के अनुसार बनाया गया यन्त्र ही काम में लाया जाना चाहिए। (10)

अनुशास्त्र या उप-यन्त्र

बांस की चपट्टी, मणिभ, कांच के टुकड़े, कुरुविन्द, जोंक आग, क्षार, नाखून, गोजी, शेफालिका और शाकपत्र (यवांकुर), बाल और अंगुलियां-इनको शल्य के उपयन्त्रों में गिनना चाहिए (जिनका कुछ स्थितियों में प्रमुख या सामान्य यन्त्रों के एवज में उपयोग किया जा सकता है।) (11)

बांस की चपट्टों, मणिभ, कांच के टुकड़े और कुरुविन्द पत्थर का उपयोग एक चतुर शल्य-वैद्य को छेदन या भेदन क्रियाओं में करना चाहिए, जब मरीज चाकू से डरता हो या इतना छोटा हो कि उससे शल्य-क्रिया न हो सकती हो या जव उपयुक्त यन्त्र न मिल सकता हो। अंगुलियों के नाखूनों (इस प्रयोजन से उपयोज्य बताए गए यन्त्र न मिलने पर उनके एवज में) छेदन, भेदन या निष्कासन की क्रियाओं में इस्तेमाल करना चाहिए, जब यह संभव मालूम पड़े। क्षार, जोंक या विदाह लगाने की बात आगे वताई जाएगी। पलकों या मुख विवर के रोगों में (एकत्र पित्त या कफ) निकालने के लिए शल्य-क्रिया गोजी, शेफालिका या शाकपत्र के पत्तों से की जा सकती है। एषणी न होने पर खोज का काम अंगुली, बाल या यवांकुर से किया जा सकता है। निपुण वैद्य को यह अत्यावश्यक मानना चाहिए कि वह अपने शल्य-यन्त्र कुशल और अनुभवी लोहार से शुद्ध, मजबूत और तेज इस्पात के बनवाए। शल्य-यन्त्रों के प्रयोग में कुशल वैद्य ही अपनी चिकित्सा में सफल रहता है और इसलिए शल्य-कर्म आयुर्वेद के अध्ययन के शुरू में ही पढ़ाया जाना चाहिए। (12) —सूत्रस्थान, अध्याय 8

शल्य में व्यवहारिक हिदायतें

अब हम शल्य-क्रिया की व्यवहारिक हिदायतें देने वाले अध्याय को लेते हैं (योगसूत्र) (1)।

आचार्य को देखना चाहिए कि उसका शिष्य आयुर्वेद की कई शाखाओं का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी या उसका पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करके भी शल्य-क्रिया का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपस्थित रहता है। छेदन

आदि या तेल भरने आदि की सभी शल्य-क्रियाओं से सम्बन्धित कार्यों में शिष्य को जिन प्रणालियों में शल्य-क्रिया करनी है या औषध लगानी है, उन (कर्म पथ) से सुपरिचित बनाना चाहिए। सुपठित शिष्य भी, जिसने (चिकित्सा या शल्य में) व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, रोग का चिकित्सिक या शल्य उपचार करने के लिए सक्षम नहीं है। पुष्पफल (कुम्हड़े) लौकी, तरबूज, खीरा आदि में काट करके खास तरह के छेदनों का ज्ञान करना चाहिए। इसी तरह ऊपर की ओर या नीचे की ओर काठ करने की कला भी सिखानी चाहिए। पानी से भरे हुए थैले, मृत-पशु के ब्लेडर, कीचड़ या पानी से भरी हुई मशक आदि में भेदन करके खोलने का अनुभव कराया जाना चाहिए। खरोंचने का काम ऐसी खाल पर सिखाना चाहिए, जिस पर मोम छोड़ दिया गया हो। वैद्य (शिरा काटने) की कला का अनुभव मृत-पशु की शिरा या कमल नाल पर कराना चाहिए। खोज या भरने की कला घुण से खाई हुई लकड़ी पर या बांस के नरकुल पर या सूखी लौकी पर सिखानी चाहिए। निकालने की कला बिम्बी, बिल्व या कटहल के गूदे में से बीज निकालकर या मृत-पशु के जबड़े से दांत निकालकर सिखाई जानी चाहिए। पीव आदि निकालने का काम शाल्मलि के तख्ते पर मोम लगाकर सिखाना चाहिए और सीवन का काम कपड़े के टुकड़े या खाल पर। इसी तरह पट्टी बांधने या बन्ध लगाने का काम कपड़े भरकर बनाई गई पूरे आकार की गुड़िया के विशिष्ट अंगों में पट्टियां बांधकर व्यवहारिक रूप से सिखाना चाहिए। कर्ण-सन्धि (कटे कान को बांधना) की कला मुलायम कटी हुई पेशी या मांस पर या कमलिनी के डंठल पर सिखनी चाहिए। क्षार या विदाहक लगाने की कला कोमल मांस पर लगाकर दिखानी चाहिए। ब्लेडर या फोड़े वाले पथ में सिरींज या एनीमा डालने की कला (शिष्य को) भरे घड़े की दरार में या लौकी के मुख में डालकर सिखानी चाहिए। (2)

एक बुद्धिमान वैद्य जिसने शुरू-शुरू में (लौकी आदि पर या ऊपर बताए गए तरीके से) अभ्यास कर लिया है या जिसे (क्षार लगाकर) विदाहन या फाड़ने की कला तत्समान या मानव शरीर के सम्बन्धित अंगों में मिलती जुलती चीजों पर सिखाई जा चुकी है, कभी भी अपने व्यवहारिक शल्य कर्म में अपनी बुद्धि को न खो सकेगा। (3)

—सूत्र स्थान, अध्याय 9

सिंगियां या जोकें और उनका उपयोग

अब हम जोकों और किनको किस तरह काम में लाना चाहिए, यह चर्चा करने वाले अध्याय को लेंगे। (जलौकावचारण) (1)

जब रोगी वृद्ध, दुर्बल, स्त्री, बाल या बड़ा ही भीरु हो या सुकोमल शरीर वाला हो और इस तरह शल्य-क्रिया के लिए उपयुक्त न हो, तो जोकें लगाई जानी चाहिए, क्योंकि इस तरह खून निकालने का तरीका सबसे सरल है। कुपित वात,

पित्त, कफ से दूषित खून को जोकों, सिंगियों, अलाबू यन्त्रों या जो भी साधन उपलब्ध हो उससे निकालना चाहिए, रक्त दोष का कारण कुछ भी हो, जब कभी यह खून निकालना या चूसना जरूरी समझा जाए, ऐसा करना चाहिए। (2)

शास्त्रों में गाय के सींग को गर्म तासीर वाला और स्निग्ध-मधुर गुणों वाला बताया गया है। तदनुसार कुपित वात द्वारा दूषित रक्त को चूस निकालने में इसका उपयोग करना चाहिए। पानी की जोंकों में मधुर गुण होता है अतः पित्त से दूषित खून चूसने-निकालने के लिए उनको काम में लाना चाहिए। अलाबू (लौकी) में तिक्त, शुष्क और चिढ़ाने वाले गुण होते हैं, अतः उसका उपयोग कुपित कफ से दूषित खून निकालने के लिए करना चाहिए। (3)

लगाने की रीति

जिस जगह से खून चूसना है, उसमें कुछ खरोंचना या दो-तीन जगह से कुछ काटना चाहिए। फिर सींग का खुला चौड़ा भाग हलके मलमल के टुकड़े को उसके ऊपर बांधकर इस पर रखना चाहिए और मुंह से ऊपरी किनारे पर से चूसना चाहिए या अलाबू यंत्र में उनके भीतर जलता दीपक रखकर। (4)

जलायु का शब्दार्थ है वे जीव जिनकी आयु या जीवन पानी पर निर्भर है, जबकि जलौका का शब्दार्थ है जल में रहने वाले जीव। इनके बारह भेद होते हैं, जिनमें से छः विषैले होते हैं और छः जहर-रहित। छः विषैले भेदों के नाम हैं। कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना। कृष्णा का सिर मोटा होता है और रंग दीपक के काजल जैसा। कर्बुरा जोंकों की देह वर्मी मछलियों की तरह लंबी होती है और कमर मोटी और बाहर निकली होती है। अलगर्दा जोकें बालों वाली किनारों से मोटी और काले मुख की होती हैं। इन्द्रायुधा जोकों की देह पर इन्द्रधनुष जैसी उपरली रंगीन धारियां होती हैं। सामुद्रिका की खाल काली-पीली होती है और उस पर तरह-तरह के सफेद चकत्ते होते हैं, जिन जोकों के मुंह पतले होते हैं और बैल के वृषण की तरह दो भागों में बँटे होते हैं, इनको गोचन्दना कहते हैं। (5)

उपर्युक्त में से किसी भी जहरीली जोंक से काटा गया मनुष्य काटने की जगह को खूब खुजलाना चाहता है और वह जगह काफी सूज जाती है। जलन खुमारी और उन्माद होता है और आखीर में रोगी बेहोश हो जाता हैं। इसका इलाज महागद जैसी विषहर दवा को छींकें लाने, दवा और मरहम के लिए काम में लाना है। इन्द्रायुधा द्वारा काटा जाना सामान्यतः घातक होता है। इस तरह जहरीली जोकों और उनके काटे का इलाज बताया गया है। (6)

विषहीन जातियों में कपिला, पिंगला, शंकुमुखी, मूषिका, पुंडरीक मुखी और सावरिका आती हैं। कपिला का रंग किनारों पर मनःशिला (मैनसिल)

जैसा होता है और उनकी पीठ मूंग की दाल की तरह चमकीले रंग की होती है। पिंगला का रंग लाल सा होता है और वे गोलमटोल होती हैं और बड़ी तेजी से चल सकती है शंकुमुखी का रंग जिगर की तरह काला-लाल होता है और मुंह नुकीला लंबा होता है और वे बड़ी तेजी से खून चूस सकती है। मूषिका का रंग सामान्य तिल की तरह होता है और वे अपनी देह से उत्कट गंध छोड़ती है। पुंडरीक मुखी का रंग मूंग की दाल की तरह होता है और उनका मुख खिली कमलिनी की तरह होने से उनका यह नाम पड़ा है। सावरिका की देह ठंडी होती है जिस पर कमल दल जैसी छाप होती है, वे अठारह अंगुल लंबी होती हैं और पशुओं का खून चूसने के लिए उनको काम में लाना चाहिए। इस तरह विषहीन जोकों की सूची पूरी हो गई। (7)

यवन (तुर्किस्तान), पांड्य (दकन), सह्य (घाट), पहाड़ों के मैदान, पौतन (आज का मथुरा) इन जोकों के सामान्य निवासस्थल हैं। उक्त देशों में मिलने वाली जोकें खास तौर पर विषहीन, मजबूत, बड़ी देह की, लालची और तेजी से चूसने वाली होती हैं। (8)

जहरीली जोकें, मेढ़कों और जहरीली मछलियों के सड़े हुए मलमूत्र आदि और ठहरे हुए और सड़े हुए पानी के जलाशयों में पैदा होती हैं। विषहीन जातियों का उद्भव पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, पुंडरीक जैसे कई जलीय पौधों के गले हुए डंठलों आदि, सड़े हुए वनस्पति पदार्थों में और शुद्ध पानी में रहने वाली प्राणियों से होता है। (9)

विषहीन जोकें मीठे, सुगन्धित जल में तैरती हैं, विषहीन शेवाल आदि को खाती हैं, फूलों वाले जल-पौधों पर रहती हैं, किनारे पर या चूने वाले तलों पर नहीं और मनुष्य के पीड़ित भागों से बिना उसे कोई परेशानी पहुँचाए खून चूस लेती हैं। (10)

जोकों को गीले चमड़े से पकड़ना चाहिए और फिर बड़े नए घड़े या जलाशय के दलदल या पानी चूकर बनने वाले गड्ढे में रख देना चाहिए। उनके भोजन के लिए सूखे मांस का चूरा या प्राणकीय तत्वों का चूरा या जलकन्द डाल देने चाहिए और पानी के और खाद्य पदार्थ आदि या दूसरे तीसरे दिन बदलते रहने चाहिए। घड़ा भी हर हफ्ते बदल देना चाहिए। अर्थात् सात दिनों बाद उनको दूसरे घड़े में रख देना चाहिए। (11)

जो जोकें जहरीली होती हैं, बीच में मोटी होती हैं, लंबी होती हैं, धीमे चलने वाली होती हैं, थकी मालूम पड़ती हैं, लगाई गई जगह पर जल्दी से नहीं चिपट जाती और बहुत थोड़ा खून चूस पाती हैं, उनको उपयुक्त या प्रशंसनीय तरह की जोंक नहीं मानना चाहिए। (12)

फिर रोगी को जो जोंक लगाए जाने वाले रोग से पीड़ित है, बैठा कर या लेटाकर खून निकालने की जगह यदि पहले से ही पक न चुकी हो तो उस पर सूखी मिट्टी या पिसा गोबर डालकर उसे खुरदुरा कर देना चाहिए। फिर जोकों को उनके निवास पात्र से निकालकर उन पर सरसों और हल्दी से मिला पानी छिड़कना चाहिए। फिर उनको पानी से भरे बरतन में रखना चाहिए। फिर अब वे अपनी स्वाभाविक सजीवता और ताजापन प्राप्त कर लें, तब उनको पीड़ित भाग में लगाना चाहिए। उनके ऊपर गीला कपड़ा या सफेद सूती कपड़ा रखना चाहिए। पीड़ित अंग पर दूध या खून की बूंदे डालनी चाहिए या यदि वे न चिपकें तो थोड़ा छेद कर देना चाहिए। जब ये सब उपाय असफल हो जाएं, तो दूसरी ताजी जोकें लगानी चाहिए। जोकें पीड़ित जगह पर लग गई हैं, यह अनुमान उनके देह से लगने पर घोड़े के नाल को तरह चौड़ें हुए मुख और उठी हुई महराब बनाती गरदन को देखकर लगाना चाहिए। चूसते समय जोकों को लगातार गीले कपड़े से ढंका रखना चाहिए और उन पर लगातार ठंडा पानी छिड़कते रहना चाहिए। (13)

लगाने की जगह पर खुजली या खिंचाव का दर्द होने लगने पर यह समझ लेना चाहिए कि जोकें अब ताजा खून चूसने लगी हैं और तब उनको तुरंत हटा लेना चाहिए।[1]

इच्छित काम हो जाने पर अलग होना न स्वीकार करने वाली या रक्त गंध के लालच से पीड़ित भाग से चिपटी रहने वाली जोकों के ऊपर पिसा हुआ सेंधा नमक छिड़कना चाहिए। (14)

जब जोकें छूट जाएं तो उन पर चावल का आटा डालना चाहिए और तेल और नमक मिलाकर उनके मुख को चिकनाना चाहिए। फिर उनको बाएं हाथ के अंगूठे और तर्जनी से पूछ की ओर से पकड़ कर दाएं हाथ की उसी अंगुली से उनकी पीठ को धीरे-धीरे रगड़ना चाहिए जिससे वे पीड़ित स्थान से चसा गया खून पूरी मात्रा में उगल दे। यह प्रक्रिया तब तक दुहराते रहनी चाहिए, जब तक यह ज्ञात न हो जाए कि वे पूरी मात्रा को उगल चुकी हैं। जो जोकें चूसा गया पूरा खून छोड़ चुकती हैं, वे पानी में रखने पर तेजी से खाने की तलाश में चल पड़ेंगी, पर यदि वे सुस्त पड़ जाएं, तो इसका उलटा समझना चाहिए। इनसे फिर खून उगलवाना चाहिए। जिन जोकों से पूरा खून नहीं उगलवाया जाता, उनमें उनकी जाति की एक असाध्य बीमारी हो जाने का खतरा रहता है, जिसे

1. जोकें यद्यपि प्रकृति का उपयोगी वरदान है और रुग्ण शरीरांग से दूषित रक्त स्वतः चूस लेती हैं, पर इसके समाप्त हो जाने पर वे स्वस्थ रक्त को भी चूसने लग जाती है।

इन्द्रमद कहते हैं। फिर जोकों को पूरा खून उगलवाने के बाद नए घड़े में पूर्वोक्त तरीके से रखना चाहिए। (15)

जोंक लगाने से बने फोड़े को ठंडे पानी से धोना और उस पर शहद लगाना चाहिए या उस पर कषाय, मधुर और शीतल प्रलेप उस जगह से निकले खून की मात्रा के अनुसार लगाना चाहिए। (16)

जो वैद्य जोकों के निवास, उनको पकड़ने के तरीके, उनको रखने और उनको लगाने के तरीके से सुपरिचित हैं वह उनके लगाने से दूर होने वाले बताए गए रोगों में सफलता प्राप्त कर सकता है। (17) सूत्रस्थान, अध्याय 13

कान की शल्य-चिकित्सा-वेधन और पट्टी बांधना

जब हम कान के वेधन और पट्टी बांधने (कर्ण व्यधन-बन्धन) वाले अध्याय को लेंगे। (1)

बच्चे के कान के पल्लों में सामान्यतः उनकी सुरक्षा के लिए और आभूषा के लिए भी छेद (कर्णवेध) किए जाते हैं। कर्णवेध शुभ चान्द्र और नाक्षत्र संयोग पर शुक्ल पक्ष के किसी दिन करना चाहिए और शुरू से गिनकर साल के छठे या सातवें (भाद्र) मास में। बच्चे को धाय की गोद में लिटाकर उसको आशीर्वाद देना चाहिए। फिर खिलौनों और खेल की चीजों में उसे लुभा कर वैद्य को अपने बाएं हाथ से उसके कानों के पल्ले को पकड़ना चाहिए और प्रतिबिम्बित धूप की सहायता से उस स्थान पर सामान्यतः मिलने वाले (बन्द पड़े) छिद्र खोजने चाहिए। फिर उसे उनको दाएं हाथ में सुई लेकर या आरा से या जब खाल मोटी लगे तो मोटी सुई से सीधे छेदना चाहिए। लड़के के मामले में पहले दायां कान छेदना चाहिए और फिर बायां और लड़की मामले में पहले इसका उलटा करना चाहिए। फिर छेद में से सूती धागा डालना चाहिए जिसे किसी बिना उबाले तेल में रगड़ और चिकना लेना चाहिए। दर्द के साथ ज्यादा खून निकलने पर समझना चाहिए कि सुई ऊपर बताई गई प्राकृतिक (और बन्द पड़ी) दरार से न होकर अन्यत्र निकल गई है, जबकि बाद में कोई गंभीर असर न दिखाई पड़ने पर माना जाएगा कि छेदन ठीक जगह से होकर ही हुआ है। अज्ञानी भूल करने वाले वैद्य द्वारा अचानक किसी शिरा में चोट लग जाने पर जो लक्षण दिखाई पड़ेंगे, वे आगे कालिका, मर्मरिका और लोहितका के नाम से बतलाए जाएंगे। (2)

कालिका में ज्वर और पीड़ित हिस्से में जलन और सूजन होती है। मर्मरिका में दर्द होता है और पीड़ित हिस्से में गाठे पड़ जाती हैं और साथ में (विशिष्ट सूजन वाला) ज्वर होता है और आखरी लोहितिका नाम वाले में मन्या स्तम्भ (गरदन में जड़ता), अपतानक (एक तरह का टिटोनस), शिरोग्रह

(सिरदर्द) और कर्णशूल (कान में दर्द) दिखाई पड़ते हैं और उनका प्रत्येक के बारे में बताई गई औषधियों से इलाज करना चाहिए। उस छेद में से धागे को तुरन्त निकाल लेना चाहिए, जिसमें बहुत दर्द हो रहा हो या सूजन आदि हो, क्योंकि यह छेद के मुथरी, टेढ़ी या ढूंढ वाली सुई द्वारा किए जाने से या धागे के ज्यादा बड़े होने से या शरीर दोषों के कुपित होने से या गलत जगह पर छेद करने से होता है। महुआ, अंडी की जड़, मंजीठ, जौ, तिल, शहद, घी को मिलाकर प्रलेप बना लेना चाहिए और पीड़ित स्थान तब तक यह प्लास्टर चढ़ाते रहना चाहिए जब तक घाव बिलकुल ठीक न हो जाएं। उसके बाद पल्लों में फिर से ऊपर बताई गई हिदायतों के अनुसार छेद करने चाहिए। (3)

धागे को हर तीसरे दिन निकालकर उसकी जगह हर बार पहले से ज्यादा मोटा धागा डालना चाहिए और उस हिस्से पर बिना उबाले हुए तेल को पहले की तरह मलना चाहिए। दरार को बढ़ाने के लिए नीम या अपामार्ग के तिनके या जस्ते के तार, उनमें इन लक्षणों के और कुपति शरीर-दोषों के (उस स्थल से) शान्त हो जाने पर डालने चाहिए। (4)

इस तरह बढ़ी हुई दरार आखीर में कान के पल्ले को कुपित शरीर दोषों के कारण या चोट के कारण दो हिस्सों में बांट सकती है। अब (उपर्युक्त पट्टियों द्वारा) उनके चिपकाने के तरीके के बारे में मेरा यह उपदेश सुना। (5)

यह चिपकाने या जोड़ने को संक्षेप में पन्द्रह विभिन्न भेदों में बांटा जा सकता है अर्थात् नेमिसन्धानक, उत्पलभेद्यक, वल्लूरक, असंगिम, गंडकर्ण, आहार्य, निर्वेधिम, व्यायोजिम, कपाट संधिक, अर्द्ध कपाट सन्धिक, संक्षिप्त, हीनकर्ण, वल्लीकर्ण, यष्टिकर्ण और काकुस्थक। (6)

इनमें से जब दोनों में से प्रत्येक फटा हुआ मोटा लंबा और बराबर आकार का दिखाई दे तो नेमिसन्धानक नामक प्रक्रिया को प्रयोग में लाना चाहिए। जिन मामलों में कान के कटे हुए पल्ले गोल बढ़े हुए और बराबर आकार के हों तो उत्पलभेद्यक नायक प्रक्रिया काम में लानी चाहिए। जब कटे हुए पल्ले छोटे-गोल और बराबर आकार के हों तो वल्लूरक नामक प्रक्रिया अपनानी चाहिए। जब इनमें से एक पल्ले का अगला तल दूसरी की अपेक्षा ज्यादा लंबे आकार का हो जाए, तो असंगिम नामक प्रक्रिया अपनानी चाहिए। गंडकर्ण नामक प्रक्रिया में गोल के एक भाग से ताजे मांस का टुकड़ा काटकर कान को दोनों में से उस पल्ले पर चिपकाना चाहिए, जिसका अगला तल दूसरे से ज्यादा लंबा हो गया हो (प्लास्टिक शल्यक्रिया)। बहुत ही छोटे पल्ले होने पर दोनों गालों से मांस काटकर उनसे चिपकाना चाहिए और इस प्रक्रिया को आहार्य कहते हैं। जिन कानों के पल्ले जड़ से ही बिलकुल कट गए हों उनको पीठोपम कहते हैं। ऐसे

मामले में कानों की दोनों पुत्रिकाओं (ट्रेगस और प्रति ट्रेगस) में छेद करके निर्वेधिम प्रक्रिया को अपनाना चाहिए। (7)

जिन मामलों में पतले-मोटे होने के नाते कान के कटे हुए पल्ले असमान मिलें उनमें व्यायोजिम नामक प्रक्रिया अपनानी चाहिए। कपाटसन्धिक प्रक्रिया उस समय अपनाई जाती है, जब कटे हुए एक पल्ले और दूसरे के बीच अगली तरफ कान के लंबे हो जाने पर पिछले तरफ से मांस चिपकाया जाता है। इस चिपकाने को दरवाजे के दो पल्लों (कपाटों) के चिपकने के समान होने से कपाट-सन्धिक कहते हैं। अर्द्ध कपाट सन्धिक प्रक्रिया में आधे बन्द दरवाजे की तरह कटे हुए कान के दोनों पल्लों में से छोटे पल्ले के बीच अगली तरफ को पिछली ओर के लंबे भाग से चिपकाया जाता है। (8)

ऊपर बताए गए चिपकाने के इस तरीकों को आसानी से पूरा किया जाता है और उनमें से प्रत्येक के नाम के अनुसार उनका आकार समझा जा सकता है। (9)

संक्षिप्तम् आदि बाकी पांच में कभी-कभी ही सफलता मिलती है, इसलिए उनको असाध्य कहा जाता है। संक्षिप्त प्रक्रिया का क्षेत्र तब होता है, जब शष्कुली सूख जाए और कटा हुआ एक पल्ला उठ जाए और दूसरा छोटा और कम हो जाए। हीन कर्ण प्रक्रिया उन मामलों में अपनानी चाहिए जब पल्ले का आधार किनारा (पिन्न) बिल्कुल अलग हो जाए और इसका बाहरी शिरा और गाल बिलकुल मांस रहित और डूबे-डूबे से हों। उसी तरह जब चिपकाने की वल्लीकर्ण प्रक्रिया पल्लों के छोटे-पतले और असमान होने पर अपनाई जाती है। यष्टिकर्ण प्रक्रिया का उपयोग तब होता है जब पतले और कटे हुए कान के पल्ले शिराओं के आर-पार कट जाने से गंठीले हो जाते हैं। जिन मामलों में कान के पल्लों में थोड़ा सा ही खून होता है, मांस रहित होता है और उसका अन्त एक पतले से सिरे में होता है, तो काकुस्थकपाली प्रक्रिया काम में लाने का अवसर होता है। (10)

यदि उक्त पांच चिपकाने के मामलों में बाद में पीड़ित जगह पर सूजन, पकना और लालामी दिखाई दे और गाढ़ा पीव निकलता हो या फटन हो गई हो, तो समझना चाहिए कि सफलता मिली। (11)

बाह्य कान के ठीक बीच के स्थान में (चाकू के साथ) छेद करना चाहिए और कटे हुए हिस्से को खींचकर (कान के दोनों पल्लों के टुकड़ों के खो जाने या खा लिए जाने पर) उनको लंबा करना चाहिए। जब दोनों कटे हिस्सों का पिछला भाग ज्यादा लंबा हो, तो अगले भाग पर मांस चिपकाया जाना चाहिए, पर जब अगला हिस्सा लंबा हो गया हो, तो इसका उलटा करना होगा। कान

के दोनों पल्लों में से एक हिस्से के खो जाने पर बाकी बचे पल्ले में छेद करके उसे तराशा जाएगा और ऊपर से मांस चिपकाया जाएगा। शास्त्र को जानने वाला शल्य-वैद्य कान के पल्लों से रहित व्यक्ति के गाल से सजीव मांस का टुकड़ा इस तरह से काटेगा कि इसका एक सिरा गाल के पहले स्थल से जुड़ा रहे। फिर उस हिस्से को जहाँ कृत्रिम कान का पल्ला लगाना है (चाकू से) थोड़ा सा छीलना चाहिए और खून से भरे सजीव मांस के टुकड़े को पहले बताए तरीके से काटकर इससे चिपकाना चाहिए (जिससे वह आकार में स्वाभाविक कान के पल्ले के समान लगे)। (12)

जो शल्य-वैद्य ऊपर बताए गए के अलावा किसी और तरह से मांस चिपकाना चाहता है, उसे 'शल्य-क्रिया के प्रारंभिक उपाय' वाले अध्याय में बताया गया सामान इकट्ठा करना चाहिए और दूध, पानी, धान्याम्ल (किजा हुआ चावल का मांड), सुरामंड (स्वच्छ मदिरा का ऊपरी भाग) और घड़े का चूरा भी लेना चाहिए। फिर पुरुष या स्त्री रोगी के बालों को इकट्ठा करके उनको एक जूड़े में बांध देना चाहिए। रोगी को हलका भोजन देना चाहिए (जिससे पाचन क्रिया को बाधा पहुँचाए बिना उसकी ताकत बनी रहे) इसके बाद उसके मित्रों-रिश्तेदारों से उसको मजबूती से पकड़ रखने को कहना चाहिए। फिर उस मामले मांस चिपकाने के प्रकार-विशेष का निश्चय करने के बाद शल्यवैद्य को स्थल के पास ही छेदन, भेदन, खरोंचने या छेद करने के द्वारा वहां के रक्त की जांच करनी चाहिए और यह तय करना चाहिए कि वह शुद्ध है या दूषित फिर खून को कुपित वात से दूषित मालूम होने पर अर्धगरम पानी और धान्याम्ल से धोना चाहिए, कुपित पित्त से दूषित होने पर दूध और ठंडे पानी से धोना चाहिए और कुपित कफ से दूषित होने पर सुरामंड और गरम पानी से धोना चाहिए। शल्य-वैद्य कान के पीड़ित भाग में ठीक से चिपकाने के लिए उसे फिर से तराश देगा, जिससे चिपकाए गए हिस्से उठे हुए, असमान या नीचे न रहें। खरोंचे गए हिस्से से खून बहता रहे तभी मांस चिपकाना चाहिए। फिर उनको शहद और घी से मल कर उन पर कपड़ा या रेशम चिपका देना चाहिए और न ज्यादा सख्त और न ज्यादा ढीले धागे से बांध देना चाहिए। ऊपर से घड़े के खपरे का चूरा बुरक देना चाहिए फिर रोगी के भोजन और परिवार के बारे में हिदायतें देनी चाहिए और द्वि-वर्णीयम् वाले अध्याय में बताए गए विषय उस पर लागू करने चाहिए। (13)

रोगी पट्टी में चोट न लगने दे, और शारीरिक व्यायाम, अतिभोजन और मैथुन न करे आग की लपटों के पास न जाए और उसे न तपाए, थकाने वाली ज्यादा बातें न करे और दिन में सोए भी नहीं। तीन दिन तक घाव को बिना उबाले तेल से चिकनाते रहना चाहिए और उसमें डुबाकर कपड़ा उसके

ऊपर रखते रहना चाहिए और उसे घाव ठीक न हो जाने तक हर तीसरे दिन बदलते रहना चाहिए। (14)

इस तरह पैदा होने वाले घाव को तब तक चंगा करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए जब तक स्थानीय खून (घाव का खून) पूरी तरह शुद्ध न हो जाए, या जब तक पीड़ित स्थल से रक्तस्राव होता रहे या स्थानीय रक्त दुर्बल बना रहे। थोड़े से भी वायु-दूषित रक्त से चिपकाया गया घाव सहसा फट जाएगा। इसमें फिर दर्द, जलन, लालामी और पकाव आ जाएगा, यदि इसमें पित्त दूषित थोड़ा सा भी खून भीतर रह जाएगा। कफ से दूषित थोड़ा सा भी खून भीतर रह जाने पर तो घाव में स्तंभ और खुजली मालूम पड़ेगी। भीतर लगातार रक्तस्राव से बने घाव में बादामी या काली-पीली सूजन आ जाती है। घाव के उस समय चिपकाए जाने पर जब स्थानीय रक्त अच्छा और शुद्ध होने पर भी ज्यादा रक्तस्राव हो जाने से दुर्बल या पतला हो जाए तो चिपकाए गए हिस्से में से भी वैसा ही पतलापन आ जाता है। इस तरह चिपकाए गए कान के पल्ले को स्थानीय घाव के पूरी तरह भर जाने पर और उसके ऊपर की खाल का रंग आस-पास की खाल के रंग जैसा ही हो जाने पर चिपकाए गए भाग को खींच लेना चाहिए। अन्यथा चिपकाए गए भाग में दर्द, सूजन, जलन और पकाव हो जाएगा या चिपकाया गया हिस्सा फिर गिर जाएगा। चिपकाए गए कान के पल्ले पर जिसमें एक भी चिन्ताजनक या अनिष्टकर लक्षण न हो, मलाई और गोधाप्रतुद, विष्किर, अनूप या औदक जैसे किसी भी उपलब्ध पशु-पक्षी की मज्जा से बनाए गए मरहम का लेप करना चाहिए और घी तथा सफेद सरसों के तेल को अर्क, अलर्क, बला, अतिबला, अनन्ता, अपामार्ग, अश्वगन्धा, विदारीगन्धा, क्षीरशुक्ता, जलशुक्ल और मधुर वर्ग की औषधों के काढ़े के साथ पकाना चाहिए और उसे भी इस मरहम में मिलाना चाहिए। इसे पहले से ही तैयार करके एक पात्र में ढक कर रख लेना चाहिए। (15)

फिर यह मरहम प्रभावित कान के पल्ले पर मलनी या लगानी चाहिए, जिससे सभी चिन्ताजनक या अनिष्टकर लक्षण दब जाएंगे और तेजी से उपयुक्त विकास होगा। इसी तरह यव, अश्वगन्धा, यष्ट्याह्व और तिल का प्रलेप भी लाभप्रद रूप से मला जा सकता है। शतावरी के सत और अश्वगन्धा या पयस्या, अंडी, जीवन और दूध के साथ तैयार किया गया और पकाया गया तेल भी कान के पल्ले के विकास में मदद देता है। ऊपर बताए गए तरीके से स्नेहिल करने और सेकने पर भी जब कान के पल्ले में विकास न हो तो इसके अगली ओर (अर्थात् गाल के निकट की ओर) कुछ क्षैतिज वेधन करके खुरचना चाहिए, पिछली ओर नहीं, क्योंकि ऐसा करने के भयंकर दुष्परिणाम हो सकते हैं। (16)

दो कटे हुए हिस्सों के जुड़ जाते ही कान के पल्ले को लंबे करने की कोशिश

नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चिपकाए गए मांस के केन्द्र के अभी भी कच्चे होने से उसके फिर गिर जाने का खतरा है। ऐसी स्थिति में कान के पल्ले को धीरे-धीरे लंबा करना चाहिए, तभी जब उसकी सतह पर रोम जमने लगें और छेद गोलाई लेने लगें और चिपकाया मांस अच्छी तरह से सूख जाए, दर्द रहित हो जाए और पूरी जगह में एक सी सतह का हो जाए। (17)

कान के दो कटे हुए पल्लों के चिपकाने के तरीके अनन्त हैं और प्रवीण और अनुभवी शल्य-वैद्य को प्रत्येक का निर्णय ही खास मामले की जरूरतों के अनुसार करना चाहिए। (18)

नाक की प्लास्टिक शल्य-क्रिया

अब मैं कृत्रिम नाक लगाने की प्रक्रिया बताऊंगा। पहले किसी लता का कटे हुए या अलग हुए पूरे हिस्से को अच्छी तरह टांक सकने योग्य मांस का टुकड़ा गाल में से (नीचे से ऊपर की ओर करके) काटना चाहिए और इसे जल्दी हुई कटी हुई नाक की जगह को छीलकर उसके ऊपर चिपका देना चाहिए। फिर वैद्य को ठंडे दिमाग से तेजी के साथ एक ऐसी पट्टी इसके ऊपर बांध देनी चाहिए जो इष्ट कार्य की साधिका हो और सुन्दर लगे (साधु बन्ध)। वैद्य को निश्चय कर लेना चाहिए कि कटे हुए हिस्से को ठीक से चिपका दिया गया है फिर दो छोटी नलियां नकुनों में डाल देनी चाहिए जिनसे सांस ली जा सके और जिससे चिपकाया गया मांस नीचे न आ सके। इसके बाद चिपकाए गए भाग पर पतंग, यष्टिमधूक और रसांजन को साथ-साथ पीसकर उनका चूर्ण बुरकना चाहिए। नाक के ऊपर तरह सूती कपड़ा लपेट देना चाहिए और उसके ऊपर कई बार शुद्ध किया गया तिल का तेल छिड़कना चाहिए। पीने के लिए रोगी को घी देना चाहिए और उसकी तेल से मालिश करानी चाहिए और उसके द्वारा खाए गए भोजन के पूरी तरह पच जाने के बाद उसको विरेचन (दस्त) कराने चाहिए (जैसी सलाह चिकित्सा ग्रन्थों में दी गई है)। इस घाव के पूरी तरह चंगे हो जाने पर समझना चाहिए कि मांस ठीक से चिपक गया है, पर आंशिक लाभ में नाम को फिर से छीलकर और मांस चिपकाना चाहिए। चिपकाई गई नाक को उसकी स्वाभाविक और पहली की लंबाई न आने पर लंबा करना चाहिए या उसको शल्य-क्रिया द्वारा नए बने मांस के अनुसार फिर से बनाना चाहिए। कटे हुए होंठों को चिपकाने का तरीका भी वही है, जो कटी हुई नाक के बारे में ऊपर बताया गया है, बस इसमें नलियां नहीं रखी जाती। जो वैद्य इन मामलों में पूरी तरह निष्णात है, राजा की चिकित्सा उसी को सौंपी जानी चाहिए। (19)

—सूत्रस्थान, अध्याय 16

घावों पर पट्टी बांधना

अब हम घावों पर पट्टी बांधने से सम्बन्धित अध्याय को लेंगे। (1)

सूजन वाले सभी मामलों में दवा के प्रलेप को सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण उपचार मानना चाहिए। हर खास रोग में प्रयुक्त होनेवाले खास तरह के प्लास्टर की चर्चा हम अभी-अभी करेंगे। दवा के प्लास्टर (प्रलेप) से भी ज्यादा अच्छा चंगा करने के लिए पट्टी बांधने को माना गया है क्योंकि यह घाव को शुद्ध और साफ करने में बहुत मदद देती है और जोड़ों को ठीक रखती है। दवा के प्रलेप को नीचे से ऊपर की ओर (प्रतिलोम) लगाना चाहिए। इसे अनुलोम (या स्थानीय बालों से नीचे की ओर करके) कभी नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि ऊपर बताए गए तरीके से लगाया गया प्रलेप पीड़ित जगह की सतह पर अच्छी तरह चिपक जाएगा और रोम-छिद्रों में से और प्रस्वेद वाहिका बाह्य-प्रणालियों में से भीतर भिद जाएगा और इस तरह अपने असर और गुणों के सहित भीतर चला जाएगा।

प्रलेप के सूख जाने पर उसे बदलकर नया प्रलेप चढ़ाना चाहिए, हां जहां उसका उद्देश्य घाव को दबाकर एक सिरे से पीव निकालना हो (पीडयितव्य व्रण) वहां नहीं बदलना चाहिए। (2)

दवा का सूखा प्रलेप निरर्थक और निष्फल होता है और विदाहक और क्षारक बन सकता है। प्रलेप को (प्रलेप की मोटाई और तारतम्य के अनुसार) तीन उपवर्गों में बांटा जा सकता है : प्रलेप, प्रदेह और आलेप आदि (3)।

दवाओं के प्रलेप

प्रलेप वर्ग का प्लास्टर पतला और ठंडा लगाया जाता है और इष्ट प्रभाव के अनुसार से विशोषी (सुखाने वाले) या अविशोषी (न सुखाने वाले) द्रव्यों से युक्त बनाया जाता है। (4)

दूसरी ओर प्रदेह वर्ग के प्रलेप को पतला या गाढ़ा गरम या ठंडा लगाया जाता है और वह अविशोषी के रूप में काम करता है। (5)

आलेप वर्ग का प्लास्टर प्रलेप और प्रदेह दोनों के बीच की कोटि का होता है। (6)

इनमें से प्रलेप वर्ग का प्लास्टर अव्यवस्थित खून और पित्त के प्रकोप को ठीक करने के गुण वाला होता है। प्रदेह वर्ग का प्लास्टर वात और कफ के प्रकोप को ठीक करता है और दर्द और सूजन कम करके (घाव को) जोड़ता, शुद्ध और चंगा करता है। इसलिए यह सभी प्रकार की सूजनों में चाहे फोड़े (घाव) वाली हों या न हों, इसे इस्तेमाल करना चाहिए। (7)

घाव के ऊपर लगाए गए दवा के आलेप को कल्क या निरुद्ध आलेप

(रोकने या अलग करने वाला) नाम दिए जाते हैं। इस आलेप का काम स्थानीय रक्तस्राव को रोकना, घाव को मुलायम करना, उसके घेरे में मांस को निकालना या साफ करना, उसके भीतर पीव पड़ना रोकना और कुपित मलों और संज्ञा-शून्य अंग को ठीक करना है (जो चंगे होने की प्रवृत्ति में बाधक होते हैं। (8)

पकाव रहित सूजन में आलेप वर्ग का प्लास्टर ज्यादा लाभकारी सिद्ध होगा, क्योंकि यह कुपित शरीर-मलों के लक्षणों को शान्त करता है, जैसे जलन (कुपित पित्त के कारण), खुजली (कुपित कफ के कारण) और तेज दर्द (कुपित वात के कारण)। इसका काम खास तौर पर खाल को और संज्ञाशून्य मामलों में खून को साफ करना, जलन दूर करना और तेज दर्द और खुजली को कम करना है। (9)

शल्य-वैद्य को गुद के आस-पास या देह के किसी मर्म स्थल के आस-पास के (घाव के) रोगों में आलेप का इस्तेमाल करना चाहिए, जिसका लक्ष्य (स्थानीय कुपित मलों को) शुद्ध करना है। वात, पित्त या कफ के कुपित होने से जो रोग होते हैं, उनमें दवाओं के प्रलेप के कुल भाग के छठवें, चौथाई या आठवें हिस्से में घी को मिलाना चाहिए। (10)

कहा गया है कि आलेप की मोटाई भैंसे की नई खाल से ज्यादा मोटी नहीं होनी चाहिए। प्रलेप कभी भी रात में नहीं चढ़ाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर अपनी अन्तर्निहित सान्द्रता के कारण यह सूजन में से गर्मी को निका-लना रोक देगा और इस तरह सूजन बढ़ जाएगी। (11)

जिन रोगों में प्रदेह वर्ग के आलेप लगाए जाते हैं या रक्त और पित्त के दूषित हो जाने से जो सूजन होती है या जो सूजन बाहरी कारण या जहर या चोट के कारण होता है, उनमें प्रलेप दिन में ठंडा ही लगाना चाहिए। पिछले प्लास्टर को बिना हटाए नया नहीं लगाना चाहिए और न पहले दिन वाले के ऊपर ही, क्योंकि इससे स्थानीय गर्मी बढ़ जाएगी और दर्द और जलन इसके ज्यादा मोटे होने से बढ़ जाएंगे। पहले इस्तेमाल किए जा चुके प्रलेप को फिर गीला करके नहीं लगा देना चाहिए क्योंकि उसके गुण पहले ही शोषित किए जा चुके हैं इसलिए इसे बिलकुल अप्रभावी मानना चाहिए।[1] (12)

पट्टी बांधने के सामान

अब मैं घाव (फोड़े) या पट्टी बांधने के लिए जरूरी सामानों को लूंगा। वे इस तरह हैं :

---

1. पाठ का यह अंश चक्रपाणि की भानुमती नामक टीका में नहीं मिलता है।

क्षौम (अतसी के रेशे से बना कपड़ा), कार्पास, आविक (भेड़ की ऊन का कंबल), दूकूल (खड्डी का रेशम), पत्रोर्ण (पौंड्र और मगध में पैदा होने वाले नाग वृक्ष के रेशे से बना कपड़ा), चीन पट्ट (चीनी कपड़ा), अन्तर्वल्कल (पेड़ की भीतरी छाल का), चर्म, अलाबू-शकल (लौकी की खाल), लता-विदल (अध कुचली श्यामा लता का), रस्सी का जाल, मलाई, तूल-फल (बिनौला) और लोहा ये उपसाधन हर मामले की जरूरत, समय, वर्ष की ऋतु का ख्याल करके इस्तेमाल करने चाहिए।[1] (13)

पट्टियां

चौदह विभिन्न प्रकार की पट्टियों के नाम हैं: कोशा (म्यान), दात्र (रस्सी), स्वस्तिक (आर-पार), अनुवेल्लित (मोड़कर), प्रतोली या उत्तोली (चक्कर वाली सड़क), मंडल (अंगूठी की तरह), स्थगिका (पानदान), यमक (दुहरी), खट्वा (खाट की तरह बुनी), चीन (धारावाहिक), विबन्ध (गांठ वाली), वितान (चंदोवा की तरह), गोफण (सींग की तरह) और पंचांगी (पांच हिस्सों वाली)। उनके नामों से उनके स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। (14)

पट्टियां लगाना और बांधना

इनमें से कोशा (या म्यान जैसी) पट्टी अंगूठे या अंगुलियों के पोरों पर बांधनी चाहिए। दात्र पट्टी पतले और झुके हुए हिस्सों पर, स्वस्तिक जोड़ों के चारों ओर, कूर्चक मर्मों के चारों ओर, भौंहों पर, कानों के चारों ओर और छाती के इलाके के चारों ओर। इसी तरह अनुवेल्लित पट्टी देह के पीड़ित स्थल के किनारों पर (हाथों-पैरों पर) व्रण होने पर बांधनी चाहिए। प्रतोली वर्ग की पट्टी गरदन

---

1. कुपित वायु या पित्त के कारण हुई सूजन या घाव में पट्टी मोटे कपड़े की होनी चाहिए, पर गर्मी में यह पतले कपड़े की होनी चाहिए। इसी तरह देह के किसी गहरे या कुहर वाले स्थान पर बंधी पट्टी मोटे कपड़े की होनी चाहिए। जब पट्टी का स्थान शरीर के किसी हिलने योग्य स्थल पर हो, तो इसका उलटा करना चाहिए।

इसी तरह सांप के काटने पर छेद किए गए घाव के ऊपर रस्सी से या ऐंठे गए कपड़े की पट्टी से कसकर बंध लगाना चाहिए। टूटी हुई हड्डी को लताविदल (अधकुचली श्यामा लता) के गुच्छों को ऐंठकर टूटने की जगह के चारों ओर बांधना चाहिए। स्थानीय रक्तस्राव पर मलाई बांधकर रोकना चाहिए। अर्दित (चेहरे पर लकवा) से प्रभावित अंग और टूटे दांत के मामले में लोहे, सोने या चांदी के तागे से बांधना चाहिए। मस्से आदि को एला (इलायची की छाल) से बांधना चाहिए और कपाल के घाव पर बांधने के लिए सूखी लौकी की छाल इस्तेमाल करनी चाहिए।

या शिश्न के चारों ओर, स्थगिका शिश्न के पोर या अंगुलियों के पोरों पर, यमक पास-पास के या मिले हुए फोड़ों पर, खट्वा प्रकार की गालों की हड्डियों पर और भौंह के बीच के हिस्से में, वितान खोपड़ी पर, गोफण ठोड़ी के आस-पास के क्षेत्र में और पंचागी हंसुली के ऊपर के भाग में। (15)

संक्षेप में खास प्रकार की पट्टी उस जगह पर बांधनी चाहिए, जहाँ वह खासतौर पर उपयोगी समझी जाए। अब हम यंत्रण (पट्टियों के बांधने के तरीके) को लेंगे। जो घाव के ऊपर, नीचे या तिरछे बांधने के हिसाब से तीन हिस्सों में बांटा जाता हैं। (15)

कवलिका

दवा और पट्टी के बीच (मुलायम पत्तियां या दवा जैसे गुण वाले वृक्ष की खाल का गूदा) रखी जाने वाली कवलिका होती है। इस सहारे या कवलिका की खूब मोटी परत पीड़ित स्थल पर चढ़ाई जानी चाहिए और फिर शल्य-वैद्य को अपने बाएँ हाथ से इसे दबाने के बाद इसके ऊपर सीधा, मुलायम, बिना मोड़ा, बिना सिकुड़ा कपड़ा रखना चाहिए[1] और फिर आखीर में पट्टी इस तरह बांधनी चाहिए कि घाव के ऊपर कोई गांठ न रहे। उसमें रोगी को परेशान करने की कोई बात न रहे। (17)

विकेशिका का रखा जाना

शहद घी या दवा के घोल में सानकर विकेशिका (लिंट) को दवा पर रखना चाहिए। बहुत ज्यादा सूखी या तेल या तेल वाली दवा में बहुत डुबाकर चिकनी विकेशिका न रखनी चाहिए, क्योंकि ज्यादा स्नेहिल विकेशिका के घाव में गाढ़ा पीव पड़ने का भय रहेगा और ज्यादा सूखी विकेशिका से रगड़ के कारण या गलत तरीके से उसके रखने पर घाव के अंकुर टूटने का खतरा रहेगा। (18)

घाव की जगह और उसके स्वरूप के अनुसार पट्टी गाढ़, सम या शिथिल (ढीली) तीन में से किसी रीति से बांधनी चाहिए[2]। सख्त पट्टी (गाढ़बन्ध), चूतड़ों पर, किनारे पर, बगल पर, वंक्षण इलाके में और छाती या सिर के

---

1. ध्यान से यह देखकर कि लगाई गई दवा रुग्ण अंग पर समानरूप से लग गई है और अपेक्षित प्रकार की पट्टी उपयुक्त रहेगी या नहीं।
2. अतिरिक्त पाठ : देह के पीड़ित या घाव वाले भाग के चारों ओर रोगी को बिना कष्ट पहुँचाए हलके तौर पर कसी गई पट्टी गाढ़बन्ध कही जाती है, जो ढीली बांधी जाती में उसे शिथिलबन्ध कहते हैं और जो न ज्यादा कसी होती है और न ज्यादा ढीली उसे समबन्ध कहते हैं।

चारों ओर बांधनी चाहिए। सम प्रकार की पट्टी कान, छोरों (हाथों और पैरों), चेहरे, गले, होंठ, शिश्न, अंडकोश, पीठ, पेट और छाती के चारों ओर बांधनी चाहिए। (19)

कुपित पित्त के लक्षणों से युक्त घाव जब ऐसी जगह हो जहां गाढ़ बन्ध (सख्त पट्टी) बताया गया है, तो उसे समबन्ध के रूप में बांधना चाहिए और जहां सम प्रकार का बताया गया हो तो शिथिल प्रकार से बाँधना चाहिए और शिथिल बन्ध की जगह समबन्ध का इस्तेमाल करना चाहिए। इसी परिस्थिति में ढीली पट्टी के स्थान पर सख्त पट्टी ही बांधनी चाहिए और कुपित वात के मामले में भी यही प्रक्रिया ठीक समझी जानी चाहिए। (20)

गर्मी और शरद् ऋतु में दूषित रक्त या पित्त वाले घाव में पट्टी दिन में दो बार बदलनी चाहिए, कुपित वात या कफ वाले घाव की पट्टी वसन्त और हेमन्त में हर तीसरे दिन बदलनी चाहिए। इसी तरह कुपित वात वाले घाव की पट्टी दिन में दो बार बांधनी चाहिए। 'आप अपने विवेक से काम लेंगे और हर मामले की जरूरतों के अनुसार पट्टी संबंधी इन नियमों को बदल या अपना लेंगे।' (21)

दवा से युक्त विकेशिका उस स्थिति में अपना असर नहीं करती या स्थानीय दर्द या सूजन बढ़ा देती हैं जब शिथिल बन्ध या समबन्ध की जगह पर गाढ़ बन्ध की पट्टी से काम ले लिया जाता है। जहां गाढ़बन्ध काम में लाना चाहिए था वहां बिना समझे शिथिल बन्ध लगाने से दवा विकेशिका से गिर जाएगी और फलतः घाव में रगड़ लगाकर रिसना शुरू हो जाएगा और किनारे के अंकुर टूट जाएंगे। उसी तरह गाढ़बन्ध या शिथिल बन्ध के विहित किए जाने पर समबन्ध लगाने से भी कोई असर न होगा। उचित बन्धों की पट्टी बांधने से दर्द घटेगा, घाव के किनारे मुलायम पड़ेंगे और इस तरह स्थानीय रक्त शुद्ध हो सकेगा। (22)

पट्टी न बांधने की बुराइयां

घाव पर उपयुक्त पट्टी न बांधकर उसे खुला छोड़ देने से इस पर मक्खी मच्छर बैठने लगते हैं। वह पसीने और ठंडी हवा से भी सांन्द्र होता रहता है। उस पर बाहर की चीजें जैसे हड्डी, धूल आदि के कण लग जाने का भी खतरा रहता है। साथ ही गरमी या सरदी में लगातार खुले रहने से तरह-तरह का दर्द होता रहता है और घाव दुर्दम्य बन जाता है। उसके ऊपर लगाए गए प्रलेप सूख जाते हैं, कट जाते हैं और जल्दी ही गिर जाते हैं। (23)

कुचली, विदीर्ण, टूटी, उतरी या अलग हुई हड्डी या शिरा या उसी तरह बाधित स्नायु भी शल्य पट्टियों से जल्दी चंगा हो जाता या यथास्थान आ

जाता है। इस तरीके से रोगी आसानी से लेट, उठ-बैठ, खड़ा हो सकता है और चल फिर सकता है। और आराम या चलने-फिरने में ज्यादा सुविधा मिलने से वह जल्दी चंगा हो जाता है। (24)

जहां पट्टी बांधना निषिद्ध है

जो घाव खून या पित्त के अव्यवस्थित होने से, चोट से या किसी प्रकार के विष से पैदा होते हैं और जिनमें चुसाव, जलन, दर्द, लालामी या पकाव होता है या जो जलने से या वास्तविक या संभाव्य विदाहकों के लगाने से बनते हैं, घाव फैलने और सूखी खाल लटकने के चिह्न होते हैं, उनमें पट्टी बिलकुल नहीं बांधनी चाहिए। (25)

कुष्ठ रोगी में दाह के कारण या मधुमेह रोगी में फुन्सी (पिडका) के कारण या जहरीले चूहे के काटने से ज्यादा खाल-मांस बढ़ने के मामले में या किसी अन्य विष वाले घाव में पट्टी बिलकुल ही नहीं बांधनी चाहिए। गुद के पास भयानक पकाव होने या निर्जीव खाल वाले घाव में भी यही नियम लागू करना चाहिए। घावों-फोड़ों के विशिष्ट गुणों से परिचित कुशल वैद्य को उपचार-अधीन घाव की विशिष्ट बातों को देखकर उसके स्थान और कुपित त्रिदोष का स्वरूप पहचान कर तदनुसार उसके परिणामों को पहले से ही समझ लेना चाहिए। जिस ऋतु में घाव पहले पैदा होता देखा जाता है, वह भी उसके भावी स्वरूप का निर्णय करती है। (26)

पट्टियां रोगी स्थल के ऊपर से, नीचे से या बगल से बांधी जानी चाहिए। अब मैं घाव पर पट्टी बांधने की दूसरी प्रक्रिया का वर्णन करूंगा। घाव की जगह पर पहले कवलिका की मोटी तह जमा देनी चाहिए और फिर पहले विहित किए गए वैद्य के स्वविवेक के अनुसार उस पर मुलायम या बिना सिकुड़ा कपड़े का टुकड़ा रखना चाहिए[1]। (27)

विकेशिका और (भीतर रखी हुई) औषध में ज्यादा चिकनाई नहीं होनी चाहिए और उसमें ज्यादा तेल नहीं होना चाहिए, क्योंकि उससे घाव में ज्यादा और असामान्य गाढ़े पीव के बनने की संभावना है। दूसरी ओर ज्यादा सूखी विकेशिका से घाव के किनारों पर रगड़ लगकर अंकुर फट जाने का खतरा है। इसी तरह घाव के कुहर में गलत तरीके से विकेशिका रखने से ज्यादा पीव निकलने से सतह में विषमता आ सकती है। दवा के प्रलेप में उपयुक्त रूप में डुबोकर

1. गयदास, ब्रह्मदेव आदि बहुत से विद्वान् पाठ के इस अंश को क्षेपक मानते हैं। डल्हन और चक्रपाणि दोनों ने भी प्रायः इसी टिप्पणी के साथ इस अंश को अपनी व्याख्या में लिया है।

और ठीक तरह से रखी गई विकेशिका उसे जल्दी चंगा कर देती है। घाव के संबंध में सभी स्राव कराने वाले उपाय उसकी हालत का ख्याल रखकर चालू रखने या बन्द कर देने चाहिए और उसी से पट्टी का स्वरूप और प्रकार भी तय करना चाहिए। खून या पित्त के अव्यवस्थित होने से बने घाव पर दिन में एक बार पट्टी बांधनी चाहिए, जिसे कुपित कफ या वात के मामले में कई बार करना चाहिए। पीव या स्थानीय विकृति को घाव की जड़ को धीरे-धीरे दबाकर और हाथ को उसके चारों ओर विपरीत (नीचे-ऊपर) चलाकर निकालना चाहिए और गुदासंधियों और जोड़ों के चारों ओर यथाविधि पट्टी बांध देनी चाहिए। (28)

दो हिस्से में कटे कान के पल्लों को जोड़ने के बारे में बताए गए नियम कटे हुए होंठों के बारे में भी लागू होंगे। इस अध्याय में पूरी तरह बताए गए उपाय अनुमान, उपमान और स्वनिर्णय द्वारा यथोचित परिवर्तन करके टूटी या उतरी हड्डी के मामले में भी काम में लाने चाहिए। (29)

ठीक से पट्टी बांधे गए घाव पर रोगी के लेटने, बैठने और चलने-फिरने से और जिस वाहन या गाड़ी पर उसे ले जाया जाए उसके धक्के से उस पर असर न पड़ने की ज्यादा संभावना है। शिरा, स्नायु, ऊपरी खाल, मांस या हड्डी को प्रभावित करने वाले घाव को बिना पट्टी बांधे ठीक नहीं किया जा सकता। देह के किसी विवर में स्थित घाव या अंगों के किसी जोड़ पर होने वाला घाव या हड्डी में गहरे, ऊपरी, दुर्दम्य या संहारक प्रकार का घाव बिना पट्टी बांधे सफलतापूर्वक ठीक नहीं किया जा सकता। (30) —सूत्रस्थान, अध्याय 18

शल्य-क्रियाओं के भेद

अब हम आठ प्रकार की शल्य-क्रियाओं वाले अध्याय को गेलें। (1)

भगन्दर, श्लेष्मिक, ग्रन्थि, तिलकालक, अर्श, अर्बुद, चर्मकील, जतुमणि, मांससंघात, गलसुंडिका, वल्मिका, व्रणवर्त्म, शतपोनक, अध्रुष, उपदंश, मांसकन्द्य, अधिमांस्य और मांस या हड्डी में बाहरी चीज आ जाने के रोग तथा स्नायु, मांस या शिराओं का निर्जीव होना ऐसे रोग हैं, जिनमें वैद्य का प्रयोग करना चाहिए। (2)

भेद्य

भेद्य का प्रयोग नीचे लिखे रोगों में करना चाहिए: विद्रधि, सांनिपातिक को छोड़कर तीन तरह की ग्रन्थियां, कुपित वात, पित्त या कफ से बना विसर्प, वृद्धि, विदारिका, प्रमेह-पिडका, सामान्य सूजन, स्तनांग के रोग, अवमन्थक, कुम्भिका, अनुशायी, नाडी, दो तरह के वृन्द, पुष्करिका, अलजी, क्षुद्र रोग (सभी छोटी-मोटी त्वचा सम्बन्धी या स्फोटपूर्ण बीमारियां), दो तरह के पुप्पुट-तालुपुप्पुट और दन्तपुप्पुट, तुंडिकेरि, गिलायु और स्थानीय मांस में या देह के किसी

मुलायम भाग में पकाव (जैसे भगन्दर) और साथ ही मूत्राशय में पथरी और वसा की अव्यवस्था से होने वाले रोग[1] । (3)

लेख्य

लेख्य या खरोंचने वाली शल्य-क्रिया निम्न रोगों में काम में लाई जानी चाहिए : चार तरह की रोहिणी, किलास, उपजिह्विका, अव्यवस्थित वसा वाले रोग, दन्त वैदर्भ ग्रन्थि, व्रण-वर्त्म, अधिजिह्विका, अर्श, मांसकन्दी और मानसोन्नति । (4)

व्यधन या वेधनम्

व्यधन या वेधन नामक शल्य-क्रिया इन रोगों में करनी चाहिए : शिरा के मामले में या उदकोदर (जलोदर) या मूत्रवृद्धि (हाइड्रोसील), एषण रोगों में जिनमें एषणी का प्रयोग होता है, नाड़ियों के मामले में और बाहरी पदार्थ देह में आ जमे हों तब और जिनमें असामान्य (पार्श्विक या तिरछे) चिह्न मिलते हों । (5)

आहरणम्

आहरण (बाहर निकालना) नामक प्रक्रिया तीन तरह की शर्करा[2] के मामले में दांतों के बीच से या कानों के विवर से कोई विकृति निकालने में, देह के किसी भाग में जमे बाहरी पदार्थ को निकालने में, मूत्राशय से पथरी निकालने में, सिकुड़े गुद में से विष्ठा निकालने में या गर्भाशय में से गर्भ निकालने में (जैसे गलत गर्भ स्थिति में या दर्द वाले प्रसव में) प्रयोग में लानी चाहिए । (6)

स्राव्यम्

रिसा कर निकालने के उपाय (स्राव्यम्) नीचे लिखे रोगों में अपनाए जाने चाहिए अर्थात् विद्रधि सांन्निपातिक को छोड़कर किसी भी प्रकार का कुष्ठ, शरीर वात का कुपित होना और पीड़ित प्रदेश में दर्द, कान के पल्लों सम्बन्धी रोग, श्लीपद, रक्त विष, अर्बुद, विसर्प, ग्रन्थि, (वात, पित्त या कफ से पीड़ित ग्रन्थियां), तीन तरह का उपदंश, स्तन रोग, विदारिका, सौषिर, गलशालक, कंटक, कृमिदन्तक, दन्तवेष्ठ, उपकुश, शीताल, दन्तपुप्पुट, अव्यवस्थित या कुपित रक्तपित्त और कफ के कारण होठों के रोग, और क्षुद्ररोग नाम से गिने जाने वाले बहुत से अन्य रोग । (7)

---

1. ग्रन्थि, गलगंड, वृद्धि (वृषण, रसौली), अपचि आदि वसा से पैदा होने वाले रोग उदाहरणस्वरूप माने गए हैं ।

2. मूत्र, अश्मरी, दांत पर चूनेदार निक्षेप और पादशर्करा ।

सीव्यम्

विकृत वस्तु पूरी तरह निकल जाने के बाद अव्यवस्थित वसा के कारण खुले घाव के मामले में और किसी चलने-फिरने से संबंधित किसी जोड़ पर साध्य सद्य-व्रण के मामले में भी सीव्यम् उपाय को अपनाना चाहिए। (8)

सिलाई की हालत

अग्नि (विदाहक) और क्षार द्रव्य लगाने से या विषैली दवा या द्रव के उपचार से या शल्य (बाहरी चीज) के घुसने से और न निकलने से पैदा हुए घाव के मामले में सिलाई तब तक न करनी चाहिए जब तक खूब सफाई न कर दी जाए, क्योंकि इसके कुहर के भीतर कोई बाल, नाखून, धूल या हड्डी के कण रह जाने से असामान्य पकाव हो जाएगा और बहुत दर्द और ज्यादा रिसाव होने लगेगा। इसलिए सीने से पहले इन घावों को खूब साफ कर देना चाहिए और सभी बाह्य या स्थानीय विकृत पदार्थ उससे बाहर निकाल देने चाहिए। (9)

सिलाई की रीति

फिर घाव को उसकी उचित स्थिति तक दबाने के बाद इसे नीचे लिखे किसी भी प्रकार के तागे से सी देना चाहिए : पतला सूती धागा, अश्मन्तक वृक्ष या सन का रेशा या अतसी या मूर्वा या गुडूची का रेशा या चमड़े की पट्टी, ऐंठे हुए घोड़े के बाल या पशुओं के बाल। इसमें गोफण, तुनसेवनी या ऋजुग्रन्थि जैसी सिलाई की कोई भी रीति अपनाई जा सकती है या जैसा घाव की स्थिति और आकार के लिए उपयुक्त हो। सिलाई के समय अंगुली से घाव के किनारे को धीरे-धीरे दबाते जाना चाहिए। जहां मांस पतला या कम हो ऐसी जगह पर या जोड़ की जगह पर घाव की सिलाई करने में दो अंगुल लंबी गोल सुई काम में लानी चाहिए। त्रिकोण जैसे आकार की तीन अंगुल लंबी सुई देह की किसी मांसल जगह पर उपयोगी बताई गई है। अंडकोष, उदर की खाल या किसी अन्य मर्मस्थल पर हुए घाव के लिए अर्द्धवर्तुल या धनुषाकार सुई उपयोगी बताई जाती है। (10)

ये तीन तरह की सुइयां इस तरह बनाई जाएँ कि उनकी नोकें बड़ी तेज हों, जिससे उनको आसानी से काम में लाया जा सके और उनकी मोटाई मालती के फूल के डंठल जितनी हो। (11)

सुई को विदर के बहुत पास या बहुत दूर या घाव के मुख पर नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि इससे (थोड़े दबाव या हिलने-डुलने से) पहले मामले में सींवन के टूट जाने का खतरा है और दूसरे में दर्द पैदा हो जाने का खतरा है। इस प्रकार किए गए घाव को कपड़े से ढांकना चाहिए और प्रियंगु, अंजनम्, यष्ट-

नाह्व और रोध्र के चूर्णों का मिश्रण कूट-पीस कर उसके ऊपर बुरकना चाहिए या उस पर क्षौम कपड़े को जलाकर उसकी राख या सल्लकी फल का चूरा डालना चाहिए। फिर फोड़े पर अच्छी तरह पट्टी बांधनी चाहिए और फोड़े के रोगी की परिचर्या और सुश्रूषा के बारे में (अध्याय उन्नीस में) पहले ही बताए जा चुके आहार-व्यवहार के नियमों का पालन करना चाहिए। (12)

इस तरह संक्षेप में आठ तरह की शल्य-क्रियाओं का ब्योरा दिया गया। उनको बाद में चिकित्सितम् वाले भाग में लिखा जाएगा। (13)

दोषपूर्ण शल्य-क्रियाएँ

इन आठ तरह की शल्य-क्रियाओं में चार भिन्न तरह के खतरे हो सकते हैं, जैसे अपर्याप्त या ज्यादा शल्य करने से या (चाकू या औजार के) तिरछे या तिर्यक् लग जाने से या चिकित्सक द्वारा स्वयं चोट लगा देने से। (14)

अपने रोगी के शरीर पर त्रुटि, लालच, भय, घबराहट जल्दी के कारण या झड़की पड़ने या गाली दिए जाने के कारण गलत शल्य-क्रिया करने वाले शल्य-वैद्य की निन्दा की जानी चाहिए, क्योंकि इस तरह वह अनेक नए और अदृष्ट रोगों का कारण बनता है। आत्मरक्षा की थोड़ी-सी प्रवृत्ति वाला रोगी ऐसे शल्य-वैद्य से या विदाहक या गलत उपयोग करने वाले से दूर रहकर अपना भला ही करेगा और उसकी उपस्थिति से उसी तरह बचना चाहेगा, जैसे वह आग लग जाने से या जहर के प्याले से बचना चाहता है। (15)

दूसरी ओर ज्यादा की गई शल्य-क्रिया या जरूरत से ज्यादा गहराई में शल्य-यंत्र डाल देने से किसी शिरा, स्नायु, हड्डी, जोड़ या शरीर के किसी मर्मस्थल के कट या नष्ट हो जाने का खतरा है। बहुत से मामलों में अज्ञानी शल्य-वैद्य द्वारा की जाने वाली शल्य-क्रिया रोगी की तत्काल मृत्यु का कारण बनती है या उसे आजीवन मृत्यु जैसी यंत्रणा दे देती है। (16)

शरीर में पाँच मर्मस्थलों या प्रमुख अंगों (जैसे जोड़, हड्डियां, शिराएं, स्नायु आदि) में से किसी को बिना समझे चोट पहुँचाने के जो लक्षण साधारणतः दिखाई पड़ते हैं, वे ये हैं: भ्रमि, संज्ञाहीनता, शरीर के काम रुक जाना, अर्ध-संज्ञाशून्यता, अपने को संभालने में अक्षमता, दिमाग का काम बन्द हो जाना, दाह, मूर्च्छा, अंग ढीले पड़ना, सांस मुश्किल से आना, पीड़ा या कुपित वात का रोग, चोट वाले अंग से या स्थान से रक्तस्राव या मांस के घुलने जैसा पानी बहना, निश्चेतना या ज्ञानेन्द्रियों का निष्क्रिय हो जाना। शिरा[1] के कट जाने पर

1. ऊपर गिनाए गए देह के मर्मस्थलों के अलावा अन्यत्र स्थित।

घाव से इन्द्रवधू कीड़े जैसे गाढ़े लाल रंग का खूब रक्तस्राव होने लगता है और कुपित स्थानीय वात अपने सब अनिवार्य लक्षण दिखाने लगती है और रक्त के वर्णन संबंधी अध्याय में इस सिलसिले में बताई गई बीमारियां हो जाती हैं। (17)

इसी तरह चोट खाए स्नायु से संबंधित हिस्से या अंग में टेढ़ेपन, झुकाव या खत्म हो जाने की भावना पैदा हो जाती है और दर्द तथा कृत्यहीनता आ जाती है और इससे होने वाले फोड़ों के ठीक होने में बहुत समय लगता है। (18)

चल या अचल जोड़ में चोट लगने से उस जगह पर बहुत सूजन आ जाती है, भयंकर पीड़ा होती है, ताकत कम हो जाती है, जोड़ों में काफी दर्द होता है, प्रभावित अंग काम करना बन्द कर देता है। इसी तरह जब शल्य-क्रिया के सिलसिले में किसी हड्डी को चोट पहुँचती है, तो रोगी को दिन रात अवर्ण्य दर्द होता है और उसे किसी भी तरह चैन नहीं मिलता। प्रभावित जगह पर दर्द और सूजन आ जाती है और प्यास और अंगों का न चलना भी इसके खास लक्षण होते हैं। (19)

शिरामर्म (धमनियों के जोड़ आदि) में चोट लग जाने से अकेली शिरा में लगी चोट वाली सभी बातें होती हैं, जैसा पहले ही बताया जा चुका है। जब चोट मांस के मर्म भाग में लगती है तो दृष्टिहीनता और खाल का पीला-सा रंग जैसे लक्षण दिखाई देते हैं। (20)

जो रोगी समझदार है और अपनी संसार यात्रा का अंत करने की जल्दी में नहीं है, वह एक ऐसे दोषी, अप्रवीण शल्य-वैद्य से दूर रहेगा जो शल्य-क्रिया करते समय स्वयं अपने को भी बिना चोट पहुंचाए नहीं रहता। (21)

शल्य-क्रिया तिरछी तरह से करने से जो बुराइयां होती हैं, उनको पहले बताया जा चुका है और इसलिए शल्य-क्रिया के सिलसिले में बुराइयां न होने पाएं इसका ध्यान रखना चाहिए। (22)

जो रोगी अपने माता-पिता, बेटों और रिश्तेदारों का भी विश्वास नहीं करता उसे भी अपने वैद्य पर भरोसा रखना चाहिए और बिना कोई खतरा समझे अपनी जिन्दगी उसके हाथों में सौंप देनी चाहिए। इसलिए वैद्य को भी अपने बच्चे की तरह अपने रोगी की रक्षा करनी चाहिए। शल्य-क्रिया एक बार के भेदन में ही हो सकती है या चंगा करने के लिए दो, तीन, चार या ज्यादा बार भेदन करना जरूरी हो सकता है। अपनी व्यवसायिक निपुणता से मानवता का कल्याण करके वैद्य अपार कीर्ति प्राप्त करता है और इस लोक में अच्छे और बुद्धिमान लोगों से प्रशंसा पाता है और परलोक में स्वर्ग प्राप्त करता है। (23)

—सूत्रस्थान अध्याय 25

देह में से शल्यों को खोजना

अब हम देह में खो गए या गहरे घुस गए शल्यों की खोज के प्रनष्ट शल्य-विज्ञान वाले अध्याय को लेंगे (1)

शल्य शब्द शल् या श्वल् धातु से बना है (जिसका अर्थ जल्दी चलना है) और उसमें णादि यत् प्रत्यय लगी है। उनको उनके स्वरूप के अनुसार आगन्तुक या शरीर (देह में से ही) दो भेदों में बांटा जा सकता है। (2)

शल्य सामान्यतः पूरे अंग में बाधक या रोधक के रूप में काम करता है और इसलिए जो विज्ञान इसके स्वरूप और लक्षणों को निपटाता है, उसे शल्य शास्त्र कहते हैं। शारीर शल्य बाल, नाखून, जमा हुआ खून (धातु)[1] आदि, मल (निष्ठा) या शरीर के कुपित दोष हो सकते हैं। आगन्तुक या बाह्य शल्य वह है जो शरीर को पीड़ा देता है और जो पहले बताए हुए सूत्रों के अलावा पैदा होता है, जिसमें लोहा और हड्डी के टुकड़े, घास के तिनके, बांस की फांसे, सींग के टुकड़े आदि शामिल हैं। आगन्तुक शल्य का अर्थ खास तौर पर लोहा ही होता है क्योंकि यह मारने का काम करता है और सभी धातुओं से ज्यादा असह्य है। चूंकि लोहे से बनी वस्तु की धार को कितना भी तीक्ष्ण बनाया जा सकता है और इसे दूर से आसानी के साथ फेंका जा सकता है, इसलिए बाण आदि बनाने में लोहे को ही खूब चुना जाता है। (3)

बाणों के भेद

बाणों को पंखों और बिना पंखों के होने के नाते दो भागों में बांटा जा सकता है। उनके पिच्छ-दंड पेड़, पत्ती, फूल, फल या पक्षियों और भयानक पशुओं के मुख जैसे बनाए जाते हैं। (4)

बाणों की उड़ान

बाण (शल्य)[2] की उड़ान पांच तरह की हो सकती है : ऊपर की ओर, नीचे की ओर, पीछे की ओर (पीठ पीछे से आने वाला) तिरछी और सीधी धीमी हुई गति या बाह्य रोध के कारण बाण नीचे गिरकर खाल, धमनियों या देह की किसी अन्य भीतरी प्रवाहिका में घुस सकता है या हड्डी में या इसके विवर में घुसने की जगह पर घाव या व्रण पैदा कर देता है। (5)

लक्षण

अब मैं शल्य-व्रण (बाण के घाव) के सिलसिले में मालूम होने वाले

---

1. आयुर्वेदिक निदानज्ञों ने रक्तस्रोतरोधक और थ्राम्बोसिस को भी शल्यम् में गिना है।
2. हिंसार्थक शल् धातु से बाण या पिच्छ दंड।

लक्षणों को बताता है। इन लक्षणों को दो उप-शीर्षों में गिना जा सकता है, विशिष्ट और सामान्य। सामान्य लक्षण ये होते हैं :

जिस घाव में दर्द और सूजन होती है और जिसमें पानी के बुलबुले की तरह उभार आ जाता है, उसका गहरा बादामी रंग होता है और धोने में वह मुलायम होता है। घाव का स्थल स्फोटपूर्ण फटन से भरा होता है और भीतर से लगातार खून बहता रहता है। खाल में धंसे शल्य के जो खास चिह्न होते हैं, वे यह हैं कि स्थल सख्त हो जाता है और बढ़ी हुई सूजन होती है तथा स्थानीय खाल काली या बदरंग हो जाती है। (6)

जब बाण मांस में घुस जाता है तो सूजन का आकार बढ़ जाता है और इस कारण होने वाला व्रण सूखता नहीं तथा जरा भी दबाव बरदाश्त नहीं कर सकता। पकाव होने लगता है और घाव में चुसाव का दर्द होता है।[1] (7)

जब बाण किसी पेशी में घुस जाता है, तो सूजन और चुसाव के दर्द को छोड़ बाकी सभी पिछले लक्षण (कुछ के अनुसार प्यास भी) दिखाई पड़ते हैं। इसी तरह शिरा के बाण घुसने से शिरा में अध्मान, दर्द और सूजन होती है। स्नायु में बाण लगने से इसकी सूजन, उठान और गहरा दर्द होता है। देह के भीतरी स्रोत रुक जाते हैं और काम करना बंद कर देते हैं, जब बाण उनमें से किसी में घुस जाता है। जब बाण किसी धमनी में घुसता है, तो लाल और झागदार खून गड़गड़ करके निकलना, प्यास, मितली और अंग में दर्द होता है। उसी तरह जब बाण हड्डी में घुस जाता है तो तरह-तरह की सूजन और दर्द होता है। जब शल्य हड्डी के विवर में ठहर जाता है तो खाल पर मांस के पिंड पीड़ित हड्डी के विवर में भरे-भरे होने की भावना और हड्डी में भयंकर दर्द देखे जाते हैं। जोड़ में बाण घुसने पर वही लक्षण मिलते हैं, जो बाण के हड्डी में घुसने के प्रसंग में बताए गए हैं। साथ ही रोगी संबंधित जोड़ को समेट या फैला नहीं सकता। शल्य के उदर में धंस जाने पर आंतों में ध्वनि के साथ वह अध्मान होते है, पलेटस और मूत्र में दवाव पड़ता है और बिना पचा खाना और पेशाब और विष्ठा घाव के मुख या दरार से निकलते दिखाई देते हैं। जब बाण देह के किसी मर्मस्थल में घुस जाता है, तो ऊपर बताए गए प्रकार के ही लक्षण देखे जाते हैं। ऊपरी छेद होने पर ये लक्षण बहुत हलकी मात्रा में देखे जाते हैं। (8)

स्थानीय बाल की दिशा में, गले में, देह के किसी भीतरी स्रोत[2] या शिरा में खाल, पेशी या हड्डी के विवर में शल्य के घुसने से बना घाव जो किसी भी

1. कुछ विद्वानों के अनुसार रोगी को न बुझने वाली प्यास लगती है।
2. जिससे गले में खून या लार आदि के मार्ग में बाधा न पड़े।

प्रकार देह के कुपित त्रिदोष के कारण प्रभावित नहीं है, जल्दी ही और स्वतः ठीक हो सकता है, पर यदि शरीर मल से कुपित हो जाए तो या चोट लगने या शारीरिक व्यायाम से यह फिर खुल सकता है और फिर दर्द कर सकता है। (9)

स्थान का पता लगाना

खाल में घुसे शल्य के ठीक-ठीक स्थान का पता मिट्टी, उर्द की दाल, जौ, गेहूँ और गोबर के प्रलेप को घायल अंग या हिस्से में लगाकर चलाना चाहिए। अंग पर खूब तेल चुपड़ देना चाहिए और प्रलेप लगाने से पहले (उसकी सतह की सिकाई करके) प्रस्वेदन करना चाहिए। इस प्रलेप के लगाने पर जिस हिस्से में दर्द, लालामी या सूजन (संरंभ) हो, वहीं पर शल्य लगा हुआ समझना चाहिए। विकल्प के रूप में पीड़ित हिस्से में घी, मि ्टी और चन्दन का प्रलेप लगाना चाहिए, तब घुसे हुए शल्य का ठीक-ठीक पता चल जाता है, क्योंकि उस जगह की गर्मी के कारण घी, मिट्टी या चन्दन वहां पर पिघल या सूख जाएगा। (10)

इसी तरह मांस में घुसे शल्य के स्थान का इस तरह पता लगाया जा सकता है :

पहले रोगी की तेल से मालिश करनी चाहिए और उस मामले में उपयोगी दवाओं के साथ सिकाई द्वारा प्रस्वेदन करना चाहिए। इस तरह दुबला करने वाले उपायों से उस अंग की सूजन कम करके यह पता चलेगा कि बाण अपनी जगह से हटकर (पीड़ित भाग के भीतरी यौतुकों में) चलता फिरता लगेगा और दर्द, सूजन और लालामी देगा। ऐसे मामले में बाण को ठीक स्थिति वही समझनी चाहिए, जहां दर्द, सूजन आदि हो। कोष्ठा (उदर-गुहा), हड्डी, जोड़ या पेशी में खुले शल्य के बारे में भी ऐसे ही उपाय करने चाहिए। (11)

शिरा, धमनी, देह के बाह्य स्रोत या स्नायु में शल्य के घुस जाने पर रोगी को एक टूटे या निकाले हुए पहिए की गाड़ी में रखकर लहरीदार सड़क पर ऊपर-नीचे घुमाना चाहिए। धक्के लगने से होने वाला दर्द या सूजन देह के उसी जगह पर जाएगी जहाँ शल्य धंसा हुआ है। (12)

हड्डी में घुसे शल्य के मामले में पीड़ित हड्डी की मालिश करके, सिकाई करके क्रमशः तेल और गर्मी द्वारा प्रस्वेदन करना चाहिए। इसके बाद उसको खूब कसकर दबाना चाहिए और बांध देना चाहिए। इस प्रक्रिया से जिस हिस्से में सूजन और दर्द होगा वही धंसे शल्य का ठीक स्थल बताएगा। इसी तरह जोड़ में धंसे बाण के बारे में भी यही चिकनाने, प्रस्वेदन, दबाने और फैलाने के तरीके अपनाने चाहिए। इससे होने वाले दर्द और सूजन ठीक जगह बता देंगे। देह के मर्मस्थल में घुसे शल्य के बारे में कोई निश्चित तरीका नहीं बताया जा सकता।

क्योंकि वे (आठ विभिन्न स्थानीय घावों जैसे खाल, मांस, हड्डी आदि)[1] के साथ साथ होते हैं। (13)

सामान्य नियम

रोगी के नीचे लिखे शारीरिक या स्वाभाविक प्रयासों के फलस्वरूप देह के किसी हिस्से में दर्द और सूजन होने से धंसे हुए शल्य की यथातथ्य स्थिति जानी जा सकती है : घोड़े या हाथी की सवारी, ढलवां घूमना, कूदना, तैरना, ऊँची कुदान लगाना, जंभाई लेना, खांसना, गाना, खांसकर कफ थूकना, अपान वायु निकालना, हंसना, प्राणायाम करना (योग क्रिया के आरम्भ के रूप में सांस रोकना), वीर्य, पेशाब, गैस या कुल्ला छोड़ना। (14)

देह के जिस हिस्से में सूजन और दर्द हो या जो भारी या पूरी तरह संज्ञा-शून्य लगे या जो हिस्सा रोगी लगातार अपने हाथ से पकड़ता या दबाता है, या जो रिसता है या जिसमें भारी पीड़ा है, या जिसको वह लगातार अलग रखता है या (काल्पनिक छू जाने से) बचाता है, वह जगह धंसे हुए शल्य को ठीक-ठीक बताने वाली समझी जानी चाहिए। (15)

वैद्य को शल्य से होने वाले घाव या पीड़ित स्थल के विवर के भीतर की एषणी द्वारा जांच करनी चाहिए और फिर यह जानना चाहिए कि इसमें मामूली सा दर्द है, भारी वेदना नहीं या अनिष्टकर लक्षण या सूजन नहीं है, फिर उचित उपचार करने के बाद और उसके स्वस्थ रूप को देखकर और उसके किनारे को मुलायम पाकर और यह निश्चय करके कि एषणी के किनारे को इधर-उधर घुमाने पर भी धंसे बाण के किसी टुकड़े का कोई पता नहीं है, उसे यह कहना चाहिए कि अब भीतर कोई शल्य (बाहरी चीज) नहीं बची है और इसकी पुष्टि प्रभावित अंग के पूरी तरह फैलाने-सिकोड़ने से की जा सकेगी। (16)

मुलायम हड्डी, सींग या लोहे का कोई कण किसी तरह देह में धंस जाने पर महराबदार रूप ले लेता है, लकड़ी, घास के तिनके, बांस की फांस ऐसी स्थिति में अगर उनको जल्दी न निकाला जाए तो खून और स्थानीय मांस को पका देते हैं। सोना, चांदी, तांबा, पीतल, जस्ता या सीसे के टुकड़े किसी तरह मानव देह में घुसने पर पित्त की गर्मी से जल्दी पिघल जाते और आत्मसात् होकर शरीर के मौलिक तत्त्वों में बदल जाते हैं। ऐसी ही मुलायम धातुएं या द्रव्य जो स्वभावतः ठंडे होते हैं ऐसी परिस्थितियों में पिघल कर अंग के तत्त्वों

---

1. शल्य के सिलसिले में इनमें से किसी में धंसे शल्य के बारे में अपनाने के लिए जो उपाय बताए गए हैं, वे ही यथोचित परिवर्तन करके संबंधित मर्मस्थल के प्रभावित होने पर अपनाने चाहिए।

के साथ एकरूप हो जाते हैं। बाल, सख्त हड्डी के टुकड़े, बांस की फांस या मिट्टी जो शरीर में शल्य की तरह धंसे रहते हैं, न तो पिघलते हैं और न कोई परिवर्तन या विकृति ही प्राप्त करते हैं। (17)

जो वैद्य बाण (शल्य) की, चाहे वह पंख वाला हो या बिना पंख का, पांच विभिन्न उड़ानों से सुपरिचित है और जिसने मानव देह में घावों के आठ अलग-अलग स्थलों (जैसे खाल आदि) में उसके धंसने के लक्षणों को बारीकी से समझा है और पढ़ा है, वही राजा और श्रेष्ठजनों की चिकित्सा करने का अधिकारी है। (18)

—सूत्रस्थान, अध्याय 27

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
अथर्व०	अथर्ववेद
ग० पु०	गरुड पुराण
म० भा०	महाभारत
रा० त०	राजतरंगिणी
ऋ०	ऋग्वेद

सदकारणवन्नित्यम् । तस्य (परमाणोः) कार्यं (घटादि) लिङ्गम् । व्यक्तात् व्यक्तस्य निष्पत्तिः प्रत्यक्षप्रामाण्यात् । अवयवावयविप्रसङ्गस्तावदनुभूयते स यदि निरवधिः स्यात् तदा मेरु-सर्षपयोः परिमाणभेदो न स्यात्, अनन्तावयवारब्धत्वाविशेषात् । तस्मान्निरवयवं द्रव्यमवधिः स एव परमाणुः । नित्यम् परिमण्डलम् ।

सद् या शाश्वत वह है जो विद्यमान (नित्य) है और बिना कारण संपन्न हुआ है । वह सत् विद्यमान रहता है । प्रकृति में जो चीजें दिखाई पड़ती हैं, वह सत् नहीं हो सकतीं । इनमें अंगी और अंग का संबंध अनुभव की बात है । ये असीमित नहीं हो सकतीं, नहीं तो पहाड़ और सरसों के दाने में कोई मात्रा भेद न रहेगा, क्योंकि दोनों का ही आरंभ अनन्तावयव से हुआ है अतः दोनों के बीच कोई विशेष अंतर नहीं है । अतः निरवयव द्रव्य ही अवधि है, और द्रव्य ही परमाणु है । यह नित्य है और परिमंडल (अदृश्य) है ।

—वैशेषिक सूत्र 4. 1. 1-5

अध्याय : आठवाँ

कणाद्

यथार्थवाद, कारणवाद और परमाणु सिद्धांत के पहले प्रतिपादक

वैशेषिक दर्शन वैदिक दर्शन की सुविख्यात छः पद्धतियों में से एक है। इसके व्याख्याता के कई नाम प्रसिद्ध हैं, जैसे औलूक, काश्यप और ज्यादा प्रचलित नाम कणाद है। उनके ग्रन्थ 'वैशेषिक' में दस खंड हैं और हर खंड में दो-दो अध्याय हैं : हर अध्याय में बहुत से सूत्र हैं, जिनकी संख्या कुल मिलाकर 370 है :

खंड	अध्याय	सूत्रसंख्या	खंड	अध्याय	सूत्रसंख्या
	1	31	6	1	16
1	2	17		2	16
2	1	31	7	1	25
	2	37		2	28
3	1	19	8	1	11
	2	21		2	6
4	1	13	9	1	15
	2	11		2	13
5	1	18	10	1	7
	2	26		2	9

इस दर्शन पर कई टीकाएं मिलती हैं। प्रशस्तपाद भाष्य पदार्थ धर्मसंग्रह वैशेषिक दर्शन का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। शंकर मिश्र ने वैशेषिक पर एक प्रसिद्ध टीका लिखी थी, जिसे उपस्कार कहते हैं। इस टीका का एक गुजराती प्रेस संस्करण, जिस पर कणाद सूत्र विवृत्ति नामक जयनारायण न्यायपंचानन की टिप्पणी और चन्द्रकांत भट्टाचार्य की भी टीका है, एक ही जिल्द में मिलती है।

'सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज़' माला में उपर्युक्त (सूत्र, शंकर मिश्र की टीका, जयनारायण की टिप्पणियों के उद्धरण और चन्द्रकांत की टीका के अंश)

का नन्दलाल सिन्हा द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद (1911) प्रकाशित किया गया है। हमने इस अध्याय में इस अनुवाद का पूरा-पूरा उपयोग किया है और उसकी भूमिका से भी बहुत से उद्धरण दिए हैं। वैशेषिक दर्शन पद्धति पर निम्नलिखित साहित्य हमारे पाठकों के बड़े काम का हैं :

प्रशस्तपाद के भाष्य पर व्योमाचार्य की व्योमवती टीका।

प्रशस्तपाद के भाष्य पर उदयनाचार्य की किरणावली टीका।

प्रशस्तपाद के भाष्य पर श्रीधराचार्य की कन्दली टीका।

प्रशस्तपाद के भाष्य पर पद्मनाभ मिश्र की सेतु टीका।

किरणावली टीका पर पद्मनाभ मिश्र की किरणावली भास्कर टीका।

हमारे मान्य मित्र महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने न्याय-वैशेषिक के अनुसार 'कन्सेप्शन आफ मैटर' (तत्त्वों की प्रकल्पना) नामक पुस्तिका प्रकाशित की है। कणाद के परमाणु-सिद्धांत और इस विचारधारा के अनुसार रासायनिक परिवर्तन में अन्तर्ग्रस्त प्रक्रियाओं की अपनी चर्चा के लिए मैं इस पुस्तिका का ऋणी हूँ।

प्रो० ए० बी० कीथ ने इंडियन लौजिक एण्ड एटमिज्म (भारतीय तर्कशास्त्र और परमाणुवाद) नामक छोटी सी पुस्तक (1921) लिखी है, जो न्याय-वैशेषिक धाराओं की व्याख्या है। कणाद द्वारा तत्त्व और परमाणु के बारे में जो विचारधारा पल्लवित की गई थी, यह पुस्तक उसका एक भव्य लेखा-जोखा देती है।

कणाद और उनके पूर्वज

संस्कृत-साहित्य के विशाल क्षेत्र में कणाद के प्रसिद्ध उपनाम[1] से स्पष्ट

---

1. औलूक्य शब्द उलूक से पाणिनि के व्याकरण के अनुसार गर्गादिगण की अपत्यार्थक प्रत्यय यञ् लगाकर बना है (गर्गादिभ्यो यञ् 4. 1. 105) और उलूक शब्द गर्गादिगण में गिना गया है। अब यह आसानी से बताया जा सकता है कि औलूक्य कणाद के सिवाय और कोई नहीं है। इस तरह एक कोश में हमें मिलता है 'वैशेषिके स्यादौलूक्यः' अर्थात् औलूक्य का अर्थ वैशेषिक लगाया जाना चाहिए। न्यायवार्तिक में भी बताया गया है कि 'साध्यावृत्तिस्तज्जातीयैकदेशवृत्तिर्विपक्षावृत्तिस्वाश्रयवान् शब्दश्चाक्षुषत्वात् औलूक्यपक्षे' जिस पर वाचस्पति मिश्र की टीका है कि शब्द 'औलूक्यपक्षे' बताता है कि उक्त विचार न्याय दर्शन का नहीं है जो मानता है कि तन्मात्राओं का

[अगले पृष्ठ पर—

है कि वह उलूक के पुत्र थे और कश्यप[1] की महान् अध्यात्मवादी गोत्र-परंपरा में थे। वह प्रभास[2] में रहते थे, जो संभवतः इलाहाबाद जिले का आधुनिक प्रभासा था (माडर्न रिव्यू, जून 1909) और सोमशर्मा के शिष्य थे, जिनकी पुराणकाल में शिव का अवतार बताया गया है। वह कापोती वृत्ति[3] अपनाते हुए रहते थे और कबूतर की तरह मार्ग में पड़े हुए चावल के दाने अपने भोजन के लिए चुन लिया करते थे। इसी से उनका नाम कणाद पड़ा, जिसके पर्याय कणभुक् या कणभक्ष भी हैं, अर्थात् दानों को खाने वाला। पुराणों में कहा गया है कि इस तरह की तपस्या द्वारा उन्होंने सर्वशक्तिमान् शिव को प्रसन्न कर लिया, जो सभी शास्त्रों के ज्ञाता हैं, जिन्होंने उलूक के रूप में आकर अनुश्रुति के अनुसार छः पदार्थों अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय के

—पिछले पृष्ठ से]

समवाय दिखाई देता है। बल्कि औलूक्य का विचार है। ग्रन्थ के सातवें खण्ड के दूसरे अध्याय के सूत्र 26 और 28 पर वाचस्पति मिश्र की टिप्पणी में हम देखते हैं कि कणाद के अनुसार समवाय दिखाई देता है। समवाय को तन्त्रवार्तिक (1. 1. 4) पर यह कुमारिल की टीका में औलूक्य सिद्धान्त माना गया है। हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि में भी वैशेषिक वालों को औलूक्य कहा गया है और माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में कणाद के दर्शन सिद्धान्तों का ब्योरा औलूक्य-दर्शन नाम से दिया है।

1. काश्यप शब्द भी कश्यप में पाणिनि के व्याकरण के अनुसार तस्यापत्यम् सूत्र से अपत्यार्थक अण् प्रत्यय लगाकर बना है। इसका संकेत कणाद से है, यह भी काफी स्पष्ट है। त्रिकाण्डशेष कोष में यह आया है 'कणादः कश्यपः समौ'—कणाद और काश्यप एक ही व्यक्ति हैं। यह कथन 'विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गकाश्यपोऽब्रवीत्' अर्थात् काश्यप ने परस्पर विरोधी या अप्रमाणित या संदिग्ध या अलिंग (चिह्नरहित) बात कही है, कणाद का ही मत है, देखिए कणाद सूत्र 3. 1. 17 उपस्कार। और किरणावली में अनुमान संबंधी अध्याय में लिंगों के विनिश्चय के बारे में उदयनाचार्य भी यही बात कहते हैं और इसे कणाद का कहा हुआ बताते हैं।
2. तदाप्यहं भविष्यामि सोमशर्मा द्विजोत्तमः।
   प्रभासतीर्थमासाद्य योगात्मा लोकविश्रुतः ॥ 202 ॥
   तत्रापि मम न पुत्रा भविष्यन्ति तपोधनाः।
   अक्षपादः कणादश्च उलूको वत्स एव च ॥ 203 ॥ —वा॰ पु॰, पूर्व॰ अध्याय 23
3. कणाद इति तस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतो रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय प्रत्यहं कृताहारनिमित्ता संज्ञा इति न्यायकन्दल्याम्। —न्यायकन्दली

   चलते-चलते यह भी बता दें कि कुछ लोगों ने कणाद का अर्थ परमाणु-भोजी लगाया है और सुझाया गया है कि वैशेषिक सिद्धान्त के प्रणेता को यह नाम इसलिए दिया गया है कि उन्होंने परमाणु-सिद्धान्त का निरूपण किया था।

बारे में सारा तत्वज्ञान उनको दे दिया और उन्हें एक ग्रन्थ बनाने के लिए कहा ताकि यह तत्वज्ञान दुनिया के लाभ के लिए सुलभ हो जाए। अन्य अनेक विज्ञानों की ही भांति यहां भी अनुश्रुति उसी प्रकार की है कि परमात्मा[1] द्वारा नियुक्त होने पर महर्षि कणाद ने वैशेषिक सिद्धान्त के सूत्रों की रचना की।

कणाद सूत्रों की प्राचीनता और लोकप्रियता के बारे में कोई सन्देह नहीं है। इसके उल्लेख हमें प्राचीन सांख्य सूत्रों और परवर्ती ग्रन्थ वायुपुराण, पद्म-पुराण, देवीभागवत, महाभारत, श्रीमद्भागवत और अन्य लोकप्रिय ग्रन्थों में मिलते हैं और इसकी प्राचीनता और किसी समय इसकी लोकप्रियता और सुप्रचलन का असंदिग्ध प्रमाण देते हैं। इस समय भी वैशेषिक अपने सहोदर दर्शन न्याय के साथ प्राचीन अध्ययन पीठों के जैसे बंगाल के टोल या चतुष्पाठियों में आचार्यों और शिष्यों के अध्ययन-अध्यापन का विषय बना हुआ है। साथ ही काफी व्यावहारिकता के साथ और निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि छः वैदिक दर्शनों में वैशेषिक सबसे पुराना है और दूसरे यह कम से कम 2500 वर्ष पुराना है। अर्थात् इसका रचनाकाल कम से कम छठी सदी ई० पू० तो है ही।

कणाद का वैशेषिक दर्शन वेदान्त सूत्रों से पुराना है, क्योंकि हम देखते हैं कि उन सूत्रों में महर्षि व्यास ने कणाद के सिद्धान्तों की प्रत्यक्ष आलोचना की है :[2]

---

1. वैशेषिक दर्शन के इस दिव्य उद्भव की परंपरा के पीछे बहुत साक्ष्य मिलते हैं, देखिए 1. 1. 4 उपस्कार। अपने भाष्य के अंतिम श्लोक में प्रशस्तपाद कणाद की स्तुति करते हुए इस परंपरा का जिक्र करते हैं :
   योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरं। चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः।
   और न्यायकन्दली की टीका में राजशेखर ने भी कहा है :
   इह किल पूर्वमजिह्मब्रह्माभ्यासदूरीकृतप्रमादाय मुनये कणादाय, स्वयमीश्वर उलूकरूप-धारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणं पदार्थषट्कमुपदिदेश। तदनु स महर्षिः लोकानुकम्पया षट्पदार्थरहस्यप्रपञ्चनपराणि सूत्राणि रचयाञ्चकार।
   भारत में यह प्रथा रही है कि ज्ञान की सभी धाराओं का संबंध पौराणिक दिव्य उद्भव से जोड़ दिया जाए।

2. (1) महद् दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्।
   (2) उभयथापि न कर्मातस्तदभावः।
   (3) समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः।
   (4) नित्यमेव च भावात्।

[अगले पृष्ठ पर—

1. (दुनिया का जन्म ब्रह्म से हुआ होगा) क्योंकि महान् और दीर्घ (त्रिदेव आदि) का जन्म लघु (और सूक्ष्म द्विदेव) या (इस तरह के द्विदेव) परमाणु से। 2. दोनों में से प्रत्येक मामले में (अर्थात् अदृष्ट सिद्धान्त जो परमाणु या आत्मा में निविष्ट है), (परमाणुओं का) कर्म संभव नहीं है; इसलिए उनकी नकारता (अर्थात् सृष्टि का परमाणुओं के समभाव से पैदा होना)। 3. (वैशेषिक सिद्धान्त अमान्य है) क्योंकि (यह) ऐसे ही कारण से 'अनन्त में परावर्तन' (को मानता है), क्योंकि यह समवाय को मानता है। 4. और (परमाणु की प्रवृत्ति के या अन्यथा) स्थायी अस्तित्व के कारण (परमाणु सिद्धान्त अमान्य है, 5. और (परमाणुओं में) रूप रंग आदि होने से वैशेषिक जो सत्य मानता है उसके (विपरीत ही दिखाई देता है)। 6. और दोनों ही मामलों में दोष होने से (परमाणु-सिद्धान्त अमान्य है)। 7. और चूंकि (परमाणु सिद्धान्त किसी आप्त पुरुष द्वारा) नहीं माना गया, इसलिए इसे पूरी तरह अस्वीकृत करना होगा।

कपिल[1] के सांख्य सूत्रों में भी छः पदार्थों मोक्ष, परमाणु, बाह्य, दृष्टि, समवाय आदि वाले वैशेषिक सिद्धान्तों का उद्धरण देकर फिर उसकी आलोचना की गई है। (1) हम वैशेषिक आदि कालों की तरह छः पदार्थों वाला सिद्धान्त नहीं मानते। (2) छः पदार्थों में कोई एकरूपता नहीं है और न उनके ज्ञान से मोक्ष मिलता है। (3) अणु नित्य नहीं हैं क्योंकि वैदिक प्रमाण है कि उनमें कार्यत्व है। (4) उनमें अमान्यता भी नहीं है क्योंकि वे कार्य होते हैं। (5) प्रत्यक्ष दीखने का नियम रंग से बंधा नहीं है। (6) समवाय नहीं होता, क्योंकि कोई प्रमाण आदि नहीं है। —सां० सू० 1. 25, 5. 85, 87, 88, 89 और 99।

पतंजलि[2] का योगदर्शन भी सांख्य के बाद का है। फिर पूर्वमीमांसा दर्शन

—पिछले पृष्ठ से]

(5) रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो, दर्शनात्।
(6) उभयथा च दोषात्।
(7) अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा। —वै० सूत्र 2. 2. 11-17

1. (1) न वयं षट्पदार्थवादिना वैशेषिकादिवत्। —सां० सू० 1. 1. 25
(2) न षट्पदार्थनियमस्तद् बोधान्मुक्तिः। —वही, 5. 85
(3) नाऽणुनित्यता तत् कार्य्यत्व श्रुतेः। —वही, 5. 87
(4) न निर्भागत्वं कार्यत्वात्। —वही, 5. 88
(5) न रूपनिबन्धनः प्रत्यक्षनियमः। —वही, 5. 89
(6) न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्। —वही, 5. 99

2. महान् बंगाली पुरावेत्ता डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने पतंजलि का काल ईसा से तीन सदी पहले बताया है। देखिए 'योग एफोरिज्म्स् आफ पतंजलि' में उनकी भूमिका।

में ऐसे सूत्र आते हैं : कुछ लोग कहते हैं कि (ध्वनि) कार्य से (पैदा होती है) क्योंकि वहां दिखाई देती है,[1] और जैमिनि के बहुत से दूसरे सूत्र ध्वनि की अनित्यता सम्बन्धी वैशेषिक सिद्धान्त के खास तौर पर विरुद्ध जाते हैं। वैशेषिक का न्याय से पहले का होना शायद इतना ज्यादा स्पष्ट नहीं है। मैक्समूलर का यह विचार मालूम पड़ता है कि वैशेषिक न्याय या दूसरे दर्शनों से उद्भूत हुआ। भारतीय षड्दर्शन सम्बन्धी (सिक्स सिस्टम्स आफ इंडियन फिलॉसफो) ग्रन्थ में वह कहते हैं : 'इस (कणाद के दर्शन) में बहुत कुछ ऐसा नहीं है, जो खास तौर पर इसी दर्शन में हो और वह ऐसा बहुत कुछ पहले से मानकर चलता है, जो हमें दूसरे दर्शनों में मिलता है। अणु सिद्धान्त भी जो इसकी विशेषता बताया जाता है, न्याय वालों को विदित था, यद्यपि उसका ज्यादा पूर्ण विकास वैशेषिक वालों ने किया।' लेकिन हमने ऊपर जो संकेत दिया है, उससे बहुत स्पष्ट है कि मैक्समूलर की पहली बात मान्य नहीं है और अभी हम देखेंगे कि दूसरी धारणा के लिए भी कोई औचित्य नहीं है। वायु-पुराण के पूर्वोद्धृत श्लोक बताते हैं कि कणाद और अक्षपाद (न्याय के लेखक) समकालीन थे और सहपाठी थे। उन दोनों द्वारा क्रमशः विकसित दो समानान्तर विचारधाराओं की तुलना हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि अक्षपाद का न्याय कणाद के वैशेषिक के बाद प्रकट हुआ। हम देखते हैं कि अनुमान की जो पद्धति वैशेषिक में, संक्षेप में और अपूर्ण रूप में बताई गई है, न्याय में ज्यादा पूर्ण और विशद रूप में विकसित हुई। ध्वनि की अनित्यता, आत्म परीक्षा और अन्य महत्वपूर्ण विषयों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। फिर जब कि वैशेषिक अनुमान के तीन[2] ही हेत्वाभास मानता है, न्याय पांच[3] को मानता है और काफी ऊहापोह के बाद उनकी स्थापना करता है। अगर वैशेषिक न्याय के बाद आता तो इन हेत्वाभासों के पांच भेदों का उसमें विशेष रूप से निराकरण किया जाता और तीन भेदों की तर्कयुक्त रूप में स्थापना की जाती। इसका निष्कर्ष यह है कि कणाद ने अक्षपाद को मार्ग दिखाया या कम से कम पहले ने जो शुरू किया था, उसको पिछले ने पूरा किया। न्यायसूत्र (1. 1. 9) पर पंडित वात्स्यायन की टिप्पणी[4] से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है, जो इस तरह है : 'आत्मा, देह, तन्मात्रा, उद्देश्य, कारण, बुद्धि, क्रिया, दोष, पुनर्जन्म, कर्मफल, वेदना, मुक्ति ये सभी

---

1. कर्मकै तत्र दर्शनात्। —पू॰ मी॰
2. अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः। —वै॰ सू॰ 3. 1. 15
3. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः। —न्या॰ सू॰ 1. 2. 4
4. ...अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्। तद्भेदेन चापरिसंख्येयम्। —न्या॰ सू॰ 1. 1. 9 पर वात्स्यायन

चीजें श्रेय हैं।, वात्स्यायन इस संख्या को अपर्याप्त बताकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—कणाद द्वारा गिनाए गए छः पदार्थ और जोड़ देता है, जिससे वह वैशेषिक को न्याय से पहले का मानकर चलता है, इसके विपरीत नहीं, जैसा मैक्समूलर का विचार लगता है।

कणाद का काल :

अब हम कणाद का कालनिर्धारण करेंगे। हम बता चुके हैं कि कणाद का दर्शन अन्य वैदिक दर्शनों से पहले का है। न्याय के प्रणेता (गौतम या अक्षपाद) और वैशेषिक के प्रणेता (कणाद) समकालीन हैं। दोनों ने संस्कृत साहित्य में नए सूत्र-युग का सूत्रपात किया। प्रत्येक की निश्चित तिथि बताना कठिन है। 1885 में प्रो० ल्यूमान ने जैनों के धर्मों के भेदों के पुराने वृत्त विषय पर एक लेख 'इंडिश स्टडीन' (जिल्द 17, पृष्ठ 91-135) में प्रकाशित किया था। उसमें उल्लिखित बहुत सी दंतकथाओं में छठी को चौलु जाति के वैशेषिक सूत्र के लेखक ने जन्म दिया था। इसी से उन्हें चौलुग कहते थे। (क्या चौलुग औलूक्य का विकृत रूप है ?)। लेखक जिनभद्र वैशेषिक दर्शन के तथाकथित 144 बिन्दुओं को भी बताता है। जिनभद्र का काल प्रो० ल्यूमान ने आठवीं सदी ईसवी तय किया है। फिर जैन धर्म अपनाने वाले ब्राह्मण हरिभद्र ने 'षड्-दर्शन-समुच्चय सूत्रम्' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें वैशेषिक दर्शन भी शामिल है। हरिभद्र का निधन 1050 वीर संवत् या 528 ईसवी में हुआ। फिर कनिष्क द्वारा वसुमित्र और पूर्णक के अधीन बुलाई गई महापरिषद् के वृत्तान्त में हम पढ़ते हैं कि उस समय काश्मीर में सूत्र नामक एक बौद्ध था, जिसका सम्बन्ध वैशेषिक दर्शन से था। इससे यह सिद्ध होगा कि वैशेषिक दर्शन पहली सदी ईसवी में विद्यमान था। यह वृत्तान्त सुमपाटी चोइजुंग से लिया गया है और वही बताता है कि कनिष्क की मृत्यु के बाद अश्व परन्त (उत्तर में) वासी एक धनी गृहस्थ जाति ने पश्चिम में मरु से वैशेषिक दर्शन के साधु वसुमित्र को बुलाया और बैक्ट्रिया से किसी घोषसंघ को भी बुलाया और वह दस साल तक तीन लाख साधुओं का पोषण करता रहा। (देखिए जनरल आफ बुद्धिस्ट टैक्स सोसायटी, जिल्द 1 पृष्ठ एक आदि, भाग ३, पृष्ठ 19)। इसलिए आधुनिक अनुसंधान के आधार पर वैशेषिक दो हजार साल पुराना होगा। लेकिन हमें यहीं नहीं रुकना है। अभी-अभी हम देख चुके हैं कि वैशेषिक का प्रसार कितने लोगों और देशों में हुआ था और तेजी से पनपते हुए जैन धर्म के बीच यह अभी भी जीवित था। हम यह भी देख चुके हैं कि वैशेषिक दर्शन का प्रतिपादन पतंजलि के योग दर्शन से बहुत पहले हो चुका था और पतंजलि का काल तीन सदी ई० पू० तय किया गया है। साथ ही यह विश्वास करने का कारण है कि वैशेषिक बौद्ध धर्म के उद्भव से पहले विद्यमान था और बौद्ध प्रचारकों द्वारा लाई गई बौद्धिक और नैतिक क्रान्ति के बावजूद वह प्रचलित रहा। क्योंकि वैशेषिक बौद्ध क्रान्ति से प्रभावित न हुआ और यह

संभव है कि उसके कुछ उपदेशों का सम्बन्ध बौद्ध दर्शन[1] से हो, पर यह भी संभव है कि उन पर उपनिषदों और पुराने ग्रन्थों में विद्यमान बौद्ध धर्म के मूलतत्त्वों का प्रभाव हो (या कणाद के टीकाकारों, व्याख्याकारों ने वह अर्थ उन सूत्रों में निकाला हो) इन सब बातों पर विचार करके कणाद का काल ईसा से छः सदी पूर्व के आसपास निश्चित किया जा सकता है।

1. जनरल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी के दिसम्बर (1910) अंक में जर्मनी के बौन विश्वविद्यालय के प्रो० हरमान जैकोबी ने ब्राह्मणों के दर्शन सूत्रों के काल के बारे में एक बड़ा ही विचारपूर्ण लेख लिखा था। इसमें ऐसी बहुत सी बातें हैं जो वैशेषिक सूत्रों के काल के बारे में हमारे दृष्टिकोण की पुष्टि करती हैं। जैसे लेखक अन्त में कहता है कि वैशेषिक (वै० सू०) संभवतः उतना ही या कुछ ज्यादा पुराना है, जितना न्यायसूत्र (न्या० सू०), क्योंकि वै० सू० 4. 1. 6 को वात्स्यायन ने दो बार न्या० सू० 3. 1. 23 और 67 को अपनी व्याख्या में उद्धृत किया है और वै० सू० 3. 1. 16 उन्होंने न्या० सू० 2. 2. 34 की अपनी व्याख्या में उद्धृत किया है और उद्योतकार वै० सू० को कई बार केवल सूत्र या शास्त्र के नाम से उल्लिखित करता है और एक बार इसके लेखक को परमर्षि बताता है, जो नाम पुराने प्रामाणिक लेखकों को ही दिया जाता था। पर हम दर्शन सूत्रों के काल निर्णय के बारे में लेखक की खोजों के अन्तिम निष्कर्ष को नहीं मान सकते अर्थात् वैशेषिक दर्शन 200–450 ईसवी में लिखा गया था। हम इसके विपरीत अपने तर्क पहले ही दे चुके हैं। हम यह ही दिखाएंगे कि लेखक के अभिमत के समर्थक तर्क अमान्य और अनिश्चायक हैं। तर्क संक्षेप में इस प्रकार है : हम बौद्ध दर्शन और उसके इतिहास से सुपरिचित हैं। माध्यमिक बौद्ध दर्शन अर्थात् शून्यवाद के अनुसार प्रत्यक्ष वस्तुएं अस्तित्वहीन या शून्यवत् हैं। यह दर्शन नागार्जुन ने प्रतिपादित किया था, जिसका काल दूसरी सदी ईसवी के लगभग अन्त में था। दूसरी ओर योगाचार बौद्धों का विज्ञानवाद बाह्य वस्तुओं को, जहां तक चेतना का प्रश्न है, उनसे स्वतंत्र स्थिर विचारों द्वारा पैदा होता हुआ बताता है। इसका प्रतिपादन असंग और उससे छोटे वसुबन्ध ने पांचवीं सदी ईसवी के उत्तरार्द्ध में किया था। पर वैशेषिक दर्शन यह व्यवहारवादी मत रखता है कि प्रत्यक्ष देखकर हम असली वस्तुओं का सच्चा संज्ञान प्राप्त करते हैं और इस प्रसंग में वह शून्यवाद का निराकरण करता है, पर विज्ञानवाद का जिक्र नहीं करता। इसका नतीजा यह हुआ कि इसकी रचना 200 और 450 ईसवी के बीच हुई थी।

इसके विपरीत हमारा कहना यह है कि वेद इन उपर्युक्त बौद्ध दर्शनों समेत इन सभी दर्शनों का मूल स्रोत है, जो इस भारत की धरती पर पनपे। अतः लेखक द्वारा अपनाया तरीका अनिश्चायक है। हम वेद की बात को न भी लें, तब भी लेखक का तर्क सुपुष्ट नहीं है। वैशेषिक दर्शन न तो साक्षात् शून्यवाद का उल्लेख करता है न उसकी

[अगले पृष्ठ पर—

कणाद द्वारा बताए गए पदार्थ

कणाद ने श्रेणी को बताने के लिए पदार्थ (पद या शब्द द्वारा बताई गई वस्तु) शब्द का प्रयोग किया है। पदार्थ वे उच्चतम कोटियां हैं, जिनके अन्तर्गत दार्शनिक मिल के अनुसार सभी नामकरण योग्य वस्तुएं दार्शनिक प्रयोजनों से वर्गीकृत की जा सकती हैं। दर्शन सभी वस्तुओं को जानना चाहता है और सबको अलग-अलग जानना संभव नहीं है। इसलिए हर देश काल के हर विचारक ने अपनी विचारधारा के अनुकूल वस्तुओं का वर्गीकरण करने की कोशिश की है। दर्शन के इतिहास में इन कोटियों को क्रमागत रूप में वस्तुओं, शब्दों, भावों और विचार रूपों के विश्वजनीन वर्गों में रखा गया है। और वर्गीकरण का परिपूर्ण सिद्धान्त या कोटियों की पूर्ण पद्धति का अभी भी निर्णय होना है। फिर भी कणाद द्वारा किया गया पदार्थों का निरूपण बहुत ही सन्तोषजनक मालूम पड़ता है। वह सभी नामकरण योग्य वस्तुओं को पहले दो वर्गों में—भाव और अभाव (अस्तित्त्व में और अस्तित्त्वहीन)—रखते हैं। पहले वर्ग की वस्तुएं फिर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों में बांटी गई हैं। सातवें, 'अभाव' को मिला कर ये सात पदार्थ हैं[1]। द्रव्य, गुण और कर्म को फिर क्रमश. नौ, चौबीस और पांच भेदों में बांटा गया है[2]। सामान्य और

—पिछले पृष्ठ से]

चर्चा। अगर शून्यवाद वैशेषिक दर्शन की स्थापना से पहले का होता, तो ऐसी बात न होती। इसी तरह के दूसरे सिद्धान्त आदर्शवाद का (वै० सू० 3. 1. 18) उल्लेख है।

यह लेखक के मत के विपरीत और हमारे मत का पोषक है। फिर यह भी समान रूप से संभव है, ज्यादा संभव है कि मानव विचारों के स्वाभाविक विकास को ध्यान में रखते हुए बौद्ध दर्शन का आदर्शवाद और शून्यवाद वैशेषिक दर्शन के आदर्शवाद के पहले नहीं पीछे ही आना चाहिए। वेदान्त सूत्र के महान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने भी हमारे जैसा ही मत लिया है। क्योंकि वेदान्त सूत्र 2. 2. 18 पर अपने भाष्य में वह कहते हैं : वह (वैशेषिक) सिद्धान्त अर्धनश्वरवादी (अर्ध शून्यवादी) कहा जा सकता है। और जो ज्यादा विस्तृत रूप से विश्व की अनित्यता का प्रतिपादन करने वाला सिद्धान्त (शून्यवाद) है, वह हमारे लिए और भी कम विचारणीय है। अब हम यह बताएंगे।

1. धर्म्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसम्।
—वै० सू० 1. 1. 4

2. पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्म्माणि।
—वै० सू० 1. 1. 5-7

विशेष मिलाकर उतने ही होते हैं जितने द्रव्य, गुण और कर्म तथा मुख्य सामान्य और तुच्छतम विशेष। समवाय का एक ही भेद होता है।

डा० क्रिस्टाफ सिगवर्ट ने अपने तर्कशास्त्र में कोटियों की जो योजना रखी है वह कणाद से बहुत मिलती-जुलती है और यह आकस्मिक संगति इतनी बढ़िया है कि इस प्रसंग में इसका उल्लेख ज्ञानवर्द्धक होगा। डा० सिगवर्ट कहते हैं :

'अगर हम अपने विचारों की अन्तर्वस्तु की जांच करें, जो हमारे निर्णय में उद्देश्य या विधेय या उद्देश्य या विधेय के एक अंश के रूप में प्रवेश पा सकती है, तो हम देखेंगे कि हम में ये हैं :

एक—वस्तुएं उनके गुण और क्रिया और उनके रूपभेद।

दो—वस्तुओं और उनके गुण और क्रिया के सम्बन्ध। ये दिक्, काल, तर्क, कारण या सरणि पर आधारित हो सकते हैं।

... ...

वस्तुओं के भाव और गुणों के भाव के बीच का अन्तर्विष्ट अन्तर, जिन क्रियाओं में वे संलग्न होते है, इन सबको विचार का मूल तथ्य मानना होगा।

... ...

और जिस तरह वस्तुओं का भेद उनके गुण या क्रिया से जाना जाता है, उसी तरह खास वस्तुओं की वैसी ही क्रियाओं और गुणों का भेद उन मात्राओं और सरणियों से जाना जाता है, जिनको हम रूप भेद के नाम से समझते हैं।

... ...

वस्तुओं और उनके गुण-क्रिया के भावों का एक सामान्य उपलक्षण, जिस पर हम विचार करते रहे हैं यह है कि सब मिलाकर, एवं तत्काल अन्तः प्राज्ञ तत्त्व होता है, जो हमारे एक या अधिक संवेदनों के कृत्य या भीतरी दृष्टि द्वारा जाना जाता है...किन्तु हालांकि वस्तु, गुण और क्रिया की कोटियां हमेशा वही रहती हैं। संवेदन अन्तः प्रज्ञा के अनुकरणात्मक कल्पना की उपज भाव का असली तत्त्व बनती है और उसे भेदक अन्तर्वस्तु प्रदान करती है...यही तत्त्व वस्तु और उसके गुण-क्रिया का दूसरे मुख्य वर्ग-सम्बन्ध भाव से भेद करता है।'

अब हम कणाद द्वारा गिनाए गए पदार्थों को लेंगे :

क. पदार्थ या द्रव्य

पदार्थ की परिभाषा यह है कि इसमें कर्म और गुण होते हैं और यह

समवाय कारण होता है[1]। यह परमाणु की तरह अपेक्षाकृत नित्य है[2]। और शब्द के व्यापक अर्थ में देहों की भांति अनित्य होता है। देह यथार्थ है। द्रव्य उनका समवाय कारण है। वे कार्य भी हैं कारण भी और उनके अधीन सामान्य और विशेष दोनों होते हैं[3]। वे द्रव्यान्तर का आरम्भ करते हैं, पर उनके कार्य-कारण का नाश नहीं करते[4]।

द्रव्य के भेद नौ ही हैं: पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।[5] आकाश, दिक् और काल अकेले यथार्थ को बताते हैं, जबकि बाकी वर्गों को। आकाश, दिक्, काल और आत्मा अनन्त हैं, जबकि शेष अनन्त नहीं है।

1. पृथिवी

धरती में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श होते हैं[6]। उसमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार भी होते हैं। इसमें गन्ध केवल पृथिवी का गुण है, इसी से वह इसका भेदक गुण है[7]। वह या तो सगन्ध होती है या निर्गन्ध। धरती का रंग (रूप) कई तरह का सफेद आदि हो सकता है। इसका स्वाद छः तरह का होता है मधुर आदि। इसका स्पर्श न ज्यादा गर्म होता है न ज्यादा ठंडा और यह जलने के कारण होता है।

एक साधारण द्रव्य, एक तत्व के रूप में, धरती परमाणुओं से बनती है, जो द्वितीय सृष्टि के आरंभ में विद्यमान होने से नित्य होते हैं अर्थात् परमाणुरूपा पृथिवी नित्य है। पर परमाणुओं के मिलने से मिश्र द्रव्य के रूप में बनी होने के कारण यह कार्य रूप है और अनित्य है। पृथिवी के कार्य द्रव्य तीन तरह के

1. क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् (वै० सू० 1. 1. 15); कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् (वै० सू० 10. 2. 1); सयोगाद्वा (वै० सू० 10. 2. 2)
2. सदकारणवन्नित्यम् (वै० सू० 4. 1. 1)
3. सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः। (वै० सू० 1. 1. 8)
4. द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् (वै० सू० 1. 1. 9); द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् (वै० सू० 1. 1. 10); न द्रव्यं कार्यं कारणञ्च बधनि (वै० सू० 1. 1. 12)
5. पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। (वै० सू० 1. 1. 5)
6. रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी (वै० सू० 2. 1. 1)
7. पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम्। (वै० सू० 2. 2. 1); व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः (वै० सू० 2. 2. 2)।

होते हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय[1]। इनमें शरीर दो तरह का होता है-योनिज और अयोनिज[2]। अयोनिज शरीर वे होते हैं, जो रक्त-वीर्य के सम्बन्ध के बिना बनते हैं, जैसे देवताओं और ऋषियों तथा मच्छर आदि छोटे जीवों के शरीर। योनिज शरीर रज-बीज के संयोग से बनते है। ये जरायुज होते हैं, जैसे आदमी या निम्न जीवों के और अंडज जैसे पक्षियों और सरीसृपों के।

गन्धगुण पृथिवी का गुण है[3]। क्योंकि यह गन्ध के गुण को प्रकट करती हैं, रस (स्वाद) आदि के गुणों को नहीं। इसका जन्म पानी आदि से न व्याप्त धरती के कणों से होता है।

पार्थिव पदार्थ, मिट्टी, पत्थर और अचल होते हैं। पृथिवी के भेद हैं धरती के रूपान्तर, दीवाल, ईंट आदि। पत्थर रत्न, हीरे, गेरू आदि होते हैं। अचल ये हैं: घास, वनस्पतियां, पेड़, लता, गुल्म आदि।

2. जल

पानी में रूप, रस, स्पर्श, द्रव, स्निग्धता तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार ये चौदह गुण होते हैं। इसका रूप (रंग), सफेद, रस (स्वाद) मीठा और स्पर्श ठंडा है। स्निग्धता पानी का ही गुण है और इसी तरह दैहिक द्रवत्व भी। ये और ठंडा स्पर्श जल के भेदक लक्षण हैं[5] (2. 2. 5)। पानी भी पृथिवी की तरह कारण (नित्य परमाणुओं से युक्त) होने से नित्य और कार्य रूप में अनित्य है। उसी तरह, इसके भी कार्य, द्रव्य, तीन तरह के होते हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय। जलज शरीर सभी अयोनिज होते हैं। वे वरुण लोक में रहते हैं, और कर्म फल भोग सकते हैं, क्योंकि पृथिवी के कण उनकी देहरचना में कारण या दशा के रूप में

---

1. तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्।
प्रत्यक्षाप्रत्याक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते।
गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्
अणुसंयोगस्त्वप्रतिपिद्धः। —वै० सू० 4. 2. 1-4

2. तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च। अनियतदिग्-देशपूर्वकत्वात्।
धर्मविशेषाच्च। समाख्याभावाच्च। संज्ञाया आदित्वात्। सन्त्ययोनिजाः।
वेदलिङ्गाच्च। —वै० सू० 4. 2. 5-11

3. भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः। —वै० सू० 8. 2. 5

4. रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः। —वै० सू० 2. 1. 2

5. अप्सु शीतता। —वै० सू० 2. 2. 5

प्रवेश पा जाते हैं। रसेन्द्रिय जलीय इन्द्रिय है[1] (8. 2. 6), क्योंकि यह रस को ही प्रकट करती है, रूप आदि को नहीं। यह अजातीय द्रव्यों से अनाक्रान्त जलकणों से उद्‌भूत होता है। जलीय विषय नदी, सागर, ओस, ओला आदि हैं।

3. तेज

तेज रूप और स्पर्श[2] तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार, इन ग्यारह गुणों से युक्त होता है। इसका रंग सफेद और चमकीला तथा स्पर्श केवल गर्म होता है। ये तेज के भेदक गुण हैं। (2. 2. 3 और 4)। यह दो तरह का होता है साधारण द्रव्य या परमाणु के रूप में और यौगिक या कार्य रूप में। इससे शरीर, इन्द्रिय और विषय पैदा होते हैं। सभी तेजस शरीर अयोनिज होते हैं। वे आदित्यलोक में रहते हैं और कर्मफल भोग सकते हैं, क्योंकि पृथिवी के कण उनकी देहरचना में कारण या दशा के रूप में प्रवेश पा जाते हैं। दृष्टि-इन्द्रिय या आंख तैजस इन्द्रिय है (7. 2. 6)। क्योंकि यह रूप को ही प्रकट करती है, रस आदि को नहीं। यह अन्य द्रव्यों से अनाक्रान्त तैजस कणों से पैदा होता है। तैजस विषय चार तरह के होते हैं: उद्‌भूत स्वरूप, अनुद्‌भूत स्वरूप, जठराग्नि और धातुज। पहला लकड़ी ईंधन आदि से पैदा होता हैं: दूसरा इस तरह उद्‌भूत नहीं होता जैसे बिजली आदि, तीसरी जठराग्नि चावल आदि का रस निकालने में समर्थ होती है और चौथे में सुवर्ण आदि आते हैं।

4. वायु

वायु में स्पर्श[3] (2. 1. 4) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व[4], संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार ये नौ गुण होते हैं[5]। इसका स्पर्श न ज्यादा ठंडा होता है, न ज्यादा गर्म और यह जलने के कारण नही होता। स्पर्श, पत्तियों का हिलना, बादल, विमान आदि वायु के अस्तित्व के चिह्न हैं। पर वायु शब्द वेद से आया है। वायु का वायु से संघर्ष इसके बहुत्व का द्योतक है[6] (2. 1. 9-17)।

---

1. तथापस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात्। —वै० सू० 8. 2. 6
2. तेजो रूपस्पर्शवत्। —वै० सू० 2. 1. 3
3. स्पर्शवान् वायुः। —वै० सू० 2. 1. 4
4. स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-संस्कारवान्। —वैशेषिक पर प्रशस्तपाद
5. तृणे कर्म वायुसयोगात्। —वै० सू० 5. 1. 14
6. स्पर्शश्च वायोः। न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः। अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्। क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च। अद्रव्यत्त्वेन नित्यत्वमुक्तम्। वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम्। वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते। सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः। तस्मादागमिकम्। —वै० सू० 2. 1. 9–17

वायु दो तरह की होती है, परमाणु रूप और कार्य रूप। ये कार्य भी चार तरह के होते हैं—शरीर, इन्द्रिय, विषय और प्राण रूप। वायुज शरीर सभी अयोनिज होते हैं। वे मरुत् लोक में रहते है और कर्म फल भोग सकते हैं, क्योंकि पृथिवी के कण उनकी देहरचना में कारण या दशा के रूप में प्रवेश पा जाते हैं। त्वचा जो सारे शरीर में फैली होती है, वायव्य इन्द्रिय है[1]। क्योंकि यह केवल स्पर्श को ही प्रकट करती है। गन्ध आदि को नहीं। यह पार्थिव या अन्य पदार्थों से अनाक्रान्त वायव्य कणों से पैदा होता है। वायव्य विषय वायु है जो स्पर्श का आधार या सहारा है और अनुभव की जा सकती है। वायु का चौथा कार्य, जिसे प्राण कहते हैं, शरीर के भीतर, रस, मल, वात पित्त कफ के नियंत्रण का साधन होता है। यद्यपि प्राण एक ही है पर अपने कृत्य भेदों के कारण यह अपना (बाहर फेंकने वाली वायु) आदि नाम ग्रहण कर लेता है।

5. आकाश

रूप रस, गन्ध और स्पर्श आकाश में नहीं होते[2]। इसके गुण हैं : शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग। शब्द इसका भेदक गुण है और परिशेष (प्राप्त का निषेध होने पर अन्य किसी की प्राप्ति का प्रसंग होने पर जो बच रहे) अनुमान द्वारा उसके अस्तित्व की सिद्धि होती है[3]। यह द्रव्य है और नित्य है[4]। एकत्व और पृथक्त्व इसमें होते हैं[5]। अनन्त रूप से विशाल होने

---

1. शरीरं वायुलोके प्रसिद्धम्। पार्थिवभागोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम्। इन्द्रियं त्वगधिष्ठानं शरीररस्य सहजावरणं त्वक् वायूपादानमिन्द्रियं त्वगिन्द्रियं त्वगधिष्ठानमिन्द्रियं शरीरस्य सहजावरणमित्यर्थः।
—क० र० पृ० 22

2. त आकाशे न विद्यन्ते।
—वै० सू० 2. 1. 5

3. निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम् (निकलना-घुसना यह आकाश के अस्तित्व का चिह्न है)। तद्लिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः। कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च। संयोगादभावकर्मणः। कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। (शब्द भी एक भेदक गुण है, उससे संबद्ध एक कारणात्मक तत्व भी होना चाहिए। कार्य के गुण कारण के बाद आते हैं)। कार्यान्तरा प्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः। (शब्द स्पर्शगुण वालों का गुण नहीं है क्योंकि वैसे अन्य कार्य नहीं पैदा होते)। परत्र समवायात्प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः। (चूँकि यह दूसरों से समवाय करता है और प्रत्यक्ष भी होता है अतः आत्मा या मन का गुण भी नहीं हो सकता)। परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य। (इसलिए परिशेष के तरीके से यह आकाश का लिंग है)।
—वै० सू० 2. 1. 20-27

4. द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते।
—वै० सू० 2. 1. 28

5. तत्त्वम्भावेन। शब्दलिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च। तदनुविधानादेकपृथक्त्वञ्चेति।
—वै० सू० 2. 1. 29-31

से यह सर्वत्र उपस्थित होता है[1]। श्रोत्र इन्द्रिय के रूप में वह शब्द के प्रत्यक्ष का साधक होता है। श्रोत्र इन्द्रिय, कर्ण विवर भी आकाश का ही एक अंश है, जो शब्द द्वारा दिए गए सुखद या दुःखद अनुभव के कारण उत्पन्न गुण-दोष से निश्चित किया जाता है। और यद्यपि आकाश नित्य है, बधिरता इन निश्चय कराने वाले तत्त्वों के अभाव से होती है।

6. काल

काल के अस्तित्व के चिह्न (परत्व) अपरत्व, युगपत् (साथ-साथ होना), चिर (देर से) होना, क्षिप्र (जल्दी) होना, धीमे होना[2] अनुमेय है। ये लिंग नित्य द्रव्यों में नहीं होते। अनित्यों में होते हैं। इसलिए काल जो कुछ होता है उस सबके आकस्मिक या सक्षम कारण को कहते हैं[3] जो फलफूलों को शीतकालीन, बसंत कालीन, वर्षा कालीन आदि नाम दिया जाना संभव बनाता है। काल द्रव्य है और नित्य है[4]। इसके गुण हैं संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग। इसका एकत्व और व्यक्तित्व आकाश और अस्तित्व की तरह सिद्ध किया जा सकता है[5]। विशिष्ट या विश्वजनीन कारण होने से यह सर्व व्यापी है[6]। इसके संयोग और विभाग काल के परत्व और अपरत्व[7] से सिद्ध होते हैं। इसकी बहुविधता, इसके एकत्व के बावजूद, बाह्य हालतों से पैदा होती है।

७. दिक्

दिक् वह है जिसके दो युगपत विद्यमान शरीरों के बारे में, जो दिक् और स्थान के संबंध में निश्चित होते हैं, यह संज्ञान पैदा होता है कि एक दूसरे से दूर आदि है[8]। वायु की तरह दिक् भी द्रव्य है और नित्य है[9]। अस्तित्व की तरह यह एकत्व और व्यक्तित्व से युक्त है[10]। काल की तरह यह सर्वव्यापी है और इसमें

---

1. विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा। —वै० सू० 7. 1. 22
2. अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि। —वै० सू० 2. 2. 6
3. नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। —वै० सू० 2. 2. 9
   कारणेन कालः। —वै० सू० 5. 2. 26.
4. द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। —वै० सू० 2. 2. 7
5. तत्त्वम्भावेन। —वै० सू० 2. 2. 8
6. कारणे कालः। —वै० सू० 7. 1. 25
7. कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च। —वै० सू० 7. 2. 22
8. इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिंगम्। —वै० सू० 2. 2. 10
9. द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। —वै० सू० 2. 2. 11
10. तत्त्वम्भावेन। —वै० सू० 2. 2. 12

संयोग और विभाग होते हैं। इसमें कार्य विशेष से नानात्व आता है[1]। सूर्य के संयोग से अंतराल के दिशाओं की व्याख्या होती है[2]।

८. आत्मा

वैशेषिक दर्शन का तत्काल उद्देश्य आत्म और अनात्म का भेद बताना है। इसलिए कणाद ने आत्मा के सद्भाव और गुणों के बारे में विस्तृत निरूपण किया है। उन्होंने बताया है कि आत्मा थोथा विचारमात्र नहीं, बल्कि उसकी वास्तविक सत्ता है। वह शारीरिक प्रक्रियाओं की उपज नहीं है, न सचेतन स्थिति की धारा में ही आती है, न अंततः द्वितीय-सृष्टि प्रलय के चक्र में परम आत्मा में ही लीन हो जाती है, बल्कि यह स्वतन्त्र इकाई है जिसमें स्पष्ट गुण हैं। आत्मा द्रव्यों में आकाश, काल, दिक्, वायु और परमाणु की तरह प्रत्यक्ष भी नहीं है।[3] न सामान्य मतों द्वारा यह अन्तस् प्रत्यक्ष का ही विषय है। केवल आध्यात्मिक विकास के कुछ स्तर को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति ही आत्मा में आत्मा और मन का विशेष संयोग करके आत्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार और उसके गुणों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उसी तरह द्रव्यान्तर में या कर्म और गुण में भी देख सकते हैं[4]। अन्यथा आत्मा के सद्भाव और गुणों का प्रमाण अनुमान से ही मिलता है। इस मामले में अनुमान के लिंग अनुभव द्वारा ही जाने जाते हैं क्योंकि इन्द्रियार्थी का प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्यों में सार्वत्रिक है[5]। और यह इन्द्रियार्थों का सार्वत्रिक अनुभव किसी वस्तु (अर्थात् आत्मा) के सद्भाव का द्योतक है[6]। पाठक चाहें, तो मूलसूत्रों को आगे पढ़ सकते हैं। यह वर्तमान चर्चा के क्षेत्र से बाहर है।

9. मन

यह अन्तः इन्द्रिय है और आत्मा की तरह अप्रत्यक्ष[7] है। आत्मा और

---

1. कार्य्यविशेषेण नानात्वम्। —वै० सू० 2. 2. 13
2. आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची। तथा दक्षिणा प्रतीची उदीचीं च। एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि। —वै० सू० 2. 2. 14–16
3. तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे। —वै० सू० 8. 1. 2
4. आत्मन्यात्मनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्। तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्। असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषाञ्च। तत् समवायात् कर्मगुणेषु। आत्मसमवायादात्मगुणेषु। —वै० सू० 9. 1. 11-15
5. प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः। —वै० सू० 3. 1. 1
6. इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः। —वै० सू० 3. 1. 2
   आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् —वै० सू० 3. 1. 18
7. तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे। —वै० सू० 8. 1. 2

इन्द्रिय विषयों के संनिकर्ष में ज्ञान का सद्भाव या अभाव मन का द्योतक है[1]। इसके गुण हैं; संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार। इसका द्रव्यत्व और नित्यता वायु की तरह सिद्ध की जा सकती है[2]। प्रयत्नों और ज्ञान के युगपद् न होने से यह जाना जाता है कि हर जीवन में एक मन होता है[3]। इसी कारण मन अणु है[4]।

मन अन्तः इन्द्रिय है, भीतरी अंग या भीतरी प्रत्यक्ष का अंग। हम यहां कणाद के सामान्य प्रत्यक्ष वाले सिद्धांत को ले सकते हैं। प्रत्यक्ष आत्मा में इन्द्रिय और विषयों के संपर्क के जरिए उत्पन्न अपरिवर्तित ज्ञान को बताता है। यह संपर्क या इन्द्रियों के जरिए विषयों की आत्मा के निकट प्रस्तुति लौकिक होती है या अलौकिक। पर बाह्य प्रत्यक्ष जिन दशाओं में हो सकता है, वह बताना शेष है। बाह्य प्रत्यक्ष की पहली शर्त यह है कि पांचों बाह्य इन्द्रियां उसी तत्त्व पर केन्द्रित हों, जो वे अलग-अलग देख रही हैं[5]। अतः इन्द्रियों और विषयों के बीच द्रव्यों की एकता बाह्य विषयों, जैसे पृथिवी, जल, तेज को प्रत्यक्ष करने की अनिवार्य शर्त है। विशेष उदाहरणों में बाह्य प्रत्यक्ष की शर्तें सूत्रों में बताई गई हैं[6]।

सामान्य परिस्थिति में जो विषय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होते, वे हैं : परमाणु, वायु, दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा, समवाय, गुरुत्व आदि। पर उनका ज्ञान दो तरह से हो सकता है अर्थात् दुर्लभ मामलों में जैसे सिद्ध ऋषियों के मामले में अन्तः प्रज्ञा[7] से या आत्मा में विषयों के अलौकिक प्रत्यक्ष से। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन तरह का होता है : सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज धर्म। यहां हम इस चर्चा के ब्यौरों को नहीं ले सकते।

---

1. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम्। —वै० सू० 3. 2. 1
2. तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। —वै० सू० 3. 2. 2
3. प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्। —वै० सू० 3. 2. 3
4. तदभावादणु मनः। —वै० सू० 7. 1. 23
5. भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः। तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात्। —वै० सू० 8. 2. 5-6
6. महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः। सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः। अनेकद्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः। तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम्। तस्याभावादव्यभिचारः। संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायात् चाक्षुषाणि। अरूपिष्वचाक्षुषाणि। एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम्। —वै० सू० 4. 1. 6-13
7. आर्षं सिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः। —वै० सू० 9. 2. 13

यथार्थवाद का वैशेषिक सिद्धांत निःसन्देह प्रत्यक्ष के इस सिद्धान्त पर आधारित है।

ख. गुण

गुण का लक्षण है कि यह द्रव्यों में सामान्य होता है, स्वयं उसमें गुण नहीं होता और संयोग विभाग का स्वतंत्र (समवायि-) कारण नहीं होता[1]। इसके 24 भेद होते हैं; (1) रूप, (2) रस, (3) गन्ध, (4) स्पर्श, (5) संख्या, (6) परिमाण, (7) पृथक्त्व, (8) संयोग, (9) विभाग, (10) परत्व, (11) अपरत्व, (12) बुद्धि, (13) सुख, (14) दुःख, (15) इच्छा, (16) द्वेष, (17) प्रयत्न, (18) गुरुत्व, (19) द्रवत्व, (20) स्निग्धता, (21) संस्कार (वेग, भावना और स्थिति-स्थापक), (22) धर्म, (23) अधर्म और (24) शब्द (1. 1. 6)।

(एक) इनमें से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्निग्धता और वेग सशरीर या दृश्य या अन्त्य द्रव्यों के गुण हैं।

(दो) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द (दो) अशरीर या अदृश्य या अनन्त द्रव्य अर्थात् आत्मा और आकाश के गुण हैं।

(तीन) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग अनन्त और अन्त्य द्रव्यों के गुण हैं।

(चार) संयोग, विभाग, द्वित्व, ऐसे पृथक्त्व आदि एक से ज्यादा द्रव्य में होते हैं और बाकी एक द्रव्य में।

(पांच) रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, स्निग्धता, शारीर द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द विशिष्ट गुण हैं।

(छः) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्निग्धत्व और वेग दो इन्द्रियों द्वारा संयुक्त रूप से जाने जाते हैं।

(सात) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न अन्तः इन्द्रिय मन द्वारा समझे जाते हैं, जब कि गुरुत्व, धर्म, अधर्म और भावना अतीन्द्रिय हैं।

---

1. रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुख-दुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। —वै० सू० 1. 1. 6

(आठ) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—जो जलने से नहीं उपजते—परिमाण, एकत्व, व्यक्तित्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, और वेग के पहले उनके कारण रूप वैसे ही गुण आते हैं, जबकि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द के पहले कोई गुण नहीं आते।

(नौ) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, ढीले संयोग द्वारा उत्पन्न परिमाण, कदाचित्क द्रवत्व और रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श, जो जलन से नहीं उपजते, संयोग के कार्य हैं।

(दस) संयोग, विभाग, और वेग कर्म के कार्य हैं। और शब्द तथा बाद का विभाग—विभाग के कार्य हैं।

(ग्यारह) परत्व, अपरत्व, द्वित्व, दो का पृथक्त्व आदि समझ पर निर्भर होते हैं।

(बारह) (क) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—जो ज्यादा गर्म नहीं हैं, शब्द, परिमाण, एकत्व, व्यक्तित्व और स्नेह अपने सधर्मी, गुणों को पैदा करते हैं।

(ख) सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न अपने से विधर्मी गुणों को पैदा करते हैं।

(ग) संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, गर्म स्पर्श, बुद्धि, धर्म, अधर्म और संस्कार सधर्मी और विधर्मी दोनों को पैदा करते हैं।

(तेरह) (क) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना और शब्द अपने कार्य उसी स्थल में पैदा करते हैं, जहां वे स्वयं हाते हैं ;

(ख) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह और प्रयत्न अपने से भिन्न स्थल में अपने कार्य पैदा करते हैं।

(ग) संयोग, विभाग, संख्या, व्यक्तित्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और प्रयत्न अपने कार्य भिन्न स्थल में पैदा करते हैं।

(घ) संयोग, विभाग, संख्या, व्यक्तित्व, गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, धर्म, और अधर्म दोनों स्थलों में अपने कार्य पैदा करते हैं।

(चौदह) गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, बुद्धि, धर्म, अधर्म और खास संयोग (जिसे संपर्क या आवेग कहते हैं), कार्य या परिवर्तन के कारण हैं।

(पन्द्रह) (क) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श जो ज्यादा गर्म नहीं, संख्या, परिमाण, व्यक्तित्व, स्नेह और शब्द असंयोगी कारण हैं।

(ख) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना सक्षम कार्य हैं।

(ग) संयोग, विभाग, गर्म स्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग दोनों हैं।

(घ) परत्व, अपरत्व, द्वित्व और दो का पृथक्त्व में कारण नहीं होता।

(सोलह) संयोग, वियोग, शब्द और आत्मा के विशेष गुण विभाज्य हैं अर्थात् वे अन्तर्दृक् में हो सकते हैं और नहीं भी; बाकी अविभाज्य हैं अर्थात् सदैव अन्तर्दृक् में रहते हैं।

(सत्रह) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, जो जलन से नहीं उपजते, और परिमाण, एकत्व, व्यक्तित्व, शारीर, द्रवत्व, गुरुत्व और स्नेह तब तक रहते हैं, जब तक उनका अपना अधिष्ठान रहता है, जबकि दूसरे अपने अधिष्ठान के रहने पर भी लुप्त हो जाते हैं।

ये ब्यौरे प्रशस्तपाद के पदार्थ धर्म संग्रह से लिए गए हैं, जो वैशेषिक दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ है।

ग. कर्म

कर्म का लक्षण यही है कि यह एक ही द्रव्य में होता है, इसमें कोई गुण नहीं होते, यह संयोग और विभाग से अनपेक्ष रहता है[1]। कर्म पांच तरह का होता है: उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन[2] (1. 1. 7)। यद्यपि गमन कर्म का ही पर्याय है, फिर भी उसे इसलिए अलग बताया गया है जिससे भ्रमण, रेचन, स्पन्दन आदि को भी शामिल किया जा सके। कर्म जल्दी ही नष्ट हो जाता है[3]। वह शारीर या अन्त्य द्रव्यों में ही देखा जाता है,[4] अतः

---

1. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् (वै० सू० 1. 1. 17); संयोगविभागवेगानां कर्म्मसमानम् (वै० सू० 1. 1. 20); असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म्म न विद्यते (वै० सू० 1. 1. 26); संयोगविभागाश्च कर्म्मणाम्। (वै० सू० 1. 1. 30)।
2. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्म्माणि। —वै० सू० 1. 1. 7
3. गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्म्मभिः साधर्म्यम्। —वै० सू० 2. 2. 25
4. तदलिंगमेकद्रव्यत्वात् कर्म्मणः। —वै० सू० 2. 1. 21

वह काल, दिक्, आकाश, आत्मा और क्रिया में नहीं देखा जाता[1]। कर्म, गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न और संयोग से पैदा होता[2] है। स्वतः उत्पन्न संयोग से यह नष्ट हो जाता है[3]। यह असमवायी कारण से पैदा होता है[4] और अपने ही अधिष्ठान में तथा दूसरी जगहों पर अपना कार्य पैदा करता है। यह अपने सधर्मी पैदा नहीं करता[5], न यह द्रव्य ही पैदा करता है।[6]

कर्म बुद्धि पू क या अ-बुद्धि पूर्वक हो सकता है, जैसे कि ऊखल में मुसल डालने और निकालने के प्रसिद्ध उदाहरण में, जहां सभी कर्म संयोग से होते हैं, पहले कर्म को छोड़कर जो बुद्धि से होता है[7]। संयोग न होने पर गुरुत्व के कारण पतन होता है[8] जैसा वर्षा में[9] और वेग का[10] जैसे छोड़े गए बाण का नीचे गिरना जो आवेग और वेग के कारण आसमान में ऊपर जाता है[11]। अ-बुद्धि पूर्वक कर्मों के दूसरे उदाहरण बच्चे का खेल में हाथ पैर चलाना,[12] जलते हुए शरीरों का फटना और सोते व्यक्ति की देह का चलना[13]। पानी का

---

1. दिक्कालावाकाशञ्च क्रियावद् वैधर्म्यान् निष्क्रियाणि। एतेन कर्म्माणि गुणाश्च व्याख्यातः। —वै० सू० 5. 2. 21–22
2. गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम्। —वै० सू० 1. 1. 29
3. कार्य्यविरोधि कर्म। (वै० सू० 1. 1. 14); संयोगादभावः कर्म्मणः। —वै० सू० 2. 1. 23
4. कारणे समवायात् कर्म्माणि। —वै० सू० 10. 2. 23
5. कर्म्म कर्म्मसाध्यं न विद्यते। (वै० सू० 1. 1. 11); गुणवैधर्म्यान्न कर्म्मणां कर्म्म (वै० सू० 1. 1. 24); कारणसामान्ये द्रव्यकर्म्मणां कर्म्माकारणमुक्तम्। —वै० सू० 1. 1. 31
6. न द्रव्याणां कर्म्म (वै० सू० 1. 1. 21); व्यतिरेकात्। —वै० सू० 1. 1. 22
7. आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म्म। तथा हस्तसंयोगाच्च मुषले कर्म्म। अभिघातजे मुषलादौ कर्म्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः। तथात्मसंयोगः हस्तकर्म्मणि अभिघातान्मुषलसंयोगाद्धस्ते कर्म्म। आत्मकर्म्म हस्तसंयोगाच्च। —वै० सू० 5. 1. 16
8. संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। —वै० सू० 5. 1. 7
9. अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। —वै० सू० 5. 2. 3
10. संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम्। —वै० सू० 5. 1. 18
11. नोदनादाद्यमिषोः कर्म्म तत् कर्म्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरञ्च। —वै० सू० 5. 1. 17
12. हस्तकर्म्मणा दारककर्म्म व्याख्यातम्। —वै० सू० 5. 1. 11
13. यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम्। —वै० सू० 5. 1. 13

भाप बनना सूर्य को किरणों द्वारा हवा आदि के संयोग से किया जाता है[1]। बादलों का बनना और मिटना तेज के संयोग द्वारा[2] होता है और द्रवत्व धरातल पर पानी के बहने का कारण होता है।[3]

कर्म संपर्क (अभिघात) और आवेग (नोदन)[4] से भी होता है और अदृष्ट सिद्धान्त से भी अर्थात् स्वैच्छिक किए गए पहले के कर्म के भावी पश्चात्-कार्य के रूप में[5]।

अदृष्ट द्वारा कराए गए कर्म इस तरह गिनाए गए हैं : मणि का गमन (कहा जाता है कि मन्त्रों द्वारा मणि स्वयं चोर की ओर आ जाती है,) सुई का (चुम्बक की ओर) बढ़ना, आग की लपटों का ऊपर जलना, हवा का अगल-बगल में चलना, अणुओं और मन के कर्म, (जीवन और मन का) अपसर्पण, उपसर्पण और खाए-पिए का संयोग।

खास स्थितियों में-स्वैच्छिक काम यथास्थिति धर्म-अधर्म के हेतु बन जाते हैं। अनिच्छित कर्म धर्म-अधर्म के भागी नहीं होते।

घ. सामान्य और ङ विशेष

सामान्य अनेक में समान प्रतीति का सिद्धान्त है और विशेष सजातीय पदार्थों में भेद बताते हैं। दोनों ही बुद्धि-सापेक्ष हैं[6]। सत्ता समान बुद्धि का ही कारण होने से मुख्य सामान्य है[7]। द्रव्यत्व या द्रव्य को द्रव्य बनाने वाला, गुणत्व और कर्म को कर्म बनाने वाला सामान्य भी होता है और विशेष भी[8]।

---

1. नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्। —वै॰ सू॰ 5. 2. 5
   नोदनापीडनात् संयुक्तयोगाच्च। —वै॰ सू॰ 5. 2. 6
2. अपां संघातो विलयनञ्च तेजः संयोगात्। तत्र विस्फूर्ज्जथुर्लिङ्गम्। वैदिकञ्च। अपां संयोगाद्विभागाच्च स्तनयित्नोः। —वै॰ सू॰ 5. 2. 8-11
3. द्रवत्वात् स्यन्दनम्। —वै॰ सू॰ 5 2. 4
4. नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म्म। —वै॰ सू॰ 5. 2. 1
5. मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणकम् (वै॰ सू॰ 5. 1. 15); अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्म्मादृष्टकारितम् (वै॰ सू॰ 5. 2. 13); अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि। —वै॰ सू॰ 5. 2. 17
6. सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्। —वै॰ सू॰ 1. 2. 3
7. भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। —वै॰ सू॰ 1. 2. 4
8. द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्म्मत्वञ्च सामान्यानि विशेषाश्च। —वै॰ सू॰ 1. 2. 5

क्षुद्र विशेष अन्त्य भेद हैं, हर व्यक्तिगत परमाणु आत्मा, मन, दिक्, काल, आकाश में रहने वाले अन्तिम विशेष उनकी भेदक विशेषताओं की सृष्टि करते हैं और विश्व की बहुत सी चीजों के ज्ञान का कारण होते हैं।[1] इन क्षुद्र विशेषों की पहचान के कारण ही, जैसा बताया जा चुका है, कणाद के दर्शन को अंतिम विशेषों का दर्शन बताया गया है। सामान्य और विशेष दोनों नित्य हैं। सामान्य एक से ज्यादा वस्तुओं की अपेक्षा करता है, जो बाकी बातों में एक दूसरे से भिन्न हों। सामान्य, विशेष में सामान्य-विशेष के भाव और संयोग की कल्पना से अनन्त परम्परा चलती रहेगी[2]।

सत्ता से हमारा मतलब उससे है जो द्रव्य, गुण और कर्म के मामले में रूप में अन्तः ज्ञान और पदार्थ ज्ञान द्वारा यह बताता है कि यह सद् है[3]। यह द्रव्य, गुण, कर्म से अलग है[4]। सत्ता एक ही है। द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व भी द्रव्य, गुण, कर्म ही नहीं है।[5]

च. समवाय

समवाय ऐसी वस्तुओं का सम्बन्ध है, जो प्रकृति में अपृथक् रूप में संबद्ध (अयुत-सिद्ध) हैं और एक दूसरे के साथ अवयवी और अवयव का रिश्ता रखती हैं, जो इस रूप में बोध कराती है कि 'वह यहां है'।[6] यह अंग और अंगियों का सम्बन्ध है, विषयों और उनके गुणों, का, कर्म का और जहां वह होता है, सामान्य और विशेष का और जिन वस्तुओं में वे रहते हैं और नित्य द्रव्यों और उनके अंतिम पदों का। समवाय केवल संयोग मात्र नहीं है, क्योंकि संयोग प्रकृति में अलग स्थित चीजों का बाहरी योग है; इसके विभिन्न कारण दोनों में से किसी चीज के, दोनों के कर्म और दूसरा संयोग है[7]। इसका अंत विभाग में होता है, यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। बहुविध है और नश्वर है; जबकि इनमें से कोई लक्षण

---

1. अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः। —वै० सू० 1. 2. 6
2. सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात् तत एव ज्ञानम्। —वै० सू० 8. 1. 5
3. सदिति यतो द्रव्यगुणकर्म्मसु सा सत्ता। —वै० सू० 1. 2. 7
4. द्रव्यगुणकर्म्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता। गुणकर्म्मसु च भावान्न कर्म्म न गुणः। सामान्यविशेषाभावेन च। —वै० सू० 1. 2. 8-10
5. अनेक द्रव्यवत्वेन द्रव्यत्वमुक्तम्। सामान्यविशेषाभावेन च। तथा गुणेषु भावाद् गुणत्वमुक्तम्। सामान्यविशेषाभावेन च। कर्म्मसु भावात् कर्म्मत्वमुक्तम्। सामान्यविशेषाभावेन च। —वै० सू० 1. 2. 11-16
6. इहेदमिति यतः कार्य्यकारणयोः स समवायः। —वै० सू० 7. 2. 26
7. अन्यतरकर्म्मज उभयकर्म्मजः संयोगजश्च संयोगः। —वै० सू० 7. 2, 9

समवाय में नहीं होता। दूसरी और समवाय में से कुछ उपजता नहीं[1]। अतीन्द्रिय है, नित्य है और एक है[2]। यह अनुमान से स्थापित होता है और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष से बिलकुल भिन्न है[3]।

छ. अभाव

अब हम संक्षेप में नाम-योग्य चीजों के दूसरे मुख्य विभाजन, अभाव को लेंगे। अभाव मूलतः दो तरह का होता है : संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव तीन तरह का होता है : प्रागभाव, जैसे अस्तित्व में आने (उत्पत्ति) से पहले घड़े का अभाव, प्रध्वंसाभाव, जैसे घड़े का अस्तित्व न रहने पर उसका अभाव और अत्यन्ताभाव जैसे अंधेरा। अन्योन्याभाव ऐसे हैं जैसे घोड़े में गाय की प्रकृति नहीं होती है और न इसके विपरीत। अभाव प्रत्यक्ष[4] का विषय है।

कणाद के यहां उद्धृत सूत्र विशेषतः सांख्य के सिद्धान्त सत्कार्यवाद, अर्थात् उत्पत्ति से पहले कार्य का अस्तित्व, के प्रत्याख्यान के लिए लिखे गए थे।

---

1. परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्वाभ्यां व्याख्यातः। —वै० सू० 7. 2. 23
2. तत्त्वम्भावेन। —वै० सू० 7. 2. 28
3. द्रव्यत्व गुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः। —वै० सू० 7. 2. 27
4. क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत्—क्रिया और गुण के (इसके साथ) संलग्न न होने से (कार्य) उसकी उत्पत्ति से पहले असत् (अस्तित्वहीन) है।
   सदसत्—सत् असत् हो जाता है।
   असतः—क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्—(सत्) असत् से भिन्न विषय है क्योंकि क्रिया और गुण असत् के पदार्थ नहीं हो सकते।
   सच्चासत्—सत् भी असत् है।
   यच्चान्यदसदतस्तदसत्—और जो इनसे भिन्न असत् है, (पूरी तरह) असत् है।
   असदिति भूतप्रत्यक्षाभावात् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत्—"(यह) असत् है, ऐसा (प्रत्यक्ष ज्ञान) विरोधी प्रत्यक्ष (अभाव) के प्रत्यक्ष ज्ञान जैसा ही है, क्योंकि (दोनों मामले में) उसके प्रत्यक्ष का अभाव है, जो गया और खत्म हो गया है और भूत की स्मृति ही शेष है।
   तथाभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च—उसी तरह (प्राग) अभाव का (प्रत्यक्ष ज्ञान) सद्भाव के प्रत्यक्ष होने के कारण भी होता है।
   ऐतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः—इससे अजलघट, अगो (गायरहित) और अधर्म की भी व्याख्या हो गई।
   अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम्—जो पैदा नहीं हुआ, उसका अस्तित्व नहीं है, यह भी अर्थान्तर (वैसी ही बात) है।
   नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः—कमरे में घड़ा नहीं—यह सद् घट के कमरे के साथ संसर्ग के निषेध (का रूप) है। वै० सू० 9. 1. 1-10

कणाद और कार्य-कारण वाद

मानव चिन्तन की सबसे बड़ी खोज शायद कारण और कार्य को लेकर ही हुई है। वैज्ञानिक अध्ययन का मतलब है कि किसी उपलक्षण तक ले जाने वाले कारण या कारणों की खोज की जाए। भारतीय चिन्तन के इतिहास में कणाद ने पहलेपहल कार्य और कारण के बीच के सम्बन्ध के बारे में खोज का प्रयास किया। बाद में यह परिवर्तित रूप में सांख्य दर्शन में भी विकसित हुआ और बौद्ध दार्शनिकों तथा वेदान्तियों ने भी इसकी सम्यक् आलोचना-परीक्षा की।

वैशेषिक के दसवें खण्ड में अनेक सूत्र हैं, जो कारण के स्वरूप के बारे में हैं[1]। एक सूत्र की विवृत्ति में तीन प्रकार के कारणों का जिक्र किया गया है[2]:

(एक) समवायिकारण अर्थात् अन्तर्भूत, या जोड़ने वाला या सारवान् कारण।

(दो) असमवायि कारण अर्थात् अन्-अन्तर्भूत या न जोड़ने वाला या औपचारिक कारण।

(तीन) निमित्त कारण अर्थात् साधक या सक्षम कारण।

प्रो० कीथ ने इन तीन कारणों का अच्छा निरूपण किया है[3]। वह कहते हैं: पहला समवायि (अन्तर्भूत) कारण है, जिसमें नाता अवियोज्य सम्बन्ध का है। इसका निरूपण तन्तु और पट के नाते से किया जाता है। जो तुरी (पाट्टल) के नाते से अलग है, जो कपड़े के बनने में मदद देती है और यही सम्बन्ध सभी उत्पादनों और द्रव्यों में होता है जिनसे वे बनते हैं। यह सम्बन्ध द्रव्य और गुण तथा द्रव्य और गति के बीच भी रहता है। कंबल उसके रंग का समवायि कारण है और यह तुरन्त मान लिया जाता है कि कारण कार्य की उत्पत्ति से पहले होना चाहिए। कंबल में कोई रंग नहीं होना चाहिए और चूंकि उसमें आकार भी नहीं हो सकता, तो तब तक वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, जब तक क्षण भर के विलंब के बाद उन गुणों की उत्पत्ति न हो जाए। दूसरा असमवायि कारण है, जो इसी अधिष्ठान में कार्य के समवायि कारण के साथ स्थित रहता है। पहला कंबल के

---

1. कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात्। संयोगाद्वा। कारणे समवायात् कर्म्माणि। तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च। कारणसमवायात् संयोगः पटस्य। कारणकारणसमवायाच्च। संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम्। —वैं० सू० 10. 2. 1-7
2. कारणं त्रिविधं समवायिकारणासमवायिकारणनिमित्तकारणभेदात्। —विवृति, वैं० सू० 10. 2. 1
3. ए० बी० कीथ: इंडियन लॉजिक एंड एटमिज्म (1921) पृष्ठ 198-204

धागों की व्यवस्था का कंबल के साथ सम्बन्ध है, जो कंबल के समवायि कारण हैं। दूसरी ओर यह सम्बन्ध अप्रत्यक्ष हो सकता है। इस तरह कंबल के धागों का रंग कंबल के रंग के सम्बन्ध में रहता है; धागों का रंग उसमें अन्तर्भूत होता है। तीसरी कोटि निमित्त कारण की है, जो हर तरह के कारणों का आधार है, जिन्हें पहले के दो वर्गों में नहीं रखा जा सकता; इसमें साधक या अभिकर्ता भी शामिल हैं; इसमें भी विशेष और सामान्य कारणों के बीच भेद रखा जा सकता है, जो आठ हैं : ईश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा और कर्म, प्राक् अभाव, काल और दिक्, धर्म और अधर्म, जिसमें कुछ लोग प्रतिरोधी प्रभाव को भी जोड़ देते हैं[1]। पर तीसरी कोटि के बारे में इस अभिमत को लेकर लगता है कि शब्द 'कारण' का बहुत ज्यादा व्यापक अर्थ लिया गया है और इसमें वह भी शामिल है जो जरूरी नहीं है और ज्यादा अच्छा तरीका वे लोग अपनाते हैं जो मुख्य और गौण कारणों में भेद रखते हैं और पहले को ही तीन वर्गों में बांटते हैं और दूसरे को निचली श्रेणी का मान लेते हैं।

तीन प्रकार के कारणों में पहले दो समवायि और असमवायि हमेशा असाधारण होते हैं। जबकि तीसरा दो तरह का होता है : साधारण और असाधारण। पहले शीर्ष में हम सामान्यतः आठ को शामिल करते हैं : ईश्वर, ज्ञान, इच्छा, ईश्वरकृति, दिक्, काल, अदृष्ट और प्रागभाव। असाधारण या निमित्त कारण असंख्य होते हैं।

हमेशा यह व्याख्या करना आसान नहीं होता कि कारण क्या है और उसके कार्य क्या हैं ? विभिन्न प्रसंगों में कणाद ने कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त-वाक्य दिए हैं जिनको हम यहां संक्षेप में लेंगे।

(एक) कार्य या कारण से द्रव्य समाप्त नहीं हो जाता[2]।

द्रव्य अपने ही कार्य या अपने ही कारण से नष्ट नहीं हो सकता।

अभिप्राय यह है कि नाशकर्ता का संबंध और नष्ट होने वाले का संबंध दो द्रव्यों के बीच सत् (विद्यमान) नहीं है, जो कार्य-कारण संबंध के बीच आते हैं। द्रव्य का नाश अधिष्ठान या मूल संयोग के नाश से ही हो सकता है।

1. तुलना करें अन्नम्भट्ट के तर्कसंग्रह पर अथाल्ये (1897) पृष्ठ 207-208। अवधि, दिक्, काल और आकाश के बारे में न्याय सू० 2. 1. 22 में यह विचार प्रत्यक्ष के सिलसिले में आया है। दिक्, काल के बारे में देखिए प्र० पा० भा० पृष्ठ 25, किरणावली पृष्ठ 38, 39, वै० सू० 7. 1. 25; 5. 2. 25-26 (फाडेगन) वैशेषिक सिस्टम, पृष्ठ 219।

2. न द्रव्यं कार्य्यं कारणञ्च बधति। —वै० सू० 1. 1. 12

(दो) द्रव्य क्रिया और गुण वाला होता है और समवायि कारण होता है।[1]

(तीन) कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। यदि कारण समाप्त हो जाए तो कार्य भी समाप्त हो जाएगा[2]।

(चार) पर कारण का अभाव कार्य के अभाव से नहीं होता[3]।

यदि कार्य-कारण संबंध का नियम सत् नहीं है, तो कार्य के अभाव से कारण का भी अभाव हो जाएगा। कार्य का अभाव कारण के अभाव का निमित्त नहीं है, पर कारण का अभाव कार्य के अभाव का निमित्त है।

(पांच) कार्य के गुण से पहले कारण का गुण देखा जाता है।[4]

(छः) कार्य में (रंग आदि) का सद्भाव कारण में उनके सद्भाव से आता है।[5]

कारण में कार्य का पूर्व-सद्भाव

कार्य की वस्तुतः यह परिभाषा की जा सकती है जो कारण के बाद आता है। जो जरूरी होता है, सहायक मात्र नहीं। पर ज्यादा गर्भित परिभाषा अन्नंभट्ट ने दी है जो पूर्ववर्ती निषेध से इसका निश्चित संबंध जोड़ते हैं, इस तरह न्याय-वैशेषिक कारणवाद के मौलिक स्वरूप पर जोर देते हैं, जिसका निषेध है कि कार्य कारण में पहले से रहता है (असत्कार्यवाद)। इस सिद्धान्त पर कणाद ने पहले ही स्पष्ट आग्रह किया है: बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। पर ऐसा नहीं कि बिना कार्य के कारण नहीं होता। इस तरह इस दर्शन का सिद्धान्त यह है कि कारण सदा कार्य से पहले आता है और जब तक कार्य की उत्पत्ति न हो, वह सद् (विद्यमान) नहीं रहता। इस तरह यह उस पीढ़ी के बौद्धों के असत् से सत् की उत्पत्ति वाले सिद्धान्त से कुछ संबंधित सिद्धांत हैं और सांख्य के सत्कार्यवाद (कारण में कार्य की पूर्वस्थिति) सिद्धान्त के विरुद्ध है और वेदान्तियों के इस अभिमत के भी जिसमें कारण को मान्यता दी गई है और कार्य को अंततः मिथ्या बताया गया हैं। सांख्य इन तर्कों पर भी जोर देता है कि अनुभवगम्य

1. क्रिया गुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। —वै० सू० 1. 1. 15
2. कारणाभावात् कार्य्याभावः। —वै० सू० 1. 2. 1
3. न तु कार्य्याभावात् कारणाभावः। —वै० सू० 1. 2. 2
4. कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः। —वै० सू० 2. 1. 24
5. कारणभावात् कार्य्यभावः। —वै० सू० 4. 1. 3

है कि किसी नई वस्तु की सृष्टि नहीं हो सकती; नीले रंग को कभी लाल रंग में नहीं बदला जा सकता; न सरसों उससे निकले तेल में खोजी जा सकती है; किसी भी कारण से कभी कोई ऐसे कार्य नहीं होता जैसा कि न्याय के मत से संभव होगा, पर एक विशिष्ट कारण से ही होता है; यदि यह सुझाव दिया जाए कि कारण में कार्य पैदा करने की कुछ शक्ति होती है, तो क्या यह शक्ति कार्य से सम्बद्ध होती है? अगर ऐसा है, तो यह भी कहा जा सकता है कि कार्य की कारण में पूर्व सत्ता होती है; अगर ऐसा नहीं है तो निश्चित कार्यों में निश्चित कारणों की संगति खोजने में घातक कठिनाई पैदा हो जाएगी। और आखिर में चूंकि कारण और कार्य परस्पर-संबद्ध विचार हैं, कारण की विद्यमानता की बात उसके तुरन्त कार्य पैदा करने की बात के बिना नहीं कहीं जा सकती। न्याय का उत्तर कोई नया नहीं है, उन्हीं अणुओं से घर बनता है, और उन्हीं से तश्तरी; तो अणुओं की एकात्मकता के सिद्धान्त पर अण, घट और तश्तरी सब एक ही जैसे होने चाहिए जो नहीं होता; इस तर्क का उत्तर वेदान्त तो ऐसी चीजों को मिथ्या बताकर देता है, जो एक ही चीज के समान होने पर एक दूसरे के भी समान होती हैं। और अगर यह तर्क दिया जाए कि कार्य छिपा रहता है और स्पष्ट किया जाता है, तो यह स्पष्ट करना भी तो एक कार्य होगा, इसलिए यह भी पहले सद् रहा होगा। और इस तरह अनन्त तर्क-शृंखला चलती रहेगी। इस तर्क का वेदान्त के इस सिद्धान्त द्वारा उत्तर दिया गया है कि पूरा ही स्पष्ट होने वाला कार्य माया का पचड़ा है और केवल एक सत्य शेष रह जाता है। इसलिए सांख्य में कारणवाद के अन्तर्भूत होने के बारे में होने वाली दिक्कत से शंकर आसानी से टक्कर ले लेते हैं। सांख्य को वास्तविक कार्य में वास्तविक कारण की पूर्व सत्ता पर जोर देने के कारण प्रत्यक्ष तथ्यों को भूलने के लिए मजबूर होना पड़ता है।

परमाणु

वैशेषिक (वै० सू०) के लेखक कणाद ने ही सबसे पहले परमाणु की प्रकल्पना का प्रतिपादन किया था। परमाणु सिद्धान्त ब्रह्माण्ड में यथार्थ वस्तुओं के विद्यमान रहने के सिद्धान्त पर आधारित था। यह सिद्धान्त कणाद (600 ई० पू०) के समकालीन न्याय (न्या० सू०) के लेखक गौतम ने भी माना था। परमाणु-सिद्धान्त के परवर्ती विकास में न्याय-वैशेषिक दर्शन साथ-साथ चले। वात्स्यायन ने न्याय पर एक टीका (दूसरी सदी ई० पू०) लिखी और प्रशस्तपाद ने भी (600 ई० पू०) अपना एक ग्रन्थ पदार्थ-धर्म-संग्रह जिसे प्रशस्तपाद भाष्य (प्र० पा० भा०) भी कहते हैं इसी पर लिखा। शंकर मिश्र ने भी वैशेषिक पर उपस्कार (वै० उ०) नामक टीका (15 वीं सदी ईसवी) लिखी। उदयन की कृति किरणावली (कि०) 984 ईसवी की मानी जाती है और इस धारा का अन्य ग्रन्थ कणादरहस्य (क० र०) पन्द्रहवीं सदी का था। कन्दली 977 ईसवी की कृति है सेतु सोलहवीं सदी की और व्योमशिखाचार्य की व्योमवती (व्योम०) 8 से 10 वीं सदी

की। न्याय दर्शन के ग्रन्थों की तिथियां इस तरह हैं : वात्स्यायन का न्यायभाष्य (न्या० भा०) (दूसरी सदी ई० पू०), जयन्त की न्यायमंजरी (न्या० मं०) नवीं सदी के अन्त में, उद्योतकर का न्यायवार्तिक (न्या० वा०) 600 ईसवी में; वरदराज मिश्र की बोधनी ग्यारहवीं या बारहवीं सदी में और वल्लभाचार्य की न्याय लीलावती (न्या० ली०) बारहवीं सदी के अन्त में।

इस साहित्य की चर्चा हम डा० उमेश मिश्र द्वारा अपने विनिबन्ध 'कान्सेप्शन आफ मैटर' में इतनी निपुणता से सारबद्ध किए गए संक्षेप के आधार पर दे रहे हैं।

परमाणु लक्षण

नौ द्रव्यों में से चार-पृथिवी, जल, तेज और वायु-में से प्रत्येक के छोटे से छोटे टुकड़े को परमाणु कहा गया है। ऐसा छोटा टुकड़ा स्वभावतः अतीन्द्रिय होता है। इसी से कभी-कभी उसकी सत्ता को प्रश्नास्पद माना जाता है। परमाणु प्रत्यक्ष नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी सत्ता ही नहीं है। यह कुछ दूसरी चीजों के कारण भी हो सकता है, जो उसके प्रत्यक्ष होने में आड़े आ जाती है।[1] न्याय वैशेषिक के अनुसार किसी वस्तु में महत्त्व होना उसके प्रत्यक्ष होने की एक शर्त है। और चूंकि परमाणु में महत्त्व नहीं होता, अतः वह प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए इसकी सत्ता नीचे लिखी रीति से अनुमान द्वारा सिद्ध की जाती है :

कमरे में छोटे से छिद्र से आती हुई सूर्य किरणों में उड़ते हुए धूलिकण देखे जाते हैं, जिन्हें न्याय दर्शन में त्रसरेणु या त्रुटि[2] कहते हैं और जिनको तत्त्वों का दृश्यमान छोटे से छोटा कण कहा जाता है। महत्त्व से युक्त और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के योग्य होने के कारण इनमें अंगभूत और हिस्सों के होने की कल्पना की जाती है, जिन्हें द्वयणुक कहते हैं। इन्हीं कारणों से इनमें भी अंगभूत हिस्से होते हैं। इन द्वयणुकों के अंगों को परमाणु कहते हैं,[3] जो स्वभावतः अविभाज्य होते हैं और जिनका आगे विश्लेषण नहीं किया जा सकता। स्थूल तत्त्व के उपमान की कल्पना से अनन्त तक लौट सकने की स्थिति आ जाएगी। साथ ही उस स्थिति में हर वस्तु के अंग वैसी ही अनन्त संख्या में आते जाएंगे, तो विभिन्न चीजों के आकार में कोई अन्तर न होगा, जिसमें दुनिया के सर्वोच्च पहाड़ का

1. षड्भिः प्रकारैः सतां भावानामनुपलब्धिर्भवति—अतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षान् मूर्त्यन्तरव्यवधानात्। तमसावृतत्वादिन्द्रियदौर्बल्यादतिप्रमादात्।
—पा० सू० 4. 1. 1 पर म० भा०, सां० का० श्लोक 7।
2. परं वा त्रुटेः।
—न्या० सू० 4. 2. 17
3. न्या० वा० 4. 2. 17; वै० सू० 4. 1. 2

आकार राई के दाने के बराबर हो जाएगा। पर ऐसा अन्तर आकार में होता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता[1]। इसलिए परमाणु के आगे खण्ड नहीं हो सकते।

परमाणु के ज्यादा महत्त्व पूर्ण लक्षण ये हैं :

(1) वे नित्य और अखण्ड हैं[2]।

(2) वे स्वतः कुछ पैदा नहीं कर सकते,[3] नहीं तो उनका नित्य स्वरूप लगातार उत्पत्ति का हेतु बन जाएगा।

(3) चारों तरह के परमाणुओं में से प्रत्येक अपने-अपने विशिष्ट गुण अर्थात् गंध, स्पर्श, रस और रूप रखता है। अर्थात् पृथिवी के परमाणु में गंध होती है, वायु के परमाणु में स्पर्श, जल के परमाणु में रस और तेज के परमाणु में रूप[4]।

(4) उनको प्रत्यक्ष-ज्ञान कराने वाली किसी इन्द्रिय से नहीं देखा जा सकता। इस तरह उनमें महत्त्व और स्पष्ट रूप[5] न होने से वे दृष्टि से प्रत्यक्ष नहीं हो सकते, महत्त्व और स्पष्ट स्पर्श न होने से वे त्वचा की इन्द्रिय से अनुभव नहीं किए जा सकते, आदि। पर इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञानेन्द्रियां परमाणुओं के संपर्क में नहीं आतीं[6], क्योंकि योगी उनका प्रत्यक्ष करते हैं[7]। दूसरे शब्दों में योगियों के मामले में भी परमाणुओं का सीधा प्रत्यक्ष-ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों और विषय-सम्पर्क से ही होता है। पर यह योगियों द्वारा परमाणुओं के अन्तः प्राज्ञ ज्ञान की संभावना से इनकार नहीं करता।[8]

(5) परमाणुओं में अन्तर्भूत गुण भी नित्य होते हैं—पृथिवी के परमाणुओं को छोड़कर[9]।

1. प्र० पा० भा० और कन्दली पृष्ठ 31 : उदयन की लक्षणावली पर न्या० मं० (4) पृष्ठ 23।
2. वै० सू० 4. 1. 4; व्योम पृ० 225; वै० सू० 4. 1. 1; किरणावली भास्कर (पद्मनाभ मिश्र कृत) पृ० 78; वै० सू० विवृति (जयनारायण कृत) (5. 5) 2. 1. 13
3. कन्दली, पृ० 31-32
4. वै० सू० 4. 1. 3
5. न्या० सू० 2. 1. 36, वै० सू० 4. 1. 6
6. न्या० वा० 2. 1. 33
7. वै० उ० 8. 1. 2
8. वही।
9. वै० सू० और वै० उ० 6. 1. 3

(6) परमाणु विश्व के उपादान कारण होते हैं[1] ।

(7) वे अकेले और संयुक्त रूप में भी अप्रत्यक्ष रहते हैं[2] ।

(8) उनमें अन्त्य विशेष होता है, जो एक परमाणु को दूसरे से भिन्न कर देता है[3] ।

परिमाण और परमाणु

प्रशस्तपाद भाष्य में परिमाण की परिभाषा एक गुण के रूप में की गई है, जो सभी मापों का कारण बनता है। यह चार तरह का होता है : अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व[4] । दूसरी ओर वल्लभ का विचार है कि ह्रस्व और दीर्घ अलग परिमाण नहीं हैं, बल्कि क्रमशः अणु और महत् के उपभाग हैं[5] । इनमें अणुत्व नित्य भी है अनित्य भी, जो सम्बन्ध विषय के स्वरूप अनुसार होता है। इस तरह परमाणु से सम्बद्ध अणुत्व नित्य है, द्वयणुक से सम्बन्धित यह अनित्य है। ह्रस्वत्व के बारे में कहा जाता है कि यह उस विषय में होता है, जिसमें-अणुत्व पैदा हो जाता है। दूसरे शब्दों में अणुत्व नित्य विषय में नहीं होता[6] । पर उदयन का विचार है कि अणुत्व की तरह ह्रस्वत्व भी दो तरह का होता है—नित्य और अनित्य। पहला परमाणु में होता है, दूसरा द्वयणुक में। जो परमाणु में होता है, उसे परम ह्रस्वत्व कहते हैं[7] । इस तरह परमाणु में अणुत्व और ह्रस्वत्व दोनों ही परिमाण होते हैं[8] । परमाण के परिमाण को परिमंडल कहते हैं और वह नित्य होता है।[9]

परिमण्डल के अर्थ के बारे में यह कहा जा सकता है कि शब्द मंडल वृत्ताकार के लिए आता है। वृत्ताकार चीजें भी विषय के एक ओर खड़े लोगों को और जिनकी आंखें विषय के एक हिस्से को ही देखती हैं लंबाई वाली लगती हैं। दूसरी ओर परमाण सब तरफ से गोलाकार लगता है, किसी भी तरफ से

1. न्या० वा० 4. 1. 21, पृ० 457
2. न्या० ली० पृ० 8, न्या० ली पर प्रकाश, पृ० 122
3. प्र० पा० भा०, पृ० 321-22
4. प्र० पा० भा० पृ० 131, कन्दली पृ० 133-34
5. प० र० मा० (पं० रघुनाथ कृत) पृ० 31
6. प्र० पा० भा०, पृ० 131, कन्दली पृ० 134-34
7. कि० पृ० 212
8. क० र० पृ० 72—73, कोंड भट्ट की पदार्थ दीपिका पृ० 12. त० प्र० पांडुलिपि पृ० 8 ख, प० र० मा० पृ० 31 ।
9. वै० सू० 7. 1. 19-20

लंबा या टेढ़ा नहीं। गुण 'मंडल' शब्द से हिस्से होना प्रकट होता है, पर परमाणु में हिस्से न होने से वह स्वरूप में विशिष्ट होता है। अतः यहां परिमंडल का अर्थ है प्रकृष्ट अणुत्व रखने का गुण।[1]

परमाणु का भागहीन स्वरूप

परमाणु के भाग रहित स्वरूप की बौद्धों ने कई तरह से आलोचना की है।

बौद्धों की शून्यवादी धारा, जो यह मानती है कि शून्य ही वास्तविक सत्ता है। ऐसे किसी द्रव्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकती, जो कोई अंगभूत हिस्सा नहीं रखता और नित्य है। उक्त विचार के समर्थन में दिया गया तर्क यह है कि आकाश के सर्वव्यापी होने में वह परमाणुओं के भीतर भी और बाहर भी होना चाहिए। आकाश के इस तरह परमाणुओं में व्याप्त होने से यह प्रकट होगा कि परमाणु में हिस्से होते हैं, क्योंकि उसके बिना भीतर और बाहर की बात नहीं की जा सकती। अब अगर आकाश परमाणुओं के भीतर बाहर व्याप्त नहीं हो सकता, तो वह सर्वव्यापी नहीं रहता। इसलिए बौद्ध मानते हैं कि या तो न्याय-वैशेषिक को यह मानना होगा कि परमाणु के हिस्से होते हैं और वह अनित्य है, या फिर यह कि आकाश सर्वव्यापी नहीं है[2]।

बौद्धों के इस तर्क में दो भाग हैं :

(1) परमाणु के हिस्से होते हैं और वह अनित्य है।

(2) और आकाश सर्वव्यापी नहीं है।

पहली आपत्ति के बारे में न्याय-वैशेषिक का विचार यह है कि यह अमान्य है। क्योंकि किसी विषय के प्रसंग में भीतर और बाहर शब्द उस विषय के हिस्सों का जिक्र करते हैं, पर चूंकि परमाणु के बिना हिस्सों वाला होने की कल्पना की गई है, इसलिए इसके बारे में भीतर और बाहर की बात कहना संभव नहीं है। इसलिए व्यतिभेद (भीतर और बाहर होना) की अभिव्यक्ति परमाणु जैसे द्रव्य पर लागू नहीं हो सकती[3]।

दूसरे हिस्से के बारे में यही उत्तर दिया जा सकता है कि सर्व-व्यापिता का अर्थ यह है कि सर्वव्यापी प्रकृति रखने वाला द्रव्य सीमित रूप (मूर्तिमद्)

---

1. न्यायमुक्तावली पर मंजूषा, पृ० 178–79; कन्दली पृ० 133।
2. न्या० भा० 4. 2. 18–19
3. न्या० सू० 4. 2. 20

रखने वाली हर वस्तु के सम्पर्क में आना चाहिए। इसलिए हम यह अनुमान कैसे कर सकते हैं कि आकाश यदि परमाणु के भीतर और बाहर (जो है ही नहीं) संपर्क में न आने से सर्वव्यापी न रहेगा? इसलिए पहले की भांति यह आपत्ति भी आधारहीन है[1]।

यहां इस बात पर ध्यान देना होगा कि न्याय और वैशेषिक ने यह अंतिम रूप से मान लिया है कि परमाणु भूत का अविभाज्य और अन्तिम अंग है और नित्य है। अपनी स्थिति में पूरी तरह दृढ़ रहकर वे इस अभिमत के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं मानते। अतः विरोधियों द्वारा उठाई गई अधिकांश आपत्तियां इसलिए छोड़ दी जाती हैं, क्योंकि ये परमाणु के हिस्से रखने वाला मानकर चलती हैं, जो वस्तुतः यह रख नहीं सकता।

इसलिए यह आपत्ति 'कि सीमित रूप और स्पर्श संवेदन वाले विषय जगह घेरते हैं और उनमें हिस्से होते हैं, इसलिए परमाणु भी सीमित रूप और स्पर्श संवेदन रखने के कारण जगह घेरेगा और उसमें हिस्से होंगे।' इस आधार पर मंजूर नहीं की जाती कि ऐसा होने पर परमाणु अंतिम अविभाज्य अंग नहीं हो सकते[2]।

दूसरी आपत्ति यह है कि चूंकि परमाणु एक दूसरे से मिलते हैं तो उनमें अंगभूत हिस्से होने चाहिए, जैसे धागों में, दूसरे शब्दों में जब एक परमाणु दो दूसरे परमाणुओं के बीच आता है और उनसे मिलता है, तो उसमें दो परमाणुओं के जिनसे यह मिलता है, तत्संवादी वस्तुतः दो पहलू होते हैं। इस मध्यस्थता से यह लक्षित होता है कि बीच के परमाणु का अगला हिस्सा सामने के परमाणु के संपर्क में आया और परमाणु का पिछला हिस्सा पीछे के परमाणु से मिल गया। अब ये आगे और पीछे के भाग स्वभावतः बीच के परमाणु के दो हिस्सों का संकेत करते हैं। इसी तरह बीच के परमाणु साथ ही चारों ओर रखे गए दूसरे परमाणुओं में मिलेंगे। इस तरह बीच के परमाणु दूसरों से छः ओर से मिलेंगे। चूंकि संयोग एक गुण है, तो उसका अधिष्ठान भी होना चाहिए और फिर चूंकि यह पूरे अधिष्ठान पर व्याप्त नहीं होता, तो इसके अधिष्ठान में भी हिस्से होने चाहिए। अतः स्पष्ट है कि परमाणु के हिस्से होते हैं।[3]

इसके उत्तर में कहा जाता है कि केन्द्र के परमाणु का अन्य परमाणुओं से सम्पर्क इस कारण है कि परमाणु की सीमित मूर्ति होती हैं और इसलिए

---

1. न्या० वा० 4: 2. 20, पृ० 512
2. न्या० सू० और न्या० भा० 4. 2. 23. न्या० मं० पृ० 551, व्योम० पृ० 207
3. न्या० वा० 4. 2: 25 पृ० 516-17; न्यायवार्तिक तात्पर्य, वाचस्पति मिश्र की टीका 4. 2. 24-25, पृ० 651

नहीं कि उसके हिस्से होते हैं, और फिर जिस द्रव्य में हिस्से होते हैं वह दूसरे द्रव्य का समवायि होता है। पर चूंकि परमाणु किसी दूसरे द्रव्य का समवायि नहीं होता, इसमें हिस्से होते हीं नहीं; अतः यह मानना गलत है कि परमाणु में हिस्से होते हैं, जिससे दूसरे परमाणु मिल जाते हैं[1]।

परमाणु की विना हिस्सों वाली प्रकृति के विरुद्ध दूसरी ऐसी ही आपत्तियां उठाई जाती हैं जैसे इसमें गति होना, इसका द्रव्यों की उपज का हेतु बनना, संस्कार का अधिष्ठान होना (जो गति का कारण है) और परत्व और अपरत्व का भी होना। जब ये सभी तर्क हेत्वनुमान की प्रक्रिया में रखे जाते हैं तो उसमें विरुद्ध, असिद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास मिल जाते हैं, जैसे कि प्रमेय मूर्तिमत्त्व में प्रतिज्ञा और हेतु के हेत्वाभास हैं[2]।

गणितज्ञ कमलाकर भट्ट परमाणु के हिस्सा-रहित होने की बात का पैथेगोरस के प्रमेय की मदद से खंडन करते हैं। इस प्रमेय के अनुसार यह माना जाता है कि कर्ण का वर्ग समकोण त्रिभुज की दूसरी भुजाओं के वर्गों के योग के बराबर होता है।

इस आपत्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि यह दृष्टिकोण इस अनुमान पर आधारित लगता है कि एक सीधी रेखा में बिन्दुओं (परमाणुओं) की शृङ्खला होती है। पर वस्तुतः न्याय और वैशेषिक के अनुसार ऐसा नहीं है, वे यह मानते हैं कि सीधी रेखा बिन्दु (परमाणु) की तरह स्वतः एक इकाई है। सीधी रेखा और विन्दु के बीच गति के होने या न होने का ही अन्तर है अर्थात् सीधी रेखा गति है और बिन्दु विराम। इसलिए न्याय-वैशेषिक के दृष्टिकोण से महान् गणितज्ञ द्वारा उठाई गई बात पैदा ही नहीं होती[3]।

परमाणु और गति

परमाणु से पूर्ण अवयवी बनने के प्रश्न पर विचार करने से पहले हमें गति के बारे में कुछ जानना चाहिए, जो इसके बनने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। मिली-जुली चीज़ संयोगों से बनती है, जो गति (कर्म) द्वारा इकट्ठे होते हैं और कर्म ही संयोग-वियोग का कारण है। सीमित रूप वाले द्रव्य में गति अन्तर्भूत रूप में रहती है और गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न और संयोग से यह

1. न्या० वा० ता० 4. 2. 24-25, पृ० 651
2. न्या० वा० पृ० 518, व्योम पृ० 224-25
3. यहां यह देखना होगा कि यदि एक रेखा बिन्दु (परमाणु) शृंखला बनेगी, तो वह लगातार नहीं हो सकती; क्योंकि इस तरह रखे गए बिन्दु यदि एक लगातार सीधी रेखा बनाएं, तो हर बिन्दु के जोड़े के बीच निश्चय ही जगह छूट जाएगी।

पैदा होती है। यह सदा असमवायिकारण होता है, गुणों की तरह समवायिकारण नहीं[1]।

संवेदनशील जगत् के निर्माण श्रौर विनाश दोनों के लिए ऐसी गति बहुत अनिवार्य है। चूंकि संसार अनादि श्रौर सदा परिवर्तनशील है, तो इसके सभी पदार्थों में परिवर्तन होना चाहिए। परिवर्तन गति द्वारा होते हैं। न्यायवैशेषिक के अनुसार परिवर्तन भीतर से नहीं बाहर से होते हैं। इसलिए (व्यक्ति के विनाश के मामले में) या तो मानव प्रयत्न या दिव्य प्रयत्न (संसार के विनाश के मामले में) द्वारा विषय में एक गति आ जाती है श्रौर एक नियमित प्रक्रिया द्वारा यह गति विनाश ला देती है। इस तरह सभी अनित्य वस्तुएं अंततः गति द्वारा परमाणुओं में बदल जाती हैं। प्रलयकाल में ये परमाणु एक दूसरे से अलग बने रहते हैं, इसलिए वे कुछ समय तक कोई चीज नहीं बनाते[2], जब तक कि सृष्टि-आरंभ इस प्रक्रिया को जारी न कर दे। इस काल में भी कुछ लोगों के अनुसार एक कर्म (गति) रहता है, जो किसी भी संयोग को पैदा नहीं करता[3]। यह परमाणुओं में पहले संक्षोभ से होता है, जो वस्तुओं का नाश कर देता है। यह संक्षोभ परमाणुओं में गति लाता है, जो वेग नामक संस्कार को पैदा करती है[4]। यह गति प्रलयकाल में भी अणु-कंपन[5] के रूप में बनी रहती है।

यह पूछा जा सकता है कि तब इस गति का उपयोग क्या है? उत्तर यह है कि परमाणुओं में इस तरह की गति समय सीमा की द्योतक है[6]।

इस तरह यह स्पष्ट है कि प्रलय-काल में परमाणु में विद्यमान कर्म-शृङ्खला उनको साथ नहीं ला सकती जिससे कुछ कार्य हो सके। पर इस तरह के समूह तो होने ही चाहिएं; इसलिए दूसरी गति (कर्म) जरूरी होती है। यह गति अन्य गतियों की तरह किसी चेतन द्वारा प्राप्त होनी चाहिए। चूंकि उस समय जीवात्मा के लिए यह गति पैदा करना संभव नहीं है, तो हमें ऐसी अति-मानव शक्ति का अनुमान करना ही होता है, जो चेतन हो श्रौर परमाणुओं में ऐसी गति पैदा कर सके। यह ऐसा उन व्यक्तियों या प्राणियों के अदृष्ट के

1. प्र० पा० भा० श्रौर कन्दली, पृ० 290–91
2. कि० पृ० 92
3. सेतु, पृ० 286
4. कु० प्र० पर बोधनी, पृ० 91
5. कु० प्र० पर बोधनी, पृ० 91, कि० पृ० 92
6. कलावच्छेदैकप्रयोजनम् कु० प्र०, पृ० 333

अनुसार करता है, जो संबंधित शरीर या वस्तु का उपयोग करेंगे[1]। पर चेतन अभिकर्ता अदृष्ट से क्यों प्रभावित हो, क्योंकि अदृष्ट जीवात्माओं में होता है, और जीव उस समय अवतारहीन और निश्चेतन दशा में होते हैं। सच यह है कि जैसे ही जीवों का इकट्ठा अदृष्ट सफल होने के लिए परिपक्व होता है, ईश्वर की इच्छा, जो नित्य है सृजनशील हो जाती है। और तुरन्त परमाणु मनस् के आस-पास इकट्ठे हो जाते हैं और हर एक के लिए अंग बन जाते हैं। मनस् और परमाणु में गति के आरंभ का कारण दृष्ट बताया जाता है, जो ईश्वरेच्छा से क्षिप्र गति पाता है।

इस तरह परमाणुओं से किसी कार्य की उत्पत्ति से पहले उनमें दो तरह की गति आती है। स्पष्ट ही एक अन्तर्गर्भित है और दूसरी वाह्य। पर निकट से देखने पर हम पाते हैं कि दोनों बाहर से आई हैं; अन्तर समय का है; और दोनों ही मामलों में गति किसी चेतन तत्त्व के कारण आई है। ये दोनों कर्म (गतियां) प्रयत्न और अदृष्ट द्वारा क्रमश: ईश्वरेच्छा की मदद से पैदा होती हैं[2]।

ऐसी गति की मदद से परमाणु बड़े अंग (अवयव) बनाने के लिए इकट्ठे होते हैं, जब तक संयुक्त चीजें पैदा नहीं हो जातीं और ब्रह्माण्ड की सृष्टि नहीं हो जाती।

चार तरह के परमाणु

परमाणु चार तरह के होते हैं :

(एक) पृथिवी के
(दो) जल के
(तीन) तैजस (अग्नि के)
(चार) वायव्य (वायु के)।

पृथिवी के परमाणु रूप, रस, गंध और स्पर्श के गुण होते हैं, जो सभी अनित्य हैं[3]; क्योंकि ये पाकप्रक्रिया[4] द्वारा गर्मी पाने पर पैदा होते और बदलते रहते हैं। ये गुण अप्रत्यक्ष रहते हैं। पद्मनाभ मिश्र मानते हैं कि यद्यपि पृथिवी की चीजों में तरह-तरह के रूप और स्पर्श होते हैं, पर फिर भी वे परमाणुओं में

1. न्या० मं०, पृ० 192-93
2. वै० सू० 5. 2. 13; कि० पृ० 135
3. प्र० पा० भा०, पृ० 104-107
4. कन्दली, पृ० 99; कि० पृ० 166

नहीं रहते[1]। पर दूसरी ओर शंकर मिश्र मानते हैं कि इनमें भी कम से कम विविध रूप तो रहते ही हैं[2]।

जल के परमाणुओं में रूप, रस और स्पर्श गुण रहते हैं, जो सभी नित्य[3] हैं, क्योंकि ये किसी रासायनिक प्रक्रिया के कारण (पाकज) नहीं होते[4]।

उसी तरह तैजस (अग्नि के) परमाणुओं में रूप और स्पर्श के गुण होते हैं। वे भी नित्य[5] होते हैं, क्योंकि इनमें भी पाकज विशेष (रसायन प्रक्रिया से आए विशिष्ट गुण) नहीं होते।[6]

वायव्य परमाणुओं में स्पर्श गुण होता है, जो नित्य[7] है, क्योंकि इनमें भी कोई पाकज-विशेष नहीं होता।

रसायन क्रिया (पाक)

पृथिवी के परमाणुओं में रसायन क्रिया होती है। तैजस तत्त्वों के साथ यह उनका एक तरह का संयोग है, जिसमें पृथिवी के परमाणुओं के पहले के रूप आदि नष्ट हो जाते हैं और उनकी जगह दूसरे रूप आदि पैदा हो जाते हैं। तैजस तत्त्वों से यह संयोग भी कई तरह का होता है। इस तरह रूप पैदा करने वाला संयोग रस पैदा करने वाले से भिन्न होता है, गन्ध पैदा करने वाला रूप-रस पैदा करने वालों से भिन्न होता है और इसी तरह स्पर्श पैदा करने वाला बाकी सभी संयोगों से भिन्न होता है। पृथिवी की वस्तुओं में अन्तर के कारण तैजस के संयोग में भी अन्तर आता है; जब आम का फल भूसे के ढेर में रखा जाता है, तो उसका हरा रंग नष्ट हो जाता है और उसकी जगह पर दूसरा पीला रंग पैदा हो जाता है। पर इससे फल के रस में फर्क नहीं पड़ता और खटाई (अम्लत्त्व) का पहला रस इसमें अब भी होता है। कभी-कभी पहला हरा रंग रहने पर भी रस में परिवर्तन आ जाता है। इससे प्रकट है कि संयोग के प्रकार में भेद होने से, जो रंग पर प्रभाव नहीं डालता, खट्टा रस खत्म हो जाता है और मीठा रस आ जाता है। अतः हमारा निष्कर्ष है कि रस में परिवर्तन का कारण रूप में परिवर्तन के कारण से भिन्न है। इसी से जो तैजस संयोग आम की पहली गन्ध को, उसके रूप-रस को बिना बदले, खत्म करके उसमें बढ़िया गन्ध ला देता है, बाकी

---

1. सेतु, पृ० 181-82
2. वै० सू० 7. 1. 6 पर वै० उ०
3. प्र० पा० भा०, पृ० 104; कन्दली पृ० 105; कि० पृ० 181
4. कु० प्र०, पृ० 138; बोधनी, पृ० 53
5. कन्दली, पृ० 104; कि०, पृ० 181
6. कु० प्र०, पृ० 138
7. कि०, पृ० 181

सभी संयोगों से भिन्न है। इसी तरह जो संयोग फल के रूप, रस, गन्ध पर प्रभाव नहीं डालता और उसमें कोमल स्पर्श ला देता है, वह बाकी सभी संयोगों से भिन्न होना चाहिए। इन्हीं संयोग-भेदों के कारण ही पृथिवी के सभी परमाणु एक ही वर्ग के होने पर भी भिन्न-भिन्न तरह की वस्तुएं पैदा कर देते हैं। जैसे गाय द्वारा चरी जाने वाली घास जब परमाणु रूप में रह जाती है, तो वे परमाणु भिन्न तरह के तैजस संपर्क में आते हैं, जो उन परमाणुओं में पहले से विद्यमान उनके पहले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श बदल देते हैं। फिर गाय के दूध में दूसरे तैजस संयोग से नए तरह के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श देखे जाते हैं। यथासमय ये परमाणु नियत प्रक्रिया से द्वचणुक आदि बनते हैं, जो क्रमशः दूध बनाने की ओर ले जाती है।

जिन परमाणुओं से गाय का दूध बनता है, उनसे हम दही भी प्राप्त करते हैं; अन्तर यही है कि दही के मामले में तैजस संयोग दूध के लिए अपेक्षित संयोग से भिन्न होता है। और यह उन्हीं परमाणुओं के दूसरी तरह के उस संयोग से भिन्न होता है, जिनसे हम क्रीम और दूसरी चीजें प्राप्त करते हैं।[1]।

शंकर मिश्र, भगीरथ ठक्कुर, कोंड भट्ट आदि का विचार है कि रसायन (पाक) प्रक्रिया के अनुसार रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का भेद प्रागभाव के अन्तर के कारण आता है[2]।

पाक की प्रक्रिया

जब घट को आग में पकाने के लिए रखा जाता है, तो शक्ल-सूरत तो घड़े की वैसी ही बनी रहती है, पर मिट्टी का रंग नीले भूरे से बदलकर लाल हो जाता है। इस पूरी प्रक्रिया में होने वाले परिवर्तन की व्याख्या को लेकर काफी चर्चा हुई है। हम इस चर्चा के बारे में डा० उमेश मिश्र द्वारा अपनी पुस्तक 'कान्सेप्शन आफ मैटर' में दिए गए सारांश को उद्धृत करेंगे।

जब कोई पार्थिव वस्तु[3] तैजस वस्तु के सम्पर्क में आती है तो उस वस्तु

---

1. अन्नभट्ट के तर्कसंग्रह पर गोवर्धन रचित न्यायबोधनी टीका, पृ० 17-18
2. न्यायलीलावती कंठाभरण, शंकर मिश्र रचित, पृ० 356-57; प० दी० पृ० 11
3. इसमें मानव शरीर भी आ जाता है, पर साधारणतः इस वर्ग से कोई उदाहरण नहीं लिया जाता, जिसका सीधा कारण यह है कि यदि किसी को अपने देह में होने वाली पाक-प्रकिया का पता चल जाए, तो वह अपनी देह को व्यर्थ समझने लगेगा और उसमें उसकी कोई रुचि न रहेगी। —व्यो० पृ० 446

के त्रसरेणु में तैजस या तापीय सिद्धान्त के अभिघात[1] या नोदन[2] से गति (कर्म) का प्रादुर्भाव होता है। यह कर्म फिर उसके विभिन्न द्वयणुकों में विभाग पैदा करता है और अन्त में उसे परमाणु में बदल देता है। फिर ये परमाणु तैजस परमाणुओं के दूसरे वर्ग के संपर्क में आते हैं, जो उनके मूल गुणों का नाश कर देता है[3]। फिर वैसा ही तैजस अभिघात होता है जो पुरानों के स्थान पर नए गुणों को पैदा करता है, जिनको पाकज कहा जाता है।

उपर्युक्त से स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु में पहले से विद्यमान गुणों का नाश करने वाला तैजस सम्पर्क पुरानों की जगह नए गुण पैदा नहीं करता। दोनों कार्य एक तैजस सम्पर्क से नहीं हो सकते। जो पुराने संपर्क को नष्ट करता है, वह नए गुण पैदा होने के समय तक का इंतजार नहीं कर सकता। जैसा कि नीचे स्पष्ट किया जा रहा है।

वस्तु के त्रसरेणु में वेग वाले तैजस (तापसिद्धान्त) के अभिघात के जरिए दूसरी गति स्वयं पैदा हो जाती है, जब कि उससे वैसे ही दूसरे तैजस का संपर्क होता है, इसलिए जैसे ही दो परमाणुओं में विभाग होता है, तैजस के दो भागों में भी विभाग हो जाता है। फिर दो परमाणुओं के संयोग का नाश होता है और उसके वाद तैजस के दो भागों का। इससे द्वयणुक और तैजस का नाश हो जाता है। फिर रूप आदिका तैजस और परमाणु के संयोग का (इसके समवायिकारण तैजस के नाश के कारण) नाश हो जाता है। अब चूंकि तैजस का संयोग, जो रूप आदि का नाश करता है, नए रूप आदि के पैदा होने से पहले के क्षण में अनुपस्थित रहता है, तो यह पिछले का कारण नहीं बन सकता। इसलिए एक और तैजस संपर्क परमाणुओं में नए गुण पैदा करने के लिए जरूरी है[4]। इस विचार का समर्थन करने के लिए ऐसे ही अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं, जैसे दो भिन्न साधनों से धागे के रंग की उत्पत्ति और विनाश[5] आदि।

---

1. यह एक प्रकार का तेज संपर्क है जो ध्वनि पैदा करके दो संयोगी वस्तुओं में विभाग पैदा करता है। —गौ० उ० 5. 2. 1
2. यह संयोग का वह रूप है, जो दो साथ जुड़ी वस्तुओं को बिना अलग किए उनके संपर्क में आकर विना ध्वनि पैदा किए उनमें गति पैदा कर देता है। —गौ० उ० 5. 2 .1
3. व्योम० पृ० 446, कि० पृ० 183, कन्दली, पृ० 107, किरणावली पर भट्टवादीन्द्र की टीका रससार, पृ० 21। यद्यपि पार्थिव वस्तुओं की हर अवस्था का प्रायः हर गुण पाक-प्रक्रिया से पैदा होता है, फिर भी उदाहरण केवल एक विशेष अवस्था का ही लिया गया है। व्योम० पृ० 446
4. कि० पृ० 1845; र० सा०, पृ० 24
5. कंदली, पृ० 108।

फिर ऊपर यह भी कहा गया है कि घट के रूप आदि को बदलने के लिए वस्तु को परमाणुओं में बदलना चाहिए, जिसमें परिवर्तन होता है। वैशेषिक-वादियों के इस मत पर अनेक आपत्तियां की गई हैं।

इस तरह यह आपत्ति की जाती है कि जब घट को भट्टी में रखा जाता है और वह तैजस के सम्पर्क में आता है, तो उसके सभी गुण उसे परमाणुओं में बिना बदले ही बदल जाते है। इस आधार पर वैशेषिक मत की घोर आलोचना की जा सकती है।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि तैजस (या) तापीय सम्पर्क पूरे घड़े के साथ नहीं हो सकता, इसलिए इस सम्पर्क के कारण हुई रसायन-क्रिया इसे पूरी तरह प्रभावित नहीं करती, जब तक यह परमाणुओं में[1] न बदल जाए। अगर यह कहा जाए कि अन्य सभी पार्थिव वस्तुओं की तरह घट के स्वभावतः सछिद्र होने के कारण[2] तैजस कणों को इसके हर हिस्से के सम्पर्क में आने से और रसायन (पाक) क्रिया को रोकने वाली कोई चीज नहीं होती[3]। वैशेषिक-वादियों का सीधा उत्तर यह है कि वस्तुतः तैजस कण घट में घुसकर उसके भीतरी भाग को उसे नष्ट किए बिना प्रभावित नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में द्वयणुकों के लिए यह सम्भव नहीं कि उनके बीच में कोई चीज हो, क्योंकि अगर ऐसा होता तो निर्माण में प्रविष्ट दो परमाणुओं के बीच में कोई संयोग न होता और द्वयणुकों का अस्तित्व ही सम्भव न होता। बीच की चीज की कल्पना दो ऐसे हिस्सों के बीच की जा सकती है, जो बिलकुल हिस्सों से रहित हो। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि द्वयणुकों में अंगों के बीच खाली जगह होती है। इससे स्पष्ट है कि कोई उत्पत्ति-रूप द्रव्य स्वभावतः सछिद्र नहीं हो सकता। फलतः पाक प्रक्रिया पूरे घड़े में व्याप्त नहीं हो सकती।[4] साथ ही चूंकि घट के विभिन्न अंग मजबूती से चिपटे होते हैं और बीच में कोई खाली जगह नहीं होती, तैजस कणों के लिए इन अभेद्य हिस्सों के बीच में कोई जगह घेरना सम्भव नहीं होता, क्योंकि सीमित रूप वाली दो वस्तुएं उसी जगह को साथ-साथ नहीं घेर सकती[5]।'

---

1. प्र० पा० भा०, पृ० 107, कंदली पृ० 109
2. कि०, पृ० 187, कंदली, पृ० 109
3. घट जैसी वस्तु सछिद्र होती है यह बात इस तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि इसके भीतर पानी डालने पर कणों के रूप में बाहर निकल जाता है, जो अन्यथा संभव न होता।
— वै० उ० 7. 1. 6
4. कंदली, पृ० 109
5. वै० उ० 7. 1. 6

उदयनाचार्य कहते हैं कि तैजस के अभिघात का वेग उसके बहुत ही हलके होने से इतना ज्यादा होता है कि इसके द्वारा पैदा गति वस्तु के प्रथम व्यूह (ढांचे) से उसे वंचित कर देती है और उसके अंगभूत हिस्सों से दूसरा व्यूह पैदा करा देती है। यदि तैजस अभिघात व्यूह का पूरी तरह नाश नहीं करता, तो दूध, पानी आदि के बिलकुल मिले-जुले हिस्सों से बने होने और उनके बीच कोई छिद्रिल जगह न होने से, यह कल्पना करनी होगी कि तैजस, दूध, पानी आदि के बीच में नहीं घुसता और अगर वह घुसता नहीं तो उबले हुए दूध, पानी में उबाल नहीं आना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं।

इसके प्रतिपक्षी कहते हैं कि दूध या पानी के मामले में यह सम्भव है कि पिछला व्यूह खत्म करके नया पैदा कर दे, क्योंकि इनमें हिस्सों का संयोग मृदु है, लेकिन घट के मामले में यह सम्भव नहीं है, जहां उसे बनाने वाले संयोग कठोर होते हैं।

इसका भी उत्तर यह है : मृदुता और कठोरता का कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि इससे भी कठोर या कठोरतम द्रव्यों में भी नतीजा वही होता है। जैसे चावल के मामले में जो कठोरतर द्रव्य है, या लाल, पन्ना या हीरा जो कठोरतम द्रव्य हैं, वह देखा गया है, कि इनको गर्म करने पर ये टूट जाते हैं और उन का नया व्यूह बन जाता है।

इस पर फिर प्रतिपक्षी कहते हैं कि यह इन मामलों में भी सम्भव है क्योंकि इसमें पाक-प्रक्रिया चालू रहने पर ही एक तरह का अतिशय पैदा हो जाता है। पर घड़े के मामले में यह अतिशय न होने से इसे गर्मी देकर नष्ट करना असम्भव है।

इसका उत्तर है कि पाक-प्रक्रिया में किसी भी तरह का अतिशय नहीं होता। इसलिए सजीव प्राणी आदि के पाक-प्रक्रिया का कार्य हर रोज प्रकट न होने पर भी कुछ समय बाद प्रकट हो जाता है; इसी तरह घड़े के मामले में भी इसमें पाक-प्रक्रिया का असर होता है और उसके कारण इसका बिलकुल नाश सम्भव है। अतः पहले के व्यूह के नष्ट न होने के बारे में दिए गए सभी तर्क जैसे पहचान (कि यह वही घट है जो लाल रंग आदि पैदा होने से पहले भट्टी में रखा गया था) घड़े का हर अवस्था में प्रत्यक्ष, उस पर कुछ दूसरा मूर्त द्रव्य रख देना आदि को स्वीकार नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में ऊपर का कोई भी तर्क यह सिद्ध नहीं कर सकता कि घड़ा परमाणुओं में परिवर्तित नहीं होता।[1]

---

1. कि० पृ० 187-88, र० सा० 34-37 क० र० पृ० 60

पीलु पाकवाद के समर्थन में यह भी कहा जा सकता है कि पाक-प्रक्रिया से पहले घड़े के अंगभूत हिस्से बड़े ढीले रूप में सम्बद्ध होते हैं, पर इसके बाद ये ढीले सम्बन्ध बड़े कठोर हो जाते हैं। ये कठोर और मृदु दोनों सम्बन्ध एक दूसरे के विरुद्ध होने से एक साथ एक ही अधिष्ठान में नहीं रह सकते। अतः यह मानना होगा कि पुराना व्यूह नष्ट हो जाता है और उसकी जगह नया पैदा होता है।[1]

दूसरी आपत्ति यह है कि किसी ने कभी नहीं देखा कि घड़ा भट्टी में डालने पर परमाणु में नहीं बदल जाता, बल्कि वह भट्टी में हर समय देखा जा सकता है और उसे उसी पुराने घड़े के रूप में पहचाना जाता है। जब उसमें पाक-प्रक्रिया हो जाने के बाद उसे भट्टी से बाहर निकाला जाता है।

पाक-प्रक्रिया में घट की सत्ता के प्रत्यक्ष के बारे में कहा जाता है कि चूंकि घट अनेक परमाणुओं का संग्रह मात्र नहीं है, यह तुरन्त अपने परमाणुओं में नहीं बदल जाता। घट के विनाश की प्रक्रिया भी उसके निर्माण की प्रक्रिया जैसी ही है, जिससे नाश क्रमशः होता है और परमाणुओं में पूरी तरह बदल जाने तक घट दिखाई देता रहता है। पर ऐसा क्षण कभी नहीं आता, जब घट का दिखाई देना बन्द हो जाए, क्योंकि घट के क्रमशः नाश में वे अंश जो नष्ट होकर परमाणुओं में बदल गए हैं, क्रमशः पाक-प्रक्रिया के अधीन रहते हैं और नई वस्तु पैदा होती रहती है, इसलिए पाक-प्रक्रिया के बाद विनाश और उत्पत्ति दोनों ही साथ-साथ चलते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी घट के एक हिस्से में ही रासायनिक परिवर्तन देखे जाते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि दोनों स्थितियों में परमाणु संख्या नहीं रहती है और आकार में कोई परिवर्तन नहीं होता[2]।

फिर भी शंकर मिश्र का कहना है कि पिठरपाक के सिद्धांत के प्रतिपादकों के अनुसार भी जब सुई की नोक से घड़े पर निशान बना दिए जाते हैं, तो ये निशान निश्चय ही घट के कम से कम तीन-चार त्रसरेणुओं में विभाग पैदा कर देते हैं इसलिए घट के निर्माण कारण संयोग के नाश के फलस्वरूप पूरे घड़े का तो नाश हो जाता है; अतः उन लोगों को वैशेषिक के दृष्टिकोण के विरुद्ध ऐसी मामूली आपत्तियां नहीं उठानी चाहिएं[3]।

---

1. कंदली, पृ० 109,
2. कंदली, पृ० 110
3. वै० उ० 7. 1. 6, क० र० पृ० 60; यहां पर यह ध्यान देना होगा कि मीमांसकों के अनुसार जो संभवतः पिठर पाकवाद के सबसे पुराने समर्थक हैं, निशानों के बना देने

[अगले पृष्ठ पर—

साथ ही दूसरे रंग का उद्भव आदि तभी संभव है जब उनका घट आदि रूपी समुचित अधिष्ठान कारणवाद की शर्तों के अनुसार पहले से ही बन चुका होता है। इस जगह पाक-प्रक्रिया से पहले विद्यमान घट नीले रंग आदि का अधिष्ठान है और वही घड़ा लाल रंग आदि का अधिष्ठान नहीं हो सकता, इसलिए लाल रंग आदि पैदा करने में पहले दूसरा घट बनाना जरूरी हैं। यह तब तक संभव नहीं जब तक घड़ा परमाणुओं में न बदल जाए और उनकी जगह नया पैदा न हो जाए[1]।

फिर घड़े में लाल रंग आदि पैदा करने के लिए कारणवाद के अनुसार यह जरूरी हैं कि उनके कारण में भी लाल रंग आदि हो जो घड़े के परमाणुओं में बदले बिना संभव नहीं है[2]।

इसलिए यह माना जाता है कि तैजस अभिघात के कारण एक पार्थिव वस्तु अपने परमाणुओं में बदल जाती है और यह पाक-प्रक्रिया पहले के रंगों आदि को नष्ट करके नए रंग आदि पैदा करती है। ऐसा हो जाने पर उन परमाणुओं में आत्मा और परमात्मा के संयोग से और उससे सम्बद्ध व्यक्तियों और जीवों के अदृष्ट और ईश्वरेच्छा का सहयोग पाकर एक और कर्म (गति) पैदा होता है, जो यथासमय अन्त्यावयवी को पैदा करता है[3]।

फिर भी यह प्रश्न उठता है कि यदि घट के नाश और निर्माण की सारी प्रक्रिया अदृष्ट पर आधारित है, तो फिर कुम्भकार की जरूरत ही क्या है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि अदृष्ट और ईश्वरेच्छा तभी मदद कर सकेंगे जब और कुछ नहीं हो सकता और उसके बिना सृष्टि का लक्ष्य ही पूरा नहीं हो सकता था। पर बाद में नहीं जब ऐसी मदद दूसरे सूत्रों से मिल सकती है। इसलिए कुम्भकार की जरूरत अप्रभावित रहती है।

—पिछले पृष्ठ से]

से कुछ त्रसरेणुओं का संयोग नष्ट हो जाने पर भी घट यथापूर्व बना रहता है; क्योंकि वे मानते हैं कि किसी वस्तु का अस्तित्व कुछ नष्ट भागों को अंतर्भूत करके बना रहना संभव है भले ही कुछ अंगभूत हिस्से नष्ट हो गए हों। ऐसा न होता, तो घट आदि की पहचान संभव न होती। वै० सू० 7. 1. 6 के उपस्कार के लेखक ने भी इस मत की आलोचना की है। और संदर्भों के लिए देखिए कि० पृ० 188; झलकीकर का न्यायकोश, पृ० 155

1. कंदली, पृ० 109
2. वही।
3. वही, पृ० 108

पाक-प्रक्रिया रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को प्रभावित करती है। संख्या, परिमाण आदि को नहीं क्योंकि इन पिछली चीजों में पाक-प्रक्रिया के बाद कोई वैशिष्ट्य नहीं देखा जाता। इसी तरह हम यह भी नहीं मान सकते कि स्पर्श में कोई स्पष्ट अन्तर न होने से संख्या आदि की तरह पाक-प्रक्रिया इसे भी प्रभावित नहीं करती, क्योंकि पाक-प्रक्रिया के बाद स्पर्श में विशेषता होती है, यह अनुमान से सिद्ध हो जाता है।[1]

रसायन-क्रिया की समय-सीमा

पूरी रसायन प्रक्रिया नौ, दस या ग्यारह क्षणों में विभागज-विभाग के मानने के सम्बन्ध में मतभेद के अनुसार पूरी हो जाती है। इसलिए जो इस (विभागज-विभाग) में विश्वास नहीं करता, वह यह मानता है कि यह नौ क्षणों में पूरी हो जाती है, पर जो इसे मानता है कि अगर द्रव्य पैदा करने वाले संयोग में लगने वाले विशिष्ट समय के बीच विभाग एक और विभाग पैदा कर देता है तो पाक-प्रक्रिया दस क्षण में पूरी होती हैं। दूसरी ओर अगर द्रव्य के नाश से सम्बन्धित अवयव के काल के सिलसिले में विभाग दूसरा विभाग पैदा कर देता है, तो पाक-प्रक्रिया ग्यारह क्षणों में पूरी होती है।[2] प्रक्रिया के प्रकार नीचे बताए जा रहे हैं :

1. नौ क्षण लगाने वाली प्रक्रिया

सबसे पहले तैजस के अभिघात या नोदन द्वारा द्व्यणुक बनाने वाले परमाणु में गति पैदा होती है; उस गति से द्व्यणुक पैदा करने वाले दो परमाणुओं में विभाग पैदा होता है, जिसके बाद द्व्यणुक नामक द्रव्य का नाश होता है।[3] इससे (1) द्व्यणुक का नाश होता है, जिसके बाद (2) परमाणु में स्थित नीले रंग आदि का नाश होता है, फिर (3) उसी परमाणु में लाल रंग आदि का उद्भव होता है। उसके बाद (4) परमाणु में उस द्रव्य के उद्भव के अनुकूल गति आती है (5) जिससे परमाणु का आकाश आदि से विभाग होता है। इसके बाद

---

1. कंदली, पृ० 108
2. तत्र विभागजविभागो यैर्नेष्यते तन्मते नवक्षणा। विभागजविभागांगीकर्तृमतेऽपि विभागः। सापेक्षएवविभागान्तरं जनयेत् निरपेक्षस्य जनकत्वे कर्मत्वापत्तिः संयोगविभागयोरनपेक्षकारणं कर्मेति तल्लक्षणात्।
   तत्र यदि द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागजननं तदा दशक्षणा।
   अथ द्रव्यनाशविशिष्टं कालमवयवं वापेक्ष्य विभागेन विभागजननं तदैकादशक्षणा।
   —क० र० पृ० 61
3. इस क्षण तक द्रव्य पर प्रभाव नहीं पड़ता, अतः ये क्षण नहीं गिने जाते। इसलिए क्षणों की गणना द्व्यणुकों के नाश से शुरू होती है।

(6) पहले संयोग का नाश होता है, जिससे (7) द्वयणुक पैदा करने वाले दो परमाणुओं में संयोग होता है (8) तब द्वयणुक पैदा होता है, जिससे (9) द्वयणुक में रंग आदि पैदा होते हैं। इस तरह द्वयणुक के नाश से लेकर लाल रंग आदि के उद्भव तक नौ क्षण लगते हैं।[1]

2. दस क्षण लगाने वाली प्रक्रिया

दस क्षणों की प्रक्रिया तब सम्भव होती है जब द्रव्य पैदा करने वाले, संयोग में लगने वाले विशिष्ट समय में विभाग एक और विभाग पैदा कर देता है। अग्नि या तैजस के अभिघात या नोदन द्वारा द्वयणुक बनाने वाले दो परमाणुओं में पहले गति पैदा होती है, जिसके बाद दोनों परमाणुओं के बीच विभाग पैदा होता है। फिर पैदा करने वाले संयोग का नाश होता है, जिससे (1) द्वयणुक नाश होता है विभाग के कारण द्वयणुक और आकाश के बीच का विभाग होता है, और फिर (2) नीले रंग आदि का नाश होता है और पहला संयोग होता है, जिससे (3) लाल रंग आदि पैदा होते हैं और दूसरा संयोग होता है, फिर (4) तैजस के अभिघात से परमाणुओं की गति का नाश होता है, जिसके बाद (5) उन्हीं परमाणुओं में आत्मा-परमात्मा के संयोग और अदृष्ट की मदद से उत्पादी गति पैदा होती है, फिर (6) आकाश और परमाणुओं के बीच विभाग होता है, जिससे (7) पहले संयोग का नाश होता है। फिर उसमें (8) उत्पादी संयोग होता है, जिसके बाद (9) द्वयणुक पैदा होता है, जिसमें फिर (10) लाल रंग आदि पैदा हो जाते हैं।[2]

---

1. तथाहि वह्निना नोदनादभिघाताद् वा द्वयणुकारम्भके परमाणौ कर्म तेन कर्मणा परमाणोः परमाण्वन्तराद्विभागः ततश्चारम्भकसंयोगनाशस्ततो द्वयणुकनाशस्ततः केवले परमाणौ श्यामादिनिवृत्तिस्ततस्तत्रैव रक्ताद्युत्पत्तिः। अथ रूपादिमिति परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया तया चाकाशादिविभागस्ततः पूर्वसंयोगनाशस्ततो द्वयणुकारम्भकसंयोगस्ततो द्वयणुकोत्पत्तिरथ तत्र रूपाद्युत्पत्तिरिति द्वयणुकविनाशमारभ्य द्वयणुके रक्ताद्युत्पत्तिर्नवमे क्षणे परमाणुरूपादिना न त्वग्निसंयोगात् अवयविनि तदनभ्युपगमात्। —क० र० पृ० 61
2. अथ दशक्षणा प्रक्रिया। सा चेयमारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागजनने सति स्यात्। तथाहि वह्निना नोदनादभिघाताद्वा द्वयणुकारम्भके परमाणौ कर्म तेन परमाण्वन्तरविभागस्तत आरम्भकसंयोगनाशस्ततो द्वयणुकनाशविभागजविभागौ ततश्च श्यामादिनिवृत्तिपूर्वसंयोगनाशौ ततो रक्ताद्युत्पत्त्युत्तरसंयोगौ ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मणो विनाशस्ततस्तत्रैव परमाणावदृष्टवदात्मसंयोगाद् द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया ततो विभागस्ततः पूर्वसंयोगनाशोऽथ द्रव्यारम्भकसंयोगस्ततो द्वयणुकोत्पत्तिरथ रक्ताद्युत्पत्तिरिति दशक्षणा। —क० र०, पृ० 62

3. ग्यारह क्षण लगाने वाली प्रक्रिया

पहले द्व्यणुक पैदा करने वाले परमाणुओं में गति होती है। फिर दोनों परमाणुओं के बीच विभाग होता है, फिर निर्मित हो संयोग का नाश होता है, फिर (1) द्व्यणुक का नाश होता है, तब (2) द्व्यणुक के नाश में लगने वाले समय के सिलसिले में विभाग द्वारा विभाग पैदा होता है, फिर, (3) पहले के संयोग का नाश होता है, तब (4) अगला संयोग, फिर (5) परमाणुओं से सम्बन्धित गति का विनाश (6) फिर अदृष्ट से युक्त आत्मा के संयोग से द्रव्य को आरम्भ करने की क्रिया, फिर (7) आकाश और परमाणुओं का विभाग, फिर (8) पहले के संयोग का नाश (9) फिर द्रव्य पैदा करने वाला संयोग फिर (10) द्व्यणुक की उत्पत्ति, फिर (11) लाल गुण आदि की उत्पत्ति।[1]

यहां यह प्रश्न उठता है कि यदि परमाणु में उत्पादी क्रिया नीले रंग आदि के विनाश की समकालीन मानी जाए, तो क्षणों की संख्या कम हो जाएगी अर्थात् लाल रंग का उद्भव आठवें क्षण या सातवें ही क्षण में होने लगेगा।

इस मत को इस आधार पर अस्वीकृत किया जाता है कि परमाणु में अभिघात द्वारा या तैजस के नोदन द्वारा या बिना कोई गुण पैदा किए उत्पन्न क्रिया का नाश किए बिना दूसरी क्रिया पैदा नहीं हो सकती, क्योंकि किसी विषय में, जिसमें कोई गुण नहीं है दो लगातार क्रियाएं नहीं हो सकतीं।

फिर प्रतिपक्षियों का विचार है कि यदि नीले रंग आदि के साथ ही उसी समय लाल रंग आदि की उत्पत्ति हो, तब भी पाक-क्रिया में कुछ क्षण कम ही लगेंगे।

यह दृष्टिकोण भी अमान्य समझा जाता है, क्योंकि पहले रंग आदि का नाश अपने आप में नए रंग की उत्पत्ति का कारण होता है और कारण कार्य से पहले होना चाहिए। इसलिए रंग आदि का विनाश और उत्पत्ति साथ-साथ नहीं हो सकते[2]।

शंकर मिश्र आगे यह भी कहते हैं कि अगर तैजस के जिस संयोग से रंग

---

1. अथैकादशक्षणा। वह्निनोदनाभिघातान्यतरेण द्व्यणुकारम्भकपरमाणौ कर्म ततो विभागस्ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशस्ततो द्व्यणुकनाशः ततो द्व्यणुकनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागस्ततः पूर्वसंयोगनाशस्तत उत्तरसंयोगस्ततः परमाणुकर्मनाशस्तदनन्तरमदृष्टवदात्मसंयोगात् तत्रैव परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया ततो विभागस्ततः पूर्वसंयोगनाशस्ततो द्रव्यारम्भकसंयोगस्ततो द्व्यणुकोत्पत्तिस्ततो रक्ताद्युत्पत्तिरित्येकादशक्षणा। —क० र०, पृ० 63
2. क० र०, पृ० 61-62

आदि पैदा होते हैं, वही उनका विनाश भी करते हैं, तो यह मानना होगा कि जब रंग आदि और तैजस नष्ट हो जाते हैं तो परमाणुओं को बहुत समय तक रंगीन रहना होगा; अगर दूसरी ओर जो नाशकर्ता है, वही उत्पत्ति कर्ता भी हो तो रसायन-प्रक्रिया से लाल रंग आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह माना जाए कि क्रिया दूसरे परमाणु में पैदा होगी, तो रसायन-प्रक्रिया के कारण गुण की उत्पत्ति पांचवें क्षण में होगी या छठे या सातवें या आठवें या नवें क्षण तक में होगी[1]। वे सभी संभव भेद नीचे दिए जाते हैं :

(क) पांच मिनट लगाने वाली प्रक्रिया

एक परमाणु में क्रिया होती है, फिर विभाग, फिर दूसरे परमाणु में क्रिया होती है और साथ ही द्रव्यारंभ करने वाले संयोग का नाश हो जाता है। फिर द्वचणुक का नाश होता है, फिर दूसरे परमाणु की क्रिया से विभाग होता है। यह सब एक क्षण में होता है[2]। फिर परमाणु के नीले रंग आदि का नाश होता है और वह अकेला रह जाता है। विभाग द्वारा पहले संयोग का भी नाश हो जाता है। इसमें दूसरा क्षण लगता है। फिर लाल रंग आदि की उत्पत्ति और द्रव्यारंभ करने वाला संयोग होता है। इसमें एक क्षण और लगा। अगले क्षण द्वचणुक पैदा हो जाता है। फिर द्वचणुक में लाल रंग आदि पैदा हो जाते हैं[3]।

(ख) छः क्षण लगाने वाली प्रक्रिया

अगर यह माना जाए कि क्रिया दूसरे परमाणु में द्रव्य (द्वचणुक) नाश के साथ-साथ होती है, तो रंग आदि की उत्पत्ति छठे क्षण में होगी। इस तरह परमाणु की क्रिया द्वारा दूसरे परमाणु का विभाग होता है, फिर द्रव्यारंभ करने वाले संयोग का नाश होता है और उसके बाद द्वचणुक का नाश। इसी क्षण दूसरे परमाणु में क्रिया होती है, फिर नीले रंग आदि के नाश के

---

1. क० र०, पृ० 64-65
2. यहां एक क्षण की गणना इस विश्वास के आधार पर है कि कई क्रियाएं एक साथ होना संभव है।
3. एकत्र परमाणौ कर्म ततो विभागः ततश्चारम्भकसंयोगनाशक्षण एवापरत्र परमाणौ कर्म ततश्चारम्भकसंयोगनाशाद् द्वचणुकनाशः परमाण्वन्तरकर्मणा च विभाग इत्येकः क्षणः।
ततः केवले परमाणौ श्यामादिध्वंसः विभागाच्च पूर्वसंयोगनाश इत्येकः क्षणः। ततो रक्ताद्युत्पत्तिः द्रव्यारम्भकः संयोग इत्येकः क्षणः।
अथ द्वचणुकोत्पत्तिरथ तत्र रूपाद्युत्पत्तिरिति पञ्चक्षणा। —क० र०, पृ० 65

साथ-साथ दूसरे परमाणु में क्रिया के कारण विभाग हो जाता है। फिर लाल रंग की उत्पत्ति के साथ-साथ पहले के संयोग का नाश होता है। फिर अगले परमाणु के साथ संयोग फिर द्व्यणुक की उत्पत्ति और फिर लाल रंग की उत्पत्ति[1]।

(ग) सात क्षण लगाने वाली प्रक्रिया

यदि नीले रंग आदि के नष्ट होने के साथ-साथ दूसरे परमाणु में क्रिया पैदा होती है, तो प्रक्रिया में सात क्षण लगते हैं, इस तरह (पांच क्षण वाली) पिछली प्रक्रिया के अनुसार द्व्यणुक के नाश होने के बाद नीले रंग आदि का नाश हो जाता है। इसी क्षण दूसरे परमाणु में क्रिया आ जाती है और फिर विभाग होता है। फिर उसके बाद लाल रंग आ जाता है। यह एक (छठे) क्षण में होता है। फिर द्व्यणुक के पहले संयोग का नाश और अगले क्षण में द्व्यणुक का नाश। ये सात क्षण होते है[2]।

(घ) आठ और नौ क्षणों वाली प्रक्रिया

अगर लाल रंग की उत्पत्ति के साथ-साथ दूसरे परमाणु में क्रिया पदा हो जाए, तो प्रक्रिया में आठ क्षण लगते हैं। दूसरी ओर अगर लाल रंग की उत्पत्ति के बाद दूसरे परमाणु में क्रिया पैदा हो, तो प्रक्रिया में नौ क्षण लगते हैं[3]।

(ङ) दो तीन और चार क्षण लगाने वाली प्रक्रिया

फिर यह मानना सम्भव नहीं है कि द्व्यणुक के नाश के बाद फिर दूसरा द्व्यणुक पैदा होता है तो फिर दूसरे या तीसरे या चौथे क्षण में गुण पैदा हो जाते हैं। इनकी व्याख्या नीचे की जा रही है : इस तरह जब द्व्यणुक को नाश

---

1. द्रव्यविनाशसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मं चिन्तनात् षष्ठे गुणोत्पत्तिः। तथा हि परमाणुकर्मणा परमाण्वन्तरविभागः ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशोथ द्व्यणुकनाशः अस्मिन्नेव क्षणे परमाण्वन्तरे कर्म ततः श्यामादिनिवृत्तिक्षण एव परमाण्वन्तरकर्मणा विभागस्ततो रक्ताद्युत्पत्तिक्षण एव परमाण्वन्तरे कर्म चिन्तनात् पूर्वसंयोगनाशस्ततः परमाण्वन्तरसंयोगस्ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः अथ रक्ताद्युत्पत्तिरिति षट्क्षणा।
—क० र०, पृ० 65
2. श्यामादिनाशसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात् सप्तक्षणा। तथा हि पूर्वन्यायेन द्व्यणुकनाशानन्तरं श्यामादिनिवृत्तिरेतस्मिन्नेव क्षणे परमाण्वन्तरे कर्मं ततो विभागः रक्ताद्युत्पत्तिरित्येकः क्षणः ततः पूर्वसंयोगनाशस्तत उत्तरसंयोगः अथ द्व्यणुकमथ तत्र गुणोत्पत्तिरिति सप्तक्षणा। —क० र० पृ० 65
3. रक्ताद्युत्पत्तिसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनादष्टक्षणा।
रक्ताद्युत्पत्यनन्तरं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनान्नवक्षणा॥ —क० र० पृ० 66

करने वाली क्रिया के साथ-साथ दूसरे परमाणु में क्रिया पैदा हो जाती है, तो प्रक्रिया में दो ही क्षण लगते हैं।

फिर अगर एक परमाणु में द्रव्यारम्भ करने वाली क्रिया परमाणु के साथ-साथ ही होती है, तो प्रक्रिया में तीन क्षण लगते हैं।

फिर अगर द्रव्यारम्भ के प्रतिकूल विभाग के साथ-साथ परमाणु में क्रिया होती है, तो इस प्रक्रिया में चार क्षण लगते हैं[1]। ये पिछली चार प्रक्रियाएं न्याय-वैशेषिक को स्वीकार नहीं है[2]।

(ख) कन्दली के अनुसार 'पाक-क्रिया' में क्षणों का वितरण

कन्दली में बताई गई प्रक्रिया उपर्युक्त से कुछ भिन्न है। वह यह कहती है: द्वयणुक का नाश त्र्यणुक का नाश, नीले रंग आदि का नाश, दो परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति, विभागज-विभाग की उत्पत्ति, तैजस अभिघात की उत्पत्ति जो लाल रंग आदि पैदा करता है—ये सभी एक क्षण की चीजें है। फिर त्र्यणुक का विनाश, त्र्यणुक से उत्पन्न वस्तु का विनाश, नीले रंग आदि का विनाश, विभागज-विभाग की उत्पत्ति, संयोग का नाश, लाल रंग आदि की उत्पत्ति, नीला रंग आदि पैदा करने वाले अभिघात का विनाश—ये सभी दूसरे क्षण की चीजें हैं। फिर उसके कार्य का विनाश, उस कार्य की उपज का विनाश, दूसरे संयोग की उत्पत्ति, लाल रंग आदि की उत्पत्ति, द्रव्यारम्भ करने वाली क्रिया की दूसरे परमाणु में उत्पत्ति—सब तीसरे क्षण की चीजें हैं। फिर इसकी उपज का नाश, इस उपज की उपज का नाश, दूसरे संयोग की उत्पत्ति, क्रिया का नाश, विभाग और विभागज-विभाग, दूसरे परमाणु में क्रिया की उत्पत्ति, विभाग की उत्पत्ति—

---

1. तथा हि द्वयणुकविनाशानन्तरं द्वयणुकान्तरमुत्पद्य द्वितीये तृतीये चतुर्थे वा क्षणे गुणवद्भवतीति न सम्भवति। तथाहि एकत्र परमाणौ द्वयणुकविनाशानुगुणक्रिया-समकालमपरपरमाणौ विभागचिन्तनाद् द्विक्षणा।
यदा एकत्र परमाणौ द्रव्यविनाशानुगुणकर्मकालमपरपरमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया तदा त्रिक्षणा।
द्रव्यविरोधिविभागसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनाच्चतुःक्षणा। —क० र० पृ० 66
2. ननु पीलुपाकविचारो निःप्रयोजनत्वादनारम्भणीय एवेति चेत् न पार्थिवावयवि-विशेषगुणानां यावद् द्रव्यभावित्वे सिद्धेऽयावद् द्रव्यभाविना सुखादीनां तद् वैधर्म्यं दर्शनात् पार्थिवविशेषगुणत्वनिरासेन पृथिव्यन्यद्रव्यविशेषगुणत्वसिद्धौ भूतचैतन्यनिरासस्य प्रयोजनत्वात्। तथा हि सुखादयो न भूतविशेषगुणाः। अयावद्-द्रव्यभावित्वात् शब्दवत्। अयावद्-द्रव्यभावित्वं च स्वसमानाधिकरणध्वंसप्रतियोगित्वम्।
—क० र० पृ० 66

ये सब चौथे क्षण की चीजें हैं। फिर इसके कार्य का नाश, इस कार्य के कार्य का नाश, क्रिया का नाश, विभाग और विभागज-विभाग, दूसरे परमाणु में आकाश से विभाग की उत्पत्ति और आकाश और परमाणु के संयोग का नाश —ये सभी पांचवें क्षण की चीजें हैं। फिर इसकी उपज का नाश, इस उपज की उपज का नाश, एक परमाणु के दूसरे के साथ संयोग की उत्पत्ति, द्वचणुक की उत्पत्ति, विभाग और क्रिया का नाश—ये सब छठे क्षण की चीजें हैं। फिर इसकी उपज का नाश, इस उपज की उपज का नाश, द्वचणुक की उत्पत्ति, द्वचणुक रंग आदि की उत्पत्ति, विभाग और क्रिया का नाश और फिर अगले क्षण इसके कारण अर्थात् परमाणु से सम्बन्धित गुणों के अनुसार द्वचणुक में दूसरे गुण-वर्ग की उत्पत्ति।

यह प्रक्रिया सभी द्वचणुकों (एक विषय वाले) पर लागू करने की बात नहीं सोचनी चाहिए, क्योंकि ये संयोगों द्वारा उत्पन्न संयोगों से उत्पन्न होते हैं। ये कई परमाणु एक साथ मिल जाते हैं और एक परमाणु जो द्वचणुक का कारण है दूसरे परमाणु के सम्पर्क में आता है, जो दूसरे द्वचणुक का कारण है। दूसरी ओर द्वचणुक एक और परमाणु से मिलता है, जो दूसरे द्वचणुक का कारण है, और इसके बाद दोनों द्वचणुकों के बीच संयोग होता है[1]।

इस सबका सारांश यह है कि दोनों नैयायिक और वैशेषिक वाले मानते हैं कि पाक-प्रक्रिया पार्थिव वस्तुओं में पैदा होती है। पर उनके ब्यौरों में अंतर होता है। इस तरह वैशेषिक वाले मानते हैं कि यह परमाणुओं में सम्पन्न होता है और उसी समय इसकी उपज में उनके कारण से सम्बद्ध गुणों के अनुसार ही गुण आ सकते हैं। इसलिए वे पीलुपाकवादी कहे जाते हैं। ऊपर दिए गए कारणों से नैयायिक यह उचित नहीं मानते कि लाल रंग आदि के होने से पहले घड़े को उसके अंगभूत परमाणुओं में बदल दिया जाए और फिर अदृष्ट शक्ति के कारण पाक-प्रक्रिया के कृत्य के बाद वे अपने स्वाभाविक रूप में वापस आजाते हैं। इसलिए वे मानते हैं कि घट जो स्वभाव से सछिद्र है, ऐसा ही रहता है और तैजस अभिघात उसी मिली हुई वस्तु में होता है। इसलिए वे पिठर पाकवादी कहे जाते हैं[2]।

पीलुपाक का महत्त्व यह सिद्ध करने में है कि चेतना, सुख, दुःख आदि किसी भी भूत में नहीं होते। कारण यह है कि पार्थिव अवयवी के गुण उसमें तब तक रहते हैं, जब तक वे स्वयं विद्यमान रहते हैं। पार्थिव वस्तु के हर हिस्से में विद्यमान यावद्द्रव्यभावित्त्व का स्वरूप दिखाने के लिए इसे परमाणुओं में

1. कन्दली, पृ० 110-111
2. न्या० सू० 3. 2. 48-49

बदलना और गुण सभी अवयवों में रहते हैं यह दिखाना बड़ा जरूरी होता है। यह चेतना, सुख और दुःख आदि की संभावना को पृथिवी और दूसरे भूतों में उसकी स्थिति को नकार देगा, जो यावद्द्रव्यभावी नहीं है।[1]

पाक-प्रक्रिया की जरूरत के बारे में उदयन

यदि पाकज गुण न होते, तो उदयन के विचार से तरह-तरह के स्पर्श, रस, रूप और गन्ध में संख्या, परिमाण आदि के दूसरे गुणों की तरह कोई भेद न होता। दूसरे शब्दों में, जैसे घड़े को दी गई खास संख्या के बीच और एक कपड़े के टुकड़े को दी गई उसी संख्या के बीच भेद करना सम्भव नहीं, इसलिए एक चीज के स्पर्श[2] और दूसरी चीज के स्पर्श के बीच का अन्तर आदि अन्यथा सम्भव नहीं होता। इस तरह एक खास जड़ी अर्थात् शुकशिम्वी वृश्चिकपत्र आदि के स्पर्श से सांप-काटे या बिच्छू-काटे का या किसी और कीड़े के काटने से हुई पीड़ा में कोई अन्तर न होता; और किसी खास पत्थर या किसी खास (सांप काटने के इलाज करने वाली) जड़ी के स्पर्श से पीड़ा का अन्त न होता, यदि विभिन्न तरह के स्पर्शों में अन्तर न होता। फिर किसी गाय के या चंडाल के स्पर्श से कोई अन्तर न पड़ता और तदनुसार इन तरह-तरह के स्पर्शों के बारे में कोई वैदिक या धार्मिक निषेध न होता; और हर चीज के बारे में कोई विधि-निषेध निश्चित करना जरूरी न पड़ता। न मदिरा के बारे में प्रायश्चित के भेद को लेकर कोई औचित्य ही होता। इन क्रियाओं की व्याख्या करने के लिए पाक-प्रक्रिया के अस्तित्व को मानना ही होगा[3]।

कोंड भट्ट भी उक्त मत मानते हैं और कहते हैं कि स्पर्श में भी स्पष्ट अंतर होता है। इसीलिए पाक-प्रक्रिया द्वारा कोई कठोर द्रव्य मृदु बन जाता है और मृदु द्रव्य कठोर[4]।

यहां पर मीमांसक पाक-प्रक्रिया के ही विरुद्ध आपत्ति उठाते हैं। उनका विचार है कि खास तरह की शक्ति या संस्कार बीज में या वस्तु के कारण में अर्थात् परमाणु में (व्रीहीन् प्रोक्षति की तरह) निहित रहता है, जो उस कारण से उत्पन्न वस्तु का स्वरूप निश्चित कर देती है; जैसे कि तुरंत वृक्ष में

---

1. क० र०, पृ० 66
2. यह प्रश्न रूप, रस और गंध के बारे में नहीं उठता, क्योंकि ये पाक के कारण प्रत्यक्ष बदल जाते हैं; पर स्पर्श के बारे में कोई भेद प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता; इसी से यह प्रश्न उठता है।
3. कि०, पृ० 49
4. प० दी०, पृ० 11

लाल रंग (लाक्षारस) के पानी से सींचने से एक तरह की शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे फूल में लाल रंग आ जाता है। अतः वस्तु में रंग आदि पैदा करने के लिए पाक-प्रक्रिया में विश्वास करने की कोई जरूरत नहीं है[1]।

यह अभिमत स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि शक्ति और संस्कार दोनों अदृष्ट शक्तियां हैं[2]। और तुरंज वृक्ष के फूल में आने वाले लाल रंग के बारे में यह ठीक है कि सिंचाई लाल लाक्षारस से की जाती है, पर यह वस्तुतः सूर्य की धूप के संयोग से होता है[3]। पाक-प्रक्रिया दृष्ट साधन है, जिसे अदृष्ट साधन के ऊपर जगह देनी होगी।

यह पाक-प्रक्रिया के ही कारण होता है कि जब कोई खास बीज परमाणुओं में बदल जाता है, तो उन परमाणुओं से भिन्न वस्तु पैदा होती है और उसमें पाकज वस्तु की विशेषता होती है (पाकज विशेषविशिष्ट[4]), भले ही उसमें कोई अधीन जातियां न हों जो उपज में भेद का फैसला कर सकें। उदाहरण के लिए[5] धान का बीज जौ के बीज से भिन्न होता है, मनुष्य का वीर्य (कारण) बंदर आदि के से भिन्न होता है। गाय का दूध भैंस के दूध से उनसे संबंधित जातियों के भिन्न होने के कारण अलग तरह का होता है। लेकिन इन सबके अपने-अपने परमाणु जिससे ये सब पैदा होते हैं, केवल पाक-प्रक्रिया द्वारा ही अलग-अलग जाने जाते हैं। दूसरे शब्दों में सबसे पहले की अवस्था में वस्तुओं में पारस्परिक भेद पाक-प्रक्रिया से ही जाना जाता है, पर पिछली स्थिति में यह भेद उनकी अपनी-अपनी जातियों से भी जाना जाता है।

यह सोचना बिल्कुल असंभव है कि परमाणुओं में उनसे उत्पन्न वस्तुओं से बिलकुल भिन्न गुण होते हैं। अगर ऐसा न होता तो परमाणुओं के गुणों

---

1. कु० प्र०, 133-34, इसी पर बोधनी, पृ० 31, न्याय० ली० पृ० 72-73 (बम्बई संस्करण)।
2. न्या० मु०, पृ० 42, कन्दली, पृ० 145, वै० सू० 5. 2. 13 पर वै० उ०, बोधनी, पृ० 31
3. कु० प्र० पर प्रकाश, पृ० 134
4. बोधनी नीचे लिखी तरह से यह स्पष्ट करती है : जिसके कारण पाकज विशेष धान के बीज पैदा करने वाले परमाणुओं से अलग जौ के बीज पैदा करने वाले परमाणु, जो पहले धान के बीजों से पृथक् जौ के बीज पैदा कर चुके हैं, जो के अंकुर पैदा करते हैं (पृ० 31)।
5. बोधनी कहती है कि पाकज-विशेष के भेदक स्वरूप का यह प्रमाण है, जो वस्तु की उपज के समय अकेले ही भेद कर सकते हैं।

के स्वरूप का उनसे उत्पन्न वस्तुओं से अन्दाज करना संभव न होता। अतः उनमें किसी प्रकार की शक्ति के होने की कोई गुंजाइश नहीं है[1]।

परमाणु और अवयवी

पहले यह बताया जा चुका है कि परमाणु संसार के अंतिम भौतिक कारण हैं। अदृष्ट और ईश्वरेच्छा के प्रभाव में इनमें क्रिया होती है और ये दो-दो में इकट्ठे होते हैं और द्वयणुक नामक पहली उपज बनाते हैं और पहले दो परमाणु उसके भौतिक कारण होते हैं[2]। और उनका संयोग साधक कारण होता है। जब तीन द्वयणुक फिर क्रियाशील होकर साथ मिलते हैं तो वे एक त्र्यणुक पैदा करते हैं, जिसे त्रसरेणु भी कहते हैं, जो फिर यदि उसी तरह एक चतुरणुक पैदा करता है और यह तब तक चलता है, जब तक अन्त्यावयवी पैदा नहीं हो जाता : यह प्रक्रिया चारों तरह के भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति के बारे में एक सी है[3]।

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या द्वयणुक बनाने वाले दोनों परमाणु एक ही वर्ग के होते हैं या अलग-अलग वर्गों के, यह कहा जाता है कि दोनों परमाणु एक ही वर्ग के होते हैं। उदाहरण के लिए पार्थिव द्वयणुक के मामले में उनके भौतिक कारणभूत दोनों परमाणु पृथिवी के ही होते हैं। यदि द्वयणुक के दो अंगभूत परमाणुओं में से एक पार्थिव होता और दूसरे भिन्न वर्ग का तो परिणामी द्वयणुक में, यह मानते हुए कि विजातीय तत्वों से द्वयणुक बन सकता है, अंगभूत भूतों के कोई भी विशिष्ट गुण न होते; क्योंकि कोई गुण अपने-आप कोई कार्य नहीं पैदा कर सकता। अतः न तो पार्थिव परमाणु को गन्ध, न जलीय परमाणु का रस ऐसे द्वयणुक में गंध या रस पैदा नहीं कर सकता। यदि यह इसमें समर्थ माना जाता तो वह अपना कार्य बिना रुके पैदा करता रहता, क्योंकि कारण-द्रव्य में एक गुण हमेशा बना रहता है।

यह विचार भी ठीक नहीं कि हमेशा गुण पैदा करने की सामर्थ्य उस मामले में भी इतनी ही सम्भव है, जब द्वयणुक की उत्पत्ति उसी वर्ग के एक से अधिक परमाणु पर निर्भर करती है; क्योंकि द्वयणुक के पैदा हो जाने पर उसमें विशिष्ट गुण की उत्पत्ति भी होनी चाहिए। ऐसा गुण एक नए गुण के उद्भव में बाधक बन जाता है, जो तब तक पैदा नहीं हो सकता, जब तक पहला गुण नष्ट न हो जाए। इसलिए इस मामले में लगातार उत्पत्ति होते रहने का खतरा नहीं है[4]।

---

1. कु० प्र० प्र० उदयन की 'कुसुमांजलि प्रकरण' पर वर्धमान की टीका पृ० 135
2. भौतिक कारण सदा उसी वर्ग का होता है, जिसकी वह वस्तु होती है।
3. कन्दली, पृ० 33-34, केशव मिश्र का त० भा०, पृ० 113-14
4. कि० पृ० 58, कि० भा०, पृ० 87

फिर यदि द्वयणुक दो भिन्न वर्गों के परमाणुओं से बने, तो इसमें दोनों ही वर्गों के जाति-गुण आ जाएँगे। इससे जाति-गुण दोनों में आने-जाने लगेंगे जो नैयायिकों ने ठीक नहीं माना है[1]। इसलिए यह कहा जाता है कि द्वयणुक के अवयवी उसी वर्ग के होते हैं[2]। उसी तरह मानव शरीर के मामले में जिसे पंचभौतिक कहा जाता है, अन्तिम भौतिक कारण पार्थिव परमाणु हैं, अन्य भूतों के परमाणु साधक कारण हैं और उपष्टम्भक कहे जाते हैं जिसका अर्थ है कि ऐसा मेल पैदा करने वाले जिसमें वे मेल के अस्तित्व में रहने तक रहते हैं[3]। दूसरे शब्दों में एक पार्थिव शरीर में अन्तिम भौतिक कारण निःसन्देह पार्थिव परमाणु ही होते हैं, पर दूसरे वर्ग के परमाणुओं के संसर्ग से इनकार नहीं किया जा सकता। यह चीज हर वस्तु में सजीव या निर्जीव दिखाई देती है[4]। इसलिए यद्यपि द्वयणुक का भौतिक कारण दो पार्थिव परमाणुओं से जाना जाता है, पर फिर भी दूसरे वर्गों के परमाणु आकाश के साथ पार्थिव परमाणुओं के निकट संसर्ग में रहते हैं। इसका उदाहरण धान के बीज से अंकुर निकलने तक में देखा जा सकता है, जहां यह माना जाता है कि धान के बीज के घटक पौधे के रूप में उगकर अपनी पहली रचना को छोड़कर नई रचना अपना लेते हैं। वहां यह होता है कि पृथिवी के परमाणु जल के परमाणुओं से मिलकर और अंतस तैजस् के परमाणुओं को शामिल करके एक द्रव्य पैदा करते हैं, जो फिर बीज के घटकों के ऊपर और उनके साथ क्रिया करके अपने को अंकुर में बदल देता है[5]।

---

1. कि०, पृ० 33
2. कि०, पृ० 59-60, कि० भा०, पृ० 86-89
3. न्या० सू० वृ० 3. 1. 27
4. वै० सू० 4. 2. 4, वै० उ० आदि के साथ।
5. न्या० वा०, पृ० 351

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

बोधनी	उदयन के कुसुमांजलि प्रकरण पर वरदराज मिश्र की टीका
कन्दली	प्रशस्तपाद भाष्य पर श्रीधराचार्य की कन्दली टीका
कु० प्र०	उदयन का कुसुमांजलि प्रकरण
कु० प्र० प्र०	उदयन के कुसुमांजलि प्रकरण पर वर्धमान की टीका, कुसुमांजलि प्रकरणप्रकाश
क० र०	कणाद रहस्य
कि०	उदयन की किरणावली
कि० भा०	उदयन की किरणावली भास्कर
ल०	उदयन की लक्षणवल्ली
न्या० बो०	तर्कसंग्रह पर गोवर्धन की न्यायबोधनी टीका
न्या० भा०	न्यायभाष्य, न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन की टीका
न्या० को०	झलकीकर का न्यायकोश
न्या० ली०	वल्लभाचार्य की न्याय लीलावती
न्या० ली० कं०	शंकर मिश्र का न्याय लीलावती कंठाभरण
न्या० मं०	जयंत की न्यायमंजरी
न्या० मु०	शेषशार्ङ्गधराचार्य की न्यायमुक्तावली (उदयन की लक्षणवल्ली पर टीका)
न्या० सू०	गौतम का न्यायसूत्र
न्या० सि० मा०	न्याय सिद्धांत माला
न्या० सू० वृ०	न्याय सूत्रवृत्ति
न्या० वा०	उद्योतकर का न्याय वार्तिक
प० दी०	कोंड भट्ट की पदार्थ दीपिका
प्र० पा० भा०	प्रशस्त पाद भाष्य
प० र० मा०	पंडित रघुनाथ की पदार्थ रत्नमाला
र० सा०	भट्ट वादीन्द्र की किरणावली पर टीका, रस सार
सेतु	प्र० पा० भा० पर पद्मनाभ मिश्र की टीका
ता० टी०	वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका
त० भा०	केशव मिश्र की तर्कभाषा
त० प्र०	तर्क प्रदीप
त० सं०	अन्नंभट्ट का तर्कसंग्रह
सि० त० वि०	सिद्धांत तत्त्व विवेक
वै० सू०	कणाद के वैशेषिक सूत्र
वै० उ०	वैशेषिक पर शंकर मिश्र की टीका उपस्कार
वै० सू० वृ०	जयनारायण की वैशेषिक सूत्रवृत्ति
व्यो०	प्र० पा० भा० पर व्योमशिवाचार्य की व्योमवती टीका
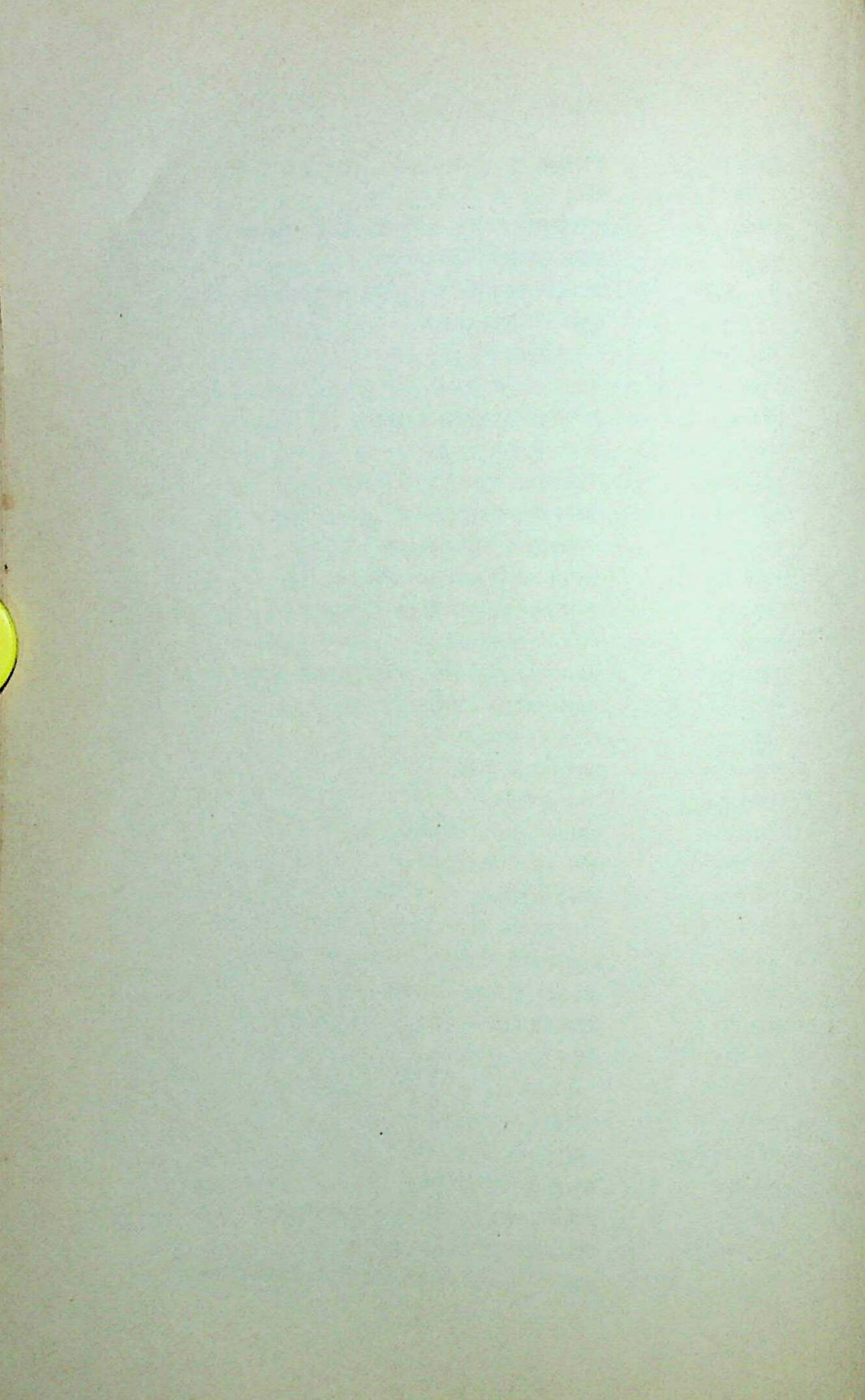
इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च
शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च
प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्ध-
श्चता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिल्लोके।

हे अग्नि, ये ईंटें मेरी दुग्धदा गायें बन जाएँ; एक, दस; दसगुने दस, सौ; दसगुने
सौ, हज़ार; दसगुने हजार, अयुत; दसगुने अयुत, नियुत; दस नियुत, एक
प्रयुत; दस प्रयुत, एक अर्बुद; दस अर्बुद; एक न्यर्बुद; दस न्यर्बुद, एक
समुद्र; दस समुद्र, एक मध्य; दस मध्य, एक अन्त; दस अन्त,
एक परार्ध। ये ईंटें मेरी अपनी गायें बन जाएं इस
लोक में भी और दूसरे लोक में भी।

—यजु॰ 17. 2

अध्याय : नवां

मेधातिथि—
अंकों को पहलेपहल परार्ध तक पहुँचाने वाले

ऋग्वेद में मेधातिथि

अंक निश्चय ही भारतीय उद्भव के हैं और इस अध्याय में हम देखेंगे कि किस तरह अंकों का विचार मूलतः वेद से आया और किस तरह महर्षि मेधातिथि ने गणना को परार्ध तक पहुँचा दिया। मेधातिथि का नाम ऋग्वेद के सूक्तों से जुड़ा है और 313 ऋचाएं उनके नाम से हैं। यह कहना कठिन है कि मेधातिथि और दूसरा नाम मेध्यातिथि दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं। दोनों का निश्चय ही कण्व के गोत्र से सम्बन्ध है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के पहले सूक्त में ये दोनों नाम साथ-साथ जुड़े हुए हैं और बहुत सम्भव है कि ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हों या दोनों एक दूसरे के निकट सम्बन्धी रहे हों[1]।

मेधातिथि का नाम ऋग्वेद के नीचे लिखे मन्त्रों से जुड़ा है :

मंडल	सूक्त	मंत्र संख्या	मंडल	सूक्त	मंत्र संख्या
1	12	12	8	1	27
	13	12		2	42
	14	12		3	24
	15	12		32	30
	16	9		33	19
	17	9	9	2	10
	18	9		41	6
	19	9		42	6
	20	8		43	6
	21	6		योग	313
	22	21			
	23	24			

1. मेध्य-अतिथि शब्द ऋग्वेद के इन मन्त्रों में भी कण्व और नीपातिथि के साथ आता है : 1. 36. 10; 11. 17; 8. 1. 30; 2. 40; 49. 9; 51. 1; और 9. 43. 3

(क) यथा प्रावो मघवन् मेध्यातिथिं यथा नीपातिथिं धने।

(ख) यथा कण्वे मघवन् त्रसदस्यवि यथा पक्थे दशव्रजे। ऋ० 8. 49. 9-10

मेधातिथि कण्व गोत्र के थे। इस गोत्र के अन्य ऋषि ये हैं : प्रस्कण्व, देवातिथि, ब्रह्मातिथि, वत्स, पुनर्वत्स, संध्वंस, शशकर्ण, प्रगाथ, (घोर), प्रगाथ, (कण्वपुत्र), पर्वत, नारद, गोशूक्त, अश्वसूक्ति, इरिम्बिठि, सोभरि, नीपातिथि, नाभाक, त्रिशोक, पुष्टिगु, श्रुष्टिगु, आयु, मेध्य, मातरिश्वा, कृश, पृषध्र, सुपर्ण कुरुसुति और कुसीदी।

अथर्ववेद में मेधातिथि

प्रियमेध के साथ मेधातिथि और मेध्यातिथि अथर्ववेद के बहुत से सूक्तों से सम्बद्ध ऋषि भी हैं। 17 मन्त्रों का सम्बन्ध मेधातिथि से हैं, 35 का मेध्यातिथि से और 1 का मेधातिथि और मेध्यातिथि दोनों से संयुक्त रूप में।

मेधातिथि 7. 25-29 सूक्त

मेधातिथि और प्रियमेध 20. 18. 1-3

मेध्यातिथि 20. 9. 3-4; 20. 10; 20. 49. 6-7; 20. 50; 52; 53; 20. 57. 11-16; 20. 59. 1-2; 20. 83. 3-4; 20. 99. 101; 20. 104. 1-2, 20. 116; 20. 118. 3-4

मेध्यातिथि-मेधातिथि: 20. 143. 9

यह महत्त्वपूर्ण बात है कि अथर्ववेद का अंतिम मन्त्र मेधातिथि और मेध्यातिथि नाम से जुड़ा है।

यजुर्वेद में मेधातिथि

यजुर्वेद में भी कुछ मन्त्र हैं जो ऋषि मेधातिथि के नाम से जुड़े हैं :

3. 29; 5. 15; 6. 4; 5; 7: 10-16; 24-28; 7. 11; 8. 32; 18. 1-7; 22. 10; 26. 20; 23; 30. 4; 33. 10; 45; 46; 81-83; 97: 34. 43; 44; 35. 21; 36. 15

दस की शक्तियों में मेधातिथि का योग-दान

मेधातिथि से संबद्ध एक सुप्रसिद्ध मन्त्र वह है, जो तीन पग या विष्णु के पगों के बारे में है और जो चारों वेदों में आया है :

देवता धरती के (उस अंश) से) हमारी रक्षा करें, जहां से विष्णु सात धामों से (सहायता लेकर) आगे बढ़े।

विष्णु ने इस (दुनिया) को रौंदा, तीन बार उन्होंने अपना पग रखा और सारी (दुनिया) उनके (पग की) धूलि में समा गई।

रक्षक, अक्षत विष्णु ने तीन पग रखे और धर्म के कृत्यों को धारण किया[1]।

इन उद्धरणों का महत्व दूरी को पगों से नापे जाने में है। दूरी को नापने का दूसरा पैमाना अंगुलियां हैं, जैसा कि पुरुष सूक्त में :

> पुरुष के हजार सिर हैं, हज़ार आंखें, हजार पैर, धरती को हर तरफ से
> ढंक कर भी वह दस अंगुल जगह ज्यादा घेरते हैं।
>
> —यजु० 31. 1; ऋ० 10. 90. 1[2]

दूरी को योजनों से भी नापा जा सकता है[3]।

अंक-विज्ञान को मेधातिथि की चिरन्तन देन गणना में दस की शक्ति की कल्पना है। इस धारणा का मूल उद्भव ऋक् मंत्रों में हुआ है, लेकिन इसका सुविकसित रूप यजुर्वेद के मंत्रों में देखने को मिलता है। नीचे हम मेधातिथि के नाम से संबद्ध कुछ मंत्रों के उद्धरण देंगे :

(एक) शब्द मिथुन या दो

> इन्द्र के मिथुन (दो) घोड़े, (सोम के) मद पान के लिए जल्दी करते हुए उसके रथ को खींचते हैं[4]।

(दो) तीन के लिए त्रि

> अग्नि देवताओं को यहां लाइए और तीन (त्रि) स्थानों पर विराजित करिए। उनको सज्जित करिए। ऋतु के साथ पान करिए[5]।

---

1. अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्त धामभिः।
   इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढ्हमस्य पांसुरे।
   त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्।
   —ऋ० 1. 22. 16-18

2. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
   स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्॥
   —ऋ० 10. 90. 1; यजु० 31. 1; सहस्रबाहुः पुरुषः, अथर्व० 19. 6. 1

3. सिन्धवो न ययियो भ्राजद् दृष्टयः परावतो न योजनानि ममिरे। —ऋ० 10. 78. 7

4. सप्ती चिद् घा मदच्युता मिथुना वहतो रथम्। —ऋ० 8. 33. 18

5. अग्ने देवां इहा वह सादया योनिषु त्रिषु। परि भूष पिब ऋतुना।
   —ऋ० 1. 15. 4

(तीन) चार या चौथाई के लिए तुरीय

द्रविणोद (धन देने वाले) हम ऋतुओं के साथ चौथी बार (या चौथाई के साथ) तुम्हारी पूजा करते हैं, अतः हमारा कल्याण करो[1]।

(चार) पांच के लिए पंच

इन्द्र, जिन्होंने हमारी स्तुति सुनी है, तीन दिशाओं में बढ़ो, कुछ दूरी से, जनों के पांचवें क्रम से आगे निकल जाओ[2]।

(पांच) छः के लिए षड्

निश्चय ही हमारे लिए वह छः ऋतुएं लाया है, जो (सोम की) बूंदों से युक्त हैं, जैसे कृषक (जौ के लिए) धरती को बार-बार जोतता है[3]।

(छः) सात के लिए सप्त

देवता धरती के (उस अंश से) हमारी रक्षा करें, जहां से विष्णु सात धामों से (सहायता लेकर) आगे बढ़े[4]।

(सात) आठ के लिए अष्ट मेधातिथि से संबद्ध मंत्रों में नहीं आया है, पर यह दीर्घतमस् और अन्य ऋषियों से संबद्ध मंत्रों में आया है :

जलों को बनाती हुई (बादलों की) ध्वनि गूंज उठी और वह एक पग की, दो पग की, चार पग की, आठ पग की, नौ पग की या परम व्योम में अनन्त थी[5]।

---

1. यद् त्वा तुरीयमृतुभिर्द्रविणोदो यजामहे। अध स्मा नो ददिर्भव।
—ऋ॰ 1. 15. 10

2. इहि तिस्रः परावत इहि पञ्च जनां अति। धेना इन्द्रावचाकशत्।
—ऋ॰ 8. 32. 22

3. उतो स मह्यमिन्दुभिः षड्युक्तां अनुसेषिधत्। गोभिर्यवं न चर्कृषत्।
—ऋ॰ 1. 23. 15

4. अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्त धामभिः।
—ऋ॰ 1. 22. 16

अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्। —ऋ॰ 1. 164. 41

(आठ) नौ के लिए नव मेधातिथि से संबद्ध मंत्रों में नहीं आया है, एक मंत्र में नव शब्द 'नए' के अर्थ में आया है :

ऋतुओं ने नए चमस को चार में बाँट दिया, जो देव त्वष्टा का कृत्य था[1]।

(नौ) दस के लिए दश, सौ के लिए शत, हजार के लिए सहस्र और दस हज़ार के लिए अयुत :

अपने उन घोड़ों के साथ पधारिए जो तेजस्वी और तेज चलने वाले हैं, जो दस, सौ या हजार (योजनों को) पार करते हैं[2]।

वज्र को धारण करने वाले, मैं तुझे बड़ा शुल्क (दाम) पाकर भी न बेचूंगा, हजार में भी नहीं, दस हजार (अयुत) में भी नहीं, हे धनी वज्र वाले, सौ में भी नहीं[3]।

(दस) आठ हजार के लिए अष्ट-सहस्र और चालीस हजार के लिए चत्वार्ययुता :

हे उदार विभिन्दु, तुमने मुझे चार गुने दस हजार दिए हैं और फिर आठ हजार[4]।

(ग्यारह) शता (सैकड़ों) और सहस्रा (हजारों) अपार संख्या के अर्थ में :

शक्तिशाली इन्द्र, शतों (सैकड़ों) और हजारों का चैन छीन लेने वाले और (शत्रुओं द्वारा) कभी न रोके जा सकने वाले पूजनीय हैं[5]।

---

1. उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः।
—ऋ० 1. 20. 6

2. ये ते सन्ति दशग्विनः शतिनो ये सहस्रिणः।
अश्वासो ये ते वृषणो रघुद्रुवस्तेभिर्नस्तूयमा गहि ॥
—ऋ० 8. 1. 9

3. महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥
—ऋ० 8. 1. 5

4. शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददत्। अष्टा परः सहस्रा। —ऋ० 8. 2. 41

5. पन्य आ दर्दिरच्छता सहस्रा वाज्यवृतः। इन्द्रो यो यज्वनो वृधः।
—ऋ० 8. 32. 18

(बारह) एक से लेकर परार्ध तक अंक :

> हे अग्नि, ये ईंटें मेरी दुग्धदा गायें बन जाएं; एक, दस, दसगुने दस, सौ सौ; दसगुने सौ, हजार; दसगुने हजार, अयुत; दसगुने अयुत, नियुत; दस नियुत; एक प्रयुत; दस प्रयुत, एक अर्बुद; दस अर्बुद, एक न्यर्बुद; दस न्यर्बुद, एक समुद्र, दस समुद्र, एक मध्य; दस मध्य, एक अंत; दस अंत, एक परार्ध। ये ईंटें मेरी अपनी गायें बन जाएं इस लोक में भी और दूसरे लोक में भी[1]।
>
> —यजु॰ 17.2

इस तरह परार्ध का मूल्य 10^{12} है।

अंकों की यह सूची तैत्तिरीय संहिता में उद्धृत की गई है (4. 4. 11)।

दस के ये गुणन जो यजुर्वेद में गिनाए गए हैं और मेधातिथि के नाम के साथ संबद्ध हैं, गणना में बहुत ही बड़ा योगदान है।

ऋग्वेद में आए अंक

अब हम यहां पर ऋग्वेद में आने वाले अंकों की एक सूची देंगे। सन्दर्भ केवल उनके ही दिए गए हैं, जो कम आते हैं।

एक से संबंधित

एकः—एक (1) : 1. 7. 9. और कई अन्य स्थलों पर।

एक एकः—एक-एक करके : 3. 29, 15; 5. 61. 1

एकक—अकेले या सिर्फ एक द्वारा : 10. 59. 9

एकम्-एकम्—एक एक करके, उत्तरोत्तर : 1. 20. 7; 8. 70. 14

एकम्-एका—अकेला : 5. 52. 17

एकशतम्—एक सौ एक (101) : 10. 130. 1

एका—एक (1) : 1. 35. 6

एका-एका—एक-एक करके. उत्तरोत्तर : 1. 123 8

एकादश—ग्यारह (11) : 1. 139. 11; 10. 85. 45; 8. 39. 9; 8. 57. 2; 9. 92. 4; 1. 34. 11; 8, 35. 3

---

1. इमा मेऽग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मेऽग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके। —यजु॰ 17. 2

उसके रूपभेद—प्रथमः, प्रथमम्, प्रथमा और अन्य—पहला : 1. 31. 1-3, और कई अन्य जगहों पर।

प्रथम-भाजम्—पहला भाजक (बांटने वाला) : 6. 49. 9

दो से संबंधित

द्वके—दो द्वारा : 10. 59. 9
द्वय—दो (2) : 6. 27. 8 और अन्यत्र (रूपभेदों के साथ)
द्वा—दो (2) : 1. 131. 3 और अन्यत्र
द्वादश—बारह (12) : 1. 25. 8; 164. 48; 4. 33. 7; 10. 114. 5
द्वा द्वा—जोड़ों में : 8. 68. 14; 10. 48. 6
द्वि—दो (दो) : 1. 53. 9; 122. 13; 4. 6. 8; 6. 62. 2; 8. 70. 12; 9. 98. 6; 10. 120. 3

द्विता—दो के बीच बंटा या दो हिस्सों में बंटा : 1. 37. 9; 62. 7; 12. 7 और अन्य जगहों पर।

द्वितीय—दूसरा : 1. 141. 2; 2. 18. 2; 5. 18. 2; 8. 60. 9; 10. 45. 1
द्विधा—दो तरह से : 10. 56. 6
द्वे—दो (2) : 1. 95. 1 और अन्य जगहों पर।
मिथुन—दो का जोड़ा, युग्म : 1. 83. 3 और अन्य अनेक स्थलों पर।

तीन से संबंधित

तृतीय—तीसरा : 1. 164. 1; 10. 85. 4 और अन्य अनेक जगहों पर।
त्रयः—तीन (3) : 1. 34. 2 और अन्य अनेक जगहों पर।
त्रयः-त्रिंशतम्—तेंतीस (33) : 1. 45 2
त्रययाय्य—तीन गुणों से युक्त : 6. 2. 7
त्रयाणि—तीन (3) : 10. 45. 2
त्रिंशत्—तीस (30) : 1. 123. 8; 2. 18. 5; 3. 6. 9; 3. 9. 9; 4. 30. 21; 6. 59. 6; 8. 30. 2; 8. 77. 4; 9. 58. 4; 10. 52. 6; 189. 3

त्रिंशता—तीस (30) : 2. 18. 5
त्रिंशति—तीस (30) : 8. 28. 1
त्रिंशत् शतम्—तीस सौ (3000) : 6. 27. 6
त्रि—तीन (3) : 1. 20. 7 और अन्य अनेक जगहों पर।
त्रिका—तीन-तीन करके : 10. 5‌‌. 9
त्रिधा—तीन बार : 1. 117. 24; 2. 3. 10; 4. 58. 3; 4

त्रिपंचाशः—त्रेपन (53) : 10. 34. 8
त्रिशताः षष्टिः—तीन सौ साठ : 1. 164. 4; 48
त्रिसप्तैः—तीन या सात या तीन गुने सात : 1. 133. 6
त्री, त्रीणाम्, त्रीणि, त्रीन् (3) : अनेक जगहों पर।
त्रेधा—तीन बार : 1. 22. 17; 34. 4; 8; 154. 1; 187. 7 और अन्य अनेक जगहों पर।

चार से संबंधित

चतस्र, चतस्रः—चार (4) : 8. 60. 9; 10. 100. 10 और अन्यत्र।
चतुः—चार (4) 1. 31. 13; 152. 2; 4. 22. 2; 5. 48. 5; 10. 14. 10; 92. 11; 114. 3

चतुः त्रिशत्—चौंतीस (34) : 1. 162. 18; 10. 55. 3
चतुः दश—चौदह (14) : 10. 114. 7
चतुःधा—चार बार : 4. 35. 2; 3
चतुःशतम्—चार सौ (400) : 8. 55. 3
चतुः सहस्रम्—चार हजार (4000) : 5. 30. 15
चतुरः, चतुर्णाम्—चार के रूपभेद : 8. 74. 13
चत्वारः—चार (4) : 1. 12. 15; 165. 45; 4. 58. 3; 5. 30. 12; 14; 47. 4; 7. 18. 23; 8. 2. 41; 74. 14; 9. 70. 1; 10. 54. 4

चत्वारिंशत्—चालीस (40) : 1. 126. 4
चत्वारिंशता—चालीस (40) : 2. 18. 5
चत्वारिंश्याम्—चालीस (40) : 2. 12. 11

पांच से संबंधित

पंच—पांच (5) : 1. 7. 9 और अन्य अनेक जगहों पर।
पञ्चदश—पन्द्रह (15) : 10. 27. 2; 86. 14; 114. 8
पञ्चपञ्च—पांच और पांच : 3. 55. 18
पञ्चाशत—पचास (50) : 1. 133. 4; 2. 18. 5; 4. 16. 13; 5. 18. 5; 8. 19. 36

छः से संबंधित

षट्— छः (6) : 1. 23. 15; 164. 6; 15; 10. 12. 5 और अन्यत्र।
षट्त्रिंश—छत्तीस (36) : 10. 114. 6 (षट् त्रिंशान् चतुरः—छत्तीस और चार)

षष्टि—साठ (60) : 1. 53. 9; 126. 3, 164. 48; 2. 18. 5; 6. 26. 6; 7. 18. 14; 8. 4. 20; 46. 22; 29; 96. 8; 9. 97. 53

षोल्हा—छः (6) : 3. 55. 18

सात से संबंधित

सप्त—सात (7) : 1. 22. 16 और अन्य अनेक जगहों पर।
सप्तति—सत्तर (70) : 2. 18. 5; 8. 19. 37; 46. 26; 10. 93. 15
सप्तथ—सातवां : 1. 164. 15; 10. 99. 2
सप्तथि—सातवां : 7. 36. 6
सप्त-सप्त—सात-सात, या सात की श्रेणियां : 10. 55. 3; 75. 1

आठ से संबंधित

अशीत्या—अस्सी से : 2. 18. 6
अष्ट—आठ (8) : 8. 2. 41; 10. 27. 15 और अन्य अनेक जगहों पर।
अष्टमम्—आठवां : 2. 5. 2; 10. 114. 9

नौ से संबंधित

नव—नौ (9) : 1. 32. 14
नव नवति—निन्यानवे (99) : 1. 32. 14; 1. 191. 13; 4. 26. 2
नवति—नव्वे (90) : 1. 32. 14; 53. 9; 54. 6; 80. 8; 121. 13; 130. 7; 155. 6; 2. 14. 4; 18. 6; 3. 12. 6; 5. 29. 6; 6. 47. 2; 7. 19. 5; 99. 5; 8. 93. 2; 10. 49. 8; 98. 11; 104. 8

नवतीर् नव—नव्वे बार नौ (810) : 1. 84. 13; या निन्यानवे (99); 9. 61. 1

षष्टि-सहस्र-नवती नव - साठ हजार निन्यानवे (60,099) : 1. 53. 9

दस और उसके गुणनों से संबंधित

दश—दस (10) : 1. 53. 6 और अन्य अनेक जगहों पर।
दशतयः—दसगुने : 1. 122. 12; 13; 158. 4
दशमम्—दसवां : 8. 24. 23
विंशति—बीस (20) : 1. 80 9; 164. 11; 2. 18. 5; 5. 27. 2; 6. 27. 8; 7. 8. 11; 8. 46. 22; 31; 10. 86. 14; 23

शत—सौ (100) : 1. 24. 9 और अन्यत्र, सैकड़ों : 5. 61. 5 और अन्यत्र।

शततमम्—सौवां : 4. 26. 3; शततमा 7. 19. 5

शतशः—सौ सौ करके : 4. 38. 10; 7. 8. 6; 9. 82. 5; 87. 4; 10. 95. 3; 178. 3

सहस्र—हजार या हजारों (1000) : 1. 79. 12 और अन्यत्र।

सहस्रधा—हजार बार या तरह से : 10. 114. 8

सहस्रशः—हजारों से : 8. 34. 15

सहस्रसाः—हजारों का : 1. 188. 3 और अन्यत्र।

अयुत—दस हजार (10,000) : 4. 26. 7 चत्वारि-अयुत (40,000) : 8. 2. 41; और देखिए 8. 21. 18; 34. 15; 46. 22

नियुत—यह शब्द ऋग्वेद में रथ के प्रसंग में तो आता है, पर अंक के लिए नहीं। देखिए 1. 134. 2; 135. 2; 167. 2; 180. 6 और अन्य अनेक जगहों पर।

प्रयुत—इसका मतलब है जुड़ा हुआ, पर यह अंक के लिए नहीं आता। देखिए 3. 55. 4; 57. 1; 5. 32. 2; 10. 27. 8; 37. 12

अर्बुद—यह शब्द कई जगह आता है पर अंक के अर्थ में नहीं। देखिए 1. 51. 6; 2. 11. 20; 14. 4; 8. 3. 19; 32. 3; 26

अंकों का क्रमस्थापन

यह देखना बड़ा रोचक है कि यद्यपि अंक सर्वत्र बिखरे हुए होते हैं। कुछ स्थलों पर उनको निश्चित क्रम में रखा गया मालूम पड़ता है। इस सिलसिले में हम ऋग्वेद के मण्डल दो से तीन लगातार मन्त्र उद्धृत करेंगे।

हे इन्द्र, बुलाए जाने पर दो घोड़ों के साथ, या चार, या छः, या आठ या दस के साथ सोमरस पीने के लिए आओ, सोमरस ढाला जा रहा है, (द्रव्य को) बिसारना मत।

हे इन्द्र, हमारे सामने आओ, अपने रथ में बीस या तीस या चालीस घोड़े या पचास सुप्रशिक्षित घोड़े या साठ सत्तर घोड़े जोड़कर हे इन्द्र, सोमरस पान करने आओ।

हे इन्द्र, हमारे सामने अस्सी, नव्वे, या सौ घोड़ों द्वारा वहन किए जाकर आओ। हे इन्द्र, तुम्हारी मदमस्ती के लिए यह सोम पात्र में ढाल दिया गया है[1]।

---

1. आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
अष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः। [अगले पृष्ठ पर—

क्रम में दिए गए अंक हैं : 2, 4, 6, 8, 10, 20, 30, 40, 50, 60, 70, 80, 90 और 100। इन मन्त्रों के ऋषि गृत्समद हैं। वह संख्याओं को सम संख्याओं के क्रम से दस तक व्यवस्थित करते हैं फिर दस के गुणनों के रूप में सौ तक।

अथर्वन् द्वारा चार से बीस तक के अंकों का आरंभ

अथर्व वेद में एक सूक्त है, जो 'अथर्वणः' के नाम से चलता है। इस सूक्त से अथर्वन् ऋषि के रूप में जुड़े हुए हैं। इस सूक्त में चार से बीस तक के अंक इस इस तरह गिनाए गए हैं :

'अथर्वणः' की चार ऋचाओं के समूह की जय।
पांच ऋचाओं के समूह की जय।
छः ऋचाओं के समूह की जय।
सात ऋचाओं के समूह को जय।
आठ ऋचाओं के समूह की जय।
नौ ऋचाओं के समूह की जय।
दस ऋचाओं के समूह की जय।
ग्यारह ऋचाओं के समूह की जय।
बारह ऋचाओं के समूह की जय।
तेरह ऋचाओं के समूह की जय।
चौदह ऋचाओं के समूह की जय।
पन्द्रह ऋचाओं के समूह की जय।
सोलह ऋचाओं के समूह की जय।
सत्रह ऋचाओं के समूह की जय।
अठारह ऋचाओं के समूह की जय।
उन्नीस ऋचाओं के समूह की जय।
बीस ऋचाओं के समूह की जय[1]।

—पिछले पृष्ठ से]

आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङा चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्राऽऽषष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम्॥
अशीत्या नवत्या याह्यर्वाङा शतेन हरिभिरुह्यमानः।
अयं हि ते शुनहोत्रेषु सोम इन्द्र त्वाया परिषिक्तो मदाय॥ —ऋ० 2. 18. 4-6

1. आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा। षड्ऋचेभ्यः स्वाहा। सप्तर्चेभ्यः स्वाहा। अष्टर्चेभ्यःस्वाहा। नवर्चेभ्यः स्वाहा। दशर्चेभ्यः स्वाहा। एकादशर्चेभ्यः स्वाहा। द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा। त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा। चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा। पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा। षोडशर्चेभ्यः स्वाहा। सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा। अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा। एकोनविंशतिः स्वाहा। विंशतिः स्वाहा। —अथर्व० 19. 23. 1-17

यह अथर्ववेद के विभिन्न हिस्सों के प्रति श्रद्धा वाक्य है, जिनको उनके सूक्तों में आए मन्त्रों के अनुसार वर्गीकृत करके रखा गया है। इस वेद के पहले मण्डल में अधिकांशतः चार मन्त्रों वाले सूक्त हैं (अर्थात् सूक्त 1, 2, 4-6, 8-10, 12-28, 30-33 और 35) मण्डल दो में मुख्यतः पांच मन्त्रों वाले सूक्त हैं (अर्थात् सूक्त 1-3, 6-9, 11, 13, 16, 18, 23, 25, 26, 28, 30, 31, 34 और 35)। मण्डल तीन में मुख्यतः छः मन्त्रों वाले सूक्त हैं (अर्थात् 1-3, 8, 9, 14, 18, 22, 23, 25-28)। मण्डल चार में मुख्यतः सात मन्त्रों वाले सूक्त हैं (अर्थात् 1, 3, 5, 7, 8, 12, 13, 21-29, 31-32, 35, 38) यह बातें दूसरे मण्डलों में नहीं पाई जाती हैं।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि अथर्वन् एकोनविंशति (बीस से एक कम) शब्द उन्नीस के लिए नवदश (दस में नौ ज्यादा) की जगह पर इस्तेमाल करता है। ऋक्, यजुः या अथर्व संहिताओं में इसी स्थल पर उन्नीस के लिए 'एकोन-विंशति' शब्द आया है। अथर्वन् ने ही इस प्रयोग की नींव रखी, जो 29, 39, 49 आदि संख्याओं के लिए भी इतना ज्यादा चल पड़ा।

गोपथ द्वारा संख्याओं और उनकी दहाइयों का संबंध निरूपण

अथर्व का एक सूक्त रात्रि से संबन्धित है और इसके सिलसिले में संख्याओं और उनकी दहाइयों का सम्बन्ध बताया गया है। इस सम्बन्ध वाले इस मन्त्र के ऋषि गोपथ हैं :

> हे रात्रि, तेरे निन्यानवे देखने वाले जो मनुष्यों को देखते हैं; वे संख्या में अठासी या सतत्तर हैं।
>
> हे समृद्ध रात्रि, वे छासठ हैं, पचपन हैं।
>
> हे जयसामग्री से समृद्ध रात्रि, वे चवालीस हैं, तेंतीस हैं।
>
> हे रात्रि, तेरे पास बाईस हैं, ग्यारह हैं, या इससे भी कम। हे आकाश की पुत्री, आज इन रक्षकों के साथ हमारी रक्षा करो[1]।

इस प्रकार यह सूक्त उलटे क्रम में 90 को 9 से, 80 को 8 से, 70 को 7

---

1. ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव।
   अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥
   षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि।
   चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥
   द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः।
   तेभिर्नो अद्य पायुभिर्नु पाहि दुहितर्दिवः ॥ अथर्व० 19. 47. 3-5

से, 60 को 6 से, 50 को 5 से, 40 को 4 से, 30 को 3 से, 20 को 2 से, 10 को 1 से जोड़ता है।

यजुर्वेद में आए अंक

विभिन्न वस्तुओं से सम्बद्ध अंक

परवर्ती साहित्य में अंकों को कुछ वस्तुओं से बताना आसान हो गया। इस प्रणाली का बीज यजुर्वेद के चार मन्त्रों में मालूम पड़ता है।

अग्नि ने एकाक्षर छन्द से एक प्राण (वायु) को जीता, मैं उसे जीतूं।
दो वर्ण वाले छन्द से अश्विन् ने दो पैर वालों को जीता, मैं उनको जीतूं।
तीन वर्ण वाले छन्द से विष्णु ने त्रिलोक को जीता, मैं उनको जीतूं।
चार वर्ण वाले छन्द से सोम ने चतुष्पाद (चार पैर वाले पशुओं) को जीता, मैं उनको जीतूं।

पांच वर्ण वाले छन्द से पूषन् ने पांच दिशाओं में जीता, मैं उनको जीतूं।
छः वर्ण वाले छन्द से सवितृ ने छः ऋतुओं को जीता, मैं उनको जीतूं।
सात वर्ण वाले छन्द से मरुतों ने सात ग्राम्य पशुओं को जीता, (सात घरेलू जानवरों : बैल, घोड़ा, बकरी, भेड़, खच्चर और गदहे को तथा मनुष्य को) मैं उनको जीतूं।

आठ वर्ण वाले छन्द से बृहस्पति ने गायत्री (जिसमें आठ वर्णों के तीन पद होते हैं) को जीता, मैं उनको जीतूं।

नौ वर्ण वाले छन्द से मित्र ने निवृत्त स्तोम को जीता, मैं उनको जीतूं।
दस वर्ण वाले छन्द से वरुण ने विराज को जीता, मैं उसको जीतूं।
ग्यारह वर्ण वाले छन्द से इन्द्र ने त्रिष्टुप् को जीता, मैं उसको जीतूं।
बारह वर्ण वाले छन्द से विश्वेदेवाः ने जगती को जीता मैं उसको जीतूं[1]।

---

1. अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रींल्लोकानुदजयत्तानुज्जेषꣳ सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम्।

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिशऽउदजयत्ताऽउज्जेषꣳ सविता षडक्षरेण षड् ऋतूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम्।

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृत्तꣳ स्तोममुदजयत् तमुज्जेषं वरुणो दशाक्षरेण विराजमुद-

[अगले पृष्ठ पर—

इसी तरह से अगले मंत्र में 13, 14, 15, 16 और 17 वर्णों के छन्द लिए गए हैं जो तत्संवादी स्तोम (तेरहवें स्तोम से सत्रहवें स्तोम तक) से सम्बद्ध हैं।

सामान्यत: प्रत्येक छन्द की वर्ण संख्या के आधार पर छन्दों को आसानी से अंकों से सम्बद्ध किया जा सकता है:

गायत्री 24, उष्णिक् 28, अनुष्टुप् 32, बृहती 36, पंक्ति 40, त्रिष्टुप् 44 और जगती 48।

विभिन्न सामन् या विभिन्न संख्या वाले मन्त्रों से युक्त सूक्त भी अंकों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं:

9 मन्त्रों का त्रिवृत्त सूक्त, 15 मन्त्रों का पंचादश सूक्त, 17 मन्त्रों का वैरूप या सप्तदश सूक्त, 21 मन्त्रों का वैराज सूक्त, तीन बार नौ या 27 मन्त्रों का त्रिणव सूक्त और 33 मन्त्रों का त्रयस्त्रिंश सूक्त[1]।

ईंटें रखने में अंकों का प्रयोग

एक तिहरे कीर्तिगान वाला गीत (त्रिवृद्भान्त:) भी है, जिसमें दिए गए अंक हैं: पंचदश (15), सप्तदश (17), एकविंश (21), अष्टादश (18), नवदश (एकोनविंश नहीं, 19), सविंश (20), त्रयोविंश (23), चतुर्विंश (24), पंचविंश (25), एकत्रिंश (31), त्रयस्त्रिश (33), चतुस्त्रिश (34), षट्त्रिंश (36) और अष्टाचत्वारिंश (48)[2]।

—पिछले पृष्ठ से]

जयत्तामुज्जेषमिन्द्र ऽ एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषं विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम्।

वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषꣳ रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषम्। आदित्या: पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमदिति: षोडशाक्षरेण षोडशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापति: सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम्।

—यजु० 9. 31-34

1. यजु० 8. 54-58
2. आशुस्त्रिवृद्भान्त: पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धरुणऽएकविंꣳश. प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्त: सविꣳशो वर्चो द्वाविꣳश: सम्भरणस्त्रयोविꣳशो योनिश्चतुर्विꣳश:। गर्भा: पञ्चविꣳशऽओजस्त्रिणव: क्रतुरेकत्रिꣳश: प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशो नाक: षट्त्रिꣳशोविवर्त्तोऽष्टाचत्वारिꣳशो धर्त्रं चतुष्टोम:।

—यजु० 14. 23

यजुर्वद में विषम अंक

इस सिलसिले में हम मण्डल 14 अध्याय 28-37 का उल्लेख करेंगे :

उन्होंने एक से स्तुति की···तीन से स्तुति की···पांच से···सात से···नौ से ··ग्यारह से···तेरह से···पन्द्रह से···सत्रह से···उन्नीस से···इक्कीस से···तेईस से···पचीस से···सत्ताइस से···उनतीस (नवविंश, एकोनविंश नहीं) से···इकतीस से···और तैंतीस से उन्होंने स्तुति की; सभी जीव प्रसन्न हुए[1]।

अठारहवें मण्डल के दूसरे मन्त्र में भी तैंतीस तक यही विषम संख्याएं बताई गई हैं :

मेरा एक और मेरे तीन, मेरे तीन और मेरे पांच, मेरे पांच और मेरे सात, मेरे सात और मेरे नौ, और मेरे नौ और मेरे ग्यारह···(और इस तरह मेरे इकतीस और मेरे तैंतीस तक) यज्ञ से समृद्ध हों[2]।

यहाँ भी 19 और 29 के लिए आए शब्द नवदश और नवविंश है (एकोनविंश और एकोनत्रिंश नहीं)।

चार और उसके गुणन

यजुर्वेद के एक मन्त्र में 4 × 12 बराबर अड़तालीस तक मिलते हैं :

मेरे चार और मेरे आठ, मेरे आठ और मेरे बारह, मेरे बारह और मेरे सोलह, मेरे सोलह और मेरे बीस, मेरे बीस और मेरे चौबीस, मेरे

---

1. एकयास्तुवत प्रजाऽधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् ।
तिसृभिरस्तुवत······पञ्चभिरस्तुवत······सप्तभिस्तुवत······नवभिरस्तुवत······एकादशभिरस्तुवत······त्रयोदशभिरस्तुवत······पञ्चदशभिरस्तुवत······सप्तदशभिरस्तुवत······नवदशभिरस्तुवत······एकविंशत्यास्तुवत······त्रयोविँशत्यास्तुवत······पञ्चविँशत्यास्तुवत······सप्तविँशत्यास्तुवत······नवविँशत्यास्तुवत······एकत्रिँशतास्तुवत······त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापति परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ।
—यजु० 14. 23. 31

2. एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽएकादश च मऽएकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽएकविँशतिश्च मऽएकविँशतिश्च मे त्रयोविँशतिश्च मे त्रयोविँशतिश्च मे पञ्चविँशतिश्च मे पञ्चविँशतिश्च मे सप्तविँशतिश्च मे सप्तविँशतिश्च मे नवविँशतिश्च मे नवविँशतिश्च मऽएकत्रिँशच्च मऽएकत्रिँशच्च मे त्रयस्त्रिँशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।
—यजु० 18. 24

चौबीस और मेरे अट्ठाइस, मेरे अट्ठाइस और मेरे बत्तीस, मेरे बत्तीस और मेरे छत्तीस, मेरे छत्तीस और मेरे चालीस, मेरे चालीस और मेरे चवालीस, मेरे चवालीस और मेरे अड़तालीस यज्ञ से समृद्ध हों[1]।

इस तरह इस मन्त्र में हमें चार का पहाड़ा मिल जाता है :
4, 8, 12, 16, 20, 24, 28, 32, 36, 40, 44, और 48।

तैत्तिरीय संहिता में अंक

अश्वमेध के प्रसंग में हमें अंकों संबंधी लंबी द्रव्य सूची मिलती है। मंत्र इस तरह हैं : एक की जय, दो की जय आदि।

इस क्रम में नीचे लिखे अंक लिए गए हैं :

क्रमिक अंक

1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 14, 15, 16, 17, 18.

नौ वाले अंक

19, 29, 39, 49, 59, 69, 79, 89, 99 (100 और 200).
—तै० सं० 7. 2. 11

विषम अंक

1, 3, 5, 7, 9, 11, 13, 15, 17, 19, 29, 39, 49, 59, 69, 79, 89, 99 (100) —तै० सं० 7. 2. 12
3, 5, 7......जैसे कि तै० सं० 7. 12 में —तै० सं० 7. 14

सम अंक

2, 4, 6, 8, 10, 12, 14, 16, 18, 20, 98, 100 —तै० सं० 7. 2. 13

चार के गुणन

4, 8, 12, 16, 20, 96, 100 —तै० सं० 7. 2. 15

पाँच के गुणन

5, 10, 15, 20, 95, 100 —तै० सं० 7. 2. 16

---

1. चतस्रश्च मे ऽष्टौ च मे ऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे विँशतिश्च मे विँशतिश्च मे चतुर्विँशतिश्च मे चतुर्विँशतिश्च मे ऽष्टाविँशतिश्च मेऽष्टाविँशतिश्च मे द्वात्रिँशच्च मे द्वात्रिँशच्च मे षट्त्रिँशच्च मे षट्त्रिँशच्च मे चत्वारिँशच्च मे चत्वारिँशच्च मे चतुश्चत्वारिँशच्च मे चतुश्चत्वारिँशच्च मे ऽष्टाचत्वारिँशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। —यजु० 18. 25

दस के गुणन

10, 20, 40, 50, 60, 70, 80, 90, 100 —तै० सं० 7. 2. 17

बीस के गुणन

20, 40, 60, 80, 100 —तै० सं० 7. 2. 18

सौ के गुणन

100, 200, 300, 400, 500, 600, 700, 800, 900, 1000

सौ से परार्ध तक

100; 1000; 10,000; 100,000; 1,000,000; 10,000,000 (अर्बुद); 100,000,000 (न्यर्बुद); 1,000,000,000 (समुद्र); 10,000,000,000 (मध्य); 100,000,000,000 (अन्त); 1,000,000,000,000 (हजार अरब या 10^{12}; परार्ध) —तै० सं० 7. 2. 20

तैत्तिरीय संहिता में (4. 4. 11) में हमें ऐसी ही सूची लाख, अरब या सौ परार्ध की भी मिलती है। काठक संहिता (17. 10) में भी ऐसी ही सूची है, पर 'नियुतम्', 'प्रयुतम्' के बाद आता है और दस बढ़ा दिया गया है, जबकि शृंखला 'दश च शतं च' की है, जब तक 'समुद्रः' न आ जाए। मैत्रायणी संहिता (2. 8. 14) में भी यही योजना है और उसमें 'अयुतम्', 'प्रयुतम्' और फिर 'अयुतम्' है। यजुर्वेद या वाजसनेयि संहिता में भी वही योजना है, जो हम पहले दे चुके हैं।

अंकों की व्युत्पत्ति

न केवल भारत ने सभ्यता को अंक प्रदान किए, इस देश ने इन अंकों को नाम भी दिए, जो बदले रूप में यूरोपीय देशों में प्रचलित हो गए। इसका निरूपण हम नीचे कर रहे हैं :

अंकों के नाम पूर्णतः प्रतीकात्मक और निरर्थक नहीं हैं। महान् व्युत्पत्ति (निरुक्त) वेत्ता और कोशकार यास्क ने अपने निरुक्त में कुछ मंत्रों पर टिप्पणी देते हुए अंकों की व्युत्पत्ति बताई है। वह नीचे लिखे मंत्र पर टिप्पणी कर रहे थे, जिसमें पहले तीन अंकों के लिए एकमेकः, द्वा और त्रयः शब्द आए है :

एकः (अकेला) मैं अपने एक (अकेले) शत्रु को हराता हूँ (उन पर विजय पाकर) मैं द्वा (दो) शत्रुओं को हराता हूँ : त्रयः (तीन) मेरे विरुद्ध क्या कर सकते हैं ? खलियान में अनाज की तरह मैं बहुत से (शत्रुओं) को पीटता हूँ; इन्द्र को न जानने वाले शत्रु मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं[1] ?

---

1. अभीदमेकमेको अस्मि निष्पालभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥ —ऋ० 10. 48 7

अंग्रेजी	संस्कृत	ग्रीक	लेटिन	रूसी	गोथिक	जर्मन	एंग्लो-सेक्सन	फ्रेंच	इतालवी
वन	एक	ओइन्	यूनुस	अद्दीन	ऐन्स	ईन	एन	उन, उने	उनो
टू	द्वा, द्वि	द्यो	डुओ	द्वो	त्वाई, टूत्र	ज्वेई	ट्वा	दोक्स	डुए
थ्री	त्रि	त्रेइस	त्रेस	त्रि	थ्रेइस्	ड्रेई	थ्री	त्राइस	त्रे
फोर	चतुर्	तेत्तारिस तेस्सारिस	क्वाटुओर	चिह्-तिहरी	फिडवोर	वाईर	फ्योवर	क्वात्रे	क्वाट्रो
फाइव	पंच	पेंटे	क्विक्व	प्यत्	फिम्फ्	फुन्फ	फिफ	चिंक	सिंक
सिक्स	षष्, षट्	हेक्स	सेक्स	श्यष्ट	सेइस	सेक्स	सिक्स, स्योक्स	सिक्स	सेइ
सेविन	सप्त	हेप्टा	सेप्टेम्	सेम्	सीवुन	सीवेन	स्योफान	सेप्ट	सेट्टे
एट	अष्ट	ओक्टो	ओक्टो	वाव-सीम	अहटौ	एक्ट	एहटा	हुइट	ओट्टो
नाइन	नव	एन्निया	नोवेम्	डे-वीट	निउन	न्युन	निगोन	न्युफ	नोवे
टेन	दस	डेका	डेसेम्	डे-सीट	तैहुन	जेहन	टिएन	डिक्स	डिएसी
ट्वेंटी, (टू-टेन्स)	विंशति	एइकोसी	विजिण्टी	द्वात्सुट	ट्वैटिग्जुस	ज्वैनज़िक	ट्वेनटिग	विंग्ट	वेंटी
हंड्रेड	शतम्	हेकाटोन	केंटुम्	स्टा	हुंड	हुंडर्ट	हुंड	सेंट	सेंटो

अब हम यास्क के निरुक्त से संख्याओं की व्युत्पत्ति देंगे[1]

(एक) शब्द 'एक' के बारे में यास्क कहते हैं: एका इता संख्या अर्थात् एक को इसलिए एक कहते हैं, क्योंकि यह सभी अंकों में व्याप्त है या सभी में समान है। सभी अंकों में एकता है। शब्द का उद्भव है ए आधार से (जेन्द आए-वा, लेटिन-आएविव-स), सर्वादिगण पाणिनि 1. 1. 27—इण गतौ (जाने के अर्थ में) धातु और प्रत्यय क्त से। यह यूरोपीय भाषाओं में इन, या वन बन गया है। इसकी व्युत्पत्ति के लिए उणादि सूत्र (3. 43) भी देखिए[2]।

(दो) शब्द 'द्वा' के बारे में यास्क का कहना है—द्वा द्रुततरा संख्या, अर्थात् दो को द्वि इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि यह संख्या आगे या एक के बाद आगे जाती है। इसका उद्भव द्रु गतौ (जाने के अर्थ में) धातु से 'द्वि' प्रत्यय लगाकर हुआ है।

(तीन) शब्द 'त्रि' (तीन) के बारे में यास्क का कहना है: त्रय-स्तीर्णतमा संख्या, त्रि इसलिए कहते हैं कि यह पहले दो संख्याओं को तैर (पार) कर आती है। इसका उद्भव तृ धातु में ड्रि प्रत्यय लगाकर हुआ है। देखिए उणादि सूत्र (5. 66)[3]।

पहले तीन अंकों की व्युत्पत्ति देने के बाद यास्क इस प्रसंग में कुछ अन्य अंकों की भी व्युत्पत्ति देते हैं:

(चार) शब्द 'चत्वार:' के बारे में यास्क कहते हैं: चत्वारश्चलि-ततमा संख्या, यह संख्या तीन अंकों तक चल चुकने के

---

1. एका इता संख्या। द्वौ द्रुततरा संख्या। त्रयस्तीर्णतमा संख्या। चत्वारश्चलिततमा संख्या। अष्टौ अश्नोतेः। नव न वननीया:; न अवाप्ता वा। दश दस्ता, दृष्टार्था वा। विंशतिर्द्विदशतः। शतं दशदशतः। सहस्रं सहस्वत्। अयुतं नियुतं प्रयुतं तत्तदभ्यस्तम्। अम्बुदो मेघो भवति, अरणम्बु तद्दोऽम्बुदः, अम्बुमत् भातीति वा, अम्बुमद् भवतीति वा। स यथा महान् बहुर्भवति वर्षंस्तदिवार्बुदम्।
—नि०, नै०, कां० 3. 2. 10

2. इणभी कापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्। (एति प्राप्नोतीत्येकः)। —उणादि 3. 43

3. तरतेर्ड्रिः। त्रयः। —उणादि 5. 66

बाद आती है, इसी से यह नाम है। धातु चल् है और प्रत्यय उरन्, चल् उर चतुर् देखिए उणादि सूत्र(5. 58)[1]।

(पांच) पंच शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने कुछ पहले एक दूसरे मंत्र के सिलसिले में दी है :

जब पाञ्चजन्य (पांच जातियों के लोग) इन्द्र की स्तुति करते हैं, तो वह उनके शत्रुओं को अपनी शक्ति से नष्ट करता है[2]।

पञ्च के बारे में यास्क कहते हैं : पञ्च पृक्ता संख्या[3], पांच मिली-जुली संख्या है, क्योंकि यह तीनों लिंगों (स्त्री, पुम्, नपुंसक) में एक जैसी ही रहती है। यह शब्द पृची संपर्चने धातु से अनङ् प्रत्यय लगाने से बनता है[4]।

(छः) यास्क ने षट् (छः) की व्युत्पत्ति नीचे वाले मंत्र के प्रसंग में दी है :

वे पांच पैरों और बारह रूपों वाले पितर् को पुरीषिण् कहते हैं, जब वह आकाश में होता है : जब वह इधर अपनी सात पहियों वाले रथ में चमकता हुआ विराजित होता है, जिस रथ के प्रत्येक (पहिए) में षट् (छः) अरे होते हैं, तो दूसरे लोग उसे अर्पित कहते हैं[5]।
षट् के बारे में यास्क कहते हैं : षट् पुनः सहतेः[6], षट् की व्युत्पत्ति सह् धातु से क्विप् प्रत्यय के साथ होती है, जहां ह् ष् हो जाता है, तो षष् या षट् शब्द सिद्ध हो जाता है। विरोधी को षडङ्ग (छः अंगों वाले) से हराया जाता है : दो जांघें, दो बाहें, सिर और धड़।

---

1. चतेरुरन्। चत्वार.। और भी—चतते याचतेऽसौ चतुः। —उणादि 5. 58
2. यत् पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत। अस्तृणाद् बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः। —ऋ० 8. 63. 7
3. 'यत् पाञ्चजन्यया विशा' पञ्चजननीया विशा। पञ्च पृक्ता संख्या—स्त्रीपुन्नपुंसकेष्वविशिष्टा। —नि० नै० कां० 3. 2. 7
4. पृची, संपर्चने; अनङ्। पृञ्च् अन्—परत्व् च् अन्-पञ्चन्।
5. पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षलर आहुरर्पितम्॥ —ऋ० 1. 164. 12
6. षट् पुनः सहतेः। —नि० नैग० कां० 4. 4. 27 षह्-क्विप्

अतः षष् या षट् का अर्थ छः होता है[1]।

(सात) शब्द 'सप्त' की व्युत्पत्ति यास्क ने अस्य वामस्य सूक्त के पहले मंत्र के सिलसिले में की है :
मैंने मनुष्यों के पति (विश्पति) को सात पुत्रों के साथ देखा है[2]...।

यास्क कहते हैं[3] : सप्त सृप्ता संख्या। सूर्य की किरणें सदैव चलती रहती हैं (सर्पणशील होती हैं) इसी से उनको सप्तपुत्र कहते हैं। अंक सात छः के ऊपर सरक कर आता है इसी से इसे सप्त कहते हैं। इसका उद्भव सृ धातु में कनिन् प्रत्यय से तुट् का आगम करके होता है। उणादि[4] में सप्त की व्युत्पत्ति इस तरह दी गई है : सप्यशूभ्यां तुट् च, अर्थात् सप्तति समवेतीति सप्तन् अर्थात् यह साथ जोड़ता है अतः सप्त है।

इस तरह यास्क ने इन दूसरे स्थलों पर पांच, छः और सात की व्युत्पत्ति दी है। अब हम उस जगह पर आते हैं। जहां यास्क ने पहले चार अंकों की व्युत्पत्ति दी है। वह आगे अष्ट (8), नव (9), दश (10), विंशति (20), शत (100), सहस्र (1000), अयुत, नियुत, प्रयुत, और अर्बुद की व्युत्पति देते हैं।

(आठ) अष्ट (आठ) के बारे में यास्क कहते हैं : अष्टौ अश्नोतेः। इसका उद्भव अशू धातु से होता है, जिसका अर्थ व्याप्त होना होता है। प्रत्यय कनिन् के साथ तुट् का आगम होता है। और देखिए उणादि 1. 157[5]।

(नौ) नव (नौ) के बारे में यास्क का कहना है : नव न वननीया, न अवाप्ता वा। यह संख्या रखने योग्य नहीं है या प्राप्य नहीं है (जब किसी को नौ चीजें देनी होती हैं, उसे साधा-

---

1. जंघे बाहू शिरो मध्यं षडङ्गमिदमुच्यते।
2. अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ —ऋ० 1. 164. 1
3. सप्त सृप्ता संख्या। सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति।
—नि० नैग० कां० 4. 4. 26 सृप्-कनिन्-तुट्। सृप्तन्-सप्तन्
—उणादि 1. 157
4. सप्यशूभ्यां तुट् च। सप्त। अष्ट।
सपति समवेतीति सप्तन् संख्या भेदो वा। अश्नुते व्याप्नोतीत्यष्टन्। संख्या वा।
5. सात या सप्त के प्रसंग में पहले ही उद्धृत किया जा चुका है।

रणतः दस पूरे करने के लिए एक ज्यादा दी जाती है।) इसका उद्भव वन् धातु से नञ्, उपसर्ग और क्विप् प्रत्यय के साथ हुआ है[1]।

(दस) दश (दस) के बारे में यास्क कहते हैं : दश दस्ता दृष्टार्था वा (एक) दस्ता: दस अंक पर संख्या पूरी हो जाती है, इससे इसे दश कहते हैं। इसका उद्भव दसु धातु से हुआ है जो उपक्षय (नाश) अर्थ में है, साथ में कनिन् प्रत्यय लगता है। देखिए उणादि (1. 156) (दशतीति दशन्)[2]; (दो) इसका प्रभाव दूसरी संख्याओं पर देखा जाता है, जैसे एकादश, द्वादश आदि। इससे भी इसे दश कहते हैं, दृश्-अन्-दशन्[3]।

(ग्यारह) विंशति (बीस) के बारे में यास्क कहते हैं : विंशतिर्द्विदशतः। यह द्वि-दश से बनती है अतः इसे विंशति कहते हैं (अंग्रेजी में भी ट्वेंटी का मतलब टू-टेन्स होता है)। द्वि-दशन् में प्रत्यय ति जोड़ा जाता है। द्वि-दशन् द्वौ दशतौ परिणामस्य सः विंशतिः (जो दो दस का नतीजा हो)। देखिए पाणिनि द्विदशति-विशति विंशति (5. 1. 59)।

(बारह) शत (सौ) के बारे में यास्क कहते हैं : शतं दशदशतः, चूंकि दस बार दस से सौ हैं (10 10), इसे शत कहते हैं। यह शब्द दशदशत् का संक्षेप है। पाणिनि (5. 1. 59) में व्युत्पत्ति यह है : दशदशन्-शद=शत।

(तेरह) सहस्र (हजार) के बारे में यास्क कहते हैं : सहस्रं सहस्वन्। सशक्त होने के कारण ज्यादा बड़ी संख्या होने से सहस्र कहते हैं। इसका उद्भव सहस्र धातु से मतुप् अर्थक 'र' प्रत्यय लगाने से होता है। यह स+हस्र से भी बन सकता है। फारसी में हस्र से हजार बना है। जर्मन हुँडर्ट या अंग्रेजी हंड्रेड। (एक और व्युत्पत्ति है : समानं हसति, हस्+र)[4]।

---

1. नञ्-वन्-क्विप्।
2. दसु उपक्षये, कनिन्। कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः। दशतीति दशनः संख्या विशेषो वा। —उणादि 1. 156
3. दृश्-अन्-दशन्।
4. समानं हसति हस्-र। — तारानाथ का वाचस्पत्यम्

(चौदह) अयुत, नियुत और प्रयुत में से प्रत्येक पिछले से दसगुना ज्यादा होता है। ये शब्द यु (जोड़ने वाली) धातु से स, नि या प्र उपसर्ग लगाकर बनते हैं। यास्क कोई विशेष व्युत्पत्ति नहीं देते। ये शब्द क्रमशः दस हजार, लाख और दस लाख के लिए आते हैं।

(पन्द्रह) अर्बुद (करोड़) वही है जो अम्बुद है। यास्क कहते हैं : अम्बुदो मेघो भवति, अरणमम्बु तद्दो अम्बुदः, अम्बुमन् भातीति वा, अम्बुमद् भवतीति वा, स यथा महान् बहुर्भवति वर्षस्तदिवार्बुदम्। अर्बुद और अम्बुद दोनों का अर्थ बादल है : अम्बु का अर्थ पानी है, क्योंकि यह सर्वत्र मिलता है। अर्बु शब्द ऋ धातु से बनता है, प्रत्यय उ में वुक् आगम करके 'अर्बु' बना। देखिए उणादि (1. 27)[1]। यही व्युत्पत्ति अम्बु की है। जो पानी दे अम्बुद या अर्बुद है। अतः ये शब्द बादल के पर्याय रूप में आते हैं। बादल पानी की बहुत सी बूंदें देते हैं; इसलिए इतनी बड़ी संख्या (एक करोड़) बताने वाला अंक 'अर्बुद' कहा जाता है।

इस प्रकार हमने यहां निरुक्तकार यास्क के सहारे अंकों की व्युत्पत्तियां दीं। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि अष्टाध्यायी में अपने एक सूत्र में इन अंकों का जिक्र करते हैं : पंक्ति (10), विंशति (20), त्रिंशत् (30), चत्वारिंशत् (40), पंचाशत् (50), षष्टि (60), सप्तति (70), अशीति (80), नवति (90), और शतम् (100)[2]। इस सूत्र के चौथे वार्तिक पर अपने महा भाष्य में पतंजलि अन्य संख्याओं के साथ साथ सहस्र और अयुत और अर्बुद का भी जिक्र करते हैं।

अंकों को दी गई व्युत्पत्ति ऊपर बताई गई है। इसका समर्थन यास्क और पाणिनि (उणादि सूत्र) द्वारा किया जाता है। यास्क ने इन अंकों को यजुर्वेद के मेधातिथि के नाम से सम्बद्ध मन्त्र के सिलसिले में लिया है। परार्ध तक संख्या गिनाने का श्रेय मेधातिथि को ही है। यह घटना कई हजार साल

अर्जिदृशिकम्यमिपसिबाधामृजिपशितुक्धुक्दीर्घहकाराश्च। —उणादि 1. 27
अस्मिन्सूत्रे चकार ग्रहणाद् बहुलवचनाद् वा अमधातोर्बुगागमोऽपि भवति। अमन्ति गच्छन्ति चेष्टन्ते प्राणिनो येन तदम्बु जलम्। —दयानन्द की उणादि पृष्ठ 10

पंक्ति-विंशति-त्रिंशत्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम्।
—पाणिनि 5. 1. 59

पहले (1000 ई० पू० से पहलें निश्चय ही) हुई थी या शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता और पाणिनि के सुप्रसिद्ध व्याकरण की रचना के पहले तो घटी ही थी।

महाभारत काल में यह गणना नीचे लिखे क्रम में बदल गई :[1]

अयुत, प्रयुत, शंकु, पद्म, अर्बुद, खर्व, शंख, निखर्व महापद्म और परार्ध।

आर्यभट अपनी आर्यभटीय के गणितपाद में एक से वृन्द तक की संख्या नीचे लिखे क्रम में देते हैं :[2]

एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, कोटि, अर्बुद और वृन्द :
आर्यभट का कहना है कि ये अंक पहले वाले से दस-दस गुने ज्यादा होते हैं अर्बुद दस करोड़ और वृन्द एक अरब के बराबर होता है।

प्रतीकों द्वारा अंक और अभिव्यक्तियां

अंकों के लिए गणना में मदद के लिए दृश्यचिह्नों का प्रयोग लेखन शैली के विकास से तो पुराना है ही, बल्कि दस की प्रणाली पर संख्यात्मक भाषा के विकास से भी पुराना है; हम दस-दस करके इसलिए गिनते हैं कि हमारे पूर्वज अपनी अंगुलियों पर गिनते थे और तदनुसार उन्होंने अंकों के नाम रखे थे। ऐसे प्रयुक्त होकर अंगुलियां वस्तुतः अंक अर्थात् दृश्य-अंक-चिह्न बन गईं और पुराने जमाने में इन चिह्नों से गिनाने की प्रणाली प्रायः समाज के सभी वर्गों में प्रचलित थी। अब भी अगर कोई वालाची किसान आठ को नौ से गुणा करना चाहता है तो वह ऐसा हर हाथ की अंगुलियों से करता है और अंगूठे से चलकर क्रमशः 6 से 10 तक के अंकों को ज़ोड़ता है। इसलिए वह दाएं हाथ की अनामिका और बाएं हाथ की बीच की अंगुली बाहर निकाल कर अपना प्रश्न करता है। फिर वह गिनता है कि अंगूठे की तरफ दाएं ओर एक अंगुली और है और बाएं ओर

---

1 अयुतं प्रयुतं चैव शङ्कुं पद्मं तथार्बुदम्।
खर्वं शङ्खं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः॥ —म० भा०, शांतिपर्व, 65. 3-4
इस श्लोक में क्रम निश्चय ही सिलसिले से नहीं हैं और नियुत और अन्त्य नहीं आए हैं।

2. एकं दश च शतं च सहस्रमयुतनियुते तथा प्रयुतम्।
कोटयर्बुदं च वृन्दं स्थानात्स्थानं दशगुणं स्यात्॥ —आर्यभटीय, गणितपाद 2
विष्णु पुराण में परार्ध एक से अठारहवीं कोटि में आता है :
एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज (या पद्म), खर्व, निखर्व, महापद्म, शंकु, जलधि, या समुद्र, अन्त्य, मध्य और परार्ध 6. 3. 4-5।

दो। 1 को 2 से गुणा करके वह अपेक्षित गुणा के गुणनफल के रूप में 2 को निकाल लेता है। फिर बाहर निकली अंगुलियां अंगूठे से क्रमशः तीसरी और चौथी हैं। तीन और चार को जोड़कर सात आते हैं, जो गुणनफल के दहाई की संख्या है। इस नियम से उसे चार गुने चार से ऊपर पहाड़े को रटने की जरूरत ही नहीं पड़ती। आगे चलकर अंगुलियों के प्रतीक 10000 के नीचे की सभी संख्याओं को व्यक्त करने के लिए समर्थ प्रणाली के रूप में विकसित किए गए। बाएं हाथ की सभी अंगुलियों को इकट्ठा करके रखा जाता था। 1 से 9 तक इकाइयां की तीसरी, चौथी और पांचवी अंगुलियों की विभिन्न स्थितियों से ही बताई जाती थीं, इनमें से एक या अधिक को अभिप्रेत संख्या के अनुसार या तो हथेली पर बन्द कर दिया जाता था या बीच के पोरे पर झुका दिया जाता था। इस तरह अंगूठे और तर्जनी को अनेक सापेक्ष स्थितियों द्वारा दहाइयों को बताने के लिए छोड़ दिया जाता था, उदाहरण के लिए 30 के लिए उनके पोरे साथ लगाकर आगे फैलाए जाते थे; 50 के लिए अंगूठे को 'ि' की मात्रा की तरह झुकाया जाता था और तर्जनी को जड़ के पास लाया जाता था। यही चिह्न जब दाएं हाथ के अंगूठे और तर्जनी से बनाए जाते थे, तो उनका मतलब दहाइयों की जगह सैकड़ों का हो जाता था और इकाइयों के चिह्न दाएं हाथ पर बनाने से उनका मतलब 'हजारों' से होता था[1]।

अंगुलियां संख्या व्यक्त करने का काम तो करती हैं, पर संख्या की स्थायी याद रखने के लिए जांच का कुछ चिह्न रखना जरूरी होता है। इस तरह रोमवासी वर्षों की गणना हर साल सरस्वती मन्दिर में एक कीली ठोंककर करते थे। इस मामले में कीली एक तरह का कीलाक्षर है और सभी प्रणालियों में संख्या के लिए कीलाक्षर चिह्नों का प्रयोग किया ही जाता है। एक चोट इकाई का प्रत्यक्ष चिह्न है और ज्यादा संख्याओं को ज्यादा चोटें लगाकर व्यक्त किया जाता था। पर जब चोटें ज्यादा हो जाती हैं, तो गड़बड़ी पैदा होने लगती है इसलिए नया चिह्न चलाना होता है, शायद 5 के लिए और 10 और 100, 1000 आदि के लिए तो निश्चय ही। बीच की संख्याओं को अतिरिक्त चिह्न बढ़ाकर व्यक्त किया जाता है, जैसे आई, वी, एक्स, सी आदि अक्षरों से लिखी जाने वाली रोमन अंक प्रणाली में। अंक लिखने की यह सीधी-सादी प्रथा बेबिलोन के उत्कीर्ण लेखों में देखने को मिलती हैं, जहां, 1 से 99 तक के सारे

---

1 इस प्रणाली का वर्णन स्मिर्ना के निकोलौस रैब्द (आठवीं सदी ईसवी) ने पेरिस से 1936 में प्रकाशित एम० एन० कौशिनस 'दे एलोक्वेंशिया सेकरा एट ह्यूमना' में किया है। बेडे भी मूलतः वही प्रणाली बताते हैं और यह पूर्व में आज तक चली आ रही है। खास तौर पर रोडिजेर को देखिए 'उएबेर दाई इम् ओरिएंट रोब्रोशलिश फिंगरस्प्राश आदि'; डी० एम० जी० 1845 और पालमेर को जर्नल आफ फिलोलोजी, 2. 247 में और आगे।

अंक प्रलम्ब बाण-शीर्ष ү=1 को और कंटकित चिह्न ≺=10 को दुहराकर लिखे जाते हैं। पर सबसे ज्यादा रोचक बात ईजिप्ट में देखने को मिलती है, क्योंकि इसी के कीलाक्षर रूपों से फिनीशियन लिपि का जन्म हुआ और जैसा कि आगे सारणी 1 में बताया गया है, उससे फिर पालमीरा और सीरियाई लिपियां विकसित हुईं। इस सारणी में दो बातों पर गौर करना चाहिए—पहले किसी तरह इकाइयों के वर्ग एक आड़ी रेखा द्वारा जोड़े जाते हैं और फिर एकल प्रतीक में व्यक्त होते हैं और फिर केवल प्रतीक बढ़ाने के लिए गुणा के सिद्धान्त का सैंकड़े में रखा जाना। यही वात बेबिलोनिया में भी मिलती है, जहां एक छोटा अंक 100 के चिह्न के दाएं ओर रखा जाता है (ү—) जो इसमें जोड़ा जाता है और वाएं रखने पर सैंकड़े का अंक बनाता है। इस तरह ≺ү= 1000, पर ү≺=110। ईजिप्ट लिपि में हजार, एक लाख (मेंडक), दस लाख (प्रशंसा में वाहें फैलाए हुए आदमी) करोड़ तक के लिए कीलाक्षर चिह्न मिलते हैं।

वर्णमाला लेखन प्रणाली ने अंक-प्रतीकों को समाप्त नहीं किया, जो बड़े-बड़े लिखे हुए शब्दों से ज्यादा स्पष्ट और पूर्ण थे। पर स्वयं वर्णमाला के अक्षरों का अंकों के रूप में उपयोग शुरू हो गया। ऐसा करने का एक तरीका था किसी अंक में नाम के आद्य अक्षर का इसके प्रतीक के रूप में प्रयोग। यह पुरानी ग्रीक चिह्न प्रथा थी, जो सोलन के समय जितनी प्राचीन बताई जाती है और इसका नाम वैयाकरण हैरोडियन के नाम पर चलता है, जिसने 200 ईसवी के आस-पास इसका निरूपण किया था। **I** 1 के लिए था, **Π** 5 के लिए △ 10 के लिए, **H** 100 के लिए, **X** 1000 के लिए, और **M** 10000 के लिए, **Π** के बीच में △ डाल कर 50 या उसके नीचे **H** लिखकर 500 को लिखा जाता था। वर्णमाला को अंकों के लिए इस्तेमाल करने की दूसरी प्रणाली अक्षरों के निश्चित क्रम में थी। इस सिद्धान्त का सबसे सरल प्रयोग अक्षरों को क्रमिक रूप में अंकों के लिए प्रयोग में लाना था। इस तरह आयोनिक वर्णमाला के 24 अक्षर 1 से 24 तक के अंकों के लिए काम में लाए जाते थे, जैसा कि हम इलियड ग्रन्थ के खण्डों के लिए प्रयुक्त अंकों में देखते हैं। ग्रीक, हिब्रू और सीरियाई में प्रचलित दूसरा तरीका, जिसने ग्रीस में क्रमशः हैरोडियन अंकों का स्थान ले लिया, यह था कि पहले नौ अक्षर इकाइयों के लिए इस्तेमाल किए जाएं और बाकी दहाइयों और सैकड़ों के लिए। 22 अक्षरों की पुरानी सेमैटिक वर्णमाला में यह प्रणाली

ת = 400

पर समाप्त हो जाती थी और आगे के सैंकड़ों के अक्षर को परस्पर सामने रखकर लिखा जाता था; पर जब हिब्रू के चौकोर अक्षरों ने स्पष्ट आखिरी रूप प्राप्त कर लिया :

ך, ם, ן, ף, ץ

तो ये 500 से लेकर 900 तक सैंकड़ों के काम आते रहे। ग्रीकों की वर्णमाला लंबी

थी, इसलिए उनको केवल तीन पूरक प्रतीकों की जरूरत पड़ी, जिसका काम उन्होंने दो पुराने अक्षरों को रखकर चलाया, जिनको लिखने के काम में नहीं लाया जाता था,

ς = ϝ = 6, and Ϙ = Ϟ = 90), sampi ϡ for 900² *

जैसे टालेमी-द्वितीय के सिक्कों के ऊपर मालूम पड़ता है। सैमेटिक क्षेत्र में इसका पहला प्रयोग हैस्मोनियन्स के यहूदी सिक्कों पर मिलता है। इसी से यहूदी पुस्तकों में अंकों के लिए आने वाले अक्षरों को जोड़ उनके स्थान पर नए अक्षर रखकर पढ़ने की प्रणाली (जैमेट्रिआ) और जानवरों के लिए रहस्यात्मक एपोकेलिप्टिक संख्याओं की प्रणाली का जन्म हुआ :

(נרון קסר=666)

पर हम नहीं जानते कि जैमेट्रिआ पद्धति कितनी पुरानी है; यह नाम भी ग्रीक से लिया गया है।

अक्षरों को अंकों के रूप में इस्तेमाल करने का सबसे ज्यादा प्रसिद्ध उदाहरण रोमन प्रणाली का है। यहां सी केंटुम् (100) का और एम मिले (1000) का आद्य अक्षर है, पर इन चिह्नों के स्थान पर हमें पुराने रूप देखने को मिलते हैं, जिनमें एक वृत्त होता है, जो 1000 के लिए लम्ब रूप में विभाजित किया जाता है और क्षैतिज रूप से या साथ की एत्रुस्कन प्रणाली में चार हिस्सों में 100 के लिए विभाजित किया जाता है : 1000 का चिह्न—

ⵀ ⊖ ⊕
1000 100 100

अब भी कभी-कभी मुद्रित रूप में (cIↄ) दिखाई देता है, और तब आधे प्रतीक के लिए **D** (डी) का इस्तेमाल होता है, जो आधी संख्या के लिए काम में आता है

⊥ or ⊥,

और **L** (एल) का पुराना रूप (⊥या⊥) बताता है कि यह भी कभी 100 के प्रतीक का आधा था। इसलिए **V** (वी) **X** (एक्स) का आधा है, जो स्वतः सचमुच रोमन अक्षर नहीं है। अतः मूलतः यह प्रणाली वर्णमालात्मक नहीं है, यद्यपि यह

---

* अरबों ने वर्णमाला का रूप बदला। यद्यपि वर्णसंख्या 28 कर दी पर उन्होंने पुराने अक्षरों का मूल्य वैसा ही रख दिया।

ϡ के लिए س और ω के लिए ش रखकर

पांचसो से लेकर हज़ार तक के सैकड़े के अंक क्रमशः नये अक्षरों ث से غ द्वारा व्यक्त किए गए। खलीफा वालिद (705-715 ईसवी) के समय तक अरबों को अंकों का ज्ञान न था।

विचार चला दिया गया कि 10, 50, और 100 के चिह्न मूलतः ग्रीक x, ψ, ϕ थे, जो लेटिन लिखने में इस्तेमाल नहीं किए गए।[1]

जब ज्यादा बड़ी संख्या लिखनी होती है, तो जैसी प्रणालियों की चर्चा हम कर रहे हैं, उनमें लिखना बड़ा कठिन हो जाता है और वर्णमाला वाली पद्धतियों में स्थानिकता का सिद्धान्त चालू करना जरूरी हो जाता है, जिसके द्वारा उदाहरणतः 1,2,3 आदि के चिह्न कुछ अन्तर देकर लिखकर हजारों की संख्या बताने लगेंगे। यह सिद्धान्त भाषा से ही मिल जाता है, इसलिए हम हिब्रू में

$$\ddot{x}$$

चिह्न पाते हैं और ग्रीक में $\alpha=1000$। इसी तरह $\beta M\nu$, βM या केवल $\beta=$ 20,000 (2 मेरिड)। अब यदि अपेक्षतया बड़ों को संख्या के छोटे तत्वों के बाएं ही हमेशा लिखा जाए, तो ऐसे मामले में बोधक चिह्न छोड़ा जा सकता है जैसे $\beta\omega\gamma\alpha$ ($\beta\omega\lambda\alpha$ के स्थान पर)$=2831$, क्योंकि यहां पर स्पष्ट था कि $\beta=2000$ है$=2$ नहीं, अन्यथा यह $\omega=800$ के पहले न आता। यहां हमें बड़े महत्त्वपूर्ण विचार के मूल देखने को मिलते हैं कि प्रतीक का मूल्य स्थानिक हो सकता है और वह उसकी स्थिति से निश्चित किया जा सकता है। यही विचार बहुत पहले बेबीलोनिया वासियों ने भी चलाया था, जो 60-60 करके जोड़ते थे। और 60 को सौस और 60 के अगले अंकों को सार कहते थे। सेंकेरा की पट्टी पर वर्गों और घनों की एक सूची इसी सिद्धान्त पर दी गई है और यहां 59 का वर्ग 58.1 करके लिखा जाता है अर्थात् $58\times60+1$ और 30 का धन 7.30 है—अर्थात् 7 सार$+30$ सौस$=7\times60^2+30\times60$ चूंकि वहां कोई शून्य नहीं है इसलिए यह पाठकों के ऊपर छोड़ दिया जाता है कि हर मामले में 60 की कौन सी कोटि अभीष्ट है। यह साठ पर आधारित प्रणाली बहुत समय तक ज्योतिष से जुड़ी रहने के कारण अपनी छाप हमारी आज की घंटा और वृत्त के विभाजन की प्रणाली पर छोड़ गई हैं, पर चूंकि भाषा 10 की सामर्थ्य पर चलती है, यह गणना के अधिकांश प्रयोजनों के लिए बड़ी ही असुविधाप्रद है। ग्रीक गणितज्ञ एक तरह की दशमिक प्रणाली काम में लाते थे। इस तरह आर्चीमीड्स ने बालू के दानों से ज्यादा बड़ी संख्या बताने की समस्या सुलझा ली थी, यह पद्धति स्थिर ग्रहों के बीच की जगह संख्या को आठ-आठ के वर्गों में बांटकर भर सकती थी; दूसरे अष्टवर्ग की इकाई 10^8 थी और तीसरे की 10^{16}। इसी तरह पर्गा का एपोलोनियस 7 को 70,700 पाइथ-मैन मानकर गुणा सिखाता है। इस तरह हमें गुणक और गुण्य के अनेक पाइथ-मैनों के गुणनफल क्रमशः देखने को मिलेंगे; और हर मामले में दहाइयां, सैकड़े आदि मालूम पड़ते जाएंगे और हम नतीजों को जोड़ते जाएंगे। शून्य के लिए

---

1. और देखिए फाबरेती : पैलेज्योगराफिश स्टडीन।

चिह्न न होने से संभवत: दस हजार आदि का भेद बताना असम्भव था, जैसा हम आज करते है।

बहुत पुराने जमाने में ही एक यांत्रिक गणना चक्र (एबेक्स) का आविर्भाव विभिन्न अंकों को अलग-अलग रखने के लिए हो गया था। यह एक फलक था, जिसमें गणकों के लिए खाने या स्तम्भ होते थे, हर खाना अलग-अलग मूल्य बताता था, जो उस पर रखे गए गणक में बताया जाता था। इसका इस्तेमाल ठोस गणित के लिए हो सकता था—पेंस, शिलिंग और पौंड के खाने बनाकर या अमूर्त गणना के लिए—'बैबीलोन की साठ-साठ की गणना प्रणाली आदि के लिए। सेलामिस में एक पुराना ग्रीक एबेक्स मिला है, जिसके खाने दाएं से बाएं गिनने पर 1, 10, 100, 1000 द्रावमों के मूल्यों के गणक बता देते हैं और आखिर में क्रमश: 1 टैलेट (6000 द्राक्म) का। दशमिक प्रणाली का ऐसा गणनाचक्र कागज पर रूल खींचकर या तख्ते पर स्वच्छ बालू बिछाकर बनाया जा सकता था और वह दशमिक पद्धति के लिए पहला कदम होता। दो महत्त्वपूर्ण पग फिर भी नहीं उठाए गए : पहला तो गणकों के स्थान पर एक से नौ तक के अंकों के लिए निश्चित चिह्नों (शून्यों का प्रयोग; और दूसरा ज्यादा महत्त्वपूर्ण कदम शून्य के लिए प्रतीक तय करना, जिससे खानों की जरूरत न रहे और हर शून्य का मूल्य उसके पहले की संख्या देखकर जाना जा सके। इन दो कदमों के उठाए जाते ही तथाकथित अरबी अंक पद्धति और सम्भवत: आधुनिक अंकगणित का विकास हो गया, पर शून्य का आविष्कार बड़े धीरे-धीरे हुआ और उसका इतिहास आज बड़ा धूमिल है।

यूरोप में शून्य समेत पूरी प्रणाली बारहवीं सदी में अरबों से आई थी, और इस प्रणाली पर आधारित गणित प्रणाली को अलगोरित्मस या अलगोरिद्म कहते थे। यह भयंकर शब्द अल-खारिज्मी के नाम के लिप्यन्तर के अलावा और कुछ नहीं है, जो रीनौड का अनुमान था। और जो अब कैम्ब्रिज की विशिष्ट पाण्डुलिपि वाले अरब गणितज्ञ के खोए हुए ग्रन्थ के लेटिन अनुवाद के—जो शायद बाथ के ऐडल्हार्ड ने किया था—छपने के बाद स्पष्ट हो गया है[1]। खरिज्मी की गणित रीति को बाद के पूर्वी लेखकों ने सरल बनाया था और इन सरल तरीकों का सूत्रपात पश्चिमी यूरोप में पीसा के ल्योनार्डो ने और पूर्वी यूरोप में मैक्सिमस प्लेन्यड्स ने किया था। शब्द 'जीरो' अरबी के सिफर से आया है, जिसके लिए ल्योनार्डो ने जैफिरो शब्द लिखा था।

यहां तक ताजे खोजकर्ता सहमत हैं। विवाद ग्रस्त प्रश्न ये हैं : (1) भारतीय प्रणाली का काल और (2) इसका यूरोप में प्रवेश।

---

1. बौनकोम्पेगनी द्वारा 'ट्रे टाटि द अरितमेटिका, रोम, 1857 में प्रकाशित।

(1) भारत में अंकों के प्रयोग को पीछे से चलते हुए नानाघाट शिलालेखों तक ले जाया जा सकता है, जिनका काल तीसरी सदी ई० पू० अन्दाजा गया है। इसमें इकाई, दहाई, सैंकड़ा, आए हैं, जैसे कि दूसरी पुरानी प्रणालियों में जिन की हम चर्चा कर चुके हैं। भारतीय वर्णमाला की ही तरह शायद ये विदेश से आए हों, पर वर्णमाला की ही तरह उनका उद्भव भी धूमिल है। बाद के भारतीय अंकों का रूप निश्चय ही पूर्ववर्ती अंकों से विकसित हुआ मालूम पड़ता है। पीछे दी जा रही सारणी-दो में पहली दो पंक्तियों में स्थान प्रणाली शुरू होने के पहले के रूप दिए गए हैं, जबकि तीसरी पंक्ति को देवनागरी में शून्य और स्थानीय मूल्य प्रवेश पा चुके थे। 'गुहा' अंक ईसा की पहली शताब्दी में काम में लाए जाते थे। आधुनिक प्रणाली में लिखी सबसे पुरानी जानी हुई तिथि 738 ईसवी है, जबकि पुरानी प्रणाली सातवीं सदी ईसवी तक प्रयुक्त होती पाई गई हैं (बैले)। दूसरी ओर इसका कुछ साक्ष्य मिलता है कि छठी सदी ईसवी के संस्कृत गणितकारों को स्थानीय मूल्य की बात विदित थी। ये लेखक हालांकि शून्य का उपयोग नहीं करते बल्कि प्रतीकात्मक शब्दों और अक्षरों का उपयोग करते हैं, जिससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि वे ऐसी प्रणाली से सम्बद्ध है जिसमें शून्य है या गणनायन्त्र पर आधारित प्रणाली से जिसमें शून्य खाली खाने से बताया जाता है छठी सदी ईसवी से पहले भारत में स्थानीय मूल्य की किसी पद्धति के प्रयोग का अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला है और इसके मूल के बारे में कल्पना से ज्यादा और कुछ नहीं कहा जा सकता है।

(2) यूरोप में अलगोरिद्म या भारत-अरबी प्रणाली के पूरी-पूरी तरह से शून्य के साथ शुरू होने से पहले हमें एक अन्तरिम काल मिलता है, जब गणना दशमलव प्रणाली पर गणनायन्त्र के सहारे की जाती थी, पर इकाई के फलकों के बदले खानों में शून्य रखे जाते थे, जिनका मूल्य एक से नौ होता था और उन अंकों के रूप ऐसे थे जिनको भारतीय रूपों के मूल में कहा जा सकता है और अफ्रीका और स्पेन के अरबों द्वारा प्रयुक्त अंकों से बहुत ही ज्यादा मिलते-जुलते थे। अरबों में भी प्रयुक्त भारतीय अंकों में भेद होते थे खासकर पूर्वी और पश्चिमी भेद थे। पिछले को घोबर (धूल) कहते थे, जो शब्द इसे गिनने के लिए फैलाई गई रेत की पट्टी से जोड़ देता है। फलकों के स्थान पर शून्य वाला गणनायन्त्र रीम्स में 970-980 के आस-पास गर्बर्ट द्वारा इस्तेमाल किया जाता था, जो बाद में सिलवेस्टर-द्वितीय के नाम से पोप बना और यह ग्यारहवीं सदी में सुप्रसिद्ध हो गया। गर्बर्ट ने शून्य वाले गणनायन्त्र का उपयोग कहां से सीखा? इसका कोई सीधा साक्ष्य नहीं, क्योंकि मैल्मसबरी के विलियम की कहानी कि उसने इसे स्पेन में अरब के पास से चुराया, साधारणतः कपोल-कल्पित मान ली जाती है दूसरी ओर शून्य वाले गणना पटल के इसके पहले प्रयोग के बारे में कोई साक्ष्य नहीं दिया जाता, बस बोइटिअस के द्वारा लिखी बताई गई

'ज्योमेट्रिआ' की प्रणाली बताने वाला एक पदांश ही उद्धृत किया जाता है। अगर यह ग्रन्थ असली है, तो भारतीय अंक यूरोप में पांचवीं सदी में प्रचलित थे और गणना पटल पर लगाए जाते थे और और गर्बर्ट ने केवल बहुत समय से भूली हुई पद्धति को ही फिर से चालू किया। इस विचारधारा के सिलसिले में हमें यह स्पष्ट करना होगा कि बोइटिअस ने शून्य कैसे पाया। 'ज्योमेट्रिआ' इस प्रणाली को 'पाइथागोरिसी'—अर्थात् नव-पाइथागोरियनों से आया हुआ बताती है और यह संभव माना गया है कि अंकों के भारतीय रूप अलैक्जेंड्रिआ पहुँच गए थे। साथ में स्थानीय मूल्य का मोटा रूप भी था जो शून्य के बिना गणना पटल के प्रयोग से सम्बद्ध था। यह यूरोप और भारत के बीच सीधा संपर्क बन्द होने से पहले अर्थात् चौथी सदी ईसवी से पहले हो गया था। वोइपेक ने यह भी अन्दाज किया है कि पश्चिमी और अरबों के घोबर अंक उन्होंने बोइटिअस की प्रणाली से शून्य सहित पूरी भारतीय पद्धति उनके पास पहुँचने से पहले लिए थे। इसलिए बोईटिअस की पांडुलिपि और इन रूपों के बीच समानताओं को स्पष्ट किया जा सकता है जो वैसी ही हैं जैसी ग्यारहवीं सदी की दूसरी पांडुलिपियों में। इस अभिमत के समर्थन में बड़ी दिक्कत होती है। और बोइटिअस और गर्बर्ट के बीच पुरानी प्रणाली का बिलकुल लुप्त हो जाना ऐसी ही एक कठिनाई है। हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि भारतीयों ने कभी ऐसे गणनापटल का प्रयोग किया हो या वे इतने पुराने समय में, जैसा जरूरी है, स्थानीय मूल्य से परिचित थे और घोबर अंक पूर्वी अरबी के अंकों से बहुत पास के हैं, जो इस बात को अविश्वसनीय बना देता है कि दोनों पद्धतियां शताब्दियों तक अलग-अलग रही थीं। 'ज्योमेट्रिआ' के असली होने का समर्थन योग्यता पूर्वक कैंटोर ने किया है, पर इसकी आलोचना गणना पटल के पदांश के अलावा दूसरे आधारों पर भी की गई हैं, और सब मिलाकर यह प्रश्न अब भी अनिर्णीत है कि शून्य वाला गणनाफलक अरबी पद्धति का शुरू में अपूर्ण ज्ञान का प्रतिफल तो नहीं था, गर्बर्ट या किसी दूसरे को शून्य का स्पष्ट रूप बिना जाने ही स्थानीय संकेतों का ज्ञान हो गया था (न्यूमरल्स-अंक-पर डब्ल्यू० आर० स्मिथ, ब्रिटिश विश्वकोश, 1884)।

भारत में अंकों के प्रतीक

यह कहना बड़ा कठिन है कि वैदिक युग में अंकों के लिखने की प्रणाली हमें विदित थी। ऋग्वेद में पांसे के बारे में एक सूक्त (10. 34) है : इस पांसे पर 1 से 6 तक के अंकों को बनाने वाले कुछ चिह्न जरूर रहे होंगे। जब खिलाड़ी कहता है कि 'पांसे के एक या दूसरे को पाने के लिए मैंने अपनी अनुव्रत पत्नी को ही छोड़ दिया,[1]' तो यह अनुमान लगाया जाता है कि यह 'एक या दूसरे

---

1. न मा मिमेथ न जिहील एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ —ऋ० 10. 34. 2

को पाने' का उल्लेख पांसे पर अंकित अंक के बारे में है। अथर्ववेद में सम्पत्ति के सिलसिले में 'संलिखितम्' शब्द आया है; यह कहना मुश्किल है कि इसका निश्चित अर्थ क्या है इसका मतलब 'लिखा हुआ' हो सकता है[1]। (अथर्व० 7 50. 5) पाणिनि के व्याकरण में जो 76० ई० पू० का ग्रन्थ है, सेमेटिक लिखाई के लिए 'यवनानी' और लिखने वालों के लिए 'लिपिकार' और 'लिबिकार' शब्द आए हैं[2]। पुरातत्त्वीय चीजों और पुराने संग्रहों से पता चलता है कि सुदूर अतीत में भी भारत में किसी न किसी प्रकार की लिखाई प्रचलित थी। मद्रास संग्रहालय में पुरापाषाण और नवपाषाण युग के कुछ संग्रह हैं जिनमें मिट्टी के बरतनों पर कुछ लिखाई मिलती है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई (3000 ई० पू०) से भी सिक्के और उन पर उत्कीर्ण लिखावटें मिली हैं। अंक लम्ब रेखाओं में (1 से 13) लिखे हुए मालूम पड़ते हैं। भारत सीमान्त पर हमें खरोष्ठी लिपि के उत्कीर्ण लेख मिलते हैं जो दाएं से बाईं ओर लिखे गए हैं, इसमें अंक टेढ़ी लंब रेखाओं से बनाए जाते थे। (चौथी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ईसवी)। शक, पार्थियन और कुषाण राजाओं के समय (पहली सदी ई० पू० से दूसरी सदी ईसवी) अंकों के ज्यादा विकसित रूप चल पड़े थे। खरोष्ठी अंक सीमान्त से आए और ब्राह्मी अंक साथ-साथ इस देश में विकसित हुए। ब्राह्मी वर्णमाला और अंक 1000 ई० पू० या आस-पास पनप चुके थे)। अशोक ने (300 ई० पू०) अपने शिलालेखों में उनका इस्तेमाल किया है (अंक 4, 6, 50 और 200 उत्कीर्ण मिलते हैं)। पूना से 75 मील दूर नानाघाट पहाड़ी में याज्ञिक पुजारियों को दिए गए दान की उत्कीर्ण सूची मिलती है जिसमें 1, 2, 4, 6, 7,

---

1. अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्।
   अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम्॥ —यजु० 7. 50. 5

   लिख, लेख, संलिखित, रेखा आदि शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलते। यजुर्वेद में 'द्यां मा लेखी' मिलता है, जिसका अनुवाद ग्रिफिथ ने इस रूप में किया है, 'आसमान को न चरो' (ग्रेज नौट द स्काई)। उवट और महीधर कहते हैं: 'लिख् अक्षर-विन्यासे, इह तु हिंसार्थः (यजु० 5. 43)। अथर्ववेद में लिखत् (20. 132. 8), लिखाद् (14. 2. 64) और लिखितम् (12. 3. 22) शब्द आते हैं। 'क एषां कर्करी लिखत्' का अनुवाद ग्रिफिथ ने इस रूप में किया है, 'इनमें से कौन वीणा को छुएगा।' 'लिखात्' शब्द सौ दांतों वाले नकली कंघ के प्रसंग में आया है: 'कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः। अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् (अथर्व० 14. 2. 68)। 12. 3. 22 में आए लिखितम् शब्द का अनुवाद 'खंरोचा गया' किया गया है: यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन (जो कुछ लगाने में घिस या खंरोच गया है)।

2. दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भास्करान्तानन्तादि-बहुनान्दी-किं-लिपि-लिबि-बलि-भक्ति-कर्तृ-चित्र-क्षेत्र-संख्या-जंघा-बाह्वहर्यत्तद्धनुरुःषु। —पाणिनि, 3. 2. 21

9, 10, 29, 80, 100, 200, 300, 400, 700, 1000, 4000, 6000, 10000 और 20,000 के अंक मिलते हैं)। नासिक की गुहा से दूसरा शिलालेख मिला है, जो पहली या दूसरी सदी ईसवी का है, जिसमें ये अंक उत्कीर्ण हैं: 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 20, 40, 70, 100, 200, 500, 1000, 2000, 3000, 4000, 8000, 70000। ब्राह्मी अंक (1000 ई० पू० से 600 ई० पू० विकसित) पूरे भारत में पूरी तरह प्रचलित हुए।

अंकों का स्थानीय मूल्य (इकाइयों, दहाइयों, सैकड़ों आदि का) समय-समय पर मिलने वाले उत्कीर्ण लेखों और दान-पत्रों से आसानी से जाना जा सकता है। ब्यौरे-बार सूची के लिए देखिए विभूतिभूषण दत्त और अवधेश नारायण सिंह का हिस्ट्री आफ हिन्दू मैथेमेटिक्स, 1935।

उत्कीर्ण लेख का काल	विवरण
595 ईसवी	संखेद का गुर्जर दानपत्र (चेदि संवत् 346)
646	बेलहरी शिलालेख
674	कन्हेरी शिलालेख
आठवीं सदी	जयवंधन-द्वितीय का रघोली दान पत्र (30 उत्कीर्ण है और स्थानीय मूल्य निश्चित है।)
725	ब्रिटिश म्यूजियम के दो दानपत्र, जिसमें लिखने का संवत् 781 और 783 दिया गया है और स्थानिक मूल्य बताया गया है।
736	धिनिकी ताम्र दानपत्र, जिसमें संवत् 794 दिया गया है और स्थानिक मूल्य बताया गया है।
753	देवेन्द्रवर्मन् का चियाचोल दानपत्र, जिसमें स्थानिक मूल्य बताते हुए 20 लिखा है।
754	दन्तिदुर्ग का राष्ट्रकूट दानपत्र, जिसमें खुदाई का शक संवत् 675 दिया गया है और स्थानिक मूल्य बताया गया है।
791	सामन्त देवदत्त का उत्कीर्ण लेख जिस पर स्थानिक मूल्य बताते हुए 847 संवत् खुदा है।
793	शंकरगण का दौलताबाद दानपत्र, जिस पर स्थानिक मूल्य बताते हुए शक संवत् 715 खुदा है।

—oOo—

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

आ० ग०	आर्यभटीय गणितपाद
अथर्व०	अथर्ववेद
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
म० भा०	महाभारत
नि० या०	यास्क का निरुक्त
पा०	पाणिनि
ऋ०	ऋग्वेद
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
वि० पु०	विष्णु पुराण
यजु०	यजुर्वेद

गच्छोऽष्टोत्तरगुणिताद् द्विगुणाद्युत्तरविशेषवर्गयुतात् ।
मूलं द्विगुणाद्यूनं स्वोत्तरभजितं सरूपार्धम् ॥

श्रेढि के योगफल में समान अन्तर के आठगुने से गुणा करके उसमें पहली संख्या के
दूने में से समान अन्तर को घटाकर उसके वर्ग को जोड़ा जाता है । फल के
वर्गमूल से पहली संख्या के दूने को घटाया जाता है, फिर उसमें समान
अन्तर का भाग दिया जाता है । इस भजनफल का आधा और
उसमें एक जोड़ने पर आने वाली राशि वह संख्या है ।

—आर्यभटीय, 2. 20

अध्याय : दसवां
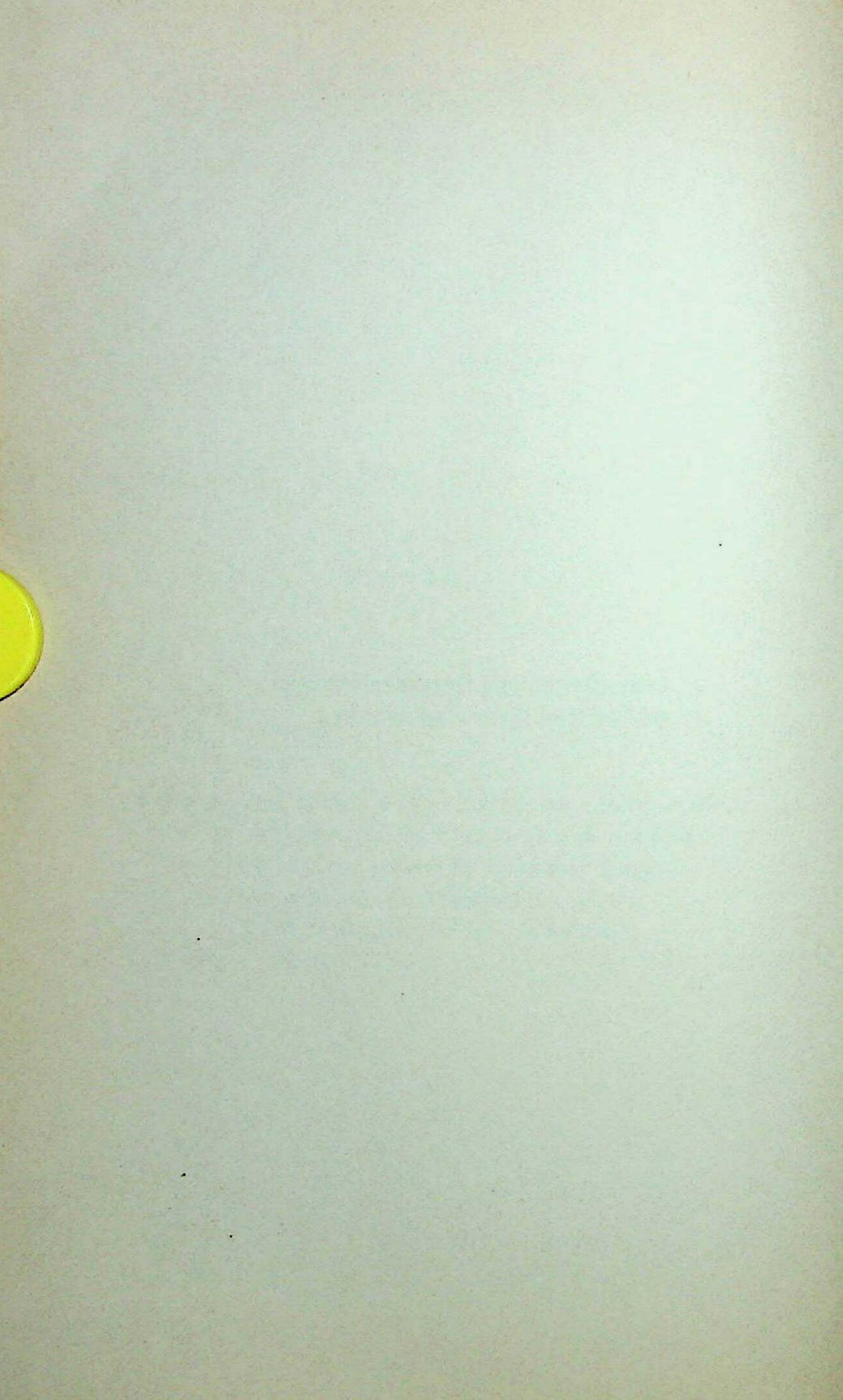
आर्यभट द्वारा बीजगणित का शिलारोपण

बीजगणित क्या है ?

बीजगणित गणित-विज्ञानों की वह शाखा है, जिसका लक्ष्य या तो गणित में विद्यमान प्रक्रिया से भिन्न तरीके से अपना काम चलाना है या उसके विज्ञान की परिधि तय करते समय जो बात नहीं सोची गई थी, उस रास्ते से चलना है। इस परिस्थिति के कारण ही बीजगणित का मूल अंकगणित है, भले ही आखिर में वह अंकगणित से कितना ही भिन्न क्यों न हो। सर आइजक न्यूटन ने इसका नाम 'विश्वजनीन अंकगणित' रखा था। यह नाम यद्यपि अस्पष्ट है, पर बाद में इसके स्वरूप का निर्धारण करने के लिए जो नाम इसे दिए गए हैं, उन सबकी तुलना में यह नाम बीजगणित के स्वरूप की ज्यादा अच्छी अभिव्यक्ति करता है- बाद के इन नामों से तो यह नाम अच्छा है ही, 'विशुद्ध काल का विज्ञान' यह नाम इसे न्यूटन के बाद संसार के सबसे बड़े गणितज्ञ सर विलियम रौवन हैमिल्टन ने दिया था, या 'उत्तरोत्तर शृंखला का कलन (कैलकुलस आफ सक्सेशन), जिस नाम से डे मौरगन हैमिल्टन के उक्त शब्दों की व्याख्या करना चाहेंगे।

कुछ शब्दों में यह बताना आसान नहीं है कि अंकगणित के विज्ञान से इस नए क्षेत्र में पहुँचने का अन्तरिम काल कैसे आया। शायद यह कहकर सीमा-रेखा का कुछ निरूपण किया जा सकेगा कि अंकगणित की सभी प्रक्रियाओं की प्रत्यक्ष ही स्वतः व्याख्या की जा सकती है, जबकि बीजगणित की व्याख्या बहुत से मामलों में उन अनुमानों की तुलना करके ही की जा सकती है, जिन पर वे आधारित हैं। उदाहरण के लिए अंकगणित के पुराने लेखकों-इटली के लुकस डे बरगो और इंगलैंड के रौबर्ट रिकार्ड-ने भिन्नों के गुणा को गुणा शब्द का नया अनुप्रयोग माना था, जो उसकी पुरानी व्याख्या 'समान योगों का द्योतक' के अनुकूल न था—भिन्नों का गुणा भिन्न की परिभाषा में ही गुणा का विचार शामिल करके व्याख्येय बन जाता है। दूसरी ओर ऋणचिह्न का स्वतन्त्र प्रयोग, जिस पर डायोफेंटस ने चौथी सदी में पश्चिम में बीजगणित के विज्ञान की नींव रखी थी, जिसमें उसने ऋणचिह्न का नियम 'ऋण को ऋण से गुणा करने से

घन हो जाता है' अपने ग्रन्थ की एक पहली परिभाषा के रूप में सबसे आगे रखा था—चिह्न का यह स्वतन्त्र प्रयोग स्वतः शुरू कराने वाली प्रक्रिया न थी, और साधारणतः गणित के नियमों के साथ-साथ इसके विद्यमान रहने का अनुमान करके ही खास तौर पर क्रमविनियम के नियम के प्रसंग में, लोग गलत नतीजों पर पहुँचे थे। अंकगणित के स्वात्म में यथारूप स्थित नियमों के सिलसिले में इस परिभाषा के असीमित व्यवहार से बीजगणित का क्षेत्र इस सीमा को लांघ जाता है, जिसमें प्राचीन ग्रीक गणितज्ञ यूक्लिड अपनी मूलबद्ध धारणाओं को क्षति पहुँचाए बिना और बगैर झुके आगे नहीं बढ़ सकता था।

अंकगणित के नियमों के साथ-साथ ऋण के चिह्न की स्थिति अलग से मानने से विसंगत नतीजे निकलते, यदि यह क्रिया कुछ बन्धनों से बन्धी हुई न होती। हम कोई कल्पनापूर्ण बात नहीं कर रहे हैं, पर वस्तुतः विद्यमान एक तथ्य का उल्लेख कर रहे हैं। पचास साल पहले तक के बीजगणित की सीमाओं से बाहर हाल में सर डब्ल्यू० आर० हैमिल्टन ने विशेष प्रगति की है और उन्होंने अपने इस सुन्दर अग्रिम विस्तार को क्वाटरनियन्स का नाम दिया है। इसका मूलाधार ही यह मांग करता है कि अंकगणित की इस प्राचीन स्वयंसिद्धि को छोड़ना होगा 'कि क्रिया किसी भी क्रम में की जा सकती है।'

यूरोप में बीजगणित का इतिहास

किस देश और किस काल में बीजगणित का आविष्कार हुआ, इस प्रश्न पर बड़ी चर्चाएं हो चुकी हैं। इस विषय पर सबसे पुराने लेखक कौन थे? इसमें सुधार की प्रगति कैसी रही? और आखिर में किन साधनों से और किस काल में इस विज्ञान का यूरोप में प्रचार हुआ? सत्रहवीं सदी में यह एक आम विचार था कि प्राचीन ग्रीक गणितज्ञों को आधुनिक बीजगणित के स्वरूप का कुछ विश्लेषण अवश्य आता था, जिसके सहारे उन्होंने प्रमेयों और समस्याओं के समाधान को खोजा, जिसे हम बड़ी प्रशंसा के साथ उनकी रचनाओं में पढ़ते हैं, पर उन्होंने अपनी पड़ताल के साधनों को सावधानी से छिपाकर रखा और संश्लिष्ट निरूपणों के साथ केवल नतीजे ही हमें बताए।

यह विचार अब मान्य नहीं रहा है। प्राचीन ज्यामितिज्ञों की रचनाओं को ज्यादा ध्यान से पढ़ने पर हमें पता चल गया है कि इन नतीजों का विश्लेषण उन्हें पता था, पर वह विशुद्धतः ज्यामितीय था और निश्चय ही हमारे बीज-गणित से भिन्न था।

यद्यपि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि इन प्राचीन महान् ज्यामि-तिज्ञों ने अपना कोई आविष्कार बीजगणित के विश्लेषण के आधार पर किया था, पर हम देखते हैं कि काफी परवर्ती काल में ग्रीकवासियों को कुछ सीमा तक इसका ज्ञान था।

ईसा की चौथी सदी के मध्य में जब गणित-विज्ञानों का ह्रास हो रहा था और उनके पोषक प्रतिभापूर्ण नए ग्रन्थ लिखने के स्थान पर अपने ज्यादा गौरवपूर्ण पूर्वलेखकों के ग्रन्थों पर व्याख्या लिखकर ही अपना सन्तोष कर रहे थे, उस समय भी प्राचीन विद्या के ताने-बाने की एक मूल्यवान् ग्रन्थ द्वारा श्री-वृद्धि की गई।

यह डायोफेंटस का अंकगणित सम्बन्धी ग्रन्थ था, जिसमें मूलतः तेरह खंड थे, जिनमें से पहले छः और बहुभुज-संख्याओं के बारे में एक अपूर्ण खण्ड, जिसे तेरहवां बताया जाता है, ये सात ही आज हमें मिलते हैं।

यह बहुमूल्य अपूर्ण पुस्तक बीजगणित के बारे में कोई परिपूर्ण ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। पर यह इस विज्ञान की अद्भुत नींव रख देता है। लेखक सरल और विघात समीकरण के ऊपर अपना तरीका लागू करने के बाद जैसे 'वे दो संख्याए बताओ जिनका जोड़ और जिनके वर्गों का योग या अंतर बताया गया हो,' अंकगणित के एक विशेष वर्ग के प्रश्नों को लेता है, जिनका सम्बन्ध आज अनिर्धारित (समीकरण) विश्लेषण कहे जाने वाले वर्ग से है।

डायोफेंटस ग्रीक बीजगणित का आविष्कर्ता हो सकता है। पर यह ज्यादा सम्भव है कि इसके सिद्धांतों का ज्ञान लोगों को उसके काल से पहले भी था; और इस विज्ञान को उसने जिस स्थिति में पाया, उसे अपने काम का आधार बनाते हुए उसने नए अनुप्रयोगों द्वारा उसे समृद्ध बनाया। डायोफेंटस के भव्य समाधान बता देते हैं कि अपने अनुप्रयोग की इस विशेष शाखा के बारे में उसे बड़ा साधिकार ज्ञान था और वह दूसरी श्रेणी के निर्धारित समीकरण का समाधान कर सकता था। शायद ग्रीकवासियों में यही इस विज्ञान की चरम सफलता थी। वस्तुतः किसी भी देश में इस सीमा से आगे न बढ़ा जा सका, जब तक विद्या के पुनर्जागरण के युग में इटली में फिर से इसका बीजारोपण नहीं किया गया।

थ्योन की पुत्री हाइपेटिया ने डायोफेंटस की कृति पर एक टीका लिखी। वह आज खो चुकी है। इस योग्य किन्तु अभागी महिला ने अपोलोनियस के शांकव-गणित (कोनिक्स) पर भी ऐसा ही ग्रन्थ लिखा था, वह भी खो चुका है। आम विश्वास है कि दोनों ही ग्रन्थ पांचवीं सदी के शुरू में धर्मान्ध जनसमूह के रोष का शिकार बन गए।

सोलहवीं सदी के मध्य के आसपास डायोफेंटस की ग्रीक में लिखी उक्त कृति रोम में वैटिकन पुस्तकालय में देखी गई, जहां वह ग्रीस से संभवतः कुस्तुन-तुनियां के तुर्कों के कब्जे में आने के बाद लाई गई थी। क्साइलेंडर ने 1575 में इसका मूलरहित लैटिन अनुवाद किया और (फ्रेंच अकादेमी के एक पुराने सदस्य) बैचेत दे मेंजेरिएक द्वारा उसका एक सटीक अनुवाद 1621 में किया गया। बैचेत

अनिर्धारित (समीकरण) विश्लेषण में विशेष निपुण था और इसलिए इस काम के लिए ज्यादा योग्य था। पर डायोफेंटस का मूल पाठ इतना नष्ट हो चुका था कि कई जगह उसे मूल लेखक के अभिप्राय के बारे में अनुमान लगाना पड़ता था या उसकी कमी की पूर्ति करनी पड़ती थी। परवर्ती काल में प्रसिद्ध फ्रांसीसी गणितज्ञ फर्मेत ने ग्रीक बीजगणित की रचना पर अपनी टिप्पणियां देकर बैंचेत की टीका की अनुपूर्ति की। विश्लेषण की इस खास शाखा के बारे में फर्मत के अगाध ज्ञान के कारण ये टिप्पणियां बड़ी ही बहुमूल्य हैं। यह संस्करण, जो विद्यमान संस्करणों में सर्वश्रेष्ठ है, 1670 में निकला।

यद्यपि डायोफेंटस की रचनाओं का पुनर्जीवन गणित के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, पर यूरोप में बीजगणित के ज्ञान का सर्वप्रथम प्रवेश इससे नहीं हुआ। यह महत्त्वपूर्ण खोज और अंकों के स्वरूप तथा अंकगणित में दशमलव का ज्ञान अरबों से प्राप्त हुआ था। प्रतिभाशील लोग विज्ञान की पूरी तरह कद्र करते रहे हैं; जब पूरा यूरोप अज्ञान के अन्धकार में डूबा हुआ था, उन्होंने ज्ञानदीप को बुझने नहीं दिया। उन्होंने ग्रीक गणितज्ञों की रचनाओं का ध्यान से संकलन किया, उनका अपनी भाषा में अनुवाद किया और उनको टीकाओं से सज्जित बनाया। अरबी भाषा के जरिए ही यूक्लिड के प्रारंभिक ज्ञान का प्रवेश यूरोप में हुआ; और अपोलोनियस की रचनाओं का एक अंश आज भी उनके अरबी अनुवाद से ही जाना जाता है, जबकि उसका मूल नष्ट हो चुका है।

अरब लेखक

अरबवासी अपने एक गणितज्ञ मुहम्मद बिन मूसा या मोसिज को अपने बीजगणित का आविष्कारक मानते हैं जिनको बुज़ियाना के मुहम्मद भी कहते हैं और जो खलीफा अलमामूं के काल में छठी सदी ईसवी के मध्य में पैदा हुए थे।

यह निश्चित है कि इस व्यक्ति ने इस विषय पर एक ग्रन्थ लिखा था, क्योंकि एक समय इसका एक अनुवाद इतालवी में उपलब्ध बताया जाता है, जो अब खो चुका है। भाग्य से अरबी मूल की एक प्रति आक्सफोर्ड के बोडलियन पुस्तकालय में सुरक्षित है, जिस पर लिखे जाने का साल 1342 ईसवी का संवादी साल अंकित है। मुखपृष्ठ इसके लेखक को प्राचीन अरबवासी लेखक के रूप में मानता है। हाशिए की एक टिप्पणी भी इसका समर्थन करती है और यह भी बताती है कि यह ईमान को मानने वालों में बीजगणित की पहली कृति है और भूमिका में लेखक का नाम बताते हुए यह भी कहा गया है कि ईमानपरस्तों के सरपरस्त अलमूं ने उसे बीजगणित प्रणाली के आधार पर सवाल हल करने करने वाला एक ग्रन्थ लिखने के लिए प्रोत्साहित किया था।

यह ग्रन्थकार अपने को एक संकलन करने वाला बताता है और यह इस तरह पहला अरबी ग्रन्थ है। इस परिस्थिति में लोगों को यह विचार स्वीकार

करना पड़ा कि इसका संकलन किसी दूसरी भाषा के ग्रन्थों से किया गया था। चूंकि लेखक भारतीयों (भारत के आर्यों) के ज्योतिष और गणन के सुपरिचित था, सम्भव है उसने अपना बीजगणित का ज्ञान भी उसी सूत्र से प्राप्त किया हो। जैसा हम अभी-अभी देखेंगे, भारतीय बीजगणित के विज्ञान से सुपरिचित थे और जानते थे कि अनिर्धारित (समीकरण) के प्रश्नों को किस तरह हल करना चाहिए। इसलिए हम कुछ निश्चित सम्भावना के साथ इस नतीजे पर पहुंच सकते हैं कि अरबी बीजगणित का उद्भव मूलतः भारत से हुआ था।

अरबवासियों में एक बार बीजगणित के विश्लेषण का सूत्रपात हो जाने के बाद उनके अपने लेखकों ने उसे पल्लवित किया। इनमें से एक मुहम्मद अबुल वफा दसवीं सदी के पिछले चालीस सालों में विद्यमान थे और उन्होंने अपने पूर्ववर्ती लेखकों के ऊपर टीकाएं लिखी थीं। उसने डायोफेंट की रचनाओं का भी अनुवाद किया था।

यह मार्के की बात है कि यद्यपि अरबवासी बहुत समय तक गणित विज्ञानों को उत्सुकता के साथ प्राप्त करते रहे थे और बड़े जोश-खरोश से उनका विकास करते रहे थे, फिर भी उनके हाथों से उसमें कोई भी सुधार नहीं हुआ। यह उम्मीद की जाती थी कि डायोफेंटस की रचनाओं के परिचय से उनके बीजगणित में कुछ परिवर्तन आ जाएंगे। ऐसा नहीं हुआ : उनके बीजगणित की हालत, इस विषय के उनके पुराने से पुराने लेखक से लेकर 953 से लेकर 1031 के बीच हुए उनके नए से नए लेखक बिहाउद्दीन के समय तक करीब-करीब पहले जैसी ही बनी रही।

ल्योनार्डो और बीजगणित का यूरोप में सूत्रपात

बीजगणित का इतिहास लिखने वाले यूरोप में उसके प्रवेश के काल और रीति के बारे में बहुत समय तक गलती करते रहे। अब यह निश्चित हो गया है कि यह विज्ञान इटली में पीसा के एक व्यापारी ल्योनार्डो द्वारा लाया गया था। यह प्रतिभाशील व्यक्ति अपने यौवन काल में बारबरी में रहता था और वहां उसने नौ अंकों द्वारा गिनती करने के भारतीय तरीके को सीखा। व्यापारिक कारणों से उसे मिस्र, सीरिया, ग्रीस और सिसली की यात्राएं करनी पड़ीं, जिनमें उसने अंकों से सम्बन्धित हर चीज से अपने को सुपरिचित बना लिया। गणना का भारतीय तरीका उसे सबसे अच्छा लगा। तदनुसार उसने इसे ध्यान से पढ़ा और यह ज्ञान प्राप्त कर और उनमें कुछ अपनी जोड़-तोड़कर और यूक्लिड की ज्यामिति से कुछ बातें लेकर उसने अंकगणित पर एक ग्रन्थ लिखा। उस समय बीजगणित को अंकगणित का ही एक भाग माना जाता था। यह उस विज्ञान का उदात्त सिद्धान्त था और इसी दृष्टिकोण से दोनों शाखाओं को ल्योनार्डो के ग्रन्थ में निपटाया गया था, जो मूल रूप में 1201 में लिखा गया था और फिर संशोधित रूप में 1228 में लिखा गया। जब इस बात पर ध्यान

दिया जाता है कि यह ग्रन्थ मुद्रण के आविष्कार से दो सदी पहले लिखा गया था और यह विषय ऐसा न था कि लोग उसमें ज्यादा रुचि लेते, इसमें अचम्भे की बात नहीं कि बहुत कम लोग इसे जानते थे। इसलिए यह और उस लेखक के कुछ और ग्रन्थ सदा पांडुलिपि के रूप में ही रहे। पिछली सदी के मध्य से पहले, जब यह फ्लोरेंस के मैंगलिया बैंचियन पुस्तकालय में मिला, लोग यह न जानते थे कि यह प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान है।

ल्योनार्डो के ज्ञान का आधार बहुत कुछ वही था, जो पूर्ववर्ती अरबी लेखकों का, वह पहली और दूसरी श्रेणी के समीकरण हल कर सकता था। वह डायोफैंटाइन विश्लेषण में खास तौर पर प्रवीण था। वह ज्यामिति से सुपरिचित था और बीजगणित के नियमों का निरूपण करने के लिए वह उसके सिद्धांतों को काम में लाया करता था। अरबी लेखकों की तरह वह बहुत ज्यादा शब्दों में अपने कारणों को प्रकट करता था, यह पद्धति इस कला की प्रगति में विशेष साधक न थी। प्रतीकों का प्रयोग और उनको मिलाने का तरीका जिससे कारणों की एक लम्बी परम्परा का एक ही दृष्टि में निरूपण किया जा सके, बहुत बाद की खोजें हैं।

ल्योनार्डो और मुद्रण की खोज के बीच के काल में बीजगणित सीखने की ओर काफी ध्यान दिया गया। प्रोफेसर इसे सार्वजनिक रूप से पढ़ाते थे। इस विषय पर ग्रन्थ लिखे गए, और प्राच्य बीजगणितविदों के दो ग्रन्थों का अरबी भाषा से इतालवी में अनुवाद किया गया। एक का नाम था बीजगणित के नियम और दूसरा सभी अरबी ग्रन्थों में पुराना खुरासान के मुम्मद-बेन-मूस का ग्रन्थ था।

लुकस द वर्गो का बीजगणित

बीजगणित की प्राचीनतम मुद्रित पुस्तक एक छोटे पादरी (फ्रायर) लुकस पेसिओलस या लुकस दे वर्गो ने लिखी थी। यह पहले 1494 में मुद्रित हुई और फिर 1523 में। पुस्तक का नाम है सुम्मा दे अरिथमेटिका, ज्यामैट्रिआ, प्रपार्शनी, एत प्रपार्शनलिता।

अपने मुद्रण काल के लिए अंकगणित, बीजगणित और ज्यामिति का यह बहुत ही पूर्ण ग्रन्थ था। लेखक ने ल्योनार्डो का निकट से अनुसरण किया और वस्तुतः इसी कृति से उसके एक लुप्त ग्रन्थ का पुनरुद्धार किया गया।

लुकस दे बर्गो का ग्रन्थ बड़ा रोचक है, क्योंकि यह वर्ष 1500 के आस-पास यूरोप में बीज गणित की स्थिति पर प्रकाश डालता है। संभवतः इस विज्ञान की स्थिति वही थी, जैसी अरब अफ्रीका में थी, जहाँ से वह आया था।

ग्रनुसन्धान के रूप में बोजगरिएत की शक्ति बहुत कुछ उसकी चिह्न पद्धति से पैदा होती है जिससे विचाराधीन सभी ग्रंक हमेशा सामने रहते हैं, पर ग्रभिव्यक्ति की सुविधा ग्रौर संक्षिप्तता के लिए बीजगरिएत का विश्लेषरण लुकस दे बर्गो के समय बड़ा ही ग्रपूर्ण था। काम में लाए जाने वाले प्रतीक गरणना की प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले शब्दों ग्रौर नामों के कुछ संक्षेप के ग्रलावा कुछ ग्रौर न थे, जो एक तरह की शीघ्रलिपि थी, पर ग्राधुनिक ग्रक्षर प्रतीकों द्वारा प्राप्त ग्रभिव्यक्ति की संमितता के ग्रागे यह कुछ भी न था।

इस काल में बीजगरिएत का ग्रनुप्रयोग भी बड़ा ही सीमित था। यह प्रायः सारा ही ग्रंकों में दिलचस्पी न रहने वाले कुछ प्रश्नों के समाधान तक ही सीमित था। उसका जो विस्तृत ग्रनुप्रयोग ग्राज के युग में होता हैं, उसकी ग्रोर ध्यान नहीं दिया गया।

प्राचीन बीजगरिएतज्ञों का ज्ञान एक ग्रौर सीमा से बंधा था : यह पहली ग्रौर दूसरी कोटि के समीकरणों के हल तक ही विस्तृत था ग्रौर उन्होंने पिछले को कुछ स्थितियों में बांट दिया था, जिनमें से प्रत्येक को ग्रपने खास नियम से हल किया जाता था। यह महत्त्वपूर्ण विश्लेषरणात्मक बात उस समय कोई न जानता था कि किसी समस्या की सभी स्थितियों का हल इनमें से एक स्थिति के हल से केवल चिह्नों के परिवर्तन द्वारा बनाए गए एक सूत्र से समझा जा सकता था। डा० हैली इस बात को विस्मयपूर्ण मानते हैं कि उन के द्वारा खोजा गया प्रकाशिकी का एक सूत्र उसके प्रतीकों में परिवर्तन करने मात्र से ग्रभिसारी या ग्रपसारी दोनों प्रकार की किरणों का, चाहे वे परावर्तक हों या वर्तक, उत्तल या अवतल वीक्षरण यन्त्रों या लैंसों से फोकस बता सकता है। मौलीन्यूक्स हैली के सूत्र की सार्वजनीनता को कुछ जादू जैसा काम मानते हैं।

बीजगरिएत के नियमों की पड़ताल इसी के नियमों से ग्रौर ज्यामिति से सहायता लिए बिना की जानी चाहिए। यद्यपि कुछ मामलों में दोनों विज्ञान एक दूसरे के निरूपरण में मदद दे सकते हैं; ग्राज ज्यादा प्रारभिक भागों में पहले के प्रतिपादन के लिए पिछले की मदद लेने की कोई जरूरत नहीं समझी जाती। ल्योनार्डो के उदाहरण के ग्रनुसरण में लुकस दे बर्गो ने यह ज्यादा सुविधापूर्ण समझा कि वर्ग-समीकरण को हल करने में, जिसका स्वरूप उसे पूरी तरह पता न था, वह ज्यामिति की रचनाग्रों का उपयोग करे ग्रौर ग्रपनी चिह्न-पद्धति की ग्रपूर्णता के कारण उसे ग्रपने नियम लेटिन छन्दों में व्यक्त करने की प्रेरणा मिली, पर उसे ग्राज उस ग्रानन्द के साथ न पढ़ा जाएगा, जिसके साथ हम सुप्रसिद्ध कविता 'द लव्ज आफ दि ट्राएंगिल्स' को पढ़ते हैं।

फेरिग्रस ग्रौर तारतालिग्रा का योगदान

चूंकि बीजगरिएत से परिचय प्राप्त करनेवाला इटली पहला यूरोपीय देश

था, इसमें प्राचीनतम सुधार भी इसी देश में हुए। यह विज्ञान ल्योनार्डो के समय से लेकर पैसिओलस के समय तक प्रायः स्थिर रहा था, जो तीन सदियों का काल था; पर मुद्रण की खोज ने सभी गणित विज्ञानों में सुधार की भावना को जन्म दिया। अब तक वर्ग-समीकरण के एक अपूर्ण सिद्धांत तक ही इसका विकास हो पाया था। आखिर में इस सीमा से आगे बढ़ा जा सका और लगभग 1505 के आसपास बोनोनिआ के एक गणित-प्रोफेसर सिपिओ फेरिअस ने तीसरी श्रेणी के समीकरण की एक खास स्थिति का हल खोज निकाला। यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था, क्योंकि इससे यह पता चल गया कि उच्च श्रेणी के समीकरणों का, कम से कम तीसरी श्रेणी के मामले में, हल खोज निकालने की कठिनाई को पार किया जा सकता है और इस तरह खोज के लिए एक नया क्षेत्र प्रशस्त हो गया। उस समय बीजगणित के ज्ञान को पल्लवित करनेवालों के बीच यह रिवाज थी कि जब वे कुछ आगे की बात खोज निकालते थे, तो उसे सावधानी से अपने समकालीन लोगों से छिपाकर रखते थे और फिर अंकगणित के ऐसे प्रश्नों का हल खोज निकालने के लिए उन्हें चुनौती दिया करते थे, जिनके हल के लिए उनके नए नियमों का ज्ञान जरूरी था। इसी भावना में फेरिअस ने अपनी खोज को छिपाकर रखा, पर उसने अपने वैनिसवासी एक प्रिय छात्र फ्लोरिडो को यह बता दिया। 1535 में इस व्यक्ति ने वेनिस में निवास करने के बाद बड़े प्रतिभाशील एक व्यक्ति ब्रेशिआ के तारतालिआ को बीजगणित द्वारा प्रश्नों का हल करने की प्रवीणता की परीक्षा के लिए चुनौती दी। फ्लोरिडो ने प्रश्न इस तरह से बनाए थे कि उनका हल निकालने के लिए उसके गुरु फेरिअस के नियम का ज्ञान जरूरी था। पर तारतालिआ इस समय से पांच साल पहले फेरिअस से भी आगे प्रगति कर चुका था और फ्लोरिडो उसका प्रतिद्वन्द्वी न बन सकता था। उसने चुनौती मान ली और एक दिन निश्चित किया गया, जब दोनों एक दूसरे को तीस 30 प्रश्न पूछने वाले थे। इस दिन के आने से पहले तारतालिआ ने घन-समीकरण का अध्ययन फिर चालू कर दिया और उसे पहले से ज्ञात दो स्थितियों के अलावा उसने दो और स्थितियों का हल खोज निकाला। फ्लोरिडो के प्रश्न ऐसे थे, जो फेरिअस के एक नियम से हल किये जा सकते थे, पर इसके विपरीत तारतालिआ के प्रश्न तीन नियमों में से किसी एक से हल किए जा सकते थे, जो उसने स्वयं खोजे थे, पर जो बाकी नियम से हल न हो सकते थे, जो फ्लोरिडो को भी पता न था। इस परीक्षा का फल सहज ही जाना जा सकता है, तारतालिआ ने अपने प्रतिद्वन्द्वी के सारे प्रश्न दो घंटे में हल कर दिए, जबकि दूसरा पक्ष बदले में उसके एक भी प्रश्न को हल न कर सका।

कारडान द्वारा की गई प्रगति

प्रसिद्ध कारडान भी तारतालिआ का समकालीन था। यह अनूठा व्यक्ति एक चिकित्सक था और मिलन में गणित का प्रोफेसर था। उसने बड़े परिश्रम के

साथ बीजगणित का अध्ययन किया था श्रौर श्रंकगणित, बीजगणित श्रौर ज्यामिति सम्बन्धी उसका ग्रन्थ करीब-करीब छप ही चुका था; पर तारतालिश्रा की खोज से श्रपने ग्रन्थ को समृद्ध बनाने की इच्छा से, जिसकी श्रोर तत्कालीन इटली के साहित्यिकों का विशेष ध्यान जा रहा होगा, उसने उससे, उसके नियमों को प्रकट कराने की कोशिश की। कुछ समय तक तारतालिश्रा कारडान के श्रनुरोध को टालता रहा। श्राखिर में उसकी प्रार्थना से हार मानकर श्रौर पवित्र देवात्माश्रों के नाम पर श्रौर भले आदमियों के नाम पर सौगन्ध खाने पर कि वह उनको कभी प्रकाशित न करेगा श्रौर ईसाई धर्म के नाम पर यह वादा करने पर कि वह उन्हें कूट शैली में लिखेगा ताकि उसकी मृत्यु के बाद भी कोई उनको न समझ सके, कहीं जाकर उसने बड़ी हिचकिचाहट से अपने व्यावहारिक नियम उसको बताए, जो बड़े ही गूढ़ इतालवी छन्दों में लिखे गए, जो स्वतः पहेली जैसे ही थे। पर उसने उनका निरूपण नहीं बताया। थोड़े ही समय में कारडान ने उन नियमों के कारण जान लिए श्रौर उसने उनमें सुधार भी किया, ताकि वे एक प्रकार से उसके श्रपने हो जाए। तारतालिश्रा के श्रपूर्ण सिद्धान्त से उसने सभी प्रकार के घन-समीकरण हल करने की एक प्रतिभापूर्ण श्रौर क्रमबद्ध पद्धति खोज निकाली, पर सारी सौगन्धों का निरादर करके उसने 1545 में तारतालिश्रा की खोजों श्रौर श्रपनी खोजों को श्रपने छः साल पहले बीजगणित श्रौर ज्यामिति के बारे में प्रकाशित ग्रन्थ के पूरक के रूप में प्रकाशित कर दिया। बीजगणित पर विद्यमान समझी गई पुस्तकों में दूसरी यह पुस्तक काफी उल्लेखनीय है।

श्रगले साल तारतालिश्रा ने भी बीजगणित पर एक ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसे उसने इंगलैंड के राजा हेनरी श्राठ को समर्पित किया।

यह खेद की बात है कि बहुत से मामलों में महत्त्वपूर्ण खोजों के लेखकों की श्रोर ध्यान नहीं दिया गया श्रौर उनको प्राप्तव्य श्रेय दूसरे कम महत्त्वपूर्ण लोगों को दिया गया है। तारतालिश्रा के प्रारंभिक दावे की श्रोर बिना ध्यान दिए घन-समीकरण हल करने के सूत्रों को कारडान के सूत्र कहा जाता है। फिर भी यह माना जाएगा कि श्रपनी खोज को छिपाकर उसने काफी स्वार्थ परता दिखाई, श्रौर यद्यपि कारडान को विश्वास तोड़ने के अपराध से मुक्त नहीं किया जा सकता, फिर भी यह याद रखना होगा कि तारतालिश्रा ने उसे जो कुछ बताया था उसमें श्रपने सुधार करके उसने कुछ सीमा तक इस खोज को श्रपना बना लिया था श्रौर बीजगणित में इन महत्त्वपूर्ण सुधारों को दुनिया में प्रकाशित करने का बड़ा श्रेय तो उसे दिया ही जाएगा।

फेरारी श्रौर उसका योगदान

बीजगणित की प्रगति में श्रगला कदम चौथी श्रेणी के समीकरण हल करना था। एक इतालवी बीजगणितज्ञ ने एक प्रश्न पूछा था, जो इन नए खोजे

गए नियमों से हल हो सकता था क्योंकि उसमें द्वि-वर्ग-समीकरण पैदा हो जाता था। कुछ लोगों ने कहा कि इसका हल निकल ही नहीं सकता, पर कारडान का विचार कुछ और था। उसका लीत्रिस फेरारी नामक एक शिष्य था, जो बड़ी प्रतिभा वाला युवक था और बीजगणित के विश्लेषण का एक मेधावी छात्र था। कारडान ने उसे इसका हल खोजने का काम सौंपा और उसे निराशा न हुई। फेरारी ने न केवल वह प्रश्न हल कर दिया, बल्कि उसने तीसरी श्रेणी के समीकरण के हल पर आधारित चौथी श्रेणी के समीकरण हल करने का एक साधारण तरीका भी खोज निकाला।

यह दूसरा काफी बड़ा सुधार था और हालांकि समीकरण के ठीक-ठीक स्वरूप को उस समय, और वस्तुतः आधी सदी बाद तक, अच्छी तरह समझा नहीं गया, पर समीकरणों के सामान्य हल के लिए उस समय ऐसी सीमा प्राप्त कर ली गई, जिसे पार करने में आधुनिक विश्लेषकों के निरन्तर प्रयास भी सफल न हो पाए।

उस काल के एक और इतालवी गणितज्ञ ने बीजगणित में सुधार करने के लिए कुछ काम किया। उसका नाम बाम्बेली था। उसने इस विषय पर 1572 में एक मूल्यवान् ग्रन्थ प्रकाशित किया, इसमें उसने अपने पूर्ववर्तियों द्वारा किए गए सारे प्रयास एकत्र इकट्ठे कर दिए। उसने घन-समीकरण के अ-लघू-करणीय स्थिति के स्वप्न को स्पष्ट किया, जिसने कारडान को बहुत तंग किया था और जिसका हल वह अपने नियम से न निकाल सका था, उसने दिखाया कि यह नियम खास उदाहरणों पर कभी-कभी लग सकता है और इस स्थिति के सभी समीकरणों का वास्तविक हल खोजा जा सकता है। उसने यह महत्त्व की बात भी कही कि इस स्थिति में बीजगणित के प्रश्न का हल त्रिकोण के त्रि-छेदकी प्राचीन समस्या के समकक्ष हो है।

कारडान और तारतालिआ के समकालीन दो जर्मन गणितज्ञ भी थे—स्टिफेलिअस और स्क्यूबेलिअस। उनकी रचनाएं सोलहवीं सदी के मध्य के करीब प्रकाशित हुईं और वे यह न जान सके थे कि इटली में इस दिशा में क्या काम हो चुका है। उनके द्वारा सुधार मुख्यतः प्रतीकों में किए गए थे। स्टिफेलिअस ने खास तौर पर पहली बार जोड़, बाकी के चिह्न और वर्ग मूल के प्रतीक की शुरुआत की।

इंगलैंड में बीजगणित

अंग्रेजी में बीजगणित पर पहला ग्रन्थ कैम्ब्रिज में गणित के अध्यापक और चिकित्सा का काम करने वाले रोबर्ट रिकार्ड ने लिखा था। उस समय चिकित्सक आम तौर पर चिकित्सा के साथ-साथ गणित, ज्योतिष, कीमियागिरी और रसायन को चलाते थे। यह प्रथा अफ्रीका-वासियों से आई थी, जो चिकित्सा

और गणना दोनों में ही अपनी प्रवीणता के लिए विख्यात थे। स्पेन में जहां लोग पुराने जमाने से बीजगणित से परिचित थे, चिकित्सक और बीजगणितज्ञ करीब-करीब पर्यायवाची ही थे। तदनुसार डान क्विग्जोट की कथा में जब कुमार-सैम्सन कैरास्को को नायक के साथ युद्ध में गहरी चोट लगती है, तो उसकी चोट की चिकित्सा के लिए बीजगणितज्ञ को बुलाया गया था।

रिकार्ड ने अंकगणित पर एक ग्रन्थ प्रकाशित किया, जो एडवर्ड छठे को समर्पित किया गया। दूसरा ग्रन्थ उसने बीजगणित पर लिखा, जिसका नाम था, 'दि ह्वेटस्टोन आफ विट' आदि (बुद्धि का शान पत्थर)। इसमें पहली बार बराबर के आधुनिक चिह्न का इस्तेमाल किया गया।

वियटा और बीजगणित का ज्यामिति में प्रयोग

इस तरह धीरे-धीरे बीजगणित में ल्योनार्डो द्वारा पहली बार सूत्रपात के बाद विकास होता रहा। हर परवर्ती लेखक ने उसमें कुछ सुधार किया, पर तारतालिआ, कारडान और फेरारी को छोड़कर कोई भी आविष्कारक का स्थान न पा सका। बाद में वियटा का उद्भव हुआ। गणित की वह तथा दूसरी शाखाएं उसकी बड़ी ऋणी हैं। उसने बीजगणित में भारी सुधार किए और उसके कुछ आविष्कार, यद्यपि उस समय पूरी तरह विकसित न हुए थे, बाद की खोजों के आधार बीज बने। वह पहला व्यक्ति था, जिसने ज्ञात और अज्ञात संख्याओं के लिए पहली बार सामान्य अक्षरों का उपयोग किया। यह बात बड़ी आसान लगती है, पर इसके बड़े महत्त्वपूर्ण प्रतिफल निकले। उसने ही पहली बार ज्यामिति में सुधार के लिए बीजगणित से काम लिया। प्राचीन बीजगणितज्ञों ने वस्तुत: ज्यामिति के प्रश्नों को हल किया था, पर प्रत्येक हल विशेष स्थिति के लिए था, जबकि वियटा ने सामान्य चिह्नों का सूत्रपात करके सामान्य सूत्र खोज निकाले, जिनको उस तरह के सभी प्रश्नों पर लगाया जा सकता था और हर एक के लिए विश्लेषण की पूरी प्रक्रिया को-दुहराना न पड़ता था।

ज्यामिति के लिए बीजगणित के इस सुखद उपयोग ने बड़े सुधार किए। इससे वियटा ने कोणीय काट के सिद्धांत को खोजा, जो एक बड़ी महत्त्वपूर्ण खोज थी, जो आज विकसित होकर ज्या (साइन) का अंकगणित या विश्लेषणात्मक त्रिकोणमिति बन गई है। उसने बीजगणित के समीकरण सिद्धांत में भी सुधार किए और उसने पहली बार-लगभग अनुमान द्वारा उनका हल खोजने का सामान्य तरीका निकाला। वह सन् 1540 और 1603 के बीच जीवित रहा, और उसकी रचनाएं सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लिखी गईं। उसने उनको अपने ही खर्च पर छपाकर विज्ञानवेत्ताओं के बीच उदारता से वितरित किया।

गिरार्ड का बीजगणित

फ्लेमिश गणितज्ञ अलबर्ट गिरार्ड ने भी बीजगणित में बहुत सुधार किए।

उसने समीकरण सिद्धांत को वियटा से भी कुछ आगे बढ़ाया, पर वह अपनी प्रक्रिया को पूरी तरह प्रकट न कर सका; ज्यामिति प्रश्नों के हल में उसने ही पहली बार निषेधात्मक चिह्नों का प्रयोग किया और काल्पनिक संख्याओं की बात भी पहले उसी ने छेड़ी। उसने आगमन के तरीके से यह निहितार्थ निकाला कि हर समीकरण में उतने ही मूल होते हैं, जितनी उसकी श्रेणी बताने वाली संख्या में इकाइयां होती हैं। उसका बीजगणित 1629 में निकला।

हैरियट का योगदान

बीजगणित में महान् सुधार करने वाला दूसरा व्यक्ति एक अंग्रेज थामस हैरियट था। आविष्कारक के रूप में उसके देश ने सदैव उस पर गर्व किया है। फ्रांसीसी गणितज्ञों ने ब्रिटिश गणितज्ञों पर यह दोषारोपण किया है कि उन्होंने उन चीजों की खोज का श्रेय इसे दिया है, जिनकी खोज वस्तुतः वियटा ने की थी। संभव है इनमें से कुछ का श्रेय उचित रूप से दोनों को दिया जा सके, क्योंकि प्रत्येक ने दूसरे के आविष्कार को बिना जाने उसे खोज लिया हो, यह हो सकता है। हैरियट की मुख्य खोज और बीजगणित में कभी हुई खोजों में सबसे महत्त्वपूर्ण खोज यह थी कि हर समीकरण को उसका क्रम बताने वाली संख्या में जितनी इकाइयां होती हैं, उतने ही सरल समीकरणों के गुणन से बना हुआ माना जा सकता है। यह महत्त्वपूर्ण सिद्धांत आज बीजगणित का हर छात्र जानता है, पर यह धीरे-धीरे विकसित हुआ। वियटा इसे जानता था और उसने इसका कुछ अंश प्रकट किया था, पर इसकी पूरी खोज हैरियट ने की।

बीजगणित यूरोप में जिस अकृत्रिम रूप में आया, यह हम देख चुके हैं। लगभग 400 सालों के सुधारों के बाद भी उसके चिह्नों में वह संमितता और भव्यता न आ सकी, जो बीजगणित में आ सकती है। हैरियट ने चिह्नों में कई परिवर्तन किए और कुछ नए चिह्न जोड़े; इस तरह उसने बीजगणित की स्वरूपगत एकरूपता को बढ़ाया। उसके हाथों, उसका जो रूप ढला, वह उसके आज के रूप से बहुत ही कम भिन्न था।

एक-दूसरा बीजगणितज्ञ औटरीड भी हैरियट का समकालीन था, पर वह उसके बाद भी बहुत समय तक जीवित रहा। उसने इस विषय पर एक ग्रन्थ लिखा, जो विश्वविद्यालयों में बहुत समय तक पढ़ाया जाता रहा।

डेस्कार्टेस का योगदान और वर्ग-समीकरण

बीजगणित के इतिहास के इस निरूपण में हमने देखा है कि जिस रूप में यह अरबों से आया था, उस समय उपयुक्त चिह्न-प्रणाली के अभाव में यह तर्क-प्रणाली के खास-तरीके से भिन्न न था और इसके साधन कम होने से इसका अनुप्रयोग केवल कुछ अरोचक संख्याओं के प्रश्नों के हल में ही किया जा सकता था।

इसने सुधार की विभिन्न अवस्थाओं की चर्चा की है और अब हम उस काल तक पहुँच गए हैं जब विश्लेषण के एक साधन के रूप में इसे अतिरिक्त शक्ति मिली और उनके नए और विस्तृत अनुप्रयोग शुरू हुए। वियटा ने बीजगणित को ज्यामिति में काम लाने के बड़े भारी लाभ को पहचाना था। उसने कोणीय काट के सिद्धान्त पर जो कुछ लिखा था और इस तरह आविष्कारों की जो नई खान खोज निकाली थी, उसने उसके श्रम का महत्त्व प्रतिपादित कर दिखाया। उसने उसकी पूरी गवेषणा नहीं की थी पर ऐसा कभी-कभी ही हुआ है कि आविष्कार एक व्यक्ति ने किया और उसे दूसरे ने पूर्ण किया। डेस्कार्टेस उसका एक योग्य और प्रसिद्ध परवर्ती था, उसने बीजगणित के अध्ययन में अपनी प्रखर बौद्धिक देन का पूरा-पूरा उपयोग किया और इसे न केवल एक अमूर्त विज्ञान के रूप में सुधारा, बल्कि खास तौर पर ज्यामिति में इसके अनुप्रयोग द्वारा उसने उन बड़ी-बड़ी खोजों की नींव रखी, जिसने तब से गणितज्ञों का बहुत ध्यान आकृष्ट किया है और पिछली दो सदियों को मानव मस्तिष्क की प्रगति के इतिहास में चिर स्मरणीय बना दिया है।

डेस्कार्टेस का विशाल सुधार वक्र-रेखाओं के सिद्धान्त में बीजगणित का अनुप्रयोग था। जिस तरह भूगोल में हम धरातल की हर वस्तु का निर्देश भूमध्य रेखा और एक निर्णीत मध्यग रेखा के संदर्भ से करते हैं, उसी तरह से उसने वक्र के हर बिन्दु का निर्देश उस स्थिति द्वारा दी गई किसी न किसी रेखा से किया। उदाहरण के लिए वृत्त के हर बिन्दु का व्यास से निर्देश किया जा सकता है। वक्र के बिन्दु से डाला गया लम्ब और केन्द्र से व्यास के अंत से उस लम्ब की दूरी की द्योतक की वे रेखाएँ हैं, जो यद्यपि जिस बिन्दु में लम्ब डाला गया है, उसके अनुसार भिन्न होती है, फिर भी उनकी आपसी स्थिति एक निश्चित संबन्ध से होती है, जो वक्र के स्वरूप पर निर्भर रहते हुए सभी बिन्दुओं के लिए एक ही होता है, और जो इस वक्र को दूसरे सभी वक्रों से भिन्न बनाने का काम करता है।

इस तरह खींची गई रेखाओं के संबन्ध बीजगणितों के प्रतीकों से तुरन्त बताए जा सकते हैं; और सामान्य रूप से इस संबन्ध की अभिव्यक्ति ही तथा-कथित वक्र-समीकरण कही जाती है।

यह इसकी परिभाषा का काम दे सकती है, और इसी समीकरण से बीज-गणित की प्रक्रिया के अनुसार वक्र के सभी गुणों की पड़ताल की जा सकती है।

डेस्कार्टेस की 'ज्योमेट्रिआ' (या जैसा इसका नाम दिया जा सकता था बीजगणित का ज्यामिति में अनुप्रयोग) पहले 1637 में प्रकाशित हुई। यह हैरियट की खोजों के प्रकाशन के छः वर्ष बाद का साल था जो उसके मरने के बाद तब प्रकाशित हो चुकी थी। डेस्कार्टेस ने हैरियट के पास कुछ विचारों का लाभ

उठाया, खास तौर पर उसका ऋण स्वीकार किये बिना एक समीकरण पैदा करने की रीति का; और इस कारण डा० वालिश ने अपने बीजगणित में बड़ी उग्रता के साथ इस फ्रांसीसी बीजगणितज्ञ पर आक्षेप लगाया है। इस भावना ने फ्रांसीसी गणितज्ञों में उसका समर्थन करने की ऐसी ही भावना को जन्म दिया। मोंटुकला ने अपने गणित के इतिहास में उसके पक्ष में दृढ़ राष्ट्रीय पूर्वाग्रह का परिचय दिया है और ऐसी स्थिति में जैसा प्रायः होता है उसने अपने प्रतिपक्षियों के आदर्श हैरियट के साथ कोई भी न्याय नहीं किया है।

वियटा, हैरियट और डेस्कार्टेस ने ज्यामिति और बीजगणित के क्षेत्र में जो नए विचार दिए थे, उनको वास्तविक ज्ञान की खोज में रत शक्तिमान् मस्तिष्क वाले व्यक्तियों ने व्यग्रता से ग्रहण किया। तदनुसार हम देखते हैं कि सत्रहवीं सदी में बीजगणित या बीजगणित व ज्यामिति पर संयुक्त रूप में लिखने वाले बहुत से लेखकों का उद्भव हुआ[1]।

सत्रहवीं सदी तक बीजगणित के पाश्चात्य लेखक

डायोफेंटस (अरिथमैटिकोरम, लीबरी सैक्स; उसकी रचनाओं का पहला संस्करण, 1575, सबसे अच्छा 1670)	लगभग 360 ईसवी
ल्योनार्डो बोनाकी (उसकी कृतियां कौसाली द्वारा वर्णित)	1202
लुकस पेसिओलस, या दे बर्गो ('सुम्मादे अरिथमेटिका' आदि)	1494
एडोल्फ (एलजेबरा)	1522
स्टिफेलिअस (अरिथमेटिका इंटेग्रा आदि)	1544
कारडान (आर्स मैगना क्वाम वल्गो कोसाम वोकेंट)	1545
फेरिअस	1545
फेरारी (द्विवर्गीय समीकरण पहले हल किए)	1545
तारतेलिआ (क्वेसिटी एड इनवेंशनी डाइवर्स)	1556
स्क्यूबेलिअस (एलजेबरा कम्पेंडिओसा)	1551
रिकार्ड (ह्वेटस्टोन आफ विट)	1557

1. बीजगणित की प्राचीन काल से सत्रहवीं सदी के मध्य तक की प्रगति के इस विवरण के लिए लेखक ब्रितानी विश्वकोष (नवां संस्करण, 1875) में बीजगणित संबंधी एक लेख का ऋणी है। अठारहवीं सदी में बीजगणित को लैंगरैंग, दे मोइवरे (1697–1730), कोची, गौस, एबेल, वूडान, फौरियर, लीवनित्ज, जैकोबी, सिल्वेस्टर, कैले और दूसरे लोगों ने नई प्रेरणा प्रदान की।

पैलेटेरिअस (दे ओकल्टा पार्ट न्यूमरोरम)	1558
बुटेओ (दे लोजिस्टका)	1559
रैमस (अरिथमेटिका लीबरी दुओ एत टोटिडेम एलजब्राए)	1560
पैंड्रो नुगनेज या नौनिअस (लिब्रो दे एलजेबरा आदि)	1567
जोसालिन (दे ओकल्टा पार्ट मैथमेटिकोरम)	1576
बाम्बेली	1579
क्लेविअस	1580
बर्नार्ड सोलिग्नाक (अरिथ० लीब्री ई एत एलजेबराए टोटिडेम)	1580
स्टेविनस (अरिथमेटिक, आदि औसी ल एलजेबरे)	1585
वियटा (ओपेरा मैथेमेटिका)	1600
फोलिनस (ऐलजेबरा साइव लीबेर दे रबस ओकल्टिस	1619
वान स्योलेन	1619
बैचेट (डायोफेंटस कम कौमेंटरिस)	1621
अलबर्ट गिरार्ड (इनवेंशन नौवेल्ले एलजेबरे)	1629
घेटालडस (दे रैजोल्यूशने एत कम्पोजीशने मैथेमेटिका)	1630
हैरियट (आर्टिस एनालिटिकाए प्रैक्सिस	1631
औटरीड (क्लैविस मैथेमेटिका)	1631
हैरिगोनियस (करसस मैथेमेटिकस)	1634
केवेलेरिअस (ज्योमेट्रिआ इन डिविजिबिलिबस कोंटीन्योरम, आदि)	1635
डेस्कार्टेस (ज्योमेट्रिआ)	1637
फ्रांसिस्कस अ स्कूटेन, फ्लोरिमण्ड दे ब्यौन एरास्मस बर्थालिनस जोह हुडे, एफ रैबुअल, जेम्स बरनौली, जान दे विट आदि डेस्कार्ट के टीकाकार	
रोबरबल (दे रिकोग्निशन एक्वेशनम् आदि)	1640
दे बिली (नोवा ज्यो मेट्रिकाए क्लेविस एलजेबरा)	1643
रेनाल्डिनस (ओपस एलजेबराइकम)	1644
पास्कल	1654
वालिस (अरिथमेटिका इनफिनिटोरम 1655; एलजबरा)	1658
स्लूसिअस (मैसोलाबम)	1659
रोनियस (एलजेबरा अंग्रेजी में अनूदित)	1659
किनखौसेन' (सर आइजक न्यूटन द्वारा पाठ्यपुस्तक के रूप में उपयुक्त)	1661
सत आइजक न्यूटन (दि बायोनामिअल थ्योरम)	1666

फ्रे निकल (मेमोयर्स आफ फ्रेंच एकाडेमी में अनेक लेख) 1666
पैल (रोनिअस के एलजेबरा को अनूदित किया और सुधारा) 1668
जेम्स ग्रेगोरी (एक्सरसाइटेशन ज्योमेट्रिकाए) 1668
मरकेटर (लोगोरिद्मोटेकनिआ) 1668
बैरो (लेक्शन्स ज्योमेट्रिकाए में) 1669
कर्सी (एलीमेंट्स आफ एलजेबरा) 1673
प्रेस्कोट (नौवोक्स एलीमेन्स दे मैथमेटिक्स) 1675
लीबनित्ज़ (लीप्सिक एक्ट्स् आदि) 1677
फरमात (वेरिआ ओपेरा मैथमेटिका में) 1679
बुलिआल्ड (ओपस नोवम एड अरिथमेटिकम इनफिनिटोरम) 1682
िशरन्हौसन (लीप्सिक एक्ट्स् में) 1683
बेकर (ज्योमेट्रिकल की आदि) 1684
डा० हैली (फिलो सोफिकल ट्रान्जेक्शन्स में) 1689 और 1694
रौल (मैथड पोर ला रैज़ोल्यूशन देज इक्वेशक्स इनडिटरमिनीज) 1690
रैफसन (एनालिसिस एक्वेशनम यूनिवर्सलिल) 1690
डेचालेस (करसस स्यू मुंडुस मैथेमेटिकस) 1690
पे लैगनी (वेरिअस पीसेज आन इक्वेशन्स) 1692
अलेग्जेंडर (सिनोप्सिस एलजेब्राइका) 1693
वार्ड (कम्पेंडिअम आफ एलजेबरा) 1695
सौल्ट (न्यू ट्रेटाइज आन एलजेबरा) 1698
दे मोइवरे (फिलासोफिकल ट्रांजेक्शन में विभिन्न मेमोयर) 1699-1730

भारतीय बीजगणित और पश्चिम

वर्ष 1813 में श्री एडवर्ड स्ट्रेची ने संस्कृत के बीजगणित सम्बंधी ग्रन्थ बीजगणित का फारसी से अंग्रेजी में अनुवाद छपवाया; और 1816 में डा० जौन टेलर ने बम्बई में लीलावती का मूल संस्कृत से अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। यह पिछला ग्रन्थ गणित और ज्यामिति पर है और दोनों प्राच्य बीजगणितज्ञ भास्कराचार्य के द्वारा लिखे गए हैं। अंत में 1817 में 'एलजेबरा, अरिथमेटिक एण्ड मैंसुरेशन निकला जो संस्कृत में ब्रह्मगुप्त और भास्कर द्वारा लिखे गए ग्रन्थों का हेनरी थामस कोलब्रुक द्वारा अंग्रेजी में किया गया अनुवाद था। इसमें चार अलग-अलग मूल संस्कृत पद्य में लिखे गए ग्रन्थों, का अर्थात् भास्कराचार्य के बीजगणित और ब्रह्मगुप्त के गणिताध्याय और कुट्टकाध्याय का अनुवाद था।

पहले दो भास्कर के ज्योतिष पाठ्य 'सिद्धान्त शिरोमणि' के आरम्भिक अंश हैं और बाकी दो ब्रह्मसिद्धान्त नामक ज्योतिष ग्रन्थ के अंग हैं।

भास्कर का रचनाकाल उनके अपने अन्तः साक्ष्य और अन्य परिस्थितियों से काफी ठीक रूप में तय हो चुका है जो ईसवी सन् 1150 के लगभग पड़ता है। ब्रह्मगुप्त की रचनाएं बड़ी ही दुर्लभ हैं और जिस काल में वह पैदा हुए थे, वह भी कम निश्चित है। एक प्राच्य विद्वान डेविस ने, जिन्होंने पहली बार भारतीयों की ज्योतिष-गणना के सही-सही रूप से जनता को परिचित किया था, यह विचार व्यक्त किया है कि वह सातवीं सदी में हुए थे और भारतीय विज्ञान की परिश्रम से पड़ताल करने वाले डा० विलियम हंटर का कहना है कि सन् 628 ईसवी उनके समय का लगभग साल है। विभिन्न तर्कों को देखकर कोलब्रुक इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ब्रह्मगुप्त का काल अरबों में विज्ञान के प्रचार के प्रचीनतम समय से पहले हुआ था क्योंकि भारतीयों को उस राष्ट्र में बीजगणित के प्रवेश से पहले इसका ज्ञान होना चाहिए।

फिर भी ब्रह्मगुप्त का ग्रन्थ इस विषय पर लिखे गए ग्रन्थों में सबसे पुराना नहीं है। एक सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विज्ञ और गणितज्ञ और भास्कर के एक प्रसिद्ध शिष्य गणेश एक कहीं ज्यादा पुराने लेखक आर्यभट-प्रथम का एक अंश उद्धृत करते हैं, जिस में बीजगणित को 'बीज' का नाम दिया गया है और कुट्टक का अलग उल्लेख है, जो प्रथम श्रेणी की अनिश्चित समस्याओं के हल से नीचे दरजे की समस्या होती है। भास्कर के एक अन्य टीकाकार ने भी उनको प्राचीन लेखकों का मूर्धन्य माना है। वे वर्ग को पूरा करने की प्रक्रिया द्वारा वर्गसमीकरण का हल करने में समर्थ बताए जाते हैं, अतः कोलब्रुक का अनुमान है कि उस समय विद्यमान आर्यभट के ग्रन्थ में निश्चित विश्लेषण का वर्गसमीकरण और पहली श्रेणी का अनिश्चित समीकरण तथा संभवतः दूसरी श्रेणी का भी दिया गया था।

आर्यभट का काल पूरे निश्चय के साथ तय नहीं किया जा सकता, पर कोलब्रुक यह संभव मानते हैं कि भारत के जाने गए प्राचीनतम बीजगणितज्ञ पांचवीं सदी ईसवी तक या शायद उसके पहले जरूर लिख चुके थे। इस तरह वह लगभग उतने ही प्राचीन थे जितने ग्रीक बीजगणितज्ञ डायोफेंटस, जो सम्राट् जूलियन के समय या 360 ईसवी के लगभग पैदा हुए बताए जाते हैं।

कोलब्रुक ने भारतीय बीजगणितज्ञ और डायोफेंटस के बीच तुलना की है और साधार यह नतीजा निकाला है कि पूरे विज्ञान में पिछला पहले से बहुत पीछे है। वह कहते हैं कि भारतीय बीजगणित इन बातों में विधि-विशेष के अलावा ग्रीक बीजगणित से आगे ठहरता है : (1) एक से ज्यादा अज्ञात संख्या के समीकरणों का व्यवस्थापन, (2) उच्च श्रेणी के समीकरणों का हल, जिसमें

यद्यपि उन्हें कम सफलता मिली है उन्होंने कम से कम कोशिश तो की थी और द्वि-वर्ग के हल की आधुनिक खोज का उन्होंने मार्ग प्रशस्त किया था, (3) पहली और दूसरी श्रेणी के अनिश्चित प्रश्नों के हल का सामान्य तरीका, जिसमें वे वस्तुतः डायोफेंटस से बहुत आगे बढ़ गए और आज के बीजगणितज्ञों की खोजों का मार्ग प्रशस्त किया, और (4) बीजगणित का ज्योतिष की पड़तालों और ज्यामिति के निदर्शनों में अनुप्रयोग, जिनमें वे कुछ ऐसी चीजें निकाल सके, जिनको आज फिर से खोजा गया है।

जब हम यह विचार करते हैं कि बड़े प्रतिभाशील और विज्ञान के अध्ययन में खासतौर पर तल्लीन रहने वाले अरबवासियों के बीच बीजगणित में थोड़ी या नगण्य प्रगति हुई और यूरोप में पहली बार इसके प्रवेश के बाद शताब्दियों के बीतने पर ही उसमें कुछ खास मात्रा में पूर्णता आ पाई, तो हम यह सकारण अनुमान लगा सकते हैं कि यह आर्यभट के समय से बहुत पहले भारत में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा होगा; वस्तुतः उनके ज्योतिष के सिद्धान्तों के साथ इसके निकट संपर्क से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह बहुत प्राचीन काल में उस विज्ञान के साथ ही पनपा होगा। प्रो० प्लेफेयर 'एस्ट्रोनोमी इडीन' के विशद लेखक बेली की बात मानते हुए ब्राह्मणों के ज्योतिष सम्बन्धी एक स्मरण-लेख में बड़े कौशल के साथ यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि जिन प्रेक्षणों के आधार पर भारतीय ज्योतिष का महल खड़ा है, वे बड़े ही प्राचीन हैं, वस्तुतः ईसवी सदी से 3000 से ज्यादा वर्ष पुराने। भारतीय ज्योतिष के बहुत पुराने उद्भव की बात इंगलैंड और यूरोप में बहुत से लोगों ने नहीं मानी है, खास तौर पर लाप्लेस ने और डिलंम्बरे ने अपने हिस्टोरी दे ल एस्ट्रोनोमी एन्शीन, टोम एक पृ० 400 आदि में और फिर हिस्टोरी दे ल एस्ट्रोनोमी दु मोयेन एज, डिस्कोर्स प्रिलिमिनरी पृ० 18 आदि में, जहां वह उनके बीजगणित को तुच्छ मानते हुए अपनी बात कहते हैं; और इंगलैंड में प्रो० लेजली ने अपनी फिलोसफी आफ अरिथमेटिक, पृ० 225 और 226 में लीलावती को 'बड़ी ही दरिद्र कृति,' बताया है जिसमें याद करने के अस्पष्ट छन्दों में लिखी गई थोड़ी सी अपूर्ण कल्पनाएं हैं'। भारतीय बीजगणित के मूल्य के बारे में हम प्रो० लेजली से और उसकी प्राचीनता के बारे में प्रो० प्लेफेयर से सहमत होने को तैयार हैं। इतनी सदियों तक यह शैशव में ही पड़ा रहा, इसका कारण पिछले लेखक ने इस उद्धरण में दिया है : 'भारत में हर चीज (बीजगणित भी) बराबर अजेय बताई गई है और सत्य और दोष भी जहां एक बार आ गए हैं, स्थायी माने गए हैं। राजनीति, कानून, धर्म, विज्ञान, रीति, सब लगभग वैसे ही मालूम पड़ते हैं जैसे इतिहास के शुरू के समय में थे। क्या इसका कारण है कि जिस शक्ति ने सभ्यता को कुछ मात्रा तक पहुँचाया था और विज्ञान को कुछ ऊंचाई तक उठाया था, उसने या तो काम करना बंद कर दिया था या उसे ऐसे प्रतिरोध का सामना करना पड़ा था, जिसको पार करना उसके लिए बड़ा मुश्किल था? या इसका कारण

यह है कि हिन्दुओं (भारतीयों) को जिन खोजों का ज्ञान था, वे उनकी अपेक्षा कुछ ज्यादा खोजी और पुराने लोगों से विरासत में मिली थीं, जिनकी कोई याद नहीं रही, बस विज्ञान में उनकी कुछ उपलब्धियां ही शेष रह गईं। 'पर सच यह है कि ज्योतिष की नींव भारत में वैदिक काल में ही पड़ गई थो और ईसवी सदी के आरम्भ तक बीजगणित में भो काफी विकास हो चुका था और पांचवीं सदी के आर्यभट ने इस विज्ञान में डायोफेंटस से, जो ग्रीस में लगभग 360 ईसवी में पैदा हुए थे, बहुत आगे प्रगति की।

आर्यभट से पूर्व

भारत में बीजगणित ज्योतिष के सहायक के रूप में विकसित हुआ। ज्योतिष सम्बन्धी प्रेक्षण वैदिक युग में भी चल रहे थे। लगध मुनि का वेदांग ज्योतिष (ऋक् और यजुष् दोनों पाठों का) प्रारंभिक ज्योतिष नियमों का छोटा सा संग्रह लगता है, जो लगभग 1200 ई० पू० में लिखा गया था। हमें पता नहीं कि उस काल में किसी प्रकार का बीजगणित प्रचलित था या नहीं। 1200 ई० पू० और 500 ईसवी के बीच, ज्योतिष पर ज्यादा पुस्तकें नहीं लिखी गईं, यद्यपि यह विश्वास करने का कारण है कि इस लबे काल में भी ज्योतिष-गणना आम तौर पर प्रचलित थी। शतपथ ब्राह्मण एक बड़े महत्त्व की बात का संकेत करता है: 'कृत्तिका पूर्व दिशा से नहीं हटती, जबकि दूसरे नक्षत्र पूर्व दिशा से चले जाते हैं[1]।' इस कारण इसने यह विहित किया है कि कृत्तिका के अधीन दो अग्नियां (गार्हपत्य और आहवनीय) स्थापित की जाएं। इन कृत्तिकाओं में छः या सात तारे होते हैं वे 27 नक्षत्रों में से एक हैं। यह उस समय की बात है जब कृत्तिका नक्षत्र ठीक पूर्व में निकला करता था। यह 2500 ई० पू० में हो सम्भव था। इस तरह शतपथ ब्राह्मण 2500 ई० पू० या आसपास की रचना है।

बौधायन श्रौत सूत्र में यह उल्लेख है कि श्रोण और कृत्तिका उसी दिशा में निकलते थे। यह 1330 ई० पू० में ही सम्भव था। इससे बौधायन श्रौत सूत्र की तारीख निश्चित की जा सकती है[2]।

अथर्ववेद, तैत्तरीय संहिता और दूसरे ब्राह्मण ग्रन्थों में दी गई नक्षत्रों की सूचियां कृत्तिका नक्षत्र से शुरू होती हैं[3]। स्पष्ट है कि इस काल में विषुव बिन्दु

---

1. एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते तत्प्राच्यामेवाऽस्ये तद् दिश्याहितो भवतस्तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत।
—श० ब्रा० 2. 1. 2. 3
2. गोरख प्रसाद : जरनल आफ दि एशियाटिक सोसायटी, लन्दन, जुलाई 1936।
3. अथर्व० 19. 7; तै० सं० 4. 4. 10. 1-3; मै० सं० 2. 13. 20; का० सं० 39. 13; तै० ब्रा० 1. 5. 1; 3. 1. 4. 1

कृत्तिका नक्षत्र के उद्भव के समय पड़ता था (यह रात-दिन के बराबर होने का वसंत ऋतु का समय था)। यदि विषुव बिन्दु ठीक उसी जगह होता, जहां कृत्तिका स्थित होती थी, तो शतपथ के समय और नक्षत्रों की वैदिक सूची बनने के समय कृत्तिका नक्षत्र ठीक पूर्व में निकला करता था। यह 2500 ई० पू० का निर्देश करता है।

बाद में यह सूची संशोधित रूप में तयार की गई, जिसमें पहला नक्षत्र अश्विनी था, कृत्तिका नहीं। यह वह काल था, जब विषुव बिन्दु अश्विनी नक्षत्र के उद्भव के बिन्दु पर था। तो इसका संकेत छठी सदी ईसवी का होना चाहिए।

ऐसा अनुमान है कि इस सूची से पहले भी एक सूची थी, जिसमें पहला नक्षत्र मृगशिरस् (मृगशीर्ष) था; इस अभिमत का समर्थन तिलक[1] और जैकोबी[2] ने किया है। उस समय वसन्त विषुव मृगशिरस् नक्षत्र के उद्भव के बिन्दु पर पड़ता था। यह हमें 6000 ई० पू० से 4000 ई० पू० तक ले जाता है।

महाभारत के समय तक सात दिन के सप्ताह का हमें कोई जिक्र नहीं मिलता है। योग, करण और राशि जैसे शब्द भी नहीं मिलते। ये इकाइयां स्पष्टतः बाद में बनाई गई। महाभारत काल में वेदांग ज्योतिष चलता था। इस गणना के अनुसार उत्तरायण सूर्य के धनिष्ठा में होने पर शुरू होता था। अयन के कारण 1000 सालों में उत्तरायण शुरू होने में एक नक्षत्र क्रान्ति चक्र के काल का ($\frac{1}{27}$) का अंतर पड़ जाता है। महाभारत काल में उत्तरायण बिन्दु श्रवण नक्षत्र में था। यह महाभारत का काल 450 ई० पू० तय कर देता है। कहा जाता है कि विश्वामित्र ने रुष्ट होकर नक्षत्र बनाए थे, जो श्रवण नक्षत्र से शुरू होते थे[3]। यह बताता है कि श्रवण नक्षत्र के समय पर या तो विषुव बिन्दु पड़ता था या उत्तरायण या दक्षिणायन शुरू होने का बिन्बु। बहुत संभव है कि उत्तरायण बिन्दु श्रवण नक्षत्र पर पड़ता हो। महाभारत काल में लोगों की नक्षत्रों और ग्रहणों की कल्पना बड़ी ही स्पष्ट थी।

आर्यभट-प्रथम

वेदांग ज्योतिष के काल और भारतीय ज्योतिष के कुछ और विकास के

---

1. तिलक : ओरियन, अध्याय 4 (1893)।
2. जैकोबी : इंडियन एंटीक्वेरी 23. 156
3. चकारान्यं च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्र संपदा।
   प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः॥ —म० भा० आदि पर्व, अध्याय 71

   अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः।
   श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः॥ म० भा० अश्वमेघ पर्व, अध्याय 44

बीच लंबा अंतर पड़ा। कौटिल्य के समय (300 ई० पू०) तक हमने कोई ज्यादा प्रगति नहीं की। एक जैन पुस्तक 'सूर्य प्रज्ञप्ति' मुख्यतः वेदांग ज्योतिष के सिद्धांतों को ही अपनाती है (200 ई० पू० के लगभग)। सात सौ साल के लम्बे अरसे के बाद हमें आर्यभट के रूप में एक वास्तविक ज्योतिर्विद् और गणितज्ञ के दर्शन होते हैं, जिसने न केवल ज्योतिष का विस्तार किया, बल्कि बीजगणित नामक नए विज्ञान की नींव डाली। यह कहना कठिन है कि आर्यभट से पहले हमें बीजगणित का कुछ भी भान न था और अपने ग्रन्थ में वह जो कुछ कहते हैं, वह पूरे का पूरा उनका ही योगदान है; पर हमारे पास कोई दूसरा लिखित साक्ष्य नहीं है।

आर्यभट के ग्रन्थ का नाम आर्यभटीय है, जो 499 ईसवी की रचना है। उनकी दूसरी उपलब्ध कृति 'तन्त्र' है। आर्यभट का जन्म 476 ईसवी (कलियुग संवत् 3577) में हुआ था। आर्यभटीय को आर्यसिद्धांत भी कहते हैं। इसी नाम का एक दूसरा ज्योतिर्विद् आर्यभट (लगभग 950 ईसवी में) हुआ है, इसलिए आर्यभटीय के लेखक को आर्यभट प्रथम कहते हैं और उनके सिद्धांत को पहला सिद्धांत। आर्यभट-प्रथम के दिनों में युग को 60 सालों (संवत्सर) का मानने की प्रथा थी। अपनी जन्म तिथि के बारे में लेखक स्वयं कहता है: '60 सालों के 60 युग और तीन युगपाद (सतयुग, त्रेता और द्वापर) बीत चुके थे, जब वह 23 साल का था[1]। 'उनके ग्रन्थ आर्यभटीय की रचना कुसुमपुर[2] (आधुनिक पटना-बिहार) में हुई थी, आर्यभट चोटी के बीजगणितज्ञ और ज्योतिर्विद् थे और उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह पूर्व लेखकों के कार्य पर आधारित और उनसे प्रेरित था और जहां जरूरी था, वहां कुछ जगहों पर उन्होंने उन बातों को अपनी तरफ से शुद्ध करके लिखा है[3]।

यह बहुत सम्भव है कि आर्यभट प्रथम ने दो ग्रन्थ लिखे थे, एक 23 साल की उम्र में और दूसरा प्रौढ़ आयु में। पहली आर्यभटीय अब खो चुकी है और आज जो हमें उपलब्ध है, वह दूसरी संशोधित आर्यभटीय है। संशोधित ग्रन्थ

---

1. षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
   त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः॥ —आर्यभ० कालक्रिया 10
2. ब्रह्मकुशशिबुधभृगुरविकुजगुरुकोणभगणान्नमस्कृत्य।
   आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्॥ —वही, गणित 1
3. क्षितिरवियोगाद्दिनकृद् रवीन्दु योगात् प्रसाधितश्चेन्दुः।
   शशितारग्रहयोगात्तथैव ताराग्रहाः सर्वे॥
   सदसज्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृतं देवताप्रसादेन।
   सज्ज्ञानोत्तमरत्नं मया निमग्नं स्वमतिनावा॥ —वही, गोला० 48. 49

में युग-गणना अर्द्ध रात्रि से शुरू होती थी और एक महायुग में सावन दिनों की संख्या 300 से ज्यादा थी। पहले ग्रन्थ में युग-गणना सूर्योदय से होती थी। (इसका समर्थन आर्यभट-प्रथम की शाखा के और सिद्धांत शिरोमणि के लेखक भास्कर-द्वितीय से भिन्न ज्योतिर्विद्-भास्कर-प्रथम की रचना—महाभास्करीय और लघुभास्करीय से भी होता है)। युग गिनने की दो प्रणालियों को अर्द्ध-रात्रिक गणना और औदयिक गणना कहते हैं[1]। आर्यभटीय बड़ी भव्य शैली में लिखी गई है, बड़ी वैज्ञानिक है और संक्षिप्तता और यथार्थता के गुणों से ओत-प्रोत है।

---

1. युगरविभगणाः रव्युघ्नीति यत् प्रोक्तं तत्तयोयगं स्पष्टम्।
   त्रिशती रव्युदयानां तदन्तरं हेतुना केन॥ —ब्र० स्फु० 11 5
   लङ्कार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्य्यभटः।
   भूयः स एव सूर्य्योदयात् प्रभृत्याह लङ्कायाम्॥ —पं० सि० 15. 20
   आर्यभट मानते हैं कि दिनारम्भ लंका में अर्द्धरात्रि से गिना जाता है, और वही आचार्य फिर कहते हैं कि लंका में दिन सूर्योदय से शुरू होता है।
   निबन्धः कर्मणां प्रोक्तो योऽस्मावौदयिको विधिः।
   अर्धरात्रे त्वयं सर्वो यो विशेषः स कथ्यते॥21॥
   त्रिशती भूदिने क्षेप्या ह्यवमेभ्यो विशोध्यते।
   ज्ञगुर्वोभंगणेभ्योऽपि विंशतिश्च ततोऽब्धयः॥22॥

   ... ...

   अन्यस्याप्येवमेव स्याच्छेषाः प्रागुक्तकल्पनाः।
   एतद् सर्वं समासेन तन्त्रान्तरमुदाहृतम्॥33॥ —म० भा० 7. 21, 22, 33

   ये श्लोक आर्यभट की अर्द्धरात्रि गणना का उल्लेख करते हैं। ऊपर जो ज्योतिष-प्रक्रियाएं बताई गई हैं, वे सूर्योदय की गणना के अधीन आती हैं। अर्द्धरात्रि से दिन की गणना में भी यह सब होता हुआ मिलता है, जो अंतर है, वह (नीचे) बताया जा रहा है। (21)

   (अर्द्धरात्रि से दिन की गणना के तत्संवादी तत्त्व पाने के लिए) 300 सायन दिनों को (युग में) जोड़ दो और वही (संख्या) (युग में से) लुप्त किए गए चांद्र दिनों की संख्या में से घटा दो; और बुध और गुरु को शीघ्रोच्च से क्रमशः बीस और चार घटा दो।

   (अगले तेरह श्लोक आर्यभट-प्रथम की अर्द्धरात्रि गणना का संकेत करते हैं)।
   बाकी (ज्योतिष) गणनाएं वही हैं, जो पहले बताई जा चुकी हैं। यह सब संक्षेप में अन्य तन्त्रों का अंतर है (आर्यभट-प्रथम की अर्द्धरात्रि दिन-गणना को शामिल करते हुए)। (33)

डा० एच० कर्न ने 1874 में परमादीश्वर की टीका भटदीपिका के साथ आर्यभटीय का एक सुसम्पादित संस्करण निकाला। आर्यभटीय पर दूसरी टीका सूर्यदेव यज्वन् की है। इस टीका का नाम भटप्रकाश या केवल भटदीपिका था यह टीका मलयालम में थी और ग्रन्थ लिपि में लिखी गई थी। प्रकाशिका पहले की है क्योंकि दीपिका कभी-कभी उसका उल्लेख करती है। प्रकाशिका को भूमिका में वृद्ध गग और लगधाचार्य (वेदांग ज्योतिष के लेखक) के नाम आए हैं। पूरे विषय को दो शीर्षकों के अधीन बांटा गया है: गणित स्कन्ध (प्रेक्षण और गणित-गणना पर आधारित ज्योतिष अंग) और जात-स्कन्ध (संस्कारों से सम्बद्ध फलित ज्योतिष का अंग)। सूर्यदेव भास्कराचार्य के बहुत बाद ऐसे युग में पैदा हुए होंगे, जब विज्ञान की ज्योति भारत से बिदा हो चुकी थी। और 'सूर्यदेव को बिलकुल भान न था कि आर्यभट ने अपने ज्योतिष तत्त्वों का पता केवल गणना और प्रेक्षणों के आधार पर किस तरह लगाया था' (कर्न) सूर्यदेव यज्वन् के समय आर्यभटीय पर कुछ अन्य टीकाएं भी रही होंगी, जैसा कि उनके वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है:

आर्यभटीय चार पादों में बंटी हुई है:

(एक) गीतिकापाद, जिसमें दस श्लोक हैं, जिनको लेखक दशगीतिका सूत्र[1] कहता है। एक श्लोक अतिरिक्त है जो इन दस श्लोकों के पढ़ने की फलश्रुति मात्र है: 'जो इन श्लोकों को जानता है, जो ग्रहों और नक्षत्रों की गति को जानता है, वह उनसे बहुत आगे तक जाता है और परम ब्रह्म को प्राप्त करता है।' इस तरह इस पाद में कुल 11 श्लोक हैं और यह इस ग्रन्थ का सबसे छोटा पाद है।

(दो) गणित पाद में 33 श्लोक हैं और वह बड़ी महत्वपूर्ण देन माना गया है। पहले श्लोक में कुसुमपुर का उल्लेख है, जहां यह ग्रन्थ लिखना शुरू किया गया था। इसमें परम्परागत अंक गिनाए गए हैं, जिसमें हर अगला पिछले से दस गुना ज्यादा होता[2] है। एक (1), दस (10), शत (100), सहस्र (1,000), अयुत (10,000), नियुत (100,000), प्रयुत (1,000,000), कोटी

---

1. दशगीतिकासूत्रमिदं भूग्रह चरितं भपञ्जरे ज्ञात्वा।
ग्रहभगणपरिभ्रमणं स याति भित्त्वा परं ब्रह्म॥ —आ० भ०, गीतिका 11

2. एकं दश च शतञ्च सहस्रमयुतनियुते तथा प्रयुतं।
कोट्यर्बुदञ्च वृन्दं स्थानात्स्थानं दशगुणं स्याद्॥ —आ० भ०, गणित 2

(10,000,000), अर्बुद (100,000,000) और वृन्द (1,000,000,000) इस तरह 10^9 तक।

इस अध्याय या पाद के ऐसे विषय है : वर्ग, घन (श्लोक 3) वर्ग मूल (4); घनमूल (5); त्रिभुज का क्षेत्रफल और समपार्श्व का आयतन (6); वृत्त का क्षेत्रफल और गोले का आयतन (7); विषम चतुरस्र का क्षेत्रफल (8); वृत्त की परिधि (10); जीवा (11); खमध्य दूरी की जीवा का निश्चयन (15); समकोण त्रिभुज की वाहु और समकोण त्रिभुज की कोटि (16); समकोण त्रिभुज का कर्ण और अर्द्धज्या (17); शर (18); श्रेढिफल का क्षेत्रफल (19); त्रैराशिक (23); भिन्न का सवर्णीकरण (27); व्यस्त त्रैराशिक (28); अव्यक्त का मूल्य प्रदर्शन (30); कुट्टकार गणित (32, 33)।

(तीन) कालक्रिया पाद में 25 श्लोकों में काल की इकाइयां गिनाई गई हैं[1]; 1 वर्ष=12 मास; 1 मास=30 दिवस; 1 दिवस=60 नाडी; 1 नाडी=60 विनाडी; विनाडिका और विघटिका एक ही है, जो आज के 24 सेकिंड के बराबर होती हैं। नाडी, नाडिका या घटी 24 मिनट के बराबर होती है (श्लोक 1), सामान्य व्यक्ति द्वारा 60 दीर्घाक्षरों के उच्चारण में लगने वाला समय या छः सांस लेने में लगने वाला समय विनाडिका इकाई होती है (श्लोक 2), काल विभाग का क्षेत्रविभाग या भगण (कोण विभाग) से सह सम्बन्ध[2]। बारह राशियां, एक भगण बनाती हैं। रविमास, शशिमास, अधिमास, तरह-तरह

---

1. वर्षं द्वादश मासास्त्रिंशद्दिवसो भवेत् स मासस्तु।
षष्टिर्नाड्यो दिवसष्षष्टिस्तु विनाडिका नाडी॥ —आ० भ० कालक्रिया, 1

2. गुर्वक्षराणि षष्टिर्विनाडिकार्क्षी षडेव वा प्राणाः।
एवं कालविभागः क्षेत्रविभागस्तथा भगणात्॥ —आ० भ० कालक्रिया, 2
यावता कालेन षष्टिर्गुर्वक्षराण्युच्चरति मध्यमा वृत्त्या पुरुषः, तावान्काल आर्क्षी विनाडिका।······यावताकालेन पुरुषः षडुच्छ्वासान् करोति, तावान्कालश्चार्क्षी विनाडिका स्यात्। —परमादीश्वर
जिस तरह समय का विभाग है, उसी तरह क्षेत्र का विभाग है और वृत्त के कोणों का विभाग है। वर्ष में बारह महीने होते हैं, भगण में भी बारह राशियां होती हैं। एक राशि का 1. 30 एक भाग कहा जाता है, भाग का 1. 60 एक लिप्ता होती है, लिप्ता का 1. 60 विलिप्ता और विलिप्ता का 1. 60 तत्परा होती है। —परमादीश्वर

के साल होते हैं। सौर वर्ष मनुष्य वर्ष है, 30 मनुष्य वर्ष=1 पितृ वर्ष; 12 पितृ वर्ष—1 दिव्य वर्ष, 12000 दिव्य वर्ष=एक युग (6, 7, 8); युग का पूर्वार्द्ध उत्सर्पिणी काल होता है और उत्तरार्द्ध अवसर्पिणी काल होता है और वे चन्द्रोदय से गिने जाते हैं। यह स्पस्ट नहीं है (9); युग में 60 साल होते हैं और कलियुग आरम्भ हुए ऐसे 60 युग=3600 साल बीत चुके हैं, जब लेखक 23 साल का था (10); युग, वर्ष, मास और दिन की गणना चैत्रशुक्ल प्रतिपदा से शुरू होनी चाहिए (11), मन्दोच्च और शीघ्रोच्च (17-24)।

(चार) गोल पाद में 50 श्लोक हैं, श्लोक 1 में सूर्यमार्ग में एक बिन्दु का निर्देश है, जहां से मेषादि का आरम्भ होता है; यह वसन्त विषुव रहा होगा। सूर्य अयनमण्डल से ग्रहों के पात और धरती की छाया चलती है (2-3) सूर्य से चन्द्रोदय[1] पर कोणीय अन्तर (12 अंश) होता है, भृगु का (9 अंश या विनाडिका होता है) गुरु का भृगु से अधिक (अर्थात् 2 या 11 विनाडिका) होता है, बुध का (13 विनाडिका), शनि का (15 विनाडिका) और कुज या मंगल का (17 विनाडिका)) होता है (4)।

धरती, चन्द्र, ग्रहों, और तारों का आधा भाग अपनी ही छाया के कारण अंधेरे में रहता है। शेष आधा भाग सूर्य के सामने रहने से प्रकाशमान रहता है (यह बात तारों के बारे में सही नहीं है—लेखक) (5)। धरती वायु और जल के मण्डलों से घिरी है। (6, 7)। ब्रह्मा के दिवस में धरती का गोला एक एक बढ़ जाता है और ब्रह्मा की रात्रि में उतना ही घट जाता है (8)। जिस तरह चलती हुई नाव में बैठा आदमी किनारे के पेड़ों आदि को उलटी दिशा में में चलता देखता है, उसी तरह स्थायी तारे लंका (या भूमध्य रेखा) से पश्चिम को चलते हुए मालूम पड़ते हैं (9)। वायु के प्रवाह से नक्षत्र-मंडल और ग्रह पश्चिम की ओर निकलते और छिपते हैं (10)। सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) का आकार एक योजन बताया गया है और यह हीरे की तरह चमकता है (11) और अगले श्लोक में सुमेरु और बड़वामुख (दक्षिणी ध्रुव) की स्थिति बताई गई है (12) भूमध्य रेखा पर 90 अंश अन्तर से स्थित चार शहर गिनाए गए है : जब लंका में सूर्योदय होता है, तो सिद्धपुर में सूर्यास्त होता है, यवकोटि में दोपहर होती है और रोमकपुरी में अर्द्ध रात्रि (13)। उज्जैन की लंका से दूरी (इस तरह

---

1. चन्द्रोऽम्रशैर्द्वादशभिरविक्षिप्तोऽर्कान्तरस्थितैर्दृश्यः।
नवभिर्भृगुर्भृगोस्तैर्द्व्यधिकैर्यथाश्लक्ष्णाः॥ —आ० भ० गोला०, 4

उज्जैन का अक्षांश बताकर) दी गई है (14) भूगोल की मोटाई के कारण खगोल गोलार्द्ध से कम दिखाई देता है (15)। अगला श्लोक बताता है कि गति में खगोल उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव पर कैसा दिखाई देता है (16)। फिर देव, पितृ, असुर और मनुष्य के दिवस और रात्रि का माप दिया गया है (17)। फिर खगोल गणित की कुछ परिभाषाएं दी गई हैं (18-21) और जैसे द्रष्टृस्थान (पूर्वापरदिग्गता रेखा और अध-ऊर्ध्व दिग्गता रेखा की आपसी काट) दृङ् मंडल, दृक्क्षेपमंडल। दृक्क्षेपग्रह की कक्षा की खमध्या से वह दूरी है, जो खमध्य से न्यूनतम होती है। फिर भूभगोल यन्त्र गिनाए गए हैं (22-23)। फिर लग्न (पूर्वक्षितिज पर रविमार्ग. बिन्दु) काल आदि जोड़ने के सूत्र दिए गए है जिनमें त्रिप्रश्नाधिकार आदि हैं (24-33)। अगले श्लोकों में मध्यज्या, उदयज्या और दृक्क्षेपज्या बताई गई हैं (33), लंबक (34), दृक्कर्म (35) और अयन दृक्कर्म (36)। फिर चन्द्र और सूर्य ग्रहण की गणना आती है। (37-47)। श्लोक 48 में बताया गया हैं कि सूर्य के निर्देशांक (अक्षांश, रेखांश) क्षितिज की सूर्य के बाद युति, चन्द्र के सूर्य और चन्द्र की युति ग्रहों की चन्द्र और ग्रहों या तारों से युति द्वारा जाने जाते हैं। श्लोक 49 बताता है कि यह ग्रन्थ मणिबुद्धि-नौका द्वारा किस तरह सत्य-असत्य ज्ञान के सागर से मथकर निकाला गया है। इसका अर्थ है कि लेखक ने ज्योतिष के बारे में उस समय प्रचलित असत्य ज्ञान से सत्य ज्ञान का अन्तर करने में विशेष श्रम किया है। आखीर में वह कहता है कि उसने कोई नई बात नहीं कही है; उसने उसी ज्ञान को लेखबद्ध किया है, जिसका स्वयंभू ने प्राचीनतम काल में उपदेश किया था। (50)

दक्षिण के वैष्णव अब भी आर्यभटीय के नियमों-सूत्रों के अनुसार बनाए गए पंचांग को आदर की दृष्टि से देखते हैं। ब्रह्मगुप्त आर्यभट का बड़ा आलोचक था। पर अन्त में उसने अपना ग्रन्थ खण्डखाद्यक इसी आर्यभटीय के आधार पर लिखा (यह ग्रन्थ करण ग्रन्थ है जिसमें भारतीय पत्री को एक मुख्य तत्त्व दिया है।) आर्यभटीय पर संस्कृत में चार टीकाएं मिलती हैं : भास्कर-प्रथम की, सूर्यदेव यज्वन् की, परमादीश्वर की और नीलकंठ की। दो अंग्रेजी अनुवाद भी पी. सी. सेनगुप्त (1927) और डबल्यू ई० क्लार्क (1930) के उपलब्ध हैं।

आर्यभट की अंक बताने की प्रणाली

गीतिका पाद के पहले दो श्लोकों में आर्यभट ने संस्कृत वर्णमाला के आधार पर, जैसा आगे बताया गया है, बड़े-बड़े अंक निरूपित करने की एक प्रणाली बताई है[1]।

---

1. युगरविभगणाः ख्युघृ शशि चयगियिङुशुछ्लृ कु ङिशिबुण्लृ ख्षृ प्राक्।
शनि ढुङ्विघ्व गुरु खिच्युभ कुज भद्लिक्नुखृ भृगबुध सौराः॥ [अगले पृष्ठ पर—

स्वर

अ	1
इ	100
उ	100^2 या 10000
ऋ	100^3 या 10, 00, 000
ऌ	100^4 या 10, 00, 00, 000
ए	100^5 या 10, 00, 00, 00, 000,
ऐ	100^6 या 10, 00, 00, 00, 00, 000
ओ	100^7 या 10, 00, 00, 00, 00, 00, 000
औ	100^8 या 10, 00, 00. 00, 00, 00, 00, 000

विषमस्थान वाली सौ, दस हजार, लाख आदि की इकाइयां वर्ग विषम-कही जाती हैं और दस, हजार, लाख, आदि सम स्थान वाली संख्याए अवर्ग-स्थान कही जाती हैं भारतीय व्यंजनों को भी वर्ग और अवर्ग के रूप में वर्गीकृत किया गया है। वर्ग 'क' से 'म' तक (क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, म, वर्ग) के पांच-पांच व्यंजन कुल 25 होते हैं। आर्यभट की प्रणाली में ये अक्षर क्रमशः 1 से 25 संख्याओं के द्योतक हैं :

क	1	ख	2	ग	3	घ	4	ङ	5
च	6	छ	7	ज	8	झ	9	ञ	10
ट	11	ठ	12	ड	13	ढ	14	ण	15
त	16	थ	17	द	18	ध	19	न	20
प	21	फ	22	ब	23	भ	24	म	25

बाकी 8 अवर्ग व्यंजन 30, 40,······100 की संख्याओं के द्योतक हैं :

य	30	र	40	ल	50	व	60
श	70	ष	80	स	90	ह	100

एक महायुग में सूर्य की क्रान्ति संख्या आर्यभट ने ख्युघृ (ख, य, उ, घ. ऋ) दी है जिसका मतलब 43,20,000 है; चन्द्रमा की चयगियिङु-

---

—पिछले पृष्ठ से]

चन्द्रोच्च ज्र्खिध बुध सुगुशिथृन भृगु जषबिखुछृ शेषार्काः ।
बुफिनच पातविलोमा बुधाह्न्यजार्कोदयाच्च लङ्कायां ।। —आ० भ० गीतिका, 1, 2

नियम इस श्लोक में दिया गया है :

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात्ङ्मौ यः ।
खद्विनवके स्वरा नववर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा ।। परमादीश्वर

शुछ्लृ दी है, जिसका मतलब 5, 77, 53, 336 साल है, धरती ङि-शिबुण्लृख्षृ दी है, जिसका मतलब 1, 58, 22, 37, 500 है इसी तरह् मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि की क्रान्ति संख्याएं व्यक्त की गई हैं। पहले तीन की व्याख्या हम नीचे दे रहे हैं :

ख्युघृ = खु-यु-घृ = (2 × 10,000) + (30 × 10,000) + (4 × 10,00,000) = 43,20,000

चयगियिङु शुछ्लृ = च + य + गि + यि + ङु + शु + छृ + लृ = 6 + 30 + 300 + 3000 + 50000 + 700000 + 7000000 + 50000000 = 5,77,53336

ङिशिबुणलृख्षृ = ङि + शि + बु + ण्लृ + ख्षृ
= ङि + शि + बु + ण्लृ + खृ + षृ
= (5 × 100) + (70 × 100) + (23 × 10,000) + (15 × 10,00,00,000) × (2 × 10,00,000) + (80 × 10,00,000) = 1,58,22,37,500

जब बड़ी बड़ी संख्याए छन्दों में बतानी हों, तो यह प्रणाली बड़ी फायदे की सिद्ध होती है। हां जोड़-गुणा आदि में प्रक्रिया बेकार हैं। कभी-कभी इससे अस्पष्टता भी पैदा हो जाती है।

आर्यभटीय में ज्यामिति और त्रिकोणमिति

गणित पाद के तैंतीस श्लोकों में आर्यभट ने बहुत से मौलिक विचारों को ग्रथित किया है, जो उनकी उच्च उपलब्धियों का द्योतक है। त्रिभुज का क्षेत्रफल समदलकोटि (लंब) में आधी भुज (आधार) का गुणा करके जाना जाता है (6)। त्रिभुज के क्षेत्रफल में ऊर्ध्वभुज (ऊंचाई) के आधे का गुणा करके घन का आयतन निकाला जा सकता है (6)[1]। आधे परिणाह या परिधि में आधे व्यास (विष्कंभ) का गुणा करने से वृत्तफल (क्षेत्रफल) जाना जा सकता है (अगर व्यास 2 र है, जबकि त्रिज्या या व्यासार्ध 'र' है, तो परिधि 2πर होगी और वृत्तफल = $\frac{1}{2}$. 2πर × $\frac{1}{2}$. 2 र = πर)[3] (7)। गोले का आयतन वृत्तफल को उसके वर्गमूल से गुणा करके आता है[2]। (7)। एक स्थल पर यह बताया गया है कि परिधि

---

1. त्रिभुजस्य फलशरीरं समदलकोटीभुजार्धं संवर्गः।
ऊर्ध्वभुजा तत्संवर्गार्धं स घनष् षडश्रिरिति ॥6॥
2. समपरिणाहस्यार्धं विष्कम्भार्धहतमेव वृत्तफलम्।
तन्निजमूलेन हतं घनगोलफलं निरवशेषम् ॥7॥

के छठे भाग की ज्या (व्यास त्रिज्या) विष्कम्भ (व्यास) के आधे के बराबर होती है[1]। एक जगह बताया गया है कि यदि किसी वृत्त का व्यास 2000 हो तो वृत्त की परिधि 62,832 होगी (10)[2] इससे π का मूल्य 31,416 आता है, जो दशमलव के चौथे स्थल तक बिलकुल सही है। अगले दो श्लोकों में ज्या का निर्णय या जीवा की परिकल्पना दी गई है[3]। इससे पता चलता है कि आर्यभट ने त्रिज्या और ज्या की सारणी कैसे सोच निकाली थी।

आर्यभट ने दीपक या अन्य स्रोत से आने वाले प्रकाश शंकु में इसी वस्तु के की छाया नापने की रीति भी दी है। त्रिकोण ज्यामिति में त्रैराशिक नियम लागू करके इन छायाओं के बारे में उन्होंने बड़ा आसान नियम दिया है। ग्रहण की गणना में यह नियम आधारभूत है। (14-16)[4]।

आर्यभट द्वारा पैथोगोरस के प्रमेय का निरूपण

एक श्लोक (17) में आर्यभट स्पष्ट बताते हैं कि एक समकोण त्रिभुज में भुज (आधार) के वर्ग में कोटि (लंब) का वर्ग जोड़ने से कर्ण का वर्ग आ जाता है।[5] इस नियम का प्रतिपादन बहुत पहले शुल्ब सूत्रों में किया गया है।

त्रैराशिक नियम : यह शब्द बखशाली पांडुलिपि में भी आया है। आर्यभट ने इसे अपने ग्रन्थ में भी दिया है (26)। त्रैराशिक नियम के तीन अंग क्रमशः

---

1. सर्वेषां क्षेत्राणां प्रसाध्य पार्श्वे फलं तदभ्यासः।
   परिधेष् षड् भागज्या विष्कम्भार्धेन सा तुल्या ॥9॥
2. चतुरधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणां।
   अयुतद्वयविष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाहः ॥10॥
3. समवृत्त परिधिपादं छिन्द्यात् त्रिभुजाच्चतुर्भुजाच्चैव।
   समचापज्यार्धानि तु विष्कम्भार्धे यथेष्टानि ॥
   प्रथमाच्चापज्यार्धाद्यैरूनं खण्डितं द्वितयार्धम्।
   तत्प्रथमज्यार्धांशैस्तैस्तैरूनानि शेषाणि ॥11, 12॥
4. शङ्कोः प्रमाणवर्गं छायावर्गेण संयुतं कृत्वा।
   यत्तस्य वर्गमूलं विष्कम्भार्धं खवृत्तस्य ॥14॥
   शङ्कुगुणं शङ्कुभुजाविवरं शङ्कुभुजयोर्विशेषहृतं।
   यल्लब्धं सा छाया ज्ञेया शङ्कोस्स्वमूलाद्धि ॥15॥
   छायागुणितं छायाग्रविवरमूनेन भाजिता कोटी।
   शङ्कुगुणा कोटी सा छायाभक्ता भुजा भवति ॥16॥ —आ॰ भ॰ गणित
5. यश्चैव भुजावर्गः कोटिवर्गश्च कर्णवर्गस्सः।
   वृत्ते शरसंवर्गोऽर्धज्यावर्गस्स खलु धनुषोः ॥17॥ —वही

प्रमाण, फल और इच्छा होते हैं[1] (आर्यभट द्वितीय ने उनको मान, विनियम और इच्छा कहा है)। अपेक्षित उत्तर इससे आता है—

$$\frac{\text{इच्छा} \times \text{फल}}{\text{प्रमाण}}$$

यदि द्रव्य 'क' की 100 इकाइयां 'न' सिक्कों में आती हैं, तो 60 इकाइयों के लिए कितने सिक्के लगेंगे ? इस प्रश्न में 100 इकाइयां प्रमाण हैं, 'न' सिक्के फल हैं और 60 इकाइयां इच्छा हैं।

आर्यभट द्वारा वर्ग-समीकरण के हल

आर्यभट अज्ञात राशि के लिए 'गुलिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। (अनेक अज्ञात राशियों के लिए शायद वह कई रंगों की गुलिकाओं का प्रयोग करते थे, अतः नीलक, पीतक और दूसरे रंगों की गुलिकाओं की बात कही गई है, जो परवर्ती बीजगणित में नहीं मिलती)। अपने एक श्लोक में आर्यभट कहते हैं :

> दो व्यक्तियों की ज्ञात रकमों के अंतर को अज्ञात के गुणांक के अंतर से भाग देना चाहिए, अगर उनकी रकमें बराबर हों तो, भजनफल अज्ञात राशि होगी[2]।

इस नियम का सम्बन्ध नीचे लिखे जैसे प्रश्न से है : दो व्यक्तियों के पास समान राशि है, उनकी राशियां क्रमशः किसी अज्ञात राशि की क, ख गुनी और उसके साथ ग और घ इकाइयों जितना पैसा उनके पास नकद है। तो वह राशि क्या है ?

मान लो अज्ञात राशि 'य' है, तो इस प्रश्न में

$$\text{क य} + \text{ग} = \text{ख य} + \text{घ}$$

अर्थात्

$$\text{य} = \frac{\text{घ-ग}}{\text{क-ख}}$$

---

1. त्रैराशिकफलराशिं तमथेच्छाराशिना हतं कृत्वा।
 लब्धं प्रमाणभजितं तस्मादिच्छाफलमिदं स्यात्॥ —वही, 26
2. गुलिकान्तरेण विभजेद् द्वयोः पुरुषयोस्तु रूपकविशेषम्।
 लब्धं गुलिकामूल्यं यद्यर्थकृतं भवति तुल्यम्॥ —वही, 30
 यहां गुलिकान्तर शब्द 'अज्ञात के गुणांक के अंतर' के लिए आया है, 'अज्ञात राशियों के अंतर के लिए नहीं', जो शाब्दिक अर्थ है। यह प्राचीन भारतीय बीजगणित के ऐसे अनेक प्रयोगों के जैसा ही है। —पृथूदकस्वामी

और यही सूत्र आर्यभट ने दिया है।

गलत स्थिति से हल : आर्यभट एक श्लोक में अज्ञात राशियों वाले और एक खास प्रकार के वर्ग समीकरणों का नीचे लिखा हल देते हैं :

> कुछ (अज्ञात) संख्याओं के (दिए हुए) जोड़ क्रमशः एक-एक संख्या छोड़कर अलग-अलग जोड़ने से और एक कम वाली संख्याओं से भाग देने पर भजनफल कुल के मूल्य के बराबर होगा[1]।

आधुनिक चिह्न-पद्धति के अनुसार इस प्रश्न को इस तरह व्यक्त किया जा सकता है : (न=3 के लिए)।

$\Sigma य - य_1 = क_1, \Sigma य - य_2 = क_2 \ldots, \Sigma य - य_न = क_न$ जहां $\Sigma य$ का मतलब $य_1 + य_2 + \ldots + य_न$ होता है।

आर्यभट द्वारा दिया गया हल बीजगणित के अनुसार इस तरह व्यक्त किया जा सकता है :

$$\Sigma य = \sum_{र=1}^{न} क_र \,/\, (न-1)$$

आर्यभट द्वारा एक वर्ग-समीकरण का हल और बीजगणित का शिलान्यास :—आर्यभट बीजगणित के प्रथम स्थापक हैं, इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि उन्होंने हमें वर्ग समीकरण निकालने का तरीका नीचे लिखे ब्याज की दर के प्रश्न[2] के प्रसंग में बताया है :

> कोई राशि 'घ' (मान लो 100 रु०) एक महीने को ब्याज पर कर्ज दी गयी (अज्ञात ब्याज 'य' था)। अज्ञात ब्याज 'य' को फिर ब्याज पर

---

1. राश्यूनं राश्यूनं गच्छधनं पिण्डितं पृथक् तेन।
व्येकेन पदेन हृतं सर्वधनं तद् भवत्येव ॥ —आ० भ० गणित, 29

2. मूलफलं सफलं कालमूलगुणमर्धमूलकृतियुक्तम्।
मूलं मूलार्धोनं कालहृतं स्यात् स्वमूलफलम् ॥ —वही, 25
यह वर्गसमीकरण के इस तरह के प्रश्न का हल है :
फलं शतस्य मासे यद्दत्तं तत्स्वफलान्तरम्।
मासषट्के षोडशकं जातं मूलफलं वद ॥
(यह प्रश्न परमादीश्वर ने उद्धृत किया है) [अगले पृष्ठ पर—

समय 'स' (मान लो 6 महीने) के लिए दिया गया। यह समय पूरा होने पर मूल ब्याज (य) और इस ब्याज पर ब्याज सब मिलकर ब (मान लो 16 रु०) आया। तो 'घ' राशि पर ब्याज (य) की दर बताओ।

यह हिसाब वर्ग-समीकरण के हल की अपेक्षा करता है। आर्यभट प्रथम ने इस प्रश्न का हल एक श्लोक में बताया है:

> मूलधन घ में कुल ब्याज ब और स महीनों के समय का गुणा कर दो, जिनमें ब्याज पर ब्याज मिला; इसमें आधे मूलधन का वर्ग जोड़ दो, अब इस रकम का वर्गमूल निकालो। इसमें से आधा मूलधन घटा दो। इससे प्राप्त संख्या में समय 'स' का भाग दे दो। तो मासिक ब्याज की दर आ जाएगी। (25)

यदि मासिक ब्याज दर 'य' हो, तो बीजगणित के सूत्र में, आर्यभट के उपर्युक्त हल के अनुसार 'य' का मूल्य इस तरह बताया जा सकता है:

$$य=\frac{\sqrt{ब\ म\ त+(म/2)^2}-म/2}{त}$$

यह नीचे लिखे वर्ग-समीकरण का हल है:

$$त\ य^2+म\ य-बम=0$$

यह वर्ग-समीकरण नीचे लिखे प्रश्न से निकलता है:

> म पर 1 महीने का ब्याज य है। अतः य पर त महीनों का ब्याज $त\ य^2/म$ है। यह प्रश्न बताता है कि य+यह ब्याज ब के बराबर है।

इसलिए—

$$य+\frac{त\ य^2}{म}=ब$$

—पिछले पृष्ठ से]

आर्यभटीय के श्लोक का शाब्दिक अनुवाद यह होगा:

मूलधन पर ब्याज की रकम और ब्याज पर ब्याज की रकम में समय और मूलधन का गुणा कर दो। इस फल में आधे मूलधन का वर्ग जोड़ दो। इसका वर्गमूल निकाल लो। इसमें से आधा मूलधन घटा दो और बाकी में समय से भाग दे दो। फल मूलधन पर ब्याज की रकम होगी।

—डा० के० एस० शुक्ल के अनुवाद के आधार पर

या—

$$म\,य + त\,य^2 - ब\,म = 0 \text{ या } त\,य^2 + म\,य - ब\,म = 0$$

यह समीकरण य में वर्ग-समीकरण है और इसके मूल है :

$$\frac{-म \pm \sqrt{म^2 + 4\,ब\,म\,त}}{[illegible]}$$

चूंकि ऋण का चिह्न माना नहीं जाएगा, इसलिए इस हल को आर्यभट द्वारा अपने श्लोक में सुझाए गए तरीके से यों लिखा जा सकेगा :

$$य = \frac{\sqrt{ब\,म\,त + (म/2)^2} - म/2}{त}$$

आर्यभट (जन्म 476 ईसवी) द्वारा दिए गए इस वर्ग समीकरण का बड़ा ही ऐतिहासिक महत्व है। यह बीजगणित की नींव रखने वाला ही काम था।

गणित श्रेढि की संख्या पाने के लिए वर्ग समीकरण का हल

इस बारे में आर्यभट ने यह नियम दिया हैं :

> श्रेढि के योगफल में समान अंतर के आठ गुने से गुणा करके उसमें पहली संख्या के दूने में से समान अंतर को घटाकर उसके वर्ग को जोड़ा जाता है; (फल के) वर्गमूल से पहली संख्या के दूने को घटाया जाता है, फिर उसमें समान अंतर का भाग दिया जाता है : इस भजनफल का आधा और उसमें 1 जोड़कर आने वाली राशि वह संख्या है[1]।

बीजगणित की भाषा में संख्या को 'न' मानते हुए इसे इस तरह बताया जाएगा :

$$न = \frac{1}{2}\left\{\frac{\sqrt{8\,ख\,स + (2क - ख)^2} - 2क}{ख} + 1\right\}$$

यहां स श्रेढि के योगफल के लिए, 'ख' समान अंतर के लिए और 'क' पहली संख्या के लिए है।

---

1. गच्छोऽष्टोत्तर गुणिताद् द्विगुणाद्युत्तरविशेषवर्गयुतात् ।
मूलं द्विगुणाद्यूनं स्वोत्तरभजितं सरूपार्धम् ॥ —आ० भ० गणित, 20

युगपत् वर्ग समीकरण

आर्यभट ने नीचे लिखे प्रकार के युगपत् वर्ग समीकरण का हल दिया है :

$$\left.\begin{array}{r} \text{य} - \text{ज} = \text{घ} \\ \text{य ज} = \text{ख} \end{array}\right\}$$

इन युगपत् वर्ग समीकरणों के समाधान के लिए आर्यभट ने यह नियम दिया है :

> (दो संख्याओं के) गुणनफल के चार गुने में उनके अंतर के वर्ग को जोड़कर उनमें उनका अंतर जोड़ या घटाकर उसके वर्गफल का आधा दोनों गुणित संख्याओं को बता देता है[1]।

यह नियम य और ज का मूल इस तरह बताता है :

$$\text{य} = \tfrac{1}{2}(\sqrt{\text{घ}^2 + 4\text{ख}} + \text{घ}),$$

$$\text{ज} = \tfrac{1}{2}(\sqrt{\text{घ}^2 + 4\text{ख}} + \text{घ})$$

आर्यभट-प्रथम और कुट्टकार की धारणा

आर्यभटीय के गणितपाद के दो श्लोक (32 और 33) संभवतः गणित के इतिहास में कुट्टकार की धारणा के लिए सर्वप्रथम हैं। कुट्टकार की प्रक्रिया को बाद में इस देश के गणितज्ञों द्वारा ही और भी विकसित किया गया। कुट्टकार दो तरह के होते हैं : साग्र या शेष वाले और निरग्र आगे शेष न रहने वाले। इस तरह का प्रथम श्रेणी का एक अनिश्चित समीकरण साग्र कुट्टकार कहलाता है :

$$\text{न} = \text{क य} + \text{र} = \text{ख ज} + \text{स}$$

या—

$$\frac{\text{क य} \pm \text{ग}}{\text{ख}} = \text{ज}$$

यह समीकरण निरग्र कुट्टकार माना जाता है :

$$\text{न} = \text{क य} + \text{र}_1 = \text{ख ज} + \text{र}_2$$

---

1. द्विकृतिगुणात्संवर्गाद् द्व्यन्तरवर्गेण संयुतान्मूलम् ।
अन्तरयुक्तं हीनं तद् गुणकारद्वयं दलितम् ॥ —आ॰ भ॰ गणित, 24

या—

क य—ग=ख ज

कुट्टकार का हल निकालने को कुट्टन कहते हैं। यह आर्यभटीय में इस तरह वर्णित किया गया है[1] :

'ज्यादा बाकी के तत्संवादी भाजक को छोटी बाकी के तत्संवादी भाजक से भाग दो। शेष को (और बाकी के तत्संवादी भाजक को) आपस में विभाजित हो जाने पर (जब तक बाकी शून्य न आ जाए), अंतिम भजन फल को स्वेच्छिक समाकल (मति) से गुणा करो और फिर आपसी विभाजन में भजन फल कम संख्या होने पर बाकियों के अन्तर से जोड़ दो या (भजन फल की संख्या विषम होने पर) उसमें घटा दो। आपसी विभाजन के अन्य भजनफलों को क्रमशः एक के नीचे एक करके एक स्तंभ में लिखकर उसके नीचे अभी प्राप्त नतीजे को और इसके नीचे ऐच्छिक समाकल (मति) को लिख दो। नीचे की संख्या (अर्थात् आखिरी से एक कम संख्या) को उसके ठीक ऊपर वाली से गुणा किया जाता है और फिर उससे अगली को उसमें जोड़ दिया जाता है। (बार-बार ऐसा करके प्राप्त) आखिरी संख्या को छोटी बाकी के तत्संवादी भाजक से भाग कर दो, फिर शेष को ज्यादा बाकी के तत्संवादी भाजक से गुणा कर दो और ज्यादा बाकी को जोड़ दो। नतीजे में दोनों भाजकों की तत्संवादी संख्या आ जाएगी।'

(डा॰ के॰ एस॰ शुक्ल के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर।)

कुट्टकार के हल के लिए भारतीय गणितज्ञों ने कई नियम दिए हैं। हम सरल नियम भास्कर-प्रथम (629 ईसवी) की महाभास्करीय से उद्धृत करेंगे[2] :

भाजक (जो एक युग के लौकिक दिनों की संख्या हो) और भाज्य (जो अपेक्षित ग्रह की क्रान्ति-संख्या हो) युग के लौकिक दिनों की संख्या

---

1. अधिकाग्रभागहारं छिन्द्यादूनाग्रभागहारेण।
शेषपरस्परभक्तं मतिगुणमग्रान्तरे क्षिप्तम् ॥32॥
अधउपरिगुणितमन्त्ययुगूनाग्रच्छेदभाजिते शेषम्।
अधिकाग्रच्छेदगुणं द्विच्छेदाग्रमधिकाग्रयुतम् ॥33॥ —आ॰ भ॰ गणित. 32-33

2 भूदिनेष्टगणान्योन्यभक्तशेषेण भाजितौ।
हारभाज्यौ दृढौ स्यातां कुट्टकारं तयोर्विदुः ॥41॥
भाज्यं न्यसेदुपरि हारमधश्च तस्य,
खण्डयात् परस्परमधो विनिधाय लब्धम्।

[अगले पृष्ठ पर—

के और इच्छित ग्रह की क्रान्ति संख्या के आपसी भाग के (अंतिम शून्य रहित) शेष से भाग देने पर एक दूसरे के अभाज्य बन जाते हैं। उन पर कुट्टन क्रिया करनी चाहिए (अर्थात् अपकृष्ट भाजक और अपघृष्ट भाज्य पर) (यह कुट्टकार के भाजक और भाज्य पर पहली संक्रिया है ' (1. 41)

(मूल पाठ में बताया गया है कि .प्र कुट्टकार के हल की आरंभिक क्रिया के रूप में क और ख अर्थात् ग्रह की क्रान्ति संख्या (क) और युग के लौकिक दिन (ख) को उनके महत्तम समापवर्त्य से भाग देकर उनको एक दूसरे का अभाज्य बना देना चाहिए। अर्थात् कुट्टकार को हल करने में हमेशा अपघृष्ट भाजक और अपघृष्ट भाज्य को काम में लाना चाहिए। बाकी को भी उसी गुणांक से भाग देना चाहिए। यह हिदायत मूलपाठ में नहीं दी गई है, पर यह निहितार्थ है कि बाकी को अपघृष्ट भाजक और भाज्य के लिए गिनना चाहिए।)

—के० एस० शुक्ल

भाज्य ऊपर रखिए और भाजक नोचे। उनको आपस में भाग दीजिए और भजनफल (एक शृंखला में) एक के नीचे एक लिखते जाइए (जब सम संख्या में भजन फल आजाएं)। सोचिए कि किस संख्या का (आखिरी) बाकी में गुणा किया जाए, जिससे गुणनफल में से (दी गई) बाकी घटाने पर शेष में (उस बाकी के तत्संवादी भाज्य से) ठीक भाग चला जाए। चुनी गई संख्या (मति) शृंखला के नीचे लिख दीजिए और नया भजनफल उसके नीचे। फिर मति संख्या से उसके ठीक ऊपर के अंक को गुणा कीजिए और गुणनफल में (मति संख्या के नीचे वाली संख्या) जोड़ दीजिए। (योगफल को ऊपर की संख्या

पिछले पृष्ठ से]

केनाऽऽहतोऽयमपनीय यथाऽस्य शेषं,
भागं ददाति परिशुद्धमिति प्रचिन्त्यम् ॥42॥
आप्तां मतिं तां विनिधाय वल्ल्यां,
नित्यं ह्यधोऽधः क्रमशश्च लब्धम्।
मत्या हतं स्यादुपरिस्थितं यल्-,
लब्धेन युक्तं परतश्च तद्वत् ॥43॥
हारेण भाज्यो विधिनोपरिस्थो,
भाज्येन नित्यं तदधःस्थितश्च।
अह्नांगणोऽस्मिन् भगणादयश्च,
तद्वा भवेद्यस्य समीहितं यत् ॥44॥

—म० भास्क० 1. 41-44

के स्थान पर लिखिए और नीचे की संख्या काट दीजिये)। आगे भी इसी तरह करिए (जब तक केवल दो अंक न बच जाएं)। ऊपर की संख्या में (जिसे गुणक कहते हैं) भाज्य से भाग दीजिए; (इस तरह आई) बाकी क्रमश: अहर्गण और क्रान्ति आदि होगी, जो अभीप्सित है।'

— 1. 42-44

उदाहरण के लिए हम इस कुट्टकार को हल करेंगे :

$$\frac{36641\ य - 24}{394479375} = ज$$

यहां य शनि के अहर्गण बताता है और शनि की क्रांति संख्या 'ज' से बताई गई है। 24 शनि को क्रान्तियों का शेष है (यह प्रश्न भास्कर-प्रथम की लघुभास्करीय 8. 17—से लिया गया है)।

हम 36641 और 394479375 को आपस में बांट दें। तो यह नतीजा निकलता है (जैसा कि महत्तम समापवर्तक के प्रश्नों में)।

36641) 394479375 (10766
394477006
———
2369) 36641 (15
35535
——
1106) 2369 (2
2212
——
157) 1106 (7
1099
——
7) 157 (22
154
——
3) 7 (2
6
—
1 × 27 — 24 = 3 (1
3
—
0

यहां हमने मति संख्या 27 चुनी है है। वस्तुत: सम संख्या में भजनफल आ जाने पर मति संख्या को कभी चुना जा सकता है।

अब हम भजनफलों को एक के नीचे एक करके लिख सकते हैं, जैसा कि नियम में बताया गया है और फिर शृंखला (फलवल्ली) को उत्तरोत्तर घटाते चले जाएं :

एक	दो	तीन	चार	पांच	छः	सात	
10766	10766	10766	10766	10766	10766	3108044439	(गुणक)
15	15	15	15	15	288689	288689	(भजनफल)
2	2	2	2	18665	18665		
7	7	7	8714	8714			
22	22	1237	1237				
2	55	55					
(मति)							
27	27						
1							

स्तंभ एक में 27 मति हैं; स्तंभ दो में 27×2 धन 1=55; स्तंभ तीन में 55×22 धन 27=1237; स्तंभ चार में 1237×7 धन 55=8714; स्तंभ पांच में 8714×2 धन 1237=18665; स्तंभ छः में 18665×15 धन 8714=288689; और स्तंभ सात में 288689×10766 धन 18665=3108044439। यह ऊपरी संख्या है जिसे गुणक कहते हैं। इसमें भाजक से भाग दो।

$$\frac{\text{गुणक}}{\text{भाजक}}=\frac{3108044439}{394479375}=7+\frac{346688814}{394479375}$$

अर्थात् बाकी 346688814 है।

इसी तरह भजनफल (नीचे की संख्या 288689) में भाज्य 36641 से भाग दो :

$$\frac{\text{भजनफल}}{\text{भाज्य}}=\frac{288689}{36641}=7+\frac{32202}{36641}$$

अर्थात् भाग में शेष 32202 रहता है।

ये बाकियां 346688814 और 32202 'य' और 'ज' के न्यूनतम मूल्य हैं जो कुट्टकार के उपर्युक्त समीकरण की मांग को पूरा करती हैं। ये बाकियां क्रमशः शनि के अहर्गण (346688814) और क्रान्तियां (322021) हैं।

भाजक में भाज्य ज्यादा होने पर कुट्टकार

महाभास्करीय का श्लोक 1-47 ऐसे मामले में कुट्टकार[1] का हल इस तरह बताता है :

> यदि भाजक से भाज्य अधिक हो तो भाजक अधिकतम गुणन को (भाज्य) से घटा दो और वही प्रक्रिया (ऊपर श्लोक 42-44 में बताई गई) पूरी करो। इस तरह प्राप्त गुणक में उस गुणन से गुणा करो और (गुणनफल में) भजनफल (कम की गई श्रृंखला या वल्ली में छोटी संख्या) जोड़ दो। नतीजा यहां (अपेक्षित) भजनफल आ जाएगा।

मान लो कुट्टकार है

$$\frac{\text{क य—ग}}{\text{ख}} = \text{ज} \qquad \text{....(1)}$$

जहां क$>$ख है। तो अगर क$=$म ख$+$क, क$<$ख और समीकरण (1) इस तरह लिखा जाए

$$\frac{\text{क य—ग}}{\text{ख}} = \text{ज} \qquad \text{...(2)}$$

जहां ज$=$ज$+$म य हो।

अगर य$=\alpha$, ज$=\beta$ समीकरण (2) का हल हो, तो य$=\alpha$ और ज$=$म$\alpha+\beta$ समीकरण (1) का हल होगा इसलिए भास्कर-प्रथम द्वारा दिए गए नियम का औचित्य हम तुरन्त समझ सकते हैं।

इस नियम को महाभास्करीय के इस उदाहरण से समझाया जा सकता है।

सूर्य के (माध्य) देशान्तर के एक तिहाई भाग तत्पराओं तक के सभी राशि आदि चिह्न आंधी में उड़ गए है। तत्पराओं की बाकी मुझे मालूम है जो 101 है। मुझे सूर्य का (माध्यम) देशान्तर और अहर्गण बताओ[2]।

---

1. भाज्योऽधिको यदि भवेत् खलु हारराशे-
   स्तत्राधिकं समपनीय तथैव कर्म।
   तेनाधिकेन गुणितो गुणकारराशि-
   युंक्तोऽधरेण स भवेत् पृथगत्र लब्धम् ॥47॥ —म० भा० 1. 47
2. नीता रवेर्बलवता मरुता समस्ता, राश्यादयोऽत्र गणिताः सह तत्पराभि.।
   शेषो मया परिगतः खलु तत्पराणां सैकं शतं कथय भानुमहर्गणं च ॥
   —म० भा० 8. 13

सूर्य का अपघृष्ट भाज्य=576 क्रान्तियां

$=576 \times 12 \times 30 \times 60 \times 60 \times 60$

$= 44789760000$ तत्पराएं

(तत्परा या चाप का तिहाई अर्थात् चाप के सेकिंड का साठवां भाग)। इस तरह हमें यह समीकरण हल करना है :

$$\frac{44789760000\text{य}-101}{210389}=\text{ज} \qquad ...(3)$$

जहां ज अहर्गरण है और तत्पराएं, जो कलियुग के आरम्भ से सूर्य द्वारा बताई गई हैं।

इस समीकरण में भाज्य 44789760000 भाजक 210×389 से ज्यादा है। इसलिए हम भाज्य को भाजक से बांट दे और समीकरण को इस तरह लिखें-

$$\frac{45790\ \text{य}-101}{210389}=\text{ज} \qquad ...(4)$$

यहां ज का सम्बन्ध ज से है ज=212890 य+ज (212890 और 45790 भजनफल और बाकी के रूप में 44789760000 में 21389 का भाग देने पर आए हैं)।

ऊपर बताई गई प्रक्रिया से इस समीकरण को हल करने पर हमें मिलता है कि—

य=106141

ज=23101

इसलिए समीकरण का हल—

य=106141

ज=212890 य+ज

=22596380591

अतः चाहा गया अहर्गरण 106141 है और सूर्य का माध्य देशान्तर 22596380591 तत्परा है अर्थात् 3 राशि, 32 अंश, 52 कला, 23 विकला और 11 तत्परा[1]।

1: यह के० एस० शुक्ल के महाभास्करीय के संस्करण से लिया गया है।

वो भाजक सबसे ज्यादा बाकी देता है, उसमें सबसे कम बाकी देनेवाले भाजक से भाग दिया जाता है; शेष को आपस में भाग दिया जाता है और भजनफल

[अगले पृष्ठ पर—

इस तरह कुट्टकार के प्रसंग में उद्धृत आर्यभटीय के दो श्लोकों में ये बातें भी बताई गई हैं : ज्यादा बाकी भाजक (अधिकाग्रभागहार) कम बाकी भाजक (ऊनाग्रभागहार) आपसी भजन की प्रक्रिया (शेष परस्परभक्तं) शृंखला बनाना (छलवल्ली) चुनी गई संख्या (मति) की कल्पना, इस मतिसंख्या में शृंखला वाली उसके ठीक ऊपर की संख्या से गुणा किया जाता है और गुणनफल में शृंखला में इसके ठीक नीचे लिखे भजनफल को जोड़ा जाता है और इसी तरह तब तक आगे चला जाता है, जब तक केवल दो संख्याएं ही बच जाएं। ये गुणक ये गुणक और भजनफल होते हैं। इस तरह कुट्टक हिसाब का श्रेय हम आर्यभट को दे सकते हैं, जिनकी भास्कर-प्रथम ने अपनी महाभास्करी में विशद व्याख्या की थी (629 ईसवी) और फिर ब्रह्मगुप्त (628 ईसवी) ने अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में भास्कर-द्वितीय (जन्म 1114 ईसवी) ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि में और इसके बीजगणित वाले भाग में और इन ग्रन्थों के विभिन्न टीकाकारों ने भी इनकी विशद व्याख्या की।

पाटीगणित और बीजगणित का सम्बन्ध

आर्यभट-प्रथम ने बीजगणित की नींव 500 ईसवी में रखी थी, जब उन्होंने वर्गसमीकरण का और अनिश्चित समीकरण (कुट्टक गणना) का हल दिया था। भास्कर-द्वितीय बीजगणित सम्बन्धी अपने ग्रन्थ के अंत में अपने से पहले के बीज-गणित के विद्वान् ब्रह्मा, श्रीधर और पद्मनाभ[1] के नाम लेते हैं। आज ब्रह्मा और पद्मनाभ के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं मालूम पड़ते। श्रीधराचार्य के 'पाटीगणित' को, जो अंकगणित का बड़ा भव्य ग्रन्थ है, सुसम्पादित और अनूदित करके लखनऊ विश्वविद्यालय के कृपाशंकर शुक्ल ने निकाला है (1959)। पाटीगणित भार-

---

—पिछले पृष्ठ से]

अलग-अलग एक दूसरे के नीचे लिखे जाते हैं। (आपसी भाग के) शेष में ऐसी मति (चुनी हुई) संख्या से गुणा किया जाता है कि गुणनफल उसमें जोड़ने पर बाकियों का अंतर (शेष के भाजक द्वारा) पूरा बंट सके। गुणक को (नीचे) लिया जाता है और उसके ऊपर और आखिरी संख्या में जोड़ा गया गुणनफल अग्रान्त होता है। इसमें भाजक द्वारा भाग दिया जाता है और कम से कम बाकी आ जाती है। शेष में ज्यादा बाकी छोड़ने वाले भाजक से गुणा किया जाता है। इसे ज्यादा बाकी से जोड़ देने पर जो आता है, वह भाजकों से गुणनफल द्वारा भाग का शेष होता है। (ब्राह्मस्फुट सिद्धांत अध्याय 18, नियम 3–61 यह वही है जो आर्यभट प्रथम ने प्रति-पादित किया था। देखिए डब्ल्यू० ब्रैनान्ड की 'हिन्दू एस्ट्रानोमी' 186. पृ० 168

1. ब्राह्माह्वय श्रीधरपद्मनाभबीजानि यस्मादतिविस्तृतानि।
आदाय तत्सारमकारि नूनं सद्युक्तियुक्त लघुशिष्य तुष्ट्यै॥

तीय गणित की अंकगणित और क्षेत्रमिति से सम्बन्धित शाखा है। इस बात की सम्भावना है कि ईसवी सन् से कुछ पहले इस विषय ने कुछ स्वतन्त्र स्तर प्राप्त कर लिया हो, जब अंकगणित अलग विषय बन गया और ज्यामिति (पहले कल्प-रूप या शुल्वसूत्र के साथ वर्गीकृत) इसके साथ शामिल की गई। पाटीगणित पर सबसे पुराना ग्रन्थ बखशाली पांडुलिपि है (संपादक जी० आर० काये, भाग 1 और 2, कलकत्ता, 1927 और भाग 3 दिल्ली 1933), जिसकी रचना लगभग 200 ईसवी में हुई थी और जिसका पता एक किसान ने खुदाई करते समय भारत के पश्चिमोत्तर में पेशावर के पास बखशाली गांव में (अब पाकिस्तान में) 1881 ईसवी में चलाया था। इससे तीसरी सदी ईसवी में पाटीगणित में आई प्रौढ़ि का पता चलता है। भास्कर-प्रथम (629 ई०) मस्करी पूरण, मुद्गल, पतन तथा अन्य विद्वानों के ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं, जो केवल पाटीगणित के ऊपर ही थे। आर्यभट की आर्यभटीय में हम देख चुके हैं कि गणितपाद में संकेत में पाटीगणित के कुछ विषय लिए गए हैं।

पाटीगणित में 29 परिकर्म, (लाजिस्टिक्स) होते हैं और 9 व्यवहार (निर्धारण) :

परिकर्म

1. संकलित—(जोड़)
2. व्यवकलित—(बाकी)
3. प्रत्युत्पन्न—(गुणा)
4. भागहार—(भाग)
5. वर्ग
6. वर्गमूल
7. घन
8. घनमूल

9—16 भिन्नों के यही काम

17—22 कलासवर्ण—छः तरह की भिन्नों को हल करना

23. त्रैराशिक
24. व्यस्त त्रैराशिक—(पलट) त्रैराशिक
25. पंचराशिक
26. सप्तराशिक
27. नवराशिक
28. भांड-प्रतिभांड (वस्तु-विनिमय)
29. जीवविक्रय

व्यवहार

1. मिश्रक
2. श्रेढी—(शृंखला)
3. क्षेत्र
4. खात—(गड्ढ)
5. चिति—(ईटों के ढेर)
6. क्रकच—(आरे से कटे टुकड़े)
7. राशि—(अनाज के ढेर आदि)
8. छाया
9. शून्यतत्त्व—(शून्य का गणित)

भास्कर-प्रथम ने आर्यभटीय पर अपनी टीका में आठ व्यवहारों का जिक्र किया है : मिश्रक, श्रेढी, क्षेत्र, खात, चिति, क्रकचिका, राशि और छाया। वह आगे कहते हैं कि व्यवहारगणित (पाटीगणित या व्यापारिक गणित जैसा ही) में चार बीज होते हैं : पहला, दूसरा, तीसरा और चौथा अर्थात् यावत्-तावत (सरल समीकरण का सिद्धांत), वर्गावर्ग (वर्ग समीकरण का सिद्धांत), घनाघन (घन समीकरण का सिद्धांत) और विषम (अनेक अज्ञात राशियों वाला समीकरण सिद्धांत)। भास्कर आगे कहते हैं कि इनमें से प्रत्येक से सम्बन्धित नियम और उदाहरण मस्करी, पूरण, मुद्गल और अन्य लोगों द्वारा संकलित (स्वतंत्र) ग्रन्थों में दिए गए हैं (आर्यभटीय 1.1 पर भास्कर की टीका)। मस्करी पूरण और मुद्गल के ये ग्रन्थ समय की गति से बच न सके और भास्कर-प्रथम के उनके बारे में कथन के अनुरूप उनका सम्बन्ध मात्र पाटीगणित और बीजगणित से रहा होगा। शुक्ल श्रीधराचार्य पाटीगणित की अपनी भूमिका में कहते हैं कि उनमें से कुछ आर्यभट-प्रथम के समय या उनसे पहले विद्यमान रहे होंगे। भास्कर-प्रथम ने इनमें से अंकगणित के नियम दिए हैं, जो यह बताते हैं कि अंकगणित सम्बन्धी इन आरंभिक ग्रन्थों में गणना के फल को परखने के नियमों को शामिल करने की विशेषता भी थी। बखशाली पांडुलिपि भी परखने के नियमों के महत्त्व का उल्लेख करती है, जो हल का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आर्यभटीय में भी हमें सरल क्षेत्रों के क्षेत्रफल परखने के नियम मिलते हैं (गणितपाद)[1]।

इस समय हमारे पास पाटीगणित (अंकगणित और क्षेत्रमिति) की ये कृतियां उपलब्ध[2] हैं :

---

1. सर्वेषां क्षेत्राणां प्रसाध्य पार्श्वे फलं तदभ्यासः। —आ० भ० गणित, 9. 1
2. जो ग्रन्थ अब खो चुके हैं, वे हैं : लल्ला (आठवीं सदी) का पाटी गणित, लल्ला का सिद्धांत तिलक और गोबिन्द (नवीं सदी ईसवी की गोविन्दकृत) इनके उद्धरण बाद के ग्रन्थों में मिलते हैं।

महावीर (850 ईसवी) का गणितसार संग्रह

श्रीधराचार्य का पाटीगणित और पाटीगणितसार (त्रिशतिका)
(लगभग 900 ईसवी अर्थात् महावीर, 850 और आर्यभट-द्वितीय, 950 ईसवी के बीच)।

श्रीपति (1039 ईसवी) का गणिततिलक।

भास्कर-द्वितीय (1150 ईसवी) की लीलावती

नारायण (1356 ईसवी) की गणित कौमुदी

नीचे लिखे ज्योतिष-ग्रन्थ अपने एक अध्याय में अंकगणित और क्षेत्रमिति की भी चर्चा करते हैं :

ब्रह्मगुप्त (628 ईसवी) का ब्राह्मस्फुट सिद्धांत—इसका बारहवां अध्याय पाटीगणित को लेता है।

आर्यभट-द्वितीय (करीव 950 ईसवी) का महासिद्धांत--इसके पन्द्रहवें अध्याय का नाम पाटीगणित है।

श्रीपति (1039 ईसवी) का सिद्धांत शेखर—इसके तेरहवें अध्याय का नाम है व्यक्त गणिताध्याय, और यह पाटीगणित को लेता है।

ये सभी ग्रन्थ परिकर्म और व्यवहार दोनों को लेते हैं।

श्रीधर और आर्यभट द्वारा वर्ग समीकरण का हल

आर्यभट-प्रथम और श्रीधराचार्य दोनों ने उस स्थिति में अंकगणितीय श्रेणी के प्रश्न के सिलसिले में एक वर्ग समीकरण का हल दिया है, जब पहली संख्या, समान अतर और श्रेणी का योग दिया हो। इस प्रश्न का समाधान नीचे दिया गया वर्ग समीकरण का हल है :

$$\text{घ न}^2 + (2\text{ क} - \text{घ})\text{ न} - 2\text{ स} = 0$$

श्रीधराचार्य[1] ने श्रेढिव्यवहार श्लोक 87 में यह हल दिया है।

श्रेणी के फल (योग) में समान अन्तर (प्रचय) के आठ गुने से गुणा करो और (उस गुणनफल में) पहली संख्या के दूने और प्रचय के अन्तर का वर्ग जोड़ दो : इसका वर्गमूल निकाल लो। इस (वर्गमूल)

---

1. अष्टोत्तरहतफलतो द्विगुणादि प्रचयविवरकृतियुक्तात्।
मूलं द्विगुणमुखोनं सचयं द्विचयोद्धृतं गच्छः ॥ —श्रीधराचार्य, पा० ग०, श्रेढी, 87

में पहली संख्या को घटा दो और प्रचय जोड़ दो, तो श्रेणी की संख्याएं (गच्छ) आ जायेगी।

हम जानते हैं कि गणितीय श्रेणी में इस श्रृंखला का जोड़ क+(क+घ) (क+2 घ)+·········न संख्या तक।

इससे पता चलता है।

$$स \left[\frac{न-1}{2} घ+क\right] न$$

जिसमें क आदि संख्या है, घ समान अन्तर (उत्तर, प्रचय या चय) है और न संख्याएं (गच्छ) हैं, जिससे

$घन^2+(2क-घ)न-2स=0$

श्रीधराचार्य के अनुसार इस समीकरण का हल है

$$न=\frac{\sqrt{8 घ स+(2 क-घ)^2}-2 क+घ}{2 घ}$$

आर्यभट ने यह हल कुछ भिन्न रूप में दिया है,[1] पर मूलतः यह वही है। उनका हल है।

$$न=\frac{1}{2}\left[\frac{\sqrt{8 घ स+(2 क-घ)^2}-2 क}{घ}+1\right]$$

गच्छ (या श्रृंखला की संख्याएं) दी गई हैं, इस तरह श्रेणी के योग (सर्वधन) को चय (समान अंतर) के आठ गुने से गुणा करो और (उस गुणनफल में) आदि संख्या के दूने और समान अंतर (उत्तर) के अंतर का वर्ग जोड़ दो; इसका वर्गमूल निकाल लो। इस (वर्गमूल) में आदि संख्या का दूना घटा दो। इसमें अंतर (उत्तर) का भाग दे दो। इसमें 1 सरूप जोड़ दो और कुल का आधा ले लो।

परमादीश्वर ने आर्यभटीय पर अपनी टीका में इसके लिए गणितीय श्रेणी का वह उदाहरण लिया है जिसकी पहली संख्या (आदिधन) 5 है और समान अंतर (चय) 7 है और श्रेणी का जोड़ (सर्वधन या लब्धधन) 1037

---

1. गच्छोऽष्टोत्तर गुणिताद् द्विगुणाद्युत्तरविशेषवर्गयुतात्।
मूलं द्विगुणाद्यूनं स्वोत्तरभजितं सरूपार्धम्॥ —आ० भ० गणित, 20

है। गच्छ या श्रृंखला की संख्याओं का पता लगाना है। लब्धघन 1037 में उत्तर (समान अंतर) के आठगुने का गुणा करो। इससे गुणनफल 58072 आता है। पहली संख्या का दूना 10 हैं, जिसमें से उत्तर 7 को घटाकर उसका वर्ग कर लो $(10-7)^2$; इससे नौ आते हैं। इसे 58072 में जोड़ने से 58081 आते हैं। इसका वर्गमूल 241 है। इसमें पहली संख्या का दूना (5×2) घटाने पर 231 आए। इसे समान अंतर (प्रचय) 7 से भाग देने से 33 आया। इसमें 1 जोड़कर आधा करने से 17 आया। यह अज्ञात संख्या गच्छ है और वर्ग समीकरण का हल :

श्रीधराचार्य ने अपते पाटीगणित में कुछ और समीकरणों का हल दिया है। उनके हलों से सम्बन्धित मैं दो नियमों का जिक्र करूंगा।

(एक) वर्ग समीकरण इस प्रकार का है :

$$य - प\sqrt{य} = घ$$

यहां प पाद है, घ दृश्य संख्या है और $\sqrt{य}$ का निश्चित वर्गमूल है, दिया गया हल यों है :

$$य = \left[\frac{\sqrt{4घ+प^2}+प}{2}\right]^2$$

यह हल इस तरह वर्णित किया गया है[1] :

जब दृश्य संख्या वर्गमूल के पास होती है, तो उस दृश्य संख्या में 4 का गुणा करो, फिर उसमें पाद का वर्ग (अर्थात् अज्ञात संख्या के वर्गमूल का गुणांक) जोड़ दो फिर उसका वर्गमूल घटा दो और उसमें पाद जोड़ दो। फिर आधे का वर्ग निकाल लो।

(दो) वर्ग समीकरण इस प्रकार का है :

$$य - \frac{क}{ख}य - प\sqrt{य} = घ$$

यहां क/ख भिन्न है, प पाद है, घ दृश्य संख्या है और य का निश्चित वर्गमूल $\sqrt{य}$ है :

---

1. मूलासन्नचतुर्गुणाद्दृश्यात्पदवर्गसंयुतान्मूलम्।
सपदं तदर्धवर्गो निरंशरूपेण दृश्यद्धृतिः॥ —पा० ग० मिश्रक, 75

इस वर्ग समीकरण का हल इस तरह दिया गया है :

$$य = \left[\frac{प}{2\,(1—क/ख)} + \sqrt{\left\{\frac{प}{2\,(1—क/ख)}\right\}^2 + \frac{घ}{1—क/ख}}\right]^2$$

यह हल इस तरह वर्णित किया गया है :[1]

पाद (अर्थात् अज्ञात संख्या में वर्गमूल के गुणांक) को और दृश्य संख्या (या अंतिम बाकी, अग्र) को 1 में से भिन्न को घटाकर पहले भजनफल के आधे को दूसरे भजनफल में जोड़ दो और फिर उसका वर्गमूल निकाल लो और फिर उसमें पहले भजनफल का आधा जोड़ दो फिर उसका उसी में गुणा कर दो।

कहा जाता है कि श्रीधराचार्य ने बीजगणित पर भी एक पृथक् ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ में भास्कर-द्वितीय ने अपने बीजगणित में वर्ग समीकरण हल करने का एक नियम उद्धृत किया है। इस नियम को श्रीधराचार्य सूत्र द्वारा कहते हैं और यह इस तरह है :

(वर्ग समीकरण ($क\,य^2+घ\,य—ग$) के) दोनों ओर को अज्ञात संख्या के वर्ग के गुणांक से चार गुने बराबर ज्ञात संख्या से गुणा करो; दोनों ओर अज्ञात संख्या के (मूल) गुणांक के वर्ग के बराबर एक ज्ञात संख्या जोड़ दो; और फिर वर्गमूल घटा दो।

$$क\,य^2 + ख\,य = —ग$$

4 क से गुणा करने पर आता है

$$4\,क^2\,य^2 + 4\,क\,ख\,य = —4\,क\,ग$$

$ख^2$ को दोनों ओर जोड़ने पर

$$4\,क^2\,य^2 + 4\,क\,ख\,य + ख^2 = ख^2 — 4\,क\,ग$$

$$\text{जिससे } (2\,क\,य + ख)^2 = ख^2 — 4\,क\,ग$$

या $$2\,क\,य + ख = \pm\sqrt{ख^2 — 4क\,ग}$$

$$\therefore\ य = \frac{—ख \pm \sqrt{ख^2 — 4\,क\,ग}}{2\,क}$$

---

1. भागोन रूपहृतयोः पदाग्रयोरादिमार्धं कृति युक्तादु।
इतरस्माद्यन्मूलं तदादिमार्धान्वितं स्वगुणम् ॥ —वही, 76

श्रीधराचार्य का यह उद्धरण जिनराज (1503 ईसवी) बीजगणित में भी आया है और भास्कर-द्वितीय के बीजगणित पर सूर्यदास की टीका (1541 ईसवी) में भी। यह बताता है कि भास्कर के समय श्रीधराचार्य का बीजगणित उपलब्ध था और इस विषय पर यह एक विस्तृत ग्रन्थ था।

हम श्रीधराचार्य के बारे में ज्यादा नहीं जानते, जिनको न केवल पाटीगणित में एक प्रमाणिक विद्वान् माना गया था बल्कि अपने बीजगणित के ग्रन्थ के लिए भी। अपने पाटीगणित सार में पहले श्लोक में ही वह अपना नामोल्लेख करते हैं, पर उनके माता-पिता आदि के बारे में हमें और कोई ब्यौरे नहीं मिलते। अपने पाटीगणित में वह 'अज-ईश्वर' (अजन्मा भगवान) को नमस्कार करते हैं, जो सृष्टि, पालन और संहार के हेतु हैं। पाटीगणित सार में वह शिव को प्रणाम करते हैं और बहुत सम्भव है कि वह शिवभक्त रहे हों। वह जैन न थे, जैसा कि विद्वानों ने इस कारण माना है कि कर्नाटक के एक जैन पुस्तकालय में मिली त्रिशतिका की एक पांडुलिपि में शिवम् के स्थान पर जिनम् शब्द आया है (बाकी सभी पांडुलिपियों में शिवम् शब्द हैं जिनम् नहीं)। जैसा हम पहले कह आए हैं श्रीधर गणितसार संग्रह के प्रसिद्ध जैन लेखक महावीर (850 ईसवी) के बाद और महासिद्धान्त के लेखक आर्यभट-द्वितीय (करीब 950 ईसवी) से पहले हुए थे (इसके लिए डा० के. एस, शुक्ल की श्रीधराचार्य के पाटीगणित की भूमिका देखिए)। हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि यह गणितज्ञ उत्तरवासी था या दाक्षिणात्य; कुछ और विद्वान उनका नाम कर्नाटक स्थल से जोड़ते हैं। सुधाकर द्विवेदी का विचार है कि यदि यह न्यायकन्दली लिखने वाले व्यक्ति हों, तो यह बंगाल के राधा जिले के भूरिश्रृष्टि या भूरिश्रेष्ठिका में रहते थे।

भास्कर-द्वितीय द्वारा बीजगणित का विस्तार

भारत के गणितज्ञ और ज्योतिर्विदों में भास्कर-द्वितीय का बहुत ऊंचा स्थान है। (1) वह सिद्धान्तशिरोमणि (2) करणकुतूहल (3) लीलावती और (4) बीजगणित के सुप्रसिद्ध लेखक हैं। ये ग्रन्थ अब भी बड़े लोकप्रिय हैं और इनकी बहुत सी टीकाएं मिलती हैं। भास्कर-द्वितीय ने अपने सिद्धान्त-शिरोमणि पर वासनाभाष्य स्वयं लिखा है, इस टीका पर नृसिंह 1621 ईसवी) ने वासना-वार्तिक लिखा है और मुनीश्वर (1635) ने मरीचि टीका लिखी है। विलकिन्सन ने इसके गोलाध्याय का अंग्रेजी अनुवाद 1861 में निकाला था।

करण-कुतूहल पर सुमति हर्ष की टीका (सम्पादक माधव शास्त्री बम्बई, 1901) मिलती है।

एच. टी. कोलब्रुक ने लीलावती का अंग्रेजी अनुवाद 'एलजेबरा विद अरिथमैटिक एंड मैंसुरेशन फ्राम दी संस्कृत आफ ब्रह्मगुप्त एंड भास्कर' (1817)

नाम से निकाला था; इसका हाराणचन्द्र बनर्जी द्वारा पुनः सम्पादित दूसरा संस्करण, कलकत्ते से 1927 में निकला; साथ ही जे. टेलर का लीलावती का अंग्रेजी संस्करण, 1816 भी मिलता है। इसके अलावा बहुत सी पुरानी टीकाएं हैं: गणेश दैवज्ञ (1545 ईसवी) की बुद्धिविलासिनी, गंगाधर (1432) की गणितामृतसागरी, रामकृष्ण (1339) की गणितामृतलहरी, रामकृष्ण देव की मनोरंजन, सूर्यदास (1541) की गणितामृतकूपिका, लक्ष्मीदास (1500) की चिन्तामणि और मुनीश्वर (1608) की निःसृष्टदूती।

कोलब्रुक ने भास्कर के बीजगणित का भी अंग्रेजी अनुवाद इस नाम से निकाला था 'ऐलजेबरा विद अरिथमेटिक एण्ड मैंसुरेशन फ्राम दी संस्कृत आफ ब्रह्मगुप्त एण्ड भास्कर' लन्दन (1817)। इसकी ये पुरानी टीकाएं मिलती हैं: कृष्णदैवज्ञ (1600 ईसवी) की नवांकुर, रामकृष्ण (1648) की बीजप्रबोध, और कुछ हाल की टीकाएं ये हैं: दुर्गाप्रसाद द्विवेदी की टीका, लखनऊ, 1917; अच्युतानन्द की विमला टीका जिसके साथ जीवनाथ झा दैवज्ञ (1949) की सुबोधिनी टीका भी है।

भास्कर-द्वितीय का जन्म 1036 शक (1114 ईसवी) में हुआ था, जैसा कि सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय के श्लोक 58 से पता चलता है,[1] इसे उन्होंने 36 साल की उम्र में 1150 में लिखा था। करण-कुतूहल वर्ष 1105 शक (1183-84) में लिखा गया था और उसी साल उन्होंने सिद्धान्त शिरोमणि में गणिताध्याय और गोलाध्याय पर वासना टीका लिखी और इस तरह 'करण' को लिखते समय उनकी आयु 69 साल की थी। गोलाध्याय (प्रश्नाध्याय) में उन्होंने अपने बारे में लिखा है। उनका गांव सह्याचलाश्रितपुर का विज्जडविड (सह्याद्रि की एक शाखा पर गांव पाटण या विज्जडविड) उनका वंश-वृक्ष कुछ शिलालेखों में मिलता है[2]। उनके पिता और गुरु महेश्वर थे। वंश वृक्ष

---

1. रसगुणपूर्णमही (1036) समशकनृपसमयेऽभवन्ममोत्पत्तिः।
रसगुणवर्षेण मया सिद्धान्तशिरोमणी रचितः ॥58॥
आसीत् सह्यकुलाचलाश्रितपुरे त्रैविद्यविद्वज्जने नानासज्जनधाम्नि विज्जडविडे शाण्डिल्यगोत्रो द्विजः। श्रौतस्मार्त्तविचारसारचतुरो निःशेषविद्यानिधिः साधूनामवधिर्महेश्वरकृती दैवज्ञचूडामणिः ॥61॥
तज्जस्तच्चरणारविन्दयुगलप्राप्तप्रसादः सुधी मुग्धोद्बोधकरं विदग्धगणकप्रीतिप्रदं प्रस्फुटम्। एतद् व्यक्तसदुक्तियुक्तिबहुलं हेलावगम्यं विदां सिद्धान्तग्रथनं कुबुद्धिमथनं चक्रे कविर्भास्करः ॥62॥
—सि० शि० गोला०, प्रश्ना०

2. शांडिल्यवंशे कविचक्रवर्ती त्रिविक्रमोऽभूत्तनयोऽस्य जातः।
यो भोजराजेन कृताभिधानो विद्यापतिर्भास्करभट्टनामा ॥17॥ [अगले पृष्ठ पर—

इस तरह है : त्रिविक्रम, भास्करभट्ट, गोविन्द, प्रभाकर, महेश्वर, भास्कर, लक्ष्मीधर, चंगदेव। उनके पुत्र लक्ष्मीधर भी ज्योतिषी थे। और राजा जैत्र-पाल (1113-32 शक) की सभा में थे। पौत्र चंगदेव राजा जैत्रपाल के पुत्र सिंघण चक्रवर्ती (1132-1169 शक) के ज्योतिषी थे।

भास्कर की सिद्धान्त शिरोमणि चार भागों में बंटी हुई एक मोटी पुस्तक है। इन भागों को फिर अध्यायों में बांटा गया है। पहले भाग को पाटीगणित या लीलावती भी कहते हैं। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जो कहीं-कहीं श्रीधर और ब्रह्मपुत्र के पाटीगणित पर आधारित है और शायद आर्यभट, लल्ला और दूसरे आचार्यों की रचनाओं पर भी। इसमें लगभग 278 श्लोक हैं। ग्रन्थ यूनिटों संक्षिप्त विवरण से शुरू होता है (जिसमें विदेशी तुरुष्क और आलमगिर शाह द्वारा चलाई गई यूनिटें भी शामिल हैं)। इसके बाद दशगुणोत्तर प्रणाली के अनुसार अंक आते है—इकाई, दहाई, सैकड़ा से परार्द्ध तक (10^{17})। आठ प्रक्रियाएँ (परिकर्माष्टक) जैसे जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, धन-मूल हैं। फिर यही आठ प्रक्रियाएँ भिन्नों और शून्य को लेकर हैं। इसके बाद इष्टकर्म, त्रैराशिक, पंचराशिक, इनके पलट नियम, मिश्रण, श्रेणी, सरल क्षेत्र फल (श्रोत्रव्यवहार), खात (गड्ढे), चिति (ईंटों के ढेर), क्रकच (आरे से कटे हुए टुकड़े), ढेर (राशि), छाया और कुट्टक के प्रश्न आते हैं; आखीर में इनके मिश्रण और इनके भेद (अंकपाश)।

सिद्धान्त शिरोमणि के दूसरे भाग का नाम बीजगणित कहा जाता है, जिसमें 213 श्लोक हैं और बहुधा बीच के गद्यांश भी आ गए हैं, वर्ष 1587 और 1634 के आस-पास महान् मुगल सम्राट अकबर ने लीलावती और बीजगणित

—पिछले पृष्ठ से]

तस्माद् गोविन्दसर्वज्ञो जातो गोविन्दसन्निभः।
प्रभाकरः सुतोऽस्मात् प्रभाकर इवापरः ॥18॥
तस्मान्मनोरथो जातः सतां पूर्णमनोरथः।
श्रीमन्महेश्वराचार्यस्ततोऽजनि कवीश्वरः ॥19॥
तत्सूनुः कविवृन्दवन्दितपदः सद्वेदविद्यालताकन्दः कंसरिपुप्रसादितपदः सर्वज्ञविद्यासदः।
यच् छिष्यैः सह कोऽपि नो विवदितुं दक्षो विवादी क्वचित् श्रीमान् भास्कर कोविदः समभवत् सत्कीर्तिपुण्यान्वितः ॥20॥
लक्ष्मीधराख्योऽखिलसूरिमुख्यो वेदार्थवित्तार्किकचक्रवर्ती।
क्रतुक्रियाकांडविचारसारविशारदो भास्करनन्दनोऽभूत् ॥21॥
(इस शिलालेख के लिए देखिए जनरल आफ़ रायल एशियाटिक सोसायटी, एन० एस० जिल्द 1, पृष्ठ 414, एपिग्राफिका इंडिका जिल्द 1, पृष्ठ 340)

के फारसी अनुवाद कराए (पहले का अनुवाद अबुलफजल ने किया था और बीजगणित का अता उल्ला रशूदी ने)। भास्कर का बीजगणित इस विषय पर बड़ा ही क्रमबद्ध ग्रन्थ है। यह आरम्भ में नकारात्मक (क्षय) और सकारात्मक (स्व) अज्ञात संख्याओं की धारणा, उनके जोड़ और बाकी के नियमों[1] और इसी तरह गुणा और भाग[2] की चर्चा करता है : क×ख=कख, (—क)×(—ख) =कख, (—क)×(ख)=—कख आदि; इसमें बताया गया है कि किसी सकारात्मक (स्व) या नकारात्मक (क्षय) संख्या का वर्ग सकारात्मक (स्व) होता है। पर नकारात्मक (क्षय) संख्या का वर्गमूल नहीं निकाला जा सकता है[3]।

शून्य या ख से सम्बन्धित हिसाबों पर भी ध्यान देना चाहिए[4]। भास्कर का लीलावती और बीजगणित दोनों में कहना है कि किसी संख्या में शून्य जोड़ने या घटाने से संख्या नहीं बदलती। किसी संख्या का शून्य में या शून्य का किसी संख्या में गुणा करने से गुणनफल शून्य होगा। शून्य में किसी संख्या से भाग देने से भजनफल शून्य आएगा। पर किसी संख्या में शून्य का भाग देने से वह खहार (अनन्त) हो जाएगी। खहार (अनन्त) संख्या में से कुछ जोड़ने-घटाने से उसमें कोई अन्तर नहीं आता (यह फिर भी खहार या अनन्त बनी रहेगी)। खहार का प्रयोग पाटीगणित (अंकगणित) में वर्जित था, पर इसे बीजगणित में अनुमत माना गया है।

शून्य की धारणा और बीजगणित में उसकी प्रक्रिया पहली बार ब्रह्मगुप्त (628 ईसवी) के ब्राह्मस्फुट सिद्धांत में देखने को मिलती है। नकारात्मक (क्षय) संख्या में से शून्य घटाने पर क्षय संख्या ही आएगी, सकारात्मक (स्व) संख्या में से शून्य घटाने पर स्व संख्या आएगी। शून्य में क्षय संख्या से गुणा, स्व संख्या से गुणा और शून्य से गुणा करने पर गुणनफल शून्य ही आएगा। शून्य में शून्य का भाग देने से भी शून्य ही आएगा। किसी सकारात्मक (स्व) या नकारात्मक (क्षय) संख्या में शून्य का भाग देने पर भजनफल तच्छेद या शून्य हर वाली भिन्न होगा। (शून्य में किसी सकारात्मक-स्व या नकारात्मक-

1. योगे युतिः स्यात् क्षययोः स्वयोर्वा धनर्णयोरन्तरमेव योगः।
संशोध्यमानं स्वमृणत्वमेतत्स्वत्वं क्षयस्तद्युतिरुक्तवच्च ॥1॥
2. स्वयोरस्वयोः स्वं वधः स्वर्णघाते क्षयो भागहारेऽपि चैवं निरुक्तम्।
भागहारेऽपि चैवं निरुक्तमिति ॥2॥
3. कृतिः स्वर्णयोः स्वं स्वमूले धनर्णे। न मूलं क्षयस्यास्ति तस्याकृतित्वात्।
4. खयोगे वियोगे धनर्णं तथैव च्युतं शून्यस्तद्विपर्यासमेति।
वधादौ वियत् खस्य खं खेन घाते खहारो भवेत् खेनभक्तश्च राशिः॥
अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।
बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत्॥ —बीज॰ (1-4)

क्षय संख्या का भाग देने पर भजनफल या तो शून्य आएगा, या ऐसी भिन्न जिसका अंश शून्य होगा और हर स्व या क्षय संख्या)। कोष्ठक में दिए गए उद्धरण सुधाकर द्विवेदी की व्याख्या हैं। 0।0 को शून्य के बराबर मानने में ब्रह्मगुप्त ने गलती की। वस्तुतः यह कोई भी अनिश्चित संख्या हो सकती है।

यह कहना मुश्किल है कि यह कहने में ब्रह्मगुप्त का अभिप्राय क्या था कि क में शून्य का भाग देने से भजनफल क/0 आएगा और शून्य में क का भ ा देने से 0/क शायद वह समझते थे कि मूल्य अनिश्चित है, जो 'क' के मूल्य के परिवर्तन पर निर्भर है। (सविवरण चर्चा के लिए देखिए दत्ता और सिंह की 'हिस्ट्री आफ हिन्दू मैथेमेटिक्स' भाग-1, पृ० 241)।

भास्कर-द्वितीय ने अपने बीजगणित में बताया है कि अव्यक्त या अज्ञात संख्या ऐसे नामों से बताई जानी चाहिए—यावत्तावत्, कालक, नीलम, पीतक, लोहितक[1] आदि। नारायण ने उनकी सूची में वे नाम बढाए हैं: हरित, श्वेतक, चित्रक, कपिलक, पाटलक, पांडु, धूम्र, शबल, श्यामलक, मेचक, धवलक, पिशंग, शारंग, बभ्रु, गौर[2] आदि। ये सब शब्द रंगवाचक हैं। अव्यक्त संख्या समान-जाति की संख्या में जोड़ी या घटाई जा सकती है विभिन्न जाति में नहीं। इस तरह यावत्-तावत् को दूसरे यावत्-तावत् में जोड़ा जा सकता है, कालक या नीलक में नहीं। यही बात वाकी के बारे में है। (2 य को 5 य में जोड़कर 7 य किया जा सकता है, पर 2 य के अंक 5 ज में नहीं जोड़े जा सकते आदि। इसी तरह 2 य ^{2} को 6 य ^{2} में जोड़कर 8 य ^{2} में बनाया जा सकता है, पर 2 य ^{2} को भिन्न जाति संख्या में जैसे 6 य ^{3} या 6 ज ^{2} में नहीं जोड़ा जा सकता)[3]।

भास्कर-द्वितीय ने अपने बीजगणित में जो बहुमूल्य सामग्री ली है, उसे यहां पर वर्णित नहीं किया जा सकता। उन्होंने योग्यता के साथ अव्यक्त संख्याओं की करणियों (छः तरह की), कुट्टक की गणना, वर्गों या चक्रवालों के स्वरूप,

1. यावत्तावत् कालको नीलकोऽन्योवर्णः पीतो लोहितश्चैतदाद्याः।
अव्यक्तानां कल्पिता मानसंज्ञास्तत्संख्यानं कर्त्तुमाचार्यवर्यैः॥ —बीज० 5

2. यावत्तावत्कालनालकपीताश्च लोहितो हरितः।
श्वेतकचित्रककपिलकपाटलकाः पाण्डुधूम्रशवलाश्च॥
श्यामलकमेचकधवलकपिशङ्गशारङ्गबभ्रुगौराद्याः। —नारायण

3. योगोऽन्तरं तेषु समानजात्योर्विभिन्नजात्योश्च पृथक्स्थितिश्च।
स्याद्रूपवर्णाभिहितौ तु वर्णौ द्वित्र्यादिकानां समजातिकानाम्॥
वधे तु तद्वर्गघनादयः स्युस्तद्भावितं चासमजातिघाते।
भागादिकं रूपवदेव शेषं व्यक्ते यदुक्तं गणिते तदत्र॥ —बीज० 6-7

पहली श्रेणी के वर्गों, वर्ग समीकरणों और उच्च श्रेणियों के समीकरणों और उनके समाधानों की चर्चा की है और रोचक उदाहरण देकर उनको हल किया है।

सिद्धान्त शिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय का प्रतिपाद्य विषय ज्योतिष है।

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

आ० भ०	आर्यभटीय
अथर्व०	अथर्ववेद
बीज०	बीजगणित
ब्रा० स्फु० सि०	ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त
बौ० श्रौ० सू०	बौधायन श्रौतसूत्र
का० सं०	काठक संहिता
म० भा०	महाभारत
म० भास्क०	महाभास्करीय
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
पा० ग०	श्रीधराचार्य का पाटीगणित
पं० सि०	पंचसिद्धान्तिका
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता

इत्युपाय समुद्देशो भूयोऽप्येवं प्रकल्पयेत् ।
ज्ञेयराशिं गताभ्यस्तं विभजेद् ज्ञानराशिना ।।
इत्येतन्मासवर्षाणां मुहूर्तोदयपर्वणाम् ।
दिनर्त्वयनमासानां व्याख्यानं लगधोऽब्रवीत् ।।

यह समीकरणों का संक्षिप्त निरूपण है, जिसका प्रयोग बार-बार करना पड़ता है;
प्रश्न के तीन पहलू होते हैं : ज्ञात संख्या (ज्ञानराशि), ज्ञेय संख्या (राशि)
और ज्ञात-ज्ञेय के बीच का अनुपात संबंध। इनमें से ज्ञेय संख्या को ज्ञात
संख्या से गुणा करो और गुणनफल में अनुपात से भाग दे दो।
लगध ने मास, वर्ष, मुहूर्त, उदय, पर्व, दिन, ऋतु,
अयन और (चान्द्र तथा नक्षत्र) मासों के
बारे में इसी तरह बताया है।

—लगध, वे० ज्यो० 42, 43

अध्याय : ग्यारहवाँ

लगध—
ज्योतिष को युक्तिसंगत बनाने वाले प्रथम ऋषि

900 ई० पू०

शुरू के एक अध्याय में मैं अधिक काल की और संवत् की दीर्घतमस द्वारा की गई खोज का उल्लेख कर चुका हूँ और गार्ग्य द्वारा नक्षत्रों की संख्या निरूपण की वात भी बता चुका हूँ। यह वैदिक युग में सम्पन्न हुआ था। उस युग के ऋषि न केवल प्रेरणाशक्ति से ओत-प्रोत थे और प्रकट होने वाले वेद-ज्ञान से लाभान्वित थे, बल्कि वे बड़े सूक्ष्म प्रेक्षक थे और उनकी बौद्धिक प्रखरता बड़ी ही उच्चकोटि की थी। हर रोज की प्राकृतिक चीजों के बारे में प्रकट हुए ज्ञान में उनका अगाध विश्वास था। वे एक गतिशील युग में रहते थे, जो नई खोजों, नए प्रेक्षणों, नई व्याख्याओं और नई समस्याओं से ओत-प्रोत था। एक विज्ञान के रूप में ज्योतिष-शास्त्र इसी पृष्ठभूमि में पल्लवित हुआ। जो आज आदिम लगता है, वह उस युग में पहली बार समझे जाने पर उच्च कोटि की उपलब्धि के रूप में माना गया था। वस्तुतः यह हर युग के विज्ञानों और खोजों के बारे में भी सच बात है।

लगध-ज्योतिष को व्यवस्थित करने वाले व्यक्ति थे; उन्होंने ही सबसे पहले ज्योतिष के बारे में एक पाठ्यग्रन्थ संकलित किया। उन्होंने ज्ञेय संख्या को ज्ञात संख्या से निकालने के लिए सबसे पहले सरल सूत्रों की रचना की। इतिहास में पहली बार हमें उनके ग्रन्थ में ही ज्ञेयराशि (ज्ञातव्य या अज्ञात संख्या) और ज्ञानराशि (ज्ञात संख्या) और दोनों के बीच के अनुपात संबन्ध का उल्लेख देखने को मिलता है[1]। यह कथन ऐसा ही है कि अज्ञात घटनाओं की भविष्य-वाणी ज्ञात घटनाओं और उसी तरह की उत्तरोत्तर घटनाओं को जोड़ने वाले नियमों से की जा सकती है। यह युक्तिसंगत देववाद था, जिस पर वेद-अध्ययन

---

1. इत्युपाय समुद्देशो भूयोऽप्येवं प्रकल्पयेत्।
ज्ञेयराशिं गताभ्यस्तं विभजेद् ज्ञानराशिना ॥ —य० ज्यो० 42

आधारित था। ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन वेदों का अर्थ समझने के लिए जरूरी माना जाता था। वेदांगों (वेदों को समझने के लिए जरूरी ज्ञान प्रणाली) में लगध के कथनानुसार गणित ज्योतिष मूर्धन्य है[1]।

वैदिक शब्दावली

इसके पहले कि मैं लगध के मूल ग्रन्थ के आधार पर उनके योगदान की चर्चा करूं, वैदिक शब्दावली से परिचित हो जाना बड़ा ही उपयोगी और ज्ञान-वर्द्धक होगा।

युग : वेद और वेदांग ज्योतिष में युग[2] का अर्थ चार, पांच या ज्यादा सालों का चक्र था। युग के ये साल कलि, द्वापर, त्रेता और कृत के रूप में भी कभी-कभी जाने जाते हैं, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण के सुप्रसिद्ध संदर्भ (33.15)[3] में मिलता है। इस पर एक पिछले अध्याय में चर्चा की जा चुकी है। अनुमान है कि आरंभिक वैदिक युग में शताब्दियों तक युग का अर्थ मात्र चार साल था, पर बाद में पांच साल का युग ज्यादा लोकप्रिय और सुविधाजनक हो गया।

वैदिक साहित्य में साल के लिए हमें तीन शब्द मिलते हैं : हेमन्त, शरद और वर्षा—ये सभी किसी न-किसी ऋतु के वाचक हैं—हेमन्त, शरद, और वर्षा। एक और शब्द समा भी है। ऋग्वेद में हमें संवत्सर और परिवत्सर शब्दों का भी प्रयोग देखने को मिलता है[4]। यजुर्वेद में पुरुषमेध के सिलसिले में पांच शब्द

---

1. यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥ —य० ज्यो० 4

2. देवानां पूर्व्ये युगे सतः सदजायत। —ऋ० 10. 72. 2
मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रत्। —ऋ० 1. 103. 4
विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यंरिषः। —ऋ० 5. 52. 4
दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान दशमे युगे। —ऋ० 1. 58. 6
या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। —ऋ० 10. 97. 1
श्रुत्कर्णं॑स प्रथस्तमं त्वागिरा दैव्यं मानुषा युगा। —यजु० 12. 3
पञ्चसंवत्सरमययुगाध्यक्षम्। —य० ज्यो० 1

3. कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति चरैवेति॥ —ऐ० ब्रा० 33. 15

4. संवत्सरस्य तदहः परिष्ठयन् मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव।
ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्तः परिवत्सरीणम्॥ —ऋ० 7. 103. 7

आए हैं[1] : संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, और वत्सर। यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि क्या ये शब्द युग नाम के चक्र के पांच सालों के लिए प्रयुक्त होते थे। यही शब्द इसी क्रम से तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी आए हैं[2]। इसी ब्राह्मण में एक जगह हमें छः शब्द मिलते हैं, छठा शब्द इदुवत्सर है।

वेदांग ज्योतिष के समय तक पांच सालों का चक्र सुस्थापित हो चुका था। चक्र के हर साल के नाम इस क्रम में थे : (1) संवत्सर (2) परिवत्सर (3) इदावत्सर, (4) इद्वत्सर (इदुवत्सर या अनुवत्सर) (5) वत्सर।

मास और साल : शुरू में चान्द्र मास और फलतः चान्द्र वर्ष मानना स्वाभाविक था। सामान्यतः साल में 12 महीने और 360 दिन होते थे।[3] वैदिक छन्दों में इस बात को भिन्न-भिन्न रूपों में कहा गया है। हर संवत्सर-में छः ऋतुएं मानी जाती थीं। बारह महीनों के वैदिक नाम ये हैं :

ऋतु	मास
वसन्त	मधु और माधव
ग्रीष्म	शुक्र और शुचि
वर्षा	नभस् और नभस्य
शरद्	इष और ऊर्ज
हेमन्त	सहस् और सहस्य
शिशिर	तपस् और तपस्य

1. संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। —यजु० 27. 45
संवत्सराय पर्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जराꣳसंवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽजिनसन्धꣳसाध्येभ्यश्चर्मम्नम्। —यजु० 30. 15
यमाय यमसूमथर्वभ्योऽवतोकाꣳ
2. अग्निर्वा संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इदावत्सरः। वायुरनुवत्सरः। —तै० ब्रा० 1. 4. 10

संवत्सराय पर्यायिणीम्। परिवत्सरायाविजाताम्। इदावत्सरायापस्कद्वरीम्। इद्वत्सरायातीत्वरीम्। वत्सराय विजर्जराम्। संवत्सराय पलिक्नीम्। —तै० ब्रा० 3. 4. 1

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसि इदावत्सरोसीदुवत्सरोऽसि। इद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। —तै० ब्रा० 3. 10. 4

3. समा शब्द साल के लिए है (अस्मिंल्लोके शतं समाः यजु० 19. 46; जिजीविषेच्छतꣳ समाः, यजु० 40. 2, समानां मास आकृतिः, ऋ० 10. 85. 5;) इसका उलटा मास महीने के लिए आता है (वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः)। —ऋ० 1. 25. 28

इन नामों के साथ तैत्तिरीय संहिता की सूची में एक अतिरिक्त शब्द संसर्प और यजुर्वेद में अंहसस्पति शब्द मिलता है जिसका अर्थ अधिमास या मल मास है।[1] अधिमास के लिए दूसरा पर्याय मलिम्लुच है[2]। एक पृथक् अध्याय में हम अधिमास और वर्ष के दिनों की संख्या के बारे में विस्तृत चर्चा कर चुके हैं।

परवर्ती भारतीय ज्योतिष में हमें साल गिनने की पांच स्पष्ट प्रणालियां देखने को मिलती हैं :

सावन : सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक का समय सावन दिन कहा जाता है। इस शब्द का सम्बन्ध सोम यज्ञ से था, जिसमें एक अहोरात्र में सोम के तीन सवन होते हैं। जिस सोम यज्ञ में एक दिन रात का समय लगता है उसे अहा कहते हैं[3]। छः अहा का एक षडहा होता है और पांच षडहा का एक महीना। इस तरह एक सावन

---

1. मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयाम गृहीतोऽसि संसर्पोऽस्यꣳहसस्पत्याया त्वा। —तै० सं० 1. 4. 14

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू, शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू, नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू, इषश्चोर्जश्च शारदावृतू, सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू; तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। —वही, 4. 4. 11

उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वोपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वा।
उपयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वोपयामगृहीतोऽसि शुचये त्वा।
उपयामगृहीतोऽसि नभसे त्वोपयाम गृहीतोऽसि नभस्याय त्वा।
उपयामगृहीतोऽसीषे त्वोपयाम गृहीतोऽस्यूर्ज्जे त्वा।
उपयाम गृहीतोऽसि सहसे त्वोपयाम गृहीतोऽसि सहस्याय त्वा।
उपयाम गृहीतोऽसि तपसे त्वोपयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वा।
उपयाम गृहीतोऽस्यꣳहसस्पतये त्वा। —यजु० 7. 30

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहेषाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहाꣳहसस्पतये स्वाहा। —वही, 22. 31

2. असवे स्वाहा वसवे स्वाहा विभुवे स्वाहा विवस्वते स्वाहा गणश्रिये स्वाहा गणपतये स्वाहाभिभुवे स्वाहाधिपतये स्वाहा शूषाय स्वाहा सꣳसर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा दिवस्पतये ते स्वाहा। —वही, 22. 30

3. सावनशब्दोऽहोरात्रोपलक्षकः सोमयागे सवनत्रयस्याहोरात्रसम्पाद्यत्वात्।…… अहोरात्र साध्य एकः सोमयागोवेदोष्वहः शब्देनाभिधीयते तादृशानामहर्विशेषाणां गणः षडहः… षडहेन पञ्चकेन एकोमासः सम्पद्यते, तादृशैर्द्वादशभिर्मासैः साध्यं संवत्सरसत्रम्। —माधवाचार्य का कालमाधव

मास 30 सौर दिनों का होता है। यज्ञ करने के लिए दिन, मास और साल जोड़ने का यह सावन तरीका वहुत प्रचलित था।

चान्द्र वर्ष में इन पूर्वजों ने समझ लिया कि दिन 360 से कम होते हैं। एक चान्द्र मास में लगभग $29\frac{1}{2}$ दिन होते हैं। यदि एक षडहा चान्द्र मास के आरंभ में शुरू होता है, तो 60 यज्ञ दिनों से एक दिन पहले ही चान्द्र मास समाप्त हो जाएगा। इसलिए यह जरूरी समझा गया कि समंजन के लिए षडहा में से एक दिन छोड़ देना जरूरी होगा। इसने उत्सर्गिणाम्-अयन की प्रथा को जन्म दिया। ताण्ड्य ब्राह्मण कहता है कि यदि एक दिन न छोड़ा गया तो संवत्सर चमड़े के थैले (दृति, मषक) जैसा फूल जाएगा।[1]

अयन : अयन दो होते हैं उत्तरायण और दक्षिणायन। वे क्रमशः—सूर्य के उत्तरी और दक्षिणी संक्रमण का उल्लेख करते हैं सायन मकर से लेकर सायन कर्क के आरंभ तक उत्तरायण होता है और सायन कर्क से लेकर सायन मकर तक दक्षिणायन। उत्तरायण का सम्वन्ध देवताओं से था और दक्षिणायन का पितरों से। (वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा देवताओं की ऋतुएं थीं और शरद, हेमन्त या शिशिर पितरों की)।[2]

अर्द्धमास : तैत्तिरीय ब्राह्मण में महीनों के ही नहीं अर्द्धमासों के भी नाम मिलते है[3] :

पवित्रन्	जीवः	जनयन्
पवयिष्यन्	जीविष्यन्	अभिजनयन्
पूतः	स्वर्गः	सुद्रविणः
मध्यः	लोकः	द्रविणोदाः
यशः	सहस्वान्	आर्द्रपवित्रः
यशस्वान्	सहीयान्	हरिकेशः
आयुः	ओजस्वान्	मोदः
अमृतः	सहमानः	प्रमोदः

1. यथा वै दृतिराध्मात एव संवत्सरोनुत्सृष्टः। —तां० ब्रा० 5. 10. 2
2. वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः। शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवाऽऽपूर्य्यतेऽर्द्धमासः स देवायोऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवाऽअपराह्णः पितरः। —श० ब्रा० 2. 1. 3. 1
स यत्रोदङ्ङावर्त्तते। देवेषु तर्हि भवति देवाँस्तर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणाऽवर्त्तते पितृषु तर्हि भवति पितॄँस्तर्ह्यभिगोपायति। —वही, 2. 13. 3
3. पवित्रन् पवयिष्यन् पूतो मेध्यः। यशोयशस्वानायुरमृतः। जीवो जीविष्यन् त्स्वर्गो लोकः। सहस्वान् सहीयानोजस्वान् सहमानः। जनयन्नभिजयन्त्सुद्रविणो द्रविणोदाः। आर्द्रपवित्रो हरिकेशो मोदः प्रमोदः। —तै० ब्रा० 3. 10. 1

तैत्तिरीय ब्राह्मण में दिए गए महीने—ऊपर बताए गए अर्द्धमासों के नाम के साथ वही ग्रन्थ 13 महीनों के नाम भी देता है[1] (जिसमें एक अधिमास शामिल है) :

अरुणः	आर्द्रः	सर्वौषधः
अरुणरजः	पिन्वमानः	सम्भरः
पुंडरीकः	उन्नवान्	महस्वान्
विश्वजित्	रसवान्	
अभिजिद्	इरावान्	

इन मधु-माधव आदि महीनों के नाम ऊपर गिना चुके हैं। ये सभी नाम ऋतुओं के स्वरूप से सम्बद्ध हैं, इनका नक्षत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। धीरे-धीरे प्रेक्षकों ने समझा कि चान्द्र चक्र की पूर्ति नक्षत्रों के बीच में होती है, इस लिए आगे चलकर विभिन्न पूर्णिमाओं के नाम इसी आधार पर चैत्री, वैशाखी[2] आदि दिए गए, जिनसे फिर महीनों के नाम चैत्र, वैशाख, आदि पड़े। तैत्तिरीय संहिता मे फाल्गुनी-पूर्णमास[3] और चैत्र पूर्णमास का उल्लेख है, जिसका अर्थ मात्र यही है कि फाल्गुनी या चित्रा नक्षत्र के साथ पूर्णिमा। इस तरह तैत्तिरीय संहिता के काल तक चन्द्रमा की कला फाल्गुनी या चित्रा जैसे नक्षत्रों में पूरी होती है पर फिर भी इन नक्षत्रों के आधार पर महीनों के नाम देने की प्रणाली नहीं अपनाई गई थी।

वैदिक साहित्य में महीनों का जिक्र करने की दोनों प्रणालियां देखने को मिलती हैं : पूर्णिमान्त और अमान्त (अमावस्या में अन्त होने वाला)। पूर्णमास शब्द उस समय का उल्लेख करता है, जब मास पूरा हो जाता है; अतः यह ऐसी प्रणाली को मानने की बात है जिसमें महीने का अन्त पूर्णिमा के दिन होता है[4]। उत्सर्गिणाम्-अयन में हमें साथ-साथ हमें अमावस्या[5] में समाप्त होने वाले महीनों की प्रणाली के भी दर्शन होते हैं।

---

1. अरुणोरुणरजः पुण्डरीको विश्वजिदभिजित्। आर्द्रः पिन्वमानोन्नवान् रसवानिरावान्। सर्वौषधः सम्भरो महस्वान्।
2. सास्मिन् पौर्णमासीति। —पाणिनि, अष्टाध्यायी, 4. 2. 21
3. संवत्सरस्य यत्फल्गुनी पूर्णमासो मुख त एव संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्यैकैव निर्यायत्सांमेध्ये विषुवांत्सम्पद्यते चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन्मुख वा एतत्संवत्सरस्य···
—तै॰ सं॰ 7. 4. 8
4. बर्हिषा पूर्णमासे व्रतमुपैति वत्सैरमावास्यायाम्। —वही, 1. 6. 7
5. अमावस्यया मासान्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति, अमावस्यया हि मासान् सम्पश्यन्ति। पौर्णमास्या मासान्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति पौर्णमास्या हि मासान्संपश्यन्ति।
—वही, 7. 5. 6. 1

महीना जोड़ने की पूर्णिमान्त प्रणाली में पहला पक्ष कृष्णपक्ष होता है और पिछला शुक्ल पक्ष होता है। पर इसके विपरीत उल्लेख भी मिलता है: शुक्लपक्ष को पूर्व पक्ष माना जाता है। और कृष्णपक्ष को परपक्ष। पूर्वपक्ष का सम्बन्ध देवताओं से है और परपक्ष का असुरों से[1]।

पक्ष के दिनों के नाम : प्राचीन लोगों ने सात दिनों (सप्ताह) का वर्गीकरण नहीं अपनाया था और न सोमवार, मंगलवार आदि सप्ताह के दिनों के नाम ही तय किए गए थे। पर यह जानना बड़ा रोचक है कि उन्होंने पूर्वपक्ष और परपक्ष के पूरे पन्द्रह दिनों को अलग-अलग स्पष्ट नाम दे रखे थे। यही नहीं वे दिन और रात तक को अलग नाम देते थे। दिनों के नाम नपुंसकलिंग में हैं और रातों के नाम स्त्रीलिंग में। मैं तैत्तिरीय ब्राह्मणों से उद्धरण दूंगा।

पूर्वपक्ष के दिनों के नाम[2]

संज्ञानम्	संकल्पमानम्	श्रेयः
विज्ञानम्	प्रकल्पमानम्	अवसीयः
प्रज्ञानम्	उपकल्पमानम्	आयत्
जानत्	उपक्लृप्तम्	सम्भूतम्
अभिजानत्	क्लृप्तम्	भूतम्

पूर्वपक्ष की रात्रियों के नाम[3]

दर्शा	अप्यायमाना	आपूर्यमाणा
दृष्टा	प्यायमाना	पूर्यमाणा
दर्शता	प्याया	पूरयन्ती
विश्वरूपा	सूनृता	पूर्णा
सुदर्शना	इरा	पौर्णमासी

---

1. पूर्वपक्षं देवाअन्वसृज्यन्त। अपरपक्षमन्वसुराः। ततो देवा अभवन्। परासुराः।
—तै० ब्रा० 2. 2. 3. 1

नवो नवो भवति जायमान इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्याह्नां केतुरुषसामेत्यग्रमित्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य......
—निरुक्त, 1. 6

2. संज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं जानदभिजानत्। संकल्पमानं प्रकल्पमानमुपकल्पमानमुपक्लृप्तं क्लृप्तम्। श्रेयोवसीय आयत् सम्भूतं भूतम्।
—तै० ब्रा० 3. 10. 1. 1

3. दर्शा दृष्टा दर्शता विश्वरूपा सुदर्शना। अप्यायमाना प्यायमाना प्याया सूनृतेरा। आपूर्यमाणा पूर्यमाणा पूरयन्ति पूर्णा पौर्णमासी।
—तै० ब्रा० 3. 10. 1. 1

अपर पक्ष (कृष्ण पक्ष) के दिनों के नाम[1]

प्रस्तुतम्	शुक्रम्	अरुणम्
विष्टुतम्	अमृतम्	भानुमत्
संस्तुतम्	तेजस्वि	मरीचिमत्
कल्याणम्	तेजः	अभितपत्
विश्वरूपम्	समृद्धम्	तपस्वत्

अपर पक्ष (कृष्णपक्ष) की रातों के नाम[2]

सुता	पीति	कान्ता
सुन्वती	प्रपा	काम्या
प्रसूता	सम्पा	कामजाता
सूयमाना	तृप्तिः	आयुष्मती
अभिषूयमाणा	तर्पयन्ती	कामदुघा

तिथि और दिन : वैदिक साहित्य में हमें तिथियां (प्रतिपदा आदि) वर्तमान अर्थ में नहीं मिलतीं। एक जिक्र आया है कि चन्द्रमा पंचदशी में पूर्ण और क्षीण होता है[3]। अमावस्या और पूर्णिमा के साथ-साथ अष्टक और एकाष्टक का भी उल्लेख मिलता है। वर्ष में 12 पूर्णिमाएँ, 12 अष्टक और बारह अमावास्याएं होती हैं[4]। अष्टक पूर्णिमा या अमावास्या के बाद की आठवीं रात रही होगी। कभी-कभी कृष्णपक्ष की अष्टमी को एकाष्टक कहा गया है[5]। कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को व्यष्टक और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को उद्दृष्टा भी कहते हैं[6]।

नवचन्द्रमा की रात को, जब सूर्य और चन्द्रमा साथ-साथ होते हैं, अमा या अमावस्या कहते हैं। उसे दर्श, सिनी वाली और कुहू भी कहते हैं।

---

1. प्रस्तुतं विष्टुतꣳसꣳस्तुतं कल्याणं विश्वरूपम्। शुक्रममृतं तेजस्वितेजः समृद्धम्। अरुणं भानुमन् मरीचिमदभितपत् तपस्वत्। —तै० ब्रा० 3. 10. 1. 2
2. सुता सुन्वती प्रसुता सूयनामाऽभिषूयमाणा। पीति प्रपा सम्पा तृप्तिस्तर्पयन्ती। कान्ता काम्या कामजाताऽयुष्मती कामदुघा। —तै० ब्रा० 3. 10. 1. 2-3
3. चन्द्रमा वै पञ्चदशः। एष हि पञ्चदश्यामपक्षीयते। पञ्चदश्यामापूर्यते। —तै० ब्रा० 1. 5. 10
4. द्वादशपौर्णमास्यः द्वादशाष्टकाः द्वादशामावास्याः। —तै० ब्रा० 1. 5. 12
5. द्वादशपौर्णमास्यो द्वादशैकाष्टका द्वादशामावास्याः। —तां० ब्रा० 10. 3. 11
6. पौर्णमास्यां पूर्वमहर्भवति। व्यष्टकायामुत्तरम्।······ अमावस्यायां पूर्वमहर्भवति। उद्दृष्ट उत्तरम्। —तै० ब्रा० 1. 8. 10. 2

पूर्णिमा को अनुमती और एका भी कहते हैं[1]। (ऐ० ब्रा० 7. 11, गो० ब्रा० 6. 10 और निरुक्त 11. 31)।

दिन के विभाग : सूर्योदय से सूर्यास्त तक दिन को सामान्यत: 2, 3, 4, 5 और 15 भागों में बांटा जाता है। जब दिन दो हिस्सों में बांटा जाता है, तो उन्हें पूर्वाह्ण और अपराह्ण कहते हैं। जब उसे तीन हिस्सों में बांटा जाता है तो नाम होते हैं : पूर्वाह्ण, माध्यन्दिन और अपराह्ण[2]। जब चार हिस्सों में बांटा जाता है तो नाम होते हैं : पूर्वाह्ण, माध्यन्दिन, अपराह्ण और सायाह्न। पांच हिस्सों में बांटने पर ये नाम होते हैं : प्रात: संगव, माध्यन्दिन, अपराह्ण और सायम्[3]। ऋग्वेद की एक ऋचा में हमें पांच में से तीन हिस्सों का उल्लेख मिलता है : प्रात: संगव और माध्यन्दिन या मध्याह्न[4]।

मुहूर्त : महीने में तीस दिन होते हैं और दिन में तीस मुहूर्त (यहां दिन का काल, दिन और रात का मिला हुआ काल लिया जाता है।) ऐसा लगता है कि प्राचीन लोग नाम देने के इतने शौकीन थे कि उन्होंने शुक्ल पक्ष के पन्द्रह दिनों के मुहूर्तों के अलग नाम दिए, शुक्ल पक्षों की रातों के मुहूर्तों के अलग नाम दिए और फिर कृष्ण पक्ष के मुहूर्तों (दिन और रात दोनों के पृथक्) के अलग-अलग नाम दिए। उनको हम तैत्तिरीय ब्राह्मण से उद्धृत करेंगे[5]।

---

1. या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका या पूर्वामावस्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कूहूः। —ऐ० ब्रा० 7. 11
   सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ता अमावस्येति याज्ञिका:। —निरुक्त, 11. 31
2. पूर्वाह्णे वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणाम्। —श० ब्रा० 2. 4. 2. 8
3. देवस्य सवितुः प्रातः प्रसवः प्राणः।......वरुणस्य सायमासवोपानः।......मित्रस्य संगवः।......बृहस्पतेर्मध्यन्दिनः।......भगस्यापराह्णः। तस्मात्तर्हि नानृतं वदेत्। —तै० ब्रा० 1. 5. 3
   दिन के चार भागों के मेल को भी संगव, मध्यन्दिन और अपराह्ण कहते हैं।
   तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति सङ्गवः प्रस्तौति मध्यन्दिन उदगायत्यपराह्णः प्रतिहरत्यस्तं यन्निधनम्। —अथर्व० 9. 6. 46
4. उतायातं संगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य। दिवानक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान। —ऋ० 5. 76. 3
5. अथ यदाह। चित्रः केतुर्दाता प्रदाता सविता प्रसविताभिशास्तानुमन्तेति। एष एव तद्। एष ह्येव तेऽह्नो मुहूर्ताः। एष रात्रेः। —तै० ब्रा० 3. 10. 9

[अगले पृष्ठ पर—

शुक्ल पक्ष के दिन के मुहूर्त

चित्रः	ज्योतिष्मान्	रोचनः
केतुः	तेजस्वान्	रोचमानः
प्रभान्	आतंपन्	शोभनः
आभान्	तपन्	शोभमानः
संभान्	निभितपन्	कल्याणः

शुक्ल पक्ष की रात के मुहूर्त

दाता	आवेशन्	आभवन्
प्रदाता	निवेशयन्	प्रभवन्
आनन्दः	संवेशन्	संभवन्
मोदः	संशान्तः	संभूतः
प्रमोदः	शान्तः	भूतः

कृष्ण पक्ष के दिन के मुहूर्त

सविता	ज्वलन्	रोचनः
प्रसविता	ज्वलिता	रोचमानः
दीप्तः	तपन्	शुम्भूः
दीपयन्	वितपन्	शुम्भमानः
दीप्यमानः	सन्तपन्	वामः

कृष्णपक्ष रात के मुहूर्त

अभिशास्ता	आसादयन्	आभूः
अनुमन्ता	निषादयन्	विभूः
आनन्दः	संसादन्	प्रभूः

—पिछले पृष्ठ से]

चित्रः केतुः प्रभानाभान्त्संभान् । ज्योतिष्माꣳस्तेजस्वानातपꣳस्तपन्निभितपन् । रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः ।

दाता प्रदाताऽनन्दो मोदः प्रमोदः । आवेशन्निवेशयन् संवेशनः सꣳशान्तः शान्तः । आभवन् प्रभवन् सम्भवन् सम्भूतो भूतः ।

सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमानः । ज्वलन् ज्वलिता तपन् वितपन् सन्तपन् । रोचनो रोचमानः शुम्भूः शुम्भमानो वामः ।

अभिशास्तानुमन्तानन्दो मोदः प्रमोदः । आसादयन् निषादयन् सꣳसादनः सꣳसन्नः सन्नः । आभूर्विभूः प्रभूः शंभूर्भुवः । —तै॰ ब्रा॰ 3. 10. 1. 1-3

मोदः	संसन्नः	शम्भूः
प्रमोदः	सन्नः	भुवः

हर मूहूर्त में ये पन्द्रह प्रति-मुहूर्त होते हैं[1]।

इदानीं	आशुः	त्वरम्
तदानीं	निमेषः	त्वरमाणः
एर्तहि	फणः	आशुः
क्षिप्रम्	द्रवन्	अशीयान्
अजिरम्	अतिद्रवन्	जवः

वेदांग ज्योतिष

वेद के अध्ययन के लिए यह जरूरी माना गया है कि ज्ञान के छः भेदों (वेदांगों) का भी अध्ययन किया जाए, वे ये हैं : शिक्षा (वेद-पाठ का उच्चारण और बोलने का विज्ञान), कल्प (संस्कार और कृत्य), व्याकरण, निरुक्त (शब्दों का उद्भव), ज्योतिष और छन्दःशास्त्र।

लगध वेदांग ज्योतिष के अधिकारी लेखक और प्रामाणिक विद्वान् हैं। इसके दो पाठान्तर मिलते हैं : ऋग्वेद ज्योतिष और यजुर्वेद ज्योतिष। दोनों पाठान्तरों की अन्तर्वस्तु बहुत कुछ एक ही हैं, हालांकि उनकी श्लोक संख्या में अन्तर है : ऋक् ज्योतिष में 36 श्लोक हैं जबकि यजुः ज्योतिष में 44। श्लोकों में यह अंतर शामशास्त्री के अनुसार सम्भवतः इस कारण है कि अध्वर्यु लोगों ने जो इसका बहुधा उपयोग करते थे, टिप्पणी-आत्मक श्लोक जोड़ दिए। इस अध्याय के अंत में हमने यजुःज्योतिष पर आधारितं पाठ दिया है और जहां कहीं भी अतिरिक्त ऋक् ज्योतिष श्लोक था, उसे भी कोष्ठक में दे दिया है। यजुः ज्योतिष पर सोमाकर की एक पुरानी टीका मिलती है। ऋक् ज्योतिष के 36 श्लोक में से 30 यजुःज्योतिष में भी समान रूप में मिलते हैं। दोनों पाठों में मिलाकर 36 घन 13 कुल 49 श्लोक हैं। एक अथर्ववेद ज्योतिष भी है, जिसका पाठ यजुः-ज्योतिष से सर्वथा भिन्न है। इसमें 14 प्रकरणों में 162 श्लोक आए हैं। कहा जाता है कि इसका उपदेश पितामह ने कश्यप को दिया था। यह किसी भी रूप में, भावना में भी, वेदांग ज्योतिष का एक पाठान्तर नहीं है।

---

1. अथ यदाह। इदानीं तदानीमिति। एष एव तद्। एष ह्येव ते मुहूर्त्तानां मुहूर्त्ताः।
—तै० ब्रा० 3. 10. 9. 9

इदानीं तदानीमेतर्हि क्षिप्रमजिरम्। आशुर्निमेषः फणोद्रवन्नतिद्रवन्। त्वरँस्त्वरमाण आशुरशीयान् जवः।
—तै० ब्रा० 3. 10. 1. 4

रचना काल

यजु: ज्योतिष के श्लोक 7 में हम देखते हैं : सूर्य और चन्द्र श्रविष्ठा-घनिष्ठा का पर्याय—के आरम्भ में अपनी उत्तर की यात्रा पर चलते हैं। सूर्य सर्प या आश्लेष के मध्य में दक्षिण की ओर जाता है। वे दोनों यात्राएं हमेशा क्रमश: माघ और श्रावण मास में शुरू होती है[1]। 'हम देखते हैं कि आजकल सूर्य और चन्द्र पूर्वाषाढ़ा के निकट होने पर उत्तर की यात्रा को चलते हैं। यह स्पष्ट ही अयनारम्भ के पीछे की ओर खिसकते जाने की पुष्टि करता है, जिसे अयन-चलन कहते हैं। अब हम इस गति की मात्रा को अच्छी तरह जानते हैं और कोलब्रुक तथा अन्य लोगों ने इस आधार पर वेदांग ज्योतिष का रचनाकाल सिद्ध करने का प्रयास किया है। यह पीछे की ओर अयन-चलन हर 72 सालों में एक अंश होता है। आजकल आर्द्रा के शुरू में उत्तरायण की स्थिति की दूरी को वेदांग ज्योतिष के समय आश्लेषा के मध्य की स्थिति के साथ जोड़ने पर $113\frac{1}{3}-67\frac{3}{4}=45\frac{7}{12}$ आता है। एक अंश में 72 साल के हिसाब से।

$$45\frac{7}{12}\times 72=3282 \text{ साल}$$

की अवधि आती है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि वेदांग ज्योतिष सम्बन्धी प्रेक्षण लगभग 3200 साल पहले या 1400 ई० पू० के आस-पास किए गए थे (यह गणना शामशास्त्री ने 1916 में की थी)।

वराहमिहिर बृहत्संहिता और पंचसिद्धान्तिका में उत्तरायण की आरंभिक स्थिति आश्लेषा के मध्य में और दक्षिणायन की घनिष्ठा के शुरू में बताते हैं। स्पष्ट ही यह उन्होंने वेदांग ज्योतिष से लिया है। कहा जा सकता है कि वराहमिहिर काल 3300 साल की सीमा—हमारे आज के युग और वेदांग ज्योतिष की रचना के बीच की अवधि—के मध्य में आता है। अगर हम वराहमिहिर के ग्रन्थों में अयन-गणना से उनके रचना-काल का निर्णय करें, तो यह 332 ईसवी आता है (1916 में दक्षिण की स्थिति और वराहमिहिर द्वारा प्रेक्षण करके लिखी गई स्थिति का अंतर 22 अंश आता है अर्थात् $22\times 7=1584$ साल जो 1916 से पीछे की ओर 332 ईसवी का संकेत करते हैं)। पर हमारे पास साक्ष्य है कि उनका वास्तविक रचना-काल 550 ईसवी है। इस तरह लगभग 1600 सालों की गणना में लगभग 220 सालों या लगभग 14 प्रतिशत का दोष आ जाता है। ऐसे लगातार दोष को निकाल देने के लिए हमें

---

1. प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सर्पार्धे दक्षिणाऽर्कस्तु माघश्रावणयोस्सदा ॥ —य० ज्यो० 7

3300 साल के समय में से 464 साल घटाने होंगे। इस तरह वेदांग ज्योतिष का रचना-काल 1916 से 3300—464=2836 साल पीछे पड़ेगा अर्थात् 920 ई० पू०। इसे वेदांग ज्योतिष का संभाव्य रचना काल या लगध के जीवित होने और ज्योतिष पर अपना पहला सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वेदांग ज्योतिष लिखने का काल माना जा सकता है।

'इण्डियन एंटीक्वेरी' (1894, पृ0 158) में प्रकाशित एक लेख में प्रो० जैकोबी ने लिखा था कि वेदांग ज्योतिष वराह मिहिर के समय से 1896 साल पहले लिखा गया था और इससे भी पहले के समय में भारत में सही-सही ज्योतिर्गणना की जाती थी, जबकि वसन्त विषुव मृगशिरस् नक्षत्र (देशान्तर 52^0 20) पर पड़ता था, वराहमिहिर के काल के अश्विनो (0देशान्तर) पर नहीं। और यह समय वराहमिहिर के समय से $53\frac{1}{3} \times 72 = 3840$ साल पहले रहा होगा। यह हमें 3500 ई० पू० के समय तक अर्थात् आज (1966 ईसवी) से 5464 वर्ष पीछे की ओर ले जाता है। ऊपर की तरह गणना में से 14 प्रतिशत के दोष को निकालने के लिए $5464\frac{14}{100}$ लगभग 760 से 800 तक साल घटाए जा सकते हैं। इससे वेदों की प्राचीनता 2500 ई० पू० निश्चित हो जाती है।

वेदांग ज्योतिष के प्रणेता लगध 900 ई० पू० के आस-पास जीवित थे। यह कहना कठिन है कि ऋक् ज्योतिष या यजु: ज्योतिष का वर्तमान पाठ ही मूल पाठ है। भाषा की दृष्टि से कुछ श्लोक जैसे 'यथा शिखा मयूराणां' (श्लोक 4) तुलना में बाद के मालूम पड़ते हैं, पर ऐसे साक्ष्य हैं कि इसका अधिकांश पाणिनि से भी पहले के काल में लिखा गया था। पितामह सिद्धान्त और वेदांग ज्योतिष में कुछ समानता है और दोनों ही काफी पुराने काल के हैं। वेदांग ज्योतिष की प्राचीनता इस बात से भी सिद्ध होती है कि इसमें राशि नामों (कुम्भ, मेष आदि) का कोई उल्लेख नहीं है। नक्षत्रों के नाम भी आधुनिक नाम नहीं हैं: अश्वयुक्, शतभिषक्, श्रवण आदि का नाम निर्विवाद रूप से वेदांग ज्योतिष की प्राचीनता सिद्ध करते हैं। घर्म शब्द को दिन के लिए इस्तेमाल किया गया है, जो मार्टिन के अनुसार इस शब्द के बहुत पुराना निरुक्त से भी पहले का प्रयोग है। (ये तथ्य भी वेबर के इस विचार का समर्थन नहीं करते कि वेदांग ज्योतिष पांचवीं सदी का है या मैक्समूलर का विचार कि यह तीसरी सदी ई० पू० का है)।

लगध और उनका निवासस्थल काश्मीर

वेदांग ज्योतिष में दो श्लोक आते हैं, जिनमें सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् लगध से सम्बन्धित भौगोलिक क्षेत्र का निश्चित उल्लेख है। यजु: ज्योति का आठवां श्लोक कहता है:

सूर्य के उत्तर में जाने पर दिन की वृद्धि और रात का ह्रास पानी का एक प्रस्थ होता है; दक्षिण में जाने पर इसका उलटा होता है; एक अयन में दिन-रात के बीच के अंतर का फल छः मुहूर्त होता है[1]।

फिर यजु: ज्योतिष का श्लोक 40 (ऋक् ज्योतिष श्लोक 22) कहता है उत्तर अयन में जो गत होता है और दक्षिण अयन में जो शेष रहता है। उस (अर्थात् दोनों मामलों में दिन की संख्या) में दो का गुणा करके इकसठ का भाग देना चाहिए और बारह जोड़ देने चाहिए। यह दिन का प्रमाण (नाप) है[2]।

हम इन श्लोकों पर यथास्थान चर्चा करेंगे। भारत के मैदानों में कहीं भी दिन या रात में छः मुहूर्तों की वृद्धि नहीं होती। इतनी प्रेक्षित वृद्धि इस देश के पश्चिमोत्तर में ही पाई जाती है। इसका स्पष्ट आशय है कि लगध का सम्बन्ध काश्मीर के आस-पास का था, जहां उन्होंने दिन और रात के बीच इतना अंतर देखा था। यह 34, 46 या 34, 55 के आस-पास आता है। ये अक्षांश श्रीनगर काश्मीर से कुछ ज्यादा दूर नहीं है।

वेदांग ज्योतिष के लगभग अनुमान

यह स्वाभाविक है कि उस पुराने जमाने के प्रेक्षण आज की तुलना में जब यन्त्रों का विज्ञान इतना, विकसित हो चुका है, बड़े मोटे तौर पर रहे होंगे। तुलना के लिए नीचे की सारणी में विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर कुछ गणनाएं दी जा रहीं हैं :

दिन	वेदांग ज्योतिष	सूर्य सिद्धात	आधुनिक
एक युग में सावन दिन	1830	1826.2938	1826.2819
62 चान्द्र मासों में दिन	1830	1830.8961	1830.8964
95 सालों में सावन दिन	34,770	34,699.58	34699.56
1178 चान्द्र मासों में दिन	34,770	34,787.03	34787.03

1. घर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपाह्रास उदग्गतौ।
दक्षिणे तौ विपर्यासः षण्मुहूर्त्त्ययनेन तु ॥ —य० ज्यो० 8; ऋ० ज्यो० 7

2. यदुत्तरस्यायनतो गतं स्यात् शेषं तथा दक्षिणतोऽयनस्य।
तदेकषष्ट्या द्विगुणं विभक्तं स द्वादशं स्याद्दिवसप्रमाणम् ॥
—य० ज्यो० 40; ऋ० ज्यो० 22

अब हम वेदांग ज्योतिष के मूल पाठ को लेते हैं। इसके दो पाठ (ऋक् ज्योतिष और यजु: ज्योतिष) मिलते हैं, इसलिए पहले श्लोक-संख्याओं की समनुक्रमणिका दे रहे हैं।

ऋ० ज्यो० से य० ज्यो०

ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०
1	1	7	8	13	0	19	0	25	32	31	23
2	0	8	9	14	18	20	22	26	33	32	5
3	2	9	10	15	17	21	21	27	34	35	0
4	13	10	15	16	38	22	40	28	35	34	0
5	6	11	19	17	24	23	41	29	0	35	4
6	7	12	27	18	39	24	42	30	43	36	3

य. ज्यो. से ऋ. ज्यो.

य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०	य० ज्यो०	ऋ० ज्यो०
1	1	10	9	19	11	28	0	37	0
2	3	11	0	20	0	29	0	38	16
3	36	12	0	21	21	30	0	39	18
4	35	13	4	22	20	31	0	40	22
5	32	14	0	23	31	32	25	41	23
6	5	15	10	24	17	33	26	42	24
7	6	16	0	25	0	24	27	43	30
8	7	17	15	26	0	35	28	44	0
9	8	18	14	27	12	36	0	—	—

दोनों पाठों में यत्र-तत्र कुछ अंतर भी मिलते हैं। हमने शामशास्त्री द्वारा संपादित यजु: वेदांत को अपनी चर्चा का आधार बनाया है।

यजु: वेदांग ज्योतिष का मूल पाठ

मंगलाचरण

पांच सालों वाले युग के अध्यक्ष प्रजापति को प्रणाम करके जिनके अंगरूप, दिन, ऋतु, अयन और मास हैं, मैं शुद्धि नामक (या पवित्र) क्रमश: ज्योतिष (प्रकाशों) की पुण्य गति का वर्णन करूंगा जो श्रेष्ठ ब्राह्मणों को यज्ञ

के समय को समझने के लिए मान्य हैं[1]। (1 और 2) यह श्लोक ज्योतिष का प्रयोजन बताता है चूंकि अनेक यज्ञों को ठीक निश्चित समय पर करना अनिवार्यतः आवश्यक है, इसलिए ज्योतिष्पुंजों, सूर्य और नक्षत्रों की गतियों का अध्ययन बड़ा ही जरूरी है।

काल को प्रणाम करके और सरस्वती की वन्दना करके अब भी महात्मन् लगध द्वारा वर्णित काल को कहूँगा[2]।' (2)

वेद और ज्योतिष

वेदों का ज्ञान यज्ञों के निष्पादन के लिए किया जाता है और यज्ञ समय के आनुपूर्व्य क्रम में विहित किए गए हैं, इसलिए जिसे यह काल गणना बताने वाला ज्योतिष शास्त्र आता है, वह यज्ञों को भी जानता है[3]। (3)

जिस तरह मोरों के शिखा (चोटी) होती है और जिस तरह नागों के सिर पर मणि होती है, उसी तरह गणित (गणना या गणितीय ज्योतिष की प्रणाली) का स्थान वेदांगों (वेदों को समझने के लिए छः अध्ययन-प्रणालियां : शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष) में है[4]। (4)

(इस ग्रन्थ में) पांच सालों के युग का, जो माघ मास के शुक्ल पक्ष में शुरू में होता है और पौष मास के कृष्ण पक्ष में समाप्त, कालज्ञान बताया जा रहा है[5]। (5)

---

1. पञ्चसंवत्सरमययुगाध्यक्षं प्रजापतिम् ।
दिनर्त्वयनमासाङ्गम्प्रणम्य शिरसा शुचिः ॥1॥ —ऋ० ज्यो० 1
ज्योतिषामयनं पुण्यं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
संमतं ब्राह्मणेन्द्राणां यज्ञकालार्थसिद्धये ॥2॥ —वही, 3

2. प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम् ।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ॥ —वही, 2

3. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥3॥ —वही, 36

4. यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।
तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम् ॥4॥ —वही, 35

5. माघशुक्लप्रपन्नस्य पौषकृष्णसमापिनः ।
युगस्य पञ्चवर्षस्य कालज्ञानं प्रचक्षते ॥5॥ —वही, 32

अयन

जब सूर्य और चन्द्रमा दोनों धनिष्ठा नक्षत्र के साथ आते हैं तभी युग शुरू होता है। माघ मास के शुक्ल पक्ष के पहले दिन को तपस् कहते हैं, वह उदक्-अयन या उत्तरायण का पहला दिन है[1]। (6)

> छः ऋतुओं से संबद्ध 12 मासों के वैदिक नाम हैं : तपस् और तपस्य (शिशिर), मधु और माधव (वसन्त), शुक्र और शुचि (ग्रीष्म), नभ और नभस्य (वर्षा), इष और ऊर्ज (शरद) और सह और सहस्य (हेमन्त या शीतारंभ)।

> श्रविष्ठा या धनिष्ठा के आरंभ में सूर्य और चन्द्रमा उत्तर की ओर बढ़ते हैं, सर्प या आश्लेषा के मध्य में सूर्य दक्षिण को बढ़ता है; इन दो अयनों का आरंभ सदा क्रमशः माघ और श्रावण में होता है।[2] (7)

अयन के दिनों और रातों में वृद्धि

> सूर्य के उत्तर में जाने पर दिन की वृद्धि और रात का ह्रास पानी का एक प्रस्थ होता है, दक्षिण में जाने पर इसका उलटा होता है; एक अयन में दिन-रात के बीच के अंतर का फल छः मुहूर्त्त होता है।[3] (8)

यह श्लोक पीतल या तांबे की एक ऐसी पतली कटोरी का जिक्र करता है, जिसमें एक प्रस्थ या $12\frac{1}{2}$ पल पानी आता है। इसकी नली में एक छोटा सा छेद होता है, जिससे होकर पानी कटोरी में आ जाता है, जब उसे पानी से भरे बड़े टब में तैरा दिया जाता है। जब कटोरी में पानी भर जाता है, तो वह आवाज करती हुई डूब जाती है। यह देखा गया है कि 183 प्रस्थ 12 नाडिका या 6 मुहूर्त्तों के बराबर होते हैं। इस तरह का एक तरीका पुराने जमाने में सूर्य के उत्तरायण या दक्षिणायन में होने पर दिन और रात की लम्बाई नापने के लिए काम में लाया जाता था। लगध ने इस श्लोक में जिस अंतर का उल्लेख किया है, वह भारत के पश्चिमोत्तर में काश्मीर के पास श्रीनगर के निकट की जगह का था।

---

1. स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ।
   स्यात्तदादि युगं माघस्तपश्शुक्लोऽयनं ह्युदक् ।।6।। —वही, 5
2. प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
   सर्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोस्सदा ।।7।। —वही, 6
3. घर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपाह्रास उदग्गतौ।
   दक्षिणे तौ विपर्यासः षण्मुहूर्त्यंयनेन तु ।।8।। —वही, 7

अयन की तिथियां

जिन तिथियों को अयन शुरू होता है, वे पहली, सातवीं, तेरहवीं, चौथी और दसवीं होती हैं और पिछली दो या चौथी और दशवीं ऋतु-मास (श्रावण और माघ) के कृष्णपक्ष की होती[1] हैं (9)।

वसु (या धनिष्ठा), त्वष्ट्र (या चित्रा), भव (रुद्र या आर्द्रा) अज (एकपाद या पूर्वाभाद्रपदा), मित्र (या अनुराधा), सर्प (या आश्लेषा), अश्विनी, जल (या पूर्षाषाढ़ा), अर्यमा (या उत्तराफाल्गुनी), का (रोहिणी) (वे नक्षत्र हैं, जिनमें पांच सालों के चक्र के दस अयन शुरू होते हैं)। एक ऋतु (दो महीनों) में साढ़े चार नक्षत्र होते हैं[2]। (10)

इन दो श्लोकों (9 और 10) में दस अयनों के तिथि और नक्षत्र गिनाए गए हैं। ऐसा ही विवरण 'सूर्य प्रज्ञप्ति' (प्राकृत में लिखी जैन ज्योतिष पुस्तक) में और 'काल-लोक प्रकाश' में मिलता है। युग पांच सालों का होता है। पहले साल में पहला अयन श्रवण के कृष्णपक्ष की पहली तिथि या प्रतिपदा को अभिजित नक्षत्र के साथ शुरू होता है। दूसरा अयन माघ के कृष्ण पक्ष की सप्तमी को हस्त नक्षत्र के साथ शुरू होता है, तीसरा अपने श्रावण के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी से मृगशीर्ष के साथ, चौथा अयन माघ के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी से शतभिषक् के साथ शुरू होता है, पांचवां अयन श्रावण शुक्लपक्ष की दशमी से विशाखा के साथ शुरू होता है: छठा अयन माघ कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा पुष्य के साथ शुरू होता है, सातवां अयन श्रावण कृष्णपक्ष की सप्तमी से रेवती के साथ शुरू होता है, आठवां अयन माघ कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी के साथ शुरू होता है, नवां अयन श्रावण शुक्ल पक्ष की चतुर्थी से पूर्वाफाल्गुनी के साथ शुरू होता है और आखिर में दसवां अयन माघ कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी से कृत्तिका के साथ शुरू होता है।

यह भी बता देना चाहिए कि सूर्य प्रज्ञप्ति के अनुसार मास कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से शुरू होता है और शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को मासान्त होता है, पर वेदांग ज्योतिष के अनुसार मास शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से शुरू होता है, और दर्श या अमावस्या को समाप्त होता है। साथ ही सूर्य प्रज्ञप्ति के अनुसार वर्ष

---

1. प्रथमं सप्तमं चाहुरयनाद्यं त्रयोदशम्। —वही, 8
   चतुर्थं दशमं चैव द्वियुग्मं बहुलेऽप्यृतौ ॥9॥ —वही, 8
2. वसुस्त्वष्टा भवोऽजश्च मित्रस्सर्पोऽश्विनो जलम्।
   अर्यमा कोऽयनाद्यास्स्युरर्धपञ्चमभस्त्वृतुः ॥10॥ —वही, 9

श्रावण कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को आषाढ़ की पूर्णिमा के बाद शुरू होता है, पर वेदांग ज्योतिष के अनुसार वर्ष श्रावण शुक्लपक्ष की प्रतिपदा या आषाढ़ के दर्श या अमावस्या के बाद शुरू होता है। सूर्य प्रज्ञप्ति और वेदांग ज्योतिष दोनों के अनुसार दसों अयनों के आरंभ की तिथियां एक ही है, पर पक्षों में शुक्ल पक्ष के स्थान पर कृष्णपक्ष मान लेने से अंतर आ जाता है। हां, सूर्यप्रज्ञप्ति के समय विषुवों की अग्रगामिता के कारण नक्षत्रों में भी अन्तर रहता है।

नीचे लिखी सारणी में यह बताया गया है कि वेदांग ज्योतिष और सूर्य प्रज्ञप्ति में किस बात का अन्तर है :

(उ०=उत्तरायण, द०=दक्षिणायन, शु०=शुक्लपक्ष, कृ०=कृष्णपक्ष)

संख्या	अयन	वेदांग ज्योतिष	
1	उ	माघ शु० 1	धनिष्ठा
2	द	श्रावण शु० 7	चित्रा
3	उ	माघ शु० 13	आर्द्रा
4	द	श्रण कृ० 4	पूर्वाभाद्रपदा
5	उ	माघ कृ० 10	अनुराधा
6	द	श्रावण शु० 1	आश्लेषा
7	उ	माघ शु० 7	आश्विनी
8	द	श्रावण शु० 13	पूर्वाषाढ़ा
9	उ	माघ कृ० 4	उत्तराफाल्गुनी
10	द	श्रावण कृष्ण 10	रोहिणी

संख्या	अयन	सूर्यप्रज्ञप्ति	
1	द	श्रावण कृ० 1	अभिजित्
2	उ	माघ कृ० 7	हस्त
3	द	श्रावण कृ० 13	मृगशिरस्
4	उ	माघ शु० 4	शतभिषक्
5	द	श्रावण शु० 10	विशाखा
6	उ	माघ कृ० 1	पुष्य
7	द	श्रावण कृ० 7	रेवती
8	उ	माघ कृ० 13	मूल
9	द	श्रावण शु० 9	पूर्वाफाल्गुनी
10	उ	माघ कृ० 13	कृत्तिका

वेदांग ज्योतिष में महीनों का जिक्र करते समय राशियों का नामोल्लेख

कहीं भी नहीं हुआ है। मूलपाठ दो महीनों की ऋतु को सूर्य के अर्द्ध पंचम या साढ़े चार नक्षत्रों में होकर गुजरने का समय मानता है।

ऋतुएं

(पिछले महीने और दिन से) हर तीसरे महीने और तीसरे दिन (एक नई ऋतु शुरू होती है, जिसके लिए पिछली ऋतु के आखिरी मास और दिन को पहला गिनकर अगली ऋतुओं और मासों के दिन (गिने जाते हैं)। पांच सालों में के दो अर्द्धभागों में ऋ (ऋतु और) दु (दिवसों) की संख्या पन्द्रह और आठ होती है।[1] (11)

इस श्लोक में ऋतु के आरंभ और अंत के मास और दिन या तिथि को लिया गया है। इस बारे में सूर्यप्रज्ञप्ति के इस अंश का उल्लेख रोचक होगा (पृ० 211) : 'जिस मास या तिथियों को ऋतुएं समाप्त होती हैं उसके बीच में एक मास और एक तिथि जाती हैं। मास आषाढ़ से शुरू होता है और तिथियां भाद्रपद आदि से।' काललोक प्रकाश में (पृष्ठ 89) में यह अंश आया है: 'मैं मासों के शुक्ल और कृष्णपक्षों तथा तिथियों की चर्चा करने जा रहा हूँ'। जिनमें ऋतुएं शुरू और खत्म होती हैं। पहली ऋतु भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को समाप्त होती है। दूसरी कार्त्तिक के कृष्ण पक्षकी तीसरी तिथि को खत्म होती है। तीसरी पौष मास के कृष्णपक्ष की पंचमी को समाप्त होती है। चौथी फाल्गुन के कृष्ण पक्ष की सप्तमी को समाप्त होती है। पांचवीं वैशाख कृष्णपक्ष की नवमी को समाप्त होती है। छठी आषाढ़ मास के कृष्णपक्ष की एकादशी को समाप्त होती है। सातवीं भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को और आठवीं कार्तिक के कृष्णपक्ष की पन्द्रहवीं तिथि (अमावस्या) को। इस तरह हम पांच साल के चक्र की सभी 30 ऋतुएं के बारे में जोड़ सकते हैं। हर अगली ऋतु के बीच में एक मास और एक तिथि चली जाती है।'

जो पाठक भारतीय पंचांग के महीनों और उनसे संबद्ध ऋतुओं के नामों से सुपरिचित नहीं, वे नीचे लिखी परंपरा को याद रख सकते हैं:

वर्षा ऋतु : अवधि श्रावण और भाद्रपद; भाद्रपद के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को समाप्त होती है।

शरद् ऋतु : अवधि आश्विन और कार्त्तिक; कार्त्तिक के कृष्णपक्ष की तृतीया को समाप्त होती है।

---

1. एकान्तरेऽह्नि मासे च पूर्वान्कृत्वादिमुत्तरः।
अर्धयोः पञ्चवर्षाणामृतू(द्रू) पञ्चदशाष्टमौ ॥11॥

हेमन्त ऋतु : (शीतारंभ) अवधि मार्गशीर्ष और पौष; पौष कृष्णपक्ष की पंचमी को समाप्त होती है।

शिशिर ऋतु : (शीत-उत्तरार्द्ध) अवधि माघ और फाल्गुन; फाल्गुन कृष्णपक्ष की सप्तमी को समाप्त होती है।

बसन्त ऋतु : अवधि चैत्र और वैशाख; वैशाख कृष्णपक्ष की नवमी को समाप्त होती है।

ग्रीष्म ऋतु : अवधि ज्येष्ठ और आषाढ़; ऋतु आषाढ़ कृष्णपक्ष की एकादशी को समाप्त होती है।

ऋतुओं और मासों का चक्र फिर इसी तरह चलता रहेगा, पर समाप्त होने की तिथियां इसी तरह (एक छोड़कर) गिनी जाएंगी।

तिथियों का छोड़ना

यदि पर्व (पूर्णमासी) उस तिथि के पाद (चौथाई) भाग में हो तो तिथि को छोड़ देना चाहिए; पाद में इकतीस कलाएं होती हैं, इन अंश और कलाओं को तिथि का अंग मानते हुए अगर वे ज्यादा हों तो एक या दो दिन आदि वैसे दिखा देने चाहिए।[1] (12)

यह श्लोक हेय, अवम या पतित तिथि का उल्लेख करता है जिसे समंजन के लिए छोड़ देना चाहिए। महीने दो तरह के होते हैं : (1) 'सावन मास' जिसमें पूरे तीस दिन होते हैं, और (2) चान्द्र मास जो 29 दिन और दिन के 32/62 भाग से बनता है। इस तरह दोनों के बीच का अन्तर ($30-29\frac{32}{62}$) या 30/62 होता है; जिसे एक अवम दिन का अंश कहा जाता है; इस तरह तीस दिनों में 30/62 दिन का अन्तर होता है, या हम कह सकते हैं कि हर दिन में 1/62 दिन का अन्तर रहता है। इस तरह हर 62 दिन के बाद 1 दिन का अंतर पड़ेगा। इस तरह हर बासठवें दिन सामान्य दिनों के अलावा यह एक दिन और होता है। और यह सामान्य 62 वें दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए इसे पतित दिन कहते हैं। हर महीने में यह आधे दिन के करीब होता है और इसे छोड़ना पड़ता है, इसलिए इसे हेय कहते हैं। उस दिन कोई यज्ञ कर्म आदि नहीं होते।

पर्व राशि

(किसी पर्व या नक्षत्र के चार भागों में से) एक घटाकर बारह से और

---

1. द्यु हेयं पर्व चेत्पादे पादस्त्रिंशत्तु सैकिका।
भागात्मनाऽपवृज्यांशान् निर्दिशेदधिको यदि ॥12॥

फिर दो से गुणा करके और गुणनफल में एक जोड़कर जब इसमें से बासठ धन बासठ का भाग देते हैं, तो भजनफल को पर्व राशि कहते हैं[1]। (13)

पर्व तिथि या नक्षत्र की गणना के लिए इस श्लोक में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण गणना-सूत्र दिया गया है। सत्ताइस में से प्रत्येक नक्षत्र को चार हिस्सों में (जिन्हें अंश कहते हैं) बांटा जाता है। एक अंश को घटाकर केवल तीन अंशों को ही लिया जाता है। इसमें पहले 12 से गुणा कहते हैं, फिर 2 से। फिर गुणनफल में एक जोड़ा जाता है। इस संख्या में 124 का भाग देते हैं। यह 'पर्व-भांश-राशि' बताता है :

$$\frac{[(4\text{-}1)\times 12\times 2]+1}{124}=\frac{73}{124}$$

यह इस तरह निकाला जाएगा : पांच सालों के युग में 124 पर्व होते हैं, जिनमें चन्द्रमा प्रत्येक में 27 नक्षत्रों वाली 67 परिक्रमाएं करता है। इस तरह एक पर्व में चन्द्रमा 67×27/124 या $14\frac{73}{124}$ नक्षत्रों में से गुजरता है। दो पर्वों में वह $29\frac{22}{124}$ नक्षत्रों में से होकर जाएगा और तीन पर्वों में इसी तरह $43\frac{95}{124}$ नक्षत्रों में होकर, आदि।

इस गणना का उपयोग हम नीचे लिखे तरीके से कर सकते हैं : किसी युग का पहला दर्श धनिष्ठा नक्षत्र में सम्पन्न होता है। ध्रुवराशि (पर्व गुणांक) $14\frac{73}{124}$ हैं। इसमें एक का गुणा करने से $14\frac{73}{124}$ आता है। यह पहली पूर्णमासी को बनाता है अर्थात् चन्द्रमा 14 पूरे नक्षत्रों और पन्द्रहवें नक्षत्र के 73/124 भाग से होकर जाता है। इसी तरह दूसरी पूर्णमासी की पर्वराशि होगी :

$$2\times\left(14\frac{73}{124}\right)=29\frac{22}{124}$$

जिसका अर्थ है धनिष्ठा से तीसवां नक्षत्र, जो पूर्वाभाद्रपदा है। युग में दूसरी पूर्णमासी तीसरे पर्व को होती है; अतः $\left(14\frac{73}{124}\right)\times 3$ करने से $43\frac{95}{124}$ आता है, अर्थात् धनिष्ठा से 44 वां नक्षत्र, जो उत्तराफाल्गुनी है।

इस तरह हम 1830 दिनों (पांच साल के पूरे युग-चक्र में) 27 नक्षत्रों में से होकर चन्द्रमा की 67 परिक्रमाओं के आधार पर हम पर्व में चन्द्रमा की गति से पर्व राशि को जोड़ सकते हैं। आगे हम पर्वों की एक सारणी दे रहे हैं, जिसमें

---

1. निरेकं द्वादशाभ्यस्तं द्विगुणं रूपसंयुतम्।
षष्ट्या षष्ट्या हृतं द्वाभ्यां पर्वणां राशिरुच्यते ॥13॥ —वही, 4

सारणी

अमावस्या (दर्श) और पूर्णिमा से संबद्ध पर्व, नक्षत्र और भांश

भ = भांश
न = नक्षत्रांश

अमावस्या (दर्श पर्व)					पूर्णमास पर्व				
पर्व संख्या	दर्श क्रमांक	भांश		नक्षत्र	पर्व संख्या	पूर्णमास	भांश		नक्षत्र
प		भ	न		प	क्रमांक	भ	न	
0	1	0	0	धनिष्ठा	1	1	73	0	मघा
2	2	22	1	पूर्वाभाद्रपदा	3	2	95	1	उत्तराफाल्गुनी
4	3	44	2	रेवती	5	3	117	2	चित्रा
6	4	66	3	भरणी	7	4	15	4	अनुराधा
8	5	88	4	रोहिणी	9	5	37	5	मूल
10	6	110	5	आर्द्रा	11	6	59	6	उत्तराषाढा
12	7	8	7	आश्लेषा	13	7	81	7	श्रविष्ठा
14	8	30	8	पूर्वाफाल्गुनी	15	8	103	8	पूर्वाभाद्रपदा

प		भ	न		प		भ	न	
16	9	52	9	हस्त	17	9	1	10	अश्विनी
18	10	47	10	स्वाती	19	10	23	11	कृत्तिका
20	11	96	11	अनुराधा	21	11	45	12	मृगशीर्ष
22	12	118	12	मूल	23	12	67	13	पुनर्वसु
24	13	16	14	श्रवण	25	13	89	14	आश्लेषा
26	14	38	15	शतभिषक्	27	14	111	15	पूर्वाफाल्गुनी
28	15	60	16	उत्तराभाद्रपदा	29	15	9	17	चित्रा
30	16	82	17	अश्विनी	31	16	31	18	विशाखा
32	17	104	18	कृत्तिका	33	17	53	19	ज्येष्ठा
34	18	2	20	आर्द्रा	35	18	75	20	पूर्वाषाढा
36	19	24	21	पुष्य	37	19	97	21	श्रवण
38	20	46	22	मघा	39	20	119	22	शतभिषक्
40	21	68	23	उत्तराफाल्गुनी	41	21	17	24	रेवती
42	22	90	24	चित्रा	43	22	39	25	भरणी

प		भ	न		प		भ	न	
44	23	112	25	विशाखा	45	23	61	26	रोहिणी
46	24	10	27	मूल	47	24	83	27	आर्द्रा
48	25	32	28	उत्तराषाढ़ा	49	25	105	28	पुष्य
50	26	54	29	धनिष्ठा	51	26	3	30	पूर्वाफाल्गुनी
52	27	76	30	पूर्वाभाद्रपदा	53	27	25	31	हस्त
54	28	98	31	रेवती	55	28	47	32	स्वाती
56	29	120	32	भरणी	57	29	69	33	अनुराधा
58	30	18	34	मृगशीर्ष	59	30	91	34	मूल
60	31	40	35	पुनर्वसु	61	31	113	35	उत्तराषाढा
62	32	62	36	आश्लेपा	63	32	11	37	शतभिषक्
64	33	84	37	पूर्वाफाल्गुनी	65	33	33	38	उत्तराभाद्रपदा
66	34	106	38	हस्त	67	34	55	39	अश्विनी
68	35	4	40	विशाखा	69	35	77	40	कृत्तिका
70	36	26	41	ज्येष्ठा	71	36	99	41	मृगशीर्ष

प		भ	न		प		भ	न	
72	37	48	42	पूर्वाषाढा	73	37	121	42	पुनर्वसु
74	38	70	43	श्रवण	75	38	19	44	मघा
76	39	92	44	शतभिषक्	77	39	41	45	उत्तराफाल्गुनी
78	40	114	45	उत्तराभाद्रपदा	79	40	63	46	चित्रा
80	41	12	47	भरणी	81	41	85	47	विशाखा
82	42	34	48	रोहिणी	83	42	107	48	ज्येष्ठा
84	43	56	49	आर्द्रा	85	43	5	50	उत्तराषाढा
86	44	78	50	पुष्य	87	44	27	51	धनिष्ठा
88	45	100	51	मघा	89	45	49	52	पूर्वाभाद्रपदा
90	46	122	52	उत्तराफाल्गुनी	91	46	71	53	रेवती
92	47	20	54	स्वाती	93	47	93	54	भरणी
94	48	42	85	अनुराधा	95	48	115	55	रोरिणी
96	49	64	56	मूल	97	49	13	57	पुनर्वसु
98	50	86	57	उत्तराषाढा	99	50	35	58	पूर्वाफाल्गुनी

प		भ	न		प		भ	न	
100	51	108	58	धनिष्ठा	101	51	57	59	पूर्वाफाल्गुनी
102	52	6	60	उत्तराभाद्रपदा	103	52	79	60	हस्त
104	53	28	61	अश्विनी	105	53	101	61	स्वाती
106	54	50	62	कृत्तिका	107	54	123	62	अनुराधा
108	55	72	63	मृगशिरा	109	55	21	64	पूर्वाषाढा
110	56	94	64	पुनर्वसु	111	56	43	65	श्रवण
112	57	116	65	आश्लेषा	113	57	65	66	शतभिषक्
114	58	14	67	उत्तराफाल्गुनी	115	58	87	67	उत्तराभाद्रपदा
116	59	46	68	चित्रा	117	59	109	68	अश्विनी
118	60	58	69	विशाखा	119	60	7	70	रोहिणी
120	61	80	70	ज्येष्ठा	121	61	29	71	आर्द्रा
122	62	102	71	पूर्वाषाढा	123	62	51	72	पुष्य

उपर्युक्त सूत्र के आधार पर उनके अपने-अपने भांश या नक्षत्र-अंशों को भी बताया गया है।

यदि पर्वों की संख्या प हो तो

$$\frac{प \times 73}{24} = न \frac{भ}{124}$$ के बराबर होगा।

इसमें न गुणनफल में प्राप्त कुल संख्या (नक्षत्र संख्या) का द्योतक है और भ भांश है (1 भांश=1/124 नक्षत्र)।

सम्मत और असम्मत पर्व

(पर्व के दिन नक्षत्र-अंशों को जानने का सूत्र इस तरह) बताकर (यह स्पष्ट हो जाता है कि) त्रिपदी या पूर्णमासी को नक्षत्र अंशों की स्थिति पूर्णमासी के चार पादों में से पहले पाद के बाद के तीसरे, दूसरे या पहले पाद में होती है और चन्द्रमा और नक्षत्र दिन के उसी पाद में रहते हैं। अन्य नक्षत्र पांच-पांच के वर्गों में (जैसा कि जीवादि श्लोक में गिनाया गया है) सम्मत पर्व के साम्य में होते हैं[1]। (14)

यह अस्पष्ट श्लोकों में से एक है। डा० शामशास्त्री इस श्लोक के बारे कहते हैं कि : श्लोक 12 में हमें यह बताया गया है कि अगर पर्व या पूर्णमासी की पूर्णता पहले पाद (दिन के नक्षत्र के 124 अंशों में से 31) में हो जाती है, तो इस पर्व दिन को असम्मत मानना चाहिए अर्थात् वह यज्ञ कर्म करने के उपयुक्त नहीं है। अब यह श्लोक कहता है कि पहले पाद में पूर्ण होने की बजाय पर्व चौथे पाद में पूर्णता प्राप्त कर सकता है (पहले पाद के बाद फिर तीसरा पाद चौथा पाद ही होगा) या तीसरे पाद में या दूसरे पाद में (पहले पाद के बाद का पहला दूसरा पाद ही होगा); दूसरे शब्दों में चन्द्रमा विचाराधीन पर्व के दिन के नक्षत्र के पहले, दूसरे, तीसरे, या चौथे पाद में पूर्णता प्राप्त कर सकता है। इन सभी मामलों में ऐसे पर्व दिनों को कोई यज्ञ-कर्म नहीं करना चाहिए! क्योंकि श्लोक 12 में बताए गए कारणों से यह हेय या पतित दिन होता है। जीवादि श्लोक (17) में बताए गए पांच-पांच वर्गों के नक्षत्रों वाले पर्वदिनों को यज्ञ कर्म आदि के लिए सम्मत माना गया है और इन पर्वदिनों के पहले पाद में ही चन्द्रमा को पूर्णता की प्राप्ति होती है (देखिए पर्व सारणी)

---

1. स्युः पादोर्ध्वं त्रिपद्यायाः त्रिद्व्येकेऽह्नः कृते स्थितिम्।
साम्येनेन्दोः स्तृणोऽन्ये तु पञ्चकाः पर्वसम्मताः ॥14॥ —ऋ० ज्यो० 10

इस तरह स्पष्ट है कि पांच सालों के युग में अश्विनी आदि 27 नक्षत्रों में से किसी एक के साथ केवल 27 पर्वदिन सम्मत होते हैं। दूसरे पर्व दिनों में नक्षत्रों के अंश 31 या इससे ज्यादा होते हैं। यह सारणी को देखने से स्पष्ट हो जाएगा।

बारह के गुणनफल में भांश

> किसी पक्ष या पर्व दिन में जिसकी संख्या बारह या बारह के पहाड़े में आती है भांश या नक्षत्र अंश आठ या आठ के पहाड़े में रखने चाहिए (क्योंकि वे वस्तुतः ऐसे ही होते हैं); यदि पक्ष या पर्व दिन बारह के पहाड़े से कम हों, तो नाम का शुक्ल पक्ष होने पर और यदि चान्द्र नक्षत्र अंश अभिप्रेत हों, तो ये नक्षत्र अंश ग्यारह या ग्यारह गुने होते हैं और उसमें नक्षत्रों का (62 भागों का) आधा जोड़ा जाता है[1]। (15)

इस श्लोक का सम्बन्ध विभिन्न विशेष पर्वों के श्लोक 13 में दिए गए सूत्र से जोड़े जाने वाले नक्षत्र मासों से है (पर्व राशियों की सारणी भी देखी जा सकती है)। (1) हम युग के आरम्भ के बाद पहली पूर्णमासी के पर्व को ले सकते हैं। सारणी भांश 73/124 अर्थात्=(62+11)/124 देती है। यह 12 से कम वाला पर्व है, भांश नक्षत्र का आधा और 11 अंश है (1 नक्षत्र=124 भांश)। दूसरे में जो दर्श पर्व है, भांश ग्यारह के पहाड़े का है (सारणी में 22 में दिया गया है अर्थात् 11×2), पर इसके साथ भार्ध (भ का आधा 62) नहीं है, जैसा कि शुक्ल पक्ष में। बाकी उन-पक्षों में भी यही स्थिति होती है। (2) अब हम बारहवें पर्व को लेते हैं। युग के आरम्भ से सातवां दर्श के आरम्भ से बारहवां पर्व है। यहां भांश 73/124 में बारह का गुणा करने पर 876/124 के बराबर होता है :

$$\frac{73}{104} \times 12 = \frac{876}{124} = 7\frac{8}{124}$$

अर्थात् 7 और 8/124 नक्षत्र अंश, जैसा कि ऊपर के श्लोक में बताया गया है। अभिन्न अंग अलग रखे जाते हैं। (3) युग के आरम्भ से तेरहवां दर्श 24 वां पर्व है (11 पूर्णिमासियां शामिल करके)। यहां भांश 2×8 (या 16) है। यही पादों के बारे में हैं, जिनकी संख्या 12 या 12 के पहाड़े में आती है (अर्थात् 24, 36, 48 आदि)। ऐसे दर्श पर्व (12, 24, और 36 आदि) में भांश 8 या 8 के पहाड़े में होते हैं :

---

1. भांशास्स्युरष्टकाः कार्य्याः पक्षद्वादशकोद्गताः।
   एकादशगुणश्चोनः शुक्लेऽर्धं चैन्दवा यदि ॥15॥ —ऋ० ज्यो० 10

$$\frac{73}{124} \times 12 = \frac{876}{124} = 7\frac{8}{124}$$ (7 नक्षत्र और 8 भांश)

$$\frac{73}{124} \times 24 = \frac{1752}{124} = 14\frac{16}{124}$$ (14 नक्षत्र और 16 भांश)

$$\frac{73}{124} \times 35 = \frac{2628}{125} = 21\frac{24}{124}$$ (21 नक्षत्र और 24 भांश)

आदि । इन सभी मामलों में भांश 8 या 8 के पहाड़े के हैं ।

(4) पर 12 या 12 के पहाड़े से कम पर्वों के मामले में भांश सभी जगह 11 या 11 के पहाड़े में नहीं होते (ये विशेष आपवादिक उदाहरण अगले श्लोक में बताए जाएंगे) । उदाहरण :—

पर्व 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 आदि के मूल्य हैं :

$$\frac{73}{124} \times 2 = \frac{146}{124} = 1\frac{22}{124}$$ (1 नक्षत्र और 22 भांश)

यहां भांश 11 के पहाड़े में हैं ।

$\frac{73}{123} \times 3 = \frac{219}{124} = 1\frac{95}{124} = 1\frac{62+33}{124}$ (1 नक्षत्र, आधा नक्षत्र और 33 भांश) । यहां पर भांश आधा नक्षत्र और 11 के पहाड़े का (अर्थात् 3× 11) है ।

पर्व 4 के लिए :—

$\frac{73}{124} \times 4 = \frac{292}{124} = 2\frac{44}{124}$ = (2 और 44 भांश) । यहां भांश 44 या ग्यारह के पहाड़े के हैं (अर्थात् 4×11) ।

पर्व 5 के लिए :—

$\frac{73}{321} \times 5\frac{365}{123} = 2\frac{117}{124} = 1\frac{61+55}{124}$ =(2 नक्षत्र, आधा नक्षत्र और 55 भांश) । यहां भांश आधा नक्षत्र और 11 के पहाड़े का (11×5) है ।

इसी तरह 13, 14, 15, 21 25, 26 आदि पर्वों के लिए गिना जा सकता है, जो बारह के पहाड़े से कम के है ।

आपवादिक उदाहरण अगले श्लोक में बताए गए हैं । फिर 15 वें और 16 वें श्लोक में हमें बताया गया है कि श्लोक 13 के नियम के अनुसार जोड़े

गए पर्वों की संख्या श्रृंखला के भांशों की जांच करनी चाहिए। इन दोनों श्लोकों में कोई नई ज्योतिष प्रकल्पना नहीं बताई गई है।

एक दिन का जोड़ना

> कुछ पर्वों में भांश 9 या 9 के पहाड़े के होते हैं; इन पर्वों में जिनकी संख्या 12 या 12 के पहाड़े से कम की होती है, भांश 7 या 7 के पहाड़े के होते हैं। अयुज् पर्वों में या पूर्णमासी के पर्वों में नक्षत्रों में दिनांश या नक्षत्रों के बराबर दिन जोड़ दिया जाते हैं और दर्श पर्वों में चन्द्रमा के छिपने पर एक और जोड़ दिया जाता है। (16)

> पन्द्रहवें पक्ष के आगे से यह (भांश के रूप में 8 को) भुक्त या बीता हुआ मानना चाहिए। भांश आठ की तरह तो लगता है; इन पक्षों में अर्थात् जो पर्व 11 या 11 के पहाड़े से कम वाले होते हैं) भांश दिनांश से अधिक (द्यु-अधिकेन) मालूम पड़ते हैं[1]। (ऋ० ज्यो० 13)

यहां पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि पूर्व राशि का उपयोग क्या है। उद्देश्य स्पष्ट है। जिन पर्व दिनों पर भांश 31 से कम होता है, वे यज्ञ कर्म के लिए सम्मत ठहराए गए हैं; जिन पर्व दिनों में भांश 31 से ज्यादा होते हैं, यज्ञ 14 वें दिन शुरू करके अगले पर्व के पहले दिन समाप्त किए जाते हैं। इसलिए अध्वर्यु पर्वों के कुछ उपलक्षण दिनांशों से कम या ज्यादा जानने के लिए व्यग्र रहते हैं। ये श्लोक हमें इन उपलक्षणों का बोध कराते हैं। ये श्लोक बताते हैं कि जिन पर्वों में भांश नौ होता है एक दिनांश बढ़ जाता है। ऋक् ज्योतिष का श्लोक यह बात और बता देता है कि युगारम्भ से 15 वीं पूर्णमासी के पर्व से या 29 वें पर्व से उन पर्वों में जिनकी संख्या 12 के पहाड़े में है भांश 9 होता है और उन पर्वों में 11 की जगह 7 भांश होता है। नीचे की गणना में यह बात साफ हो जाती है। (न और भ का मूल्य जानने के लिए सारणी भी देखिए)।

29 वें पर्व के लिए :

$$29 = \frac{73}{124} = \frac{2117}{124} = 17\frac{9}{124}$$ (17 नक्षत्र और 9 भांश)

---

1. नवकैरुद्गतांशस्स्यादूनस्सप्तगुणो भवेत्।
आवापस्त्वयुजि द्यु स्यात्पौरस्त्येऽन्तं गते परम् ॥16॥
पक्षात्पञ्चदशादूर्ध्वं तद्भुक्तमिति निर्दिशेत्।
नवभिस्तूद्गतोंऽशस्स्यादूनांशो द्वयधिकेन तु ॥ —ऋ० ज्यो० 13

इसी तरह पर्व के लिए :

पर्व प	न	भ		
13	7	81	अर्थात्	9×9
21	12	45	अर्थात्	9×5
29	17	9	अर्थात्	9×1
42	24	90	अर्थात्	9×10
50	29	54	अर्थात्	9×6
58	34	18	अर्थात्	9×2
71	41	99	अर्थात्	9×11
79	46	63	अर्थात्	9×7
87	51	27	अर्थात्	9×3
100	58	108	अर्थात्	9×12
108	63	72	अर्थात्	9×8
116	68	36	अर्थात्	9×4

इस तरह हम देखते हैं कि इन पर्वों में संख्या 9 अपने गुणकों (1 से 12 गुने तक) के साथ भांश के रूप में आती है; भ और अवम—दिनांश का आधा या पूरे दिन के रूप में जोड़ उससे पहले के पर्वों के ऊपर किया जाता है। उदाहरण के लिए न का मूल्य प=57 के लिए 33 है और प=58 के लिए 34 (देखिए सारणी); प=78 के लिए न=45 और प=79 के लिए न=46; प=86 के लिए न=50 है, प=87 के लिए न 51 है; प=107 के लिए न= 62 है; प=108 के लिए 63= है प=115 के लिए न=67 है और प=116 के लिए न=68। जैसा हम अभी देखेंगे श्लोक 27 में यह गुण नौ से जानने योग्य (नवकैः अवेत्यम्) बताया गया है।

फिर भी पर्व 22 में (न 12 है), जोड़ आधा दिन ज्यादा हैं (21 में भी न 12 है); इसी तरह पर्व 30 में पर्व 29 से आधा दिन ज्यादा है (दोनों में न=17 है); इसी तरह का सम्बन्ध पर्व 71 और 70 तथा 100 और 99 के बीच है।

ऊन पक्षों में जब 7 भांश का सामान्य गुण होता है, तो पहले पर्व की अपेक्षा चौथाई या आधा दिन ज्यादा जोड़ा जाता है। इसे द्यु का आवाप (द्यु का अर्थ है नक्षत्र दिन या तिथि) कहते हैं।

यह याद रखना चाहिए कि श्लोक 15 और 16 में कोई नई बात नहीं कही गई है। ये श्लोक श्लोक 12 में बताई गई पर्व राशि की विशेष जांच का जिक्र करते हैं। वह उन पर्व दिनों के बीच का अंतर बताता है जब पक्ष कर्म किया जाता है और जब चौदहवीं तिथि को शुरू करके अगले पर्व की प्रतिपदा

को समाप्त किया जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ऊन पक्षों की उपलक्षण संख्या 7 भी अपवादरहित नहीं है (जैसे 14 वें पर्व में भाश 3 और 15 वें में भांश 103 होता है; इन दो में से पहला पर्व दिन है, जबकि पिछला हेय पर्व-दिवस)। सप्त गुण को एक व्याख्या और भी है, इसका अर्थ नक्षत्र-दिन या नक्षत्र के बराबर का दिन हो सकता है। अगले दिन की सात कला ज्यादा जो नक्षत्र में से गुजरने में चन्द्रमा पूरे दिन से ज्यादा लेता है।

हमें यह भी बताया गया है कि जिन पर्वों में भांश 31 या ज्यादा होता है, वे छोड़ दिए जाते हैं और केवल 31 से कम भांश वाले दिनों में पक्ष कर्म किया जाता है। अगले श्लोक में बताया गया है कि हेय पर्व का क्या करना चाहिए।

सम्मत पर्व

जावादि श्लोक में बताए गए नक्षत्रों वाले पर्व में यह जानना चाहिए कि पर्व काल पर्व भांश के समान होता है और पर्व दिन के पहले पाद में समाप्त होता है; जहां पर्व भांश पर्व दिन के दो भागों (अर्थात् 62 अंशों) से ज्यादा होता है, तो आरंभिक भांश चौदहवें दिन जैसा मानना चाहिए।[1] (17)

जौ (अश्वयुजौ, अश्विनी), द्रा (आर्द्रा), गः (भगः या पूर्वाफाल्गुनी), ख (विशाखा), श्वे (विश्वेदेवाः या उत्तराषाढ़ा), हिर (अहिर्बुध्न्य या उत्तराभाद्रपदा), रो (रोहिणी), षा (आश्लेषा), चित् (चित्रा), मू (मूल) श (शतभिषक्), ण्यः (भरण्यः) सू (पुनर्वसू), मा (अर्यमा या उत्तराफाल्गुनी), धा (अनुराधा), ण (श्रवण), रे (रेवती), मृ (मृगशीर्ष), घा (मघा), स्वा (स्वाती), पो (आपोदेवता या पूर्वाषाढ़ा), अजा (अज-एकपाद् या पूर्वाभाद्रपदा), कृ (कृत्तिका), ष्य (पुष्य), ह (हस्त), ज्ये (ज्येष्ठा), ष्ठा (धनिष्ठा),—ये नक्षत्र वर्णों से उनको बताते हैं।[2] (18)

जावादि श्लोक में बताए गए पर्व अपने-अपने भांशों के साथ दिए गए हैं; ये आंकड़े पिछली सारणी से ही लिए गए हैं :

---

1. जावाद्यंशैस्समं विद्यात् पूर्वार्धे पर्वसूत्तरे।
भादानं स्याच्चतुर्दश्यां द्विभागेभ्योऽधिको यदि ॥17॥

2. जौद्रागः ख श्वे ही रोषा चि न्मू षण्यः सू मा धा णः।
रे मृ घा स्वा पा ऽ जः कृ ष्य ह ज्ये ष्ठा इत्यृक्षालिङ्गैः ॥18॥ —ऋ० ज्यो० 14

पूर्णमासी	भांश	नक्षत्र	दर्श	भांश	नक्षत्र
9 वां	1	अश्विनी	18 वां	2	आर्द्रा
26 वा	3	पूर्वाफाल्गुनी	35 वां	4	विशाखा
43 वां	5	उत्तराषाढ़ा	52 वां	6	उत्तराभाद्रपदा
60 वा	7	रोहिणी	7 वां	8	आश्लेषा
15 वां	9	चित्रा	24 वां	10	मूल
32 वां	11	शतभिषक्	41 वां	12	भरणी
49 वां	13	पुनर्वसू	58 वां	14	उत्तराफाल्गुनी
4 था	15	अनुराधा	13 वां	16	श्रवण
21 वां	17	रेवती	30 वां	18	मृगशीर्ष
38 वां	19	मघा	47 वां	20	स्वाती
55 वां	21	पूर्वाषाढ़ा	2 सरा	22	पूर्वाभाद्रपदा
10 वां	23	कृत्तिका	19 वां	24	पुष्य
27 वां	25	हस्त	36 वां	26	ज्येष्ठा
44 वां	27	धनिष्ठा			

जावादि (अर्थात् जो आदि) श्लोक का अर्थ है वह श्लोक जो 'जो' वर्ण से शुरू होता है। श्लोक 18 को आमतौर पर जावादि श्लोक कहा जाता है। यहां दी गई सारणी से पता चलेगा कि नवीं पूर्णिमा, 18 वां दर्श, 26 वीं पूर्णिमा, 35 वां दर्श, फिर 43 वीं पूर्णिमा आदि पर्वराशियों के 31 अंश से कम वाले भा-शेष की माला में आते हैं और माला के उत्तरोत्तर पर्वों के बीच में पांच नक्षत्रों के वर्ग आते हैं जो अश्विनी से आगे गिने जाते हैं। ये सभी पक्ष कर्म के लिए सम्मत हैं। पर दूसरे पर्वों में भ-शेष 31 या 31 अंशों से ज्यादा हैं, अत: ये हेय या पतित माने जाते हैं अत: इनमें यज्ञ कर्म वर्जित हैं। इन पर्वों में यजमान को 14 वीं तिथि को उपवस्थ दिन मानना चाहिए और यज्ञ को अगले पक्ष के पहले दिन या प्रतिपदा को समाप्त कर देना चाहिए।

योग

आठ अंशों के स्थान पर (जो बारहवें या बारहवें के पहाड़े के पक्ष के आखीर में आते हैं) 19 कलाएं रखनी चाहिए; उन पक्षों के मामले में यदि सूर्य और चन्द्रमा के योग में होने की संभावना हो, तो 72 रखना चाहिए[1]। (19)

1. कार्या भांशाष्टकस्थाने कला एकोनविंशति: ।
ऊनस्थाने द्विसप्ततीरुद्धरेद्युक्तसम्भवे ॥19॥ —ऋ० ज्यो० 11

ग्राठ ग्रश के स्थान पर 19 कला के जोड़ का ग्रर्थ यह नहीं कि 19 कलाएं 8 ग्रंशों के बराबर होती हैं। इसका ग्रभिप्राय कुछ कारणों के ग्राधार पर कुछ समंजनों को व्यवस्था करना है। एक पक्ष में चन्द्रमा 14 नक्षत्रों ग्रौर एक नक्षत्र के 73/124 हिस्से में से होकर गुजरता है। इसलिए 12 पक्षों में वह 12 वें $(14\frac{73}{124}) = 175\frac{8}{124}$ नक्षत्रों से होकर जाएगा। ग्रब चन्द्रमा एक नक्षत्र को पार करने मे एक दिन ग्रौर अगले दिन की सात कलाओं को लेता है। इसलिए 175 नक्षत्रों से होकर जाने में इसे 175 दिन ग्रौर $175 \times 7 = 1225$ कलाग्रों की जरूरत पड़ेगी। एक दिन में 603 कलाएं होती हैं, इसलिए 1225 कलाएं 2 दिन ग्रौर 19 कलाग्रो के बराबर होती हैं। इसलिए हम चन्द्रमा की गति का निरूपण या तो ग्रशों के रूप में कर सकते हैं या कलाग्रों के रूप में। इसलिए 12 पक्षों में चन्द्रमा को 177 दिन ग्रौर 19 कलाग्रों या 175 नक्षत्रों ग्रौर ग्राठ ग्रंशों (या नक्षत्र का 87/124 भाग) की जरूरत होती है।

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में योग शब्द ग्राया है। योग शब्द संयुक्त स्थल के लिए ग्राया है जहां सूर्य ग्रौर चन्द्रमा एक दूसरे की विपरीत दिशा में चलने के ग्रनुमान के ग्राधार पर एक निश्चित समय में साथ-साथ चलेंगे। इस मामले में सूर्य ग्रौर चन्द्रमा इस चक्र (ग्रंडाकार का 360 ग्रंश) को 25.42 दिनों में पार करेंगे। यद्यपि इस वेदांग ज्योतिष श्लोक में योग शब्द स्पष्ट रूप से ग्राया है, हमें पता नहीं चलता कि इन प्रेक्षकों ने कितने योग गिने थे ग्रौर इनके नाम किस तरह रखे गए थे। उन्होंने शायद एक ही योग गिना था ग्रौर उसे व्यतिपात नाम दिया था। योग ग्रौर उसके नक्षत्र का पता लगाने का सूत्र श्लोक 26 में दिया गया है।

इस श्लोक में बताया गया है कि ऊन पक्ष (ग्रर्थात् पूर्णमास पक्षों) में यदि सूर्य ग्रौर चन्द्रमा के योग की संभावना हो, तो 72 की संख्या रखनी चाहिए। उदाहरण के लिए शामशास्त्री ने 23 वां पक्ष लिया है। यहां चन्द्रमा का भांश है—

$$23 \times 73/124 \text{ या } 13\frac{67}{124}$$

ग्रर्थात् 13 नक्षत्र ग्रौर पिछले पर्व के नक्षत्र का 67/124 भाग। चूंकि चन्द्रमा 124 पर्वों में 67 परिक्रमा करता है ग्रौर इस समय में सूर्य पांच (पांच वर्षों का युग), तो वे दोनों मिलकर 72 परिक्रमाएं करते हैं। इसलिए 72 सूर्य ग्रौर चन्द्र का योग बताने वाला देशनांक है। विचाराधीन 23 वें पर्व में, चन्द्रमा का भांश 67 है, यदि इसी पर्व में सूर्य का भांश 5 हो, तो दोनों के कुल भांश 67 धन 5=72 हो जाएगे। दूसरे शब्दों में भांशों में उनके देशांतर का योग देशनांक 72 है। ग्रब एक तिथि में चन्द्रमा 603 काष्ठाग्रों में से जाता है ग्रौर सूर्य 75 काष्ठाग्रों में से।[1]

---

1. यह इस तरह निकलता है: एक युग में 1860 तिथियां होती हैं ग्रौर चन्द्रमा

[अगले पृष्ठ पर—

नीचे हम एक सारणी दे रहे हैं जिसमें एक युग के व्युत्पातों की शृंखला दी गई है। यह सारणी शामशास्त्री के वेदांग ज्योतिष (1936, पृ० 20) से उद्धृत की गई है। (प पर्व के लिए आया है और त तिथि के लिए)।

		प	त			प	त
1.	$124/72$	1	$11\frac{5}{6}$	9.	$124\times 9/72$	15	$7\frac{1}{2}$
2.	$124\times 2/72$	3	$6\frac{2}{3}$	10.	$124\times 10/72$	17	$3\frac{1}{3}$
3.	$124\times 3/72$	5	$2\frac{1}{2}$	11.	$124\times 11/72$	18	$14\frac{1}{6}$
4.	$124\times 4/72$	6	$13\frac{1}{3}$	12.	$124\times 12/72$	20	10
5.	$124\times 5/72$	8	$9\frac{1}{6}$	13.	$124\times 13/72$	22	$2\frac{1}{2}$
6.	$124\times 6/72$	10	5	14.	$124\times 14/72$	24	$1\frac{2}{3}$
7.	$124\times 7/72$	12	$\frac{5}{6}$	15.	$124\times 15/72$	25	$12\frac{1}{2}$
8.	$124\times 8/72$	13	$11\frac{2}{3}$				

और इस तरह आगे भी। यह व्युत्पात सूत्र 72 तक इस्तेमाल किया जा सकता है।

किसी पर्व दिन का नक्षत्र निकालना

सम्बन्धित पर्व-तिथि में पर्व भांश की कलाएं जोड़कर उसे 11 से गुणा करना चाहिए। फिर गुणनफल में कलाओं के समूह से (जो नक्षत्र से

—पिछले पृष्ठ से]

27×67 में से होकर जाता है। इसलिए एक तिथि में वह $27\times 67/1860$ या $9\times 67/620$ से होकर जाता है। इसी तरह सूर्य $5\times 27/1860$ या $45/620$ में से होकर जाता है। दूसरे शब्दों में चन्द्रमा नक्षत्र के 620 भागों में 603 भागों में से जाता है, जबकि सूर्य उन्हीं 620 भागों में से 45 भागों में से जाता है। नक्षत्र को 124 भागों में बांटा जाता है जिन्हें अंश कहते हैं। और हर 1/124 भाग को फिर पांच भागों में बांटा जाता है या पूरे नक्षत्र को $124\times 5=620$ भागों में बांटा जाता है जिन्हें काष्ठा कहते हैं (1 नक्षत्र=620 काष्ठाएं)। चूंकि पांच काष्ठाएँ बहुत कुछ एक अंश के बराबर होती हैं। एक तिथि की जिन 45 काष्ठाओं से होकर सूर्य गुजरता है वे 9 अंशों के बराबर होती हैं। फिर एक तिथि में चन्द्रमा 603 काष्ठाओं या 67 अंशों में से होकर जाता है।

होकर जाने के लिए चन्द्रमा के लिए जरूरी हो) भाग देना चाहिए। भजनफल को पर्व दिन के नक्षत्र की संख्या (पिछले पर्व नक्षत्र से गिनकर) मानना चाहिए[1]। (20)

इस श्लोक में दिए गए नियम का उदाहरण देने के लिए मैं फिर शामशास्त्री द्वारा दिया गया उदाहरण उद्धृत करूंगा। युग के आरंभ के बाद पहला पर्व लेकर हमें उसका नक्षत्र जानने के लिए इस सूत्र का प्रयोग करना चाहिए। तिथि की कलाएँ भिन्नों को छोड़कर 593 होती हैं। 14 दिनों के लिए 14 तिथियों के ऊपर 228 कलाएँ और जरूरी होती हैं (यह 26वें श्लोक में बताया गया है)। अब 593 कलाएं और 229 कलाएं मिलकर 822 होती हैं। इसमें 11 का गुणा करने से 9042 आते हैं। नक्षत्र के बराबर के दिन की कलाएं 610 होती हैं, इसलिए 9040 में 610 का भाग देने से भजनफल $14\frac{50}{61}$ आता है। तदनुसार पिछले पर्व के नक्षत्र घनिष्ठा से 15वां नक्षत्र मघा है।

पर्व में किसी और दिन नक्षत्र, प्रति दिन एक नक्षत्र हिसाब से जोड़कर निकाला जाता है। श्लोक 27 में हमें बताया गया है कि पर्वभांश (73/124) और इसका एक तिहाई पर्व-नक्षत्र को निकालने के लिए जरूरी कलाओं की संख्या होनी है। 73+73/3=97 होता है; 14 दिनों की दैनिक कलाएं 98 होती हैं। 98 और इसका एक तिहाई (98+98/3)=131 (लगभग) होता है। इस तरह 131+97=228। अब 14 तिथि बनाने वाली कलाओं की संख्या 14 (14×593)=8302 होती हैं; इसमें 228 जोड़ने से 8530 आते हैं, जिनमें 14 का भाग देने से हर रोज की $609\frac{2}{3}$ कलाएं आती हैं।

पर्व नक्षत्र और तिथि नक्षत्र का भेद

उन कलाओं की संख्या में, जो (पिछले श्लोक में बताए अनुसार) किसी पर्व का नक्षत्र निकालने के लिए जरूरी होती हैं, हर तिथि में 7 चक्र कलाएं (7+9 या 7+10)=16 या 17 कलाएं जोड़ी जाती हैं। इसलिए तिथि कलाओं को (अर्थात् तिथियों को दिन में बदलने के लिए लिए जरूरी 7 कलाओं को) घटाने से आई बाकी किसी तिथि का नक्षत्र निकालने के लिए जरूरी कलाओं की संख्या होगी[2]। (21)

---

1. तिथिमेकादशाभ्यस्तां पर्वभांशसमन्विताम्।
विभज्य भ समूहेन तिथिनक्षत्रमादिशेत् ॥20॥
2. याः पर्वभादानकलास्तासु सप्तगुणा तिथिः।
उक्ता तासां विजानीयात् तिथिभादानिकाः कलाः ॥21॥
[याः पर्वभादानकलास्तासु सप्तगुणां तिथिम्।
प्रक्षिपेत् तत्समूहं तु विद्याद् भादानिकाः कलाः] ॥ —ऋ० ज्यो० 21

तिथि को $597\frac{17}{62}$ कलाओं में बांटा जाता है। एक सावन दिन को 603 कलाओं में बांटा जाता है; चन्द्रमा को एक नक्षत्र से होकर जाने में 1 सावन दिन और 7 कलाएं लगती हैं। इस तरह एक सावन दिन और अगले दिन की 7 कलाओं को एक नक्षत्र से होकर चन्द्रमा की गति की अवधि मानकर पर्व की हर तिथि का नक्षत्र निकालना आसान है। श्लोक 20 में दिया गया सूत्र लागू करके तिथि को ही 11 से गुणा किया जा सकता है और पर्वभांश की कलाओं में 11 का गुणा करने से आए गुणनफल में 610 का भाग देकर आए भजनफल को उक्त तिथि संख्या में जोड़ना चाहिए। यह जोड़ पिछले पर्व के नक्षत्र से गिनकर संबंधित पर्व के नक्षत्र की संख्या बताएगा।

सामान्यतः सम्बन्धित पर्व का नक्षत्र पिछले पर्व के नक्षत्र से 15वां नक्षत्र होता है। तिथि में 11 का गुणा करने से आया गुणनफल और पर्व भांश की कलाओं में 11 का गुणा करने से आए गुणनफल में 610 का भाग देकर भजनफल को इसमें जोड़ने से जो लगभग 15 आता है, जिनका नक्षत्र जानना है उन पर्वों की संख्या एक से ज्यादा होने पर तो प्रतिपर्व की 15 तिथियों की दर से आने वाले जोड़ में 11 का गुणा करना चाहिए; 228 कला प्रति पर्वभांश के अनुसार आए जोड़ को भी 11 से गुणा करके उसमें 610 का भाग देना चाहिए। इस भजनफल को उक्त तिथि संख्या में जोड़ना चाहिए। आए हुए जोड़ में बीते हुए पर्वों की संख्या से भाग देना चाहिए। भजनफल सम्बन्धित पर्व के नक्षत्र को बताता है।

उदाहरण : ५वें पर्व का नक्षत्र 4×11 धन (228×4×11) 610 है। यह 60 आता है। इसमें 4 का भाग देने से 15 आया। इसलिए पांचवें पर्व का नक्षत्र पिछले पर्व के नक्षत्र से 15वां है।

यह भी याद रखना होगा कि तिथियां चान्द्र होती हैं और दिन सौर। अगले श्लोक में सूर्य की तिथि से जोड़ने की रीति बताई गई है।

सौर और चान्द्र तारीखों का सम्बन्ध

> बीते हुए पर्व के भागों में से तिथि की दूनी संख्या घटानी चाहिए। सूर्य उस मंडल के मार्गों पर पर्व-तिथि पर स्थित पाया जाएगा जो बाकी तिथि दिनों के बराबर है[1] (22)।

अतीतपर्वभागेभ्यः शोधयेत् द्विगुणां तिथिम्।
तेषु मण्डलभागेषु तिथिनिष्ठां गतो रविः ॥22॥ —ऋ० ज्यो० 20

इस श्लोक में आए मंडल शब्द का अर्थ दिन-चक्र है। एक युग में सूर्य 1830 दिन-चक्र पूरे करता है, चन्द्रमा 1768 और नक्षत्र 1809 (देखिए श्लोक 29)। युग के 1860 दिनों में चन्द्रमा की 1860 तिथियां होती है। इसलिए एक तिथि 1830/1860 या 122/124 दिन (बहुत करीब) के बराबर होती है, जिसका मतलब है कि—

$$(\text{एक तिथि}-2/124)\ \text{दिन}=\frac{(124\ \text{तिथि}-2\ \text{तिथि})}{124}\ \text{दिन}$$

$$\text{इसलिए 1 पर्व या 15 तिथियां}=\frac{15\ (124-2)}{124}=14\tfrac{47}{62}\ \text{दिन}।$$

अब चूंकि एक पर्व में सूर्य 16 मंडलों में से जाता है, वह $14\frac{47}{62}$ दिनों में $\frac{16}{15}\times\frac{915}{62}$ या $15\frac{46}{62}$ मंडल पूरे करता है। इसका अर्थ है कि वह पत्र को 15वीं तिथि के चालू रहने पर दिन चक्र के 62 भागों में से 46वें भाग में होगा।

> यदि विषुव दिनों की संख्या में दो का गुणा कर गुणनफल में से 1 घटा कर फिर छः से गुणा किया जाए, तो गुणनफल इच्छित विषुव के होने के पक्ष की संख्या बताता है; पक्ष की संख्या में दो से भाग देने पर तिथि संख्या आती है, जिस पर विषुव होता है[1]। (23)

विषुव दिन का अर्थ है वह दिन जिसमें रात और दिन बराबर हों, जिसमें दोनों दिन और रात 15-15 मुहूर्तों के होते हैं। हर अयन में एक विषुव दिन होता है; युग में 10 विषुव दिन होते हैं। दक्षिणायन के पांच विषुव कार्तिक महीने में और विषम तिथियों को पड़ते हैं, उत्तरायण के पांच विषुव माधव (वैसाख) मास की समतिथियों में पड़ते हैं।

इस श्लोक में दिए गए सूत्र के अनुसार यदि इच्छित विषुव की संख्या न है तो पर्व या पक्ष का प और तिथि का त इस तरह व्यक्त किए जा सकते हैं :

प=6 (2न—1), और त=1/2 प

इसलिए त=3 (2न—1)

1. विषुवन्त द्विरभ्यस्य रूपोनं षड्गुणीकृतम् ।
पक्षा यदर्धं पक्षाणां तिथिस्स विषुवान्स्मृतः ।।23।।
[विषुवत् तद्गुणं द्वाभ्यां रूपहीनं तु षड्गुणम् ।
यल्लब्धं तानि पर्वाणि तदर्धं सा तिथिर्भवेत् ।। —ऋ० ज्यो० 31
तृतीया नवमी चैव पौर्णमासी त्रयोदशी ।
षष्ठी च विषुवान् प्रोक्तः द्वादश्यां दशमं भवेत्] ।। —ऋ० ज्यो० 33

उदाहरण के लिए चौथे विषुव के लिए

न=4; अतः त=3 (2×4—1)=21

इसका मतलब है कि 21 वीं तिथि को 42 वें पर्व या पक्ष में चौथा विषुव पड़ता है। यहां पर 21 संख्या 15 से ज्यादा है अतः ऐसे मामलों में एक दूसरा नियम लागू होता है :

यदि पर्व संख्या की आधी-संख्या 15 से ज्यादा है, तो इसमें 15 का भाग दे दो; भजनफल में पर्व संख्या जोड़ दो। यह जोड़ पर्वों की असली संख्या है। बाकी विषुव की तिथि बताएगी।

ऊपर के उदाहरण में 42 का आधा अर्थात् 21 चूंकि 15 से ज्यादा है, इसलिए इसमें 15 से भाग देना होगा। भजनफल 1 है और बाकी 6; भजन फल को पर्व संख्या में जोड़ देने से 42+1=43 आया, जो पर्व की इच्छित संख्या है और चौथे विषुव की तिथि षष्ठी है।

[विषुव दिन की संख्या में दो का गुणा करके गुणनफल में से 1 घटाकर बाकी में 6 का गुणा करके गुणनफल विषुव के पर्व की संख्या बताता है। इस संख्या का आधा उस तिथि को बताता है, जिसका इच्छित विषुव सम्पन्न होता है। (ऋ० ज्यो० 31)

तृतीया, नवमी, पूर्णिमा, फिर त्रयोदशी, षष्ठी विषुव की उत्तरोत्तर तिथियां हैं, और युग का दसवां विषुव 12 वीं तिथि को पड़ता है (ऋ ज्यो० 33)]

सूत्र यहां ऋक् ज्योतिष में भी वही है जो यजुः ज्योतिष में दिया गया है। जब न 1, 2, 3, 4, 5 आदि होता है, तो, विषुव 3, 9, 15 (पूर्णिमा), 6, 12 आदि तिथियों को पड़ता है। जब न 10 है, त 12 होता है।

त=3 (न2 -1) या जब न=10

त=1(10×2—1)=57=(15×3)+12

भजनफल 3 को पर्व संख्या में जोड़ दिया जाएगा और बाकी 12 ही इच्छित विषुव की तिथि हैं।

एक नाडिका का माप

जिस पात्र में 50 पल पानी आ जाता है, उसे आढ़क कहते हैं। आढ़क से द्रोण

माप को जोड़ा जा सकता है, जैसा बताया जा चुका है, यदि द्रोण में
से तीन कुडव घटा दिए जाएं तो नाडिका का माप होगा[1] ।(24)

एक द्रोण में से तीन कुडव घटाने से नाडिका का माप आता है। इस देश में पुरानी प्रथा यह थी कि $6\frac{1}{4}$ प्रस्थ की धारिता का घटिका पात्र लेकर उसकी तली में एक छेद कर दिया जाता था। पानी के ऊपर तैरता हुआ वह कटोरा इसमें से आने वाले पानी से भर जाने पर आवाज करके डूब जाता था। यह एक नाडिका या एक घटिका के बीतने का समय घोषित करता था।

समय की इकाइयां ये हैं :

50 पल=1 आढक

4 आढक=1 द्रोण=200 पल

4 प्रस्थ=1 आढक=50 पल

1 प्रस्थ=$12\frac{1}{2}$ पल

4 कुडव=1प्रस्थ

1 कुडव=$3\frac{1}{8}$ पल

3 कुडव=$9\frac{3}{8}$ पल

इसलिए 1 नाडिका=1 द्रोण—3 कुडव=200 पल—$9\frac{3}{8}$ पल=$190\frac{5}{8}$ पल

=$190\frac{5}{8}$ पल/$12\frac{1}{2}$ प्रस्थ

=61/4 प्रस्थ

इस तरह 12 घटिकाएं या नाडिकाएं=183 प्रस्थ

हमें यह बताया गया है दक्षिणायन में दिन की वृद्धि की दर प्रतिदिन एक प्रस्थ के हिसाब से होती है और दक्षिणायन में सूर्य के 183 दिन रहने पर इस दौरान कुल वृद्धि 183 प्रस्थ या 12 नाडिका या 6 मुहूर्त होती है। (याद रखना चाहिए कि इतनी वृद्धि काश्मीर के आस पास ही देखी जाती है।)

सूर्य के नक्षत्र

बीते हुए पर्वों की संख्या में 11 को गुणा करने के बाद और बीती हुई

---

1. पलानि पञ्चाशदपां धृतानि तदाढकं द्रोणमतः प्रमेयम् ।
त्रिभिर्विहीनं कुडवैस्तु कार्यं तन्नाडिकायास्तु भवेत्प्रमाणम् ।।24।।
[नाडिके द्वे मुहूर्तस्तु पञ्चाशत्पलमाढकम् ।
आढकात्कुम्भिका द्रोणः कुडवैर्वर्धते त्रिभिः] ।। —ऋ० ज्यो० 17

तिथियों की संख्या में 9 का गुणा करने के बाद उनके गुणनफलों के जोड़ में युग की पर्व संख्या का भाग देना चाहिए; इस भजन फल द्वारा बीते हुए पर्वों के साथ युग के आरम्भ से क्रमश: सूर्य का नक्षत्र जाना ज.ता है[1]। (25)

मान लो युगारम्भ से प पर्व वीत चुके हैं और तब से बीती हुई तिथियों की संख्या त है, तो सूर्य का नक्षत्र न युगारम्भ से इस तरह जाना जाता है—

$$\text{न} = \text{प} + \frac{11\,\text{प} + 9\,\text{त}}{124}$$

यह सूत्र यों बना : युग में सूर्य $5 \times 27 = 135$ नक्षत्रों में से गुजरता है; और युग में 124 पर्व होते हैं। अब यदि 124 पर्वों में सूर्य 135 नक्षत्रों में से जाता है, तो इच्छित प संख्या के पर्वों में यह इन नक्षत्रों से जाएगा :

$$\frac{135}{124} \times \text{प नक्षत्र} = \text{प}\left(1 + \frac{11}{124}\right) = \text{प} + \frac{11}{124}\text{प}$$

अब यदि पव की 15 तिथियों में सूर्य 135/124 नक्षत्रों में से जाता है तो त संख्या की तिथि में से वह इनमें से जाएगा :

$$\frac{135\,\text{त}}{15 \times 124} = \frac{9\,\text{त}}{124}$$

इन दोनों को जोड़ने से यह सूत्र आया :

$$\text{न} = \text{प} + \frac{11\,\text{प}}{124} + \frac{9\,\text{त}}{124} = \text{प} + \frac{11\,\text{प} + 9\,\text{त}}{124}$$

उदाहरण :

(एक) युग के पहले पर्व में पहली तिथि में सूर्य का नक्षत्र, अर्थात्

प=1 त=1

$$\text{न} = 1 + \frac{11+9}{124} + 1\frac{20}{124}$$

1. एकादशभिरभ्यस्य पर्वाणि नवभिस्तिथिम् ।
युगलब्धं स पर्व स्याद्वर्तमानार्कभं क्रमाद् ॥25॥

जिसका मतलब है कि सूर्य धनिष्ठा से दूसरे नक्षत्र में है जो पूर्वा-भाद्रपदा है। यही सही है क्योंकि पहला पर्व युग के आरम्भ के 15 दिन बाद शुरू होता है। चूंकि सूर्य एक नक्षत्र से होकर $13\frac{5}{9}$ दिन लगाता है, वह पर्व के $13\frac{5}{9}$ दिनों में शतभिषक् से होकर जा चुका है और पूर्वा-भाद्रपदा में $1\frac{4}{9}$ दिन रह चुका है।

(दो) युग के पाचवें पर्व में सूर्य का नक्षत्र पांचवी तिथि में है। 1 युग के पाचवें पर्व का मतलब है, संख्या 4 वाला पर्व, प=4 और तिथि संख्या भी 4 है (अर्थात् त=4)। इन मूल्यों को प और त में रखकर हम पाते हैं :

$$न=4+\frac{44+36}{124}=4\frac{80}{124}$$

जिसका मतलब है कि सूर्य $64\frac{8}{9}$ दिनों में 4 नक्षत्रों में से होकर गुजर चुका है और पाँचवें नक्षत्र (रेवती) में 64 दिनों में से $9\frac{7}{9}$ दिन रह चुका है।

योग और उसका नक्षत्र

> सूर्य की स्थिति वाले नक्षत्र के हिस्सों को 9 से भाग देकर और भाग की बाकी में 2 का गुणा करके गुणनफल को सूर्य की दैनिक गति वाले नक्षत्र के अंश बनाया जा सकता है। सूर्य के दैनिक अंश में चान्द्र तिथि जोड़ने से योग का काल आता है। योग का नक्षत्र 20 और 25 श्लोक में (जिन श्लोकों में एकादश शब्द आता है) चन्द्रमा और सूर्य के नक्षत्र निकालने के लिए दिए गए सूत्र से निकाला जा सकता है[1]। (26)

सूर्य को किसी नक्षत्र से होकर जाने में $13\frac{5}{9}$ दिन लगते हैं (इसके लिए देखिए श्लोक 39)। इसको सहज ही इस तरह जोड़ा जा सकता है : 1830 दिनों के युग में सूर्य पांच बार पूरे 27 नक्षत्रों से होकर गुजरता है। इसलिए एक नक्षत्र से होकर जाने में इसे इतने दिन लगने चाहिए :

$$\frac{1830}{5\times27}\text{ दिन}=13\frac{5}{9}\text{ दिन}$$

एक नक्षत्र में 124 अंश या 620 काष्ठाएं होती हैं इस तरह सूर्य $13\frac{5}{9}$ दिनों में 124 अंशों से होकर जाता है। यहां नक्षत्र के अंशों में 9 का भाग देने से बाकी 5/9 रहता है। श्लोक में दिए गए नियमों के अनुसार इस बाकी में

---

1. सूर्यर्क्षभागान् नवभिर्विभज्य शेषं द्विरभ्यस्य दिनोपभुक्तिः।
तिथिर्यथा भुक्तिदिनेषु कालो योगो दिनैकादशकेन तद्भम् ॥26॥

हमें 2 का गुणा करना चाहिए और 10 लव को सूर्य के दैनिक अंश मानना चाहिए। जैसा हम श्लोक 19 के सिलसिले में बता चुके हैं, जब चन्द्रमा 620 में से हर तिथि में 603 काष्ठाओं में से होकर जाता है, सूर्य 620 में से हर तिथि में 45 काष्ठाओं में से जाता है। 45 काष्ठाएं नक्षत्र के 124 अंश के 9 के बराबर होती हैं चूंकि सावन दिन तिथि से कुछ बड़ा होता है अतः ज्योतिषकार सूर्य की दैनिक गति नक्षत्र के 10 अंश के बराबर मानते हैं।

पिछले एक पृष्ठ पर हम बता चुके हैं कि योग का अर्थ रविमार्ग पर विपरीत दिशाओं में सूर्य और चन्द्रमा की कल्पित गति के देशान्तरों का योग है।

चन्द्रमा का नक्षत्र इस तरह निकलता है : (देखिए श्लोक 19) हम चन्द्रमा की वह स्थिति लें, जब वह दूसरे पर्व की 11 वीं तिथि में है। पहले पर्व का नक्षत्र धनिष्ठा से पन्द्रहवां अर्थात् मघा है। मघा से ग्यारहवां एक नक्षत्र प्रतिदिन के हिसाब से 11 दिनों के लिए पूर्वाषाढ़ा आता है।

उसी तरह श्लोक 19 में दिए गए सूत्र से आठवें पर्व का नक्षत्र रोहिणी है। इससे नवां उत्तराफाल्गुनी, दसवें चान्द्र दिन का नक्षत्र है।

अब हमें दोनों योग दिनों के सौर नक्षत्र निकालने हैं। हम इस सूत्र का प्रयोग करेंगे

$$न = प + \frac{11\,प + 9\,त}{124}$$

पहले योग के लिए इस सूत्र से (जब बीते पर्वों की संख्या या लव = 1 और गत तिथियों की संख्या 10 है)

$$न = 1 + \frac{11 + 90}{124} = 1\frac{101}{124}$$

इसका मतलब यह है कि सूर्य धनिष्ठा से दूसरे नक्षत्र में था, जो शतभिषक् है।

इसी तरह पांचवें योग के लिए प का मूल्य 8 है और त का 9, इसलिए

$$न = 8 + \frac{11 \times 8 + 9 \times 9}{124} = 9\frac{45}{124}$$

शामशास्त्री का कहना है कि इन गणनाओं को जैन गणित के अनुकूल लाने के लिए ऊपर निकाले हुए न मूल्य में 14 जोड़ने होंगे। पहले उदाहरण में

न अब 1 की जगह पर 14+1 हो जाता है, धनिष्ठा से पन्द्रहवां मघा है, जिसमें जैनों के अनुसार सूर्य पहले युग में था। दूसरे उदाहरण में न=9, जैन माप के अनुसार 9+14=23 हो जाता है अर्थात् सूर्य ज्येष्ठा के आरम्भ में या अनु-राधा के आखीर में है, जो धनिष्ठा से 22वाँ है[1]।

पर्व भशेष और तत्समान कलाएं

भशेष (73/124 और इसका एक तिहाई, पर्व के 14 दिनों के दिवसांशभाग का एक तिहाई, भिन्न को छोड़कर या उसे अभिन्न अंक मानकर, भादान कलाएं होती हैं, जो पर्व का नक्षत्र निकालने के लिए जरूरी होती हैं; (शब्द 'भादान कलाएं' अनुवृत्ति द्वारा श्लोक 21 से लिया गया है)। यदि सम्बन्धित पर्व का भशेष पिछले पर्व के आधे नक्षत्र या उसके आधे से ज्यादा है, तो एक दिन की वृद्धि 9 से या 9 के पहाड़े को सम्बन्धित पर्व के भशेष का लव समझकर जाननी चाहिए[2] (27)

पर्व राशि का भशेष 73/124 (देखिए श्लोक 11) होता है। दिवसांश भाग 7 कलाएं होती हैं। जिनको चन्द्रमा एक नक्षत्र से गुजरते समय एक दिन से ऊपर लेता है। अतः 14 दिन के दैनिक अंश हुए 14×7=98। इसका एक तिहाई लगभग 33 है। भशेष (73) का एक तिहाई लगभग 24 है। अतः 73+24+98+33=228। यह संख्या वे कलाएं बताती हैं, जिनको पर्वतिथि की कलाओं में जोड़कर 11 से गुणा किया जाता है और दिए हुए पर्व का नक्षत्र निकालने के लिए फिर उसमें भ या नक्षत्र के बराबर कलाओं का भाग दिया जाता है। (व्याख्या के लिए देखिए श्लोक 21)।

---

1. जिस क्रम में नक्षत्र गिने जाते हैं, वह यह है :

1. धनिष्ठा	10. मृगशीर्ष	19. चित्रा
2. शतभिषक्	11. आर्द्रा	20. स्वाती
3. पूर्वा भाद्र०	12. पुनर्वसु	21. विशाखा
4. उत्तरा भाद्र०	13. पुष्य	22. अनुराधा
5. रेवती	14. आश्लेषा	23. ज्येष्ठा
6. अश्विनी	15. मघा	24. मूल
7. भरणी	16. पूर्वा फाल्गुनी	25. पूर्वाषाढा
8. कृत्तिका	17. उत्तरा फाल्गुनी	26. उत्तराषाढा
9. रोहिणी	18. हस्त	27. श्रवण

2. त्र्यंशो भशेषो दिवसांशभागश्चतुर्दशस्याप्यपनीय भिन्नम्।
भार्धेऽधिके चाधिगते परेंऽशो द्व्युत्तमैकं नवकैरवेत्यम् ॥27॥ —ऋ० ज्यो० 12

पर्व संख्या 58, 79, 87, 100 और 108 के लिए भांश का लव 9 के पहाड़े का है। अतः इन पर्वों में पिछले पर्वों के दिनों के ऊपर नक्षत्र के बराबर दिन की वृद्धि होती है। 78 वें पर्व में भांश 45 दिन होता है, जब कि 79 वें में यह 46 दिन देता है (प=78 और 79 के लिए न का मूल्य देखिए)। 86 वें पर्व में न=50 है और 87 वें में 51। 99वें में न 58 है और 100 वें पर्व में 58 और आधे से ज्यादा भिन्न; 107 पर्व में न 62 है और 108 वें में यह 63 है पर्वों की विषम संख्याओं में वृद्धि आधे दिन से ज्यादा होती है और यह 9 के पहाड़े (नवक) में नहीं होती।

प	न	भ		
20	11	96	(62+34)	
21	12	45	(9×5)	नवक
41	24	17		
42	24	90	(9×10)	नवक
28	16	60		
29	17	9	(9×1)	नवक
57	33	69		
58	34	18	(9×2)	नवक
78	45	114		
79	46	63	(9×7)	नवक
86	50	78		
87	51	27	(9×3)	नवक
99	58	35		
100	58	108	(9×12)	नवक
107	62	123		
108	63	72	(9×8)	नवक

पूरा आधा 72/124, प=108 होने पर आता है।

सौर वर्ष

तीन सौ छ्यासठ दिन, एक साल, छः ऋतु, दो अयन (उत्तरायण, और दक्षिणायन) और बारह महीने सौर मानने चाहिए। इनका पांच युग होता।[1] (28)

---

1. त्रिशत्यह्नां षष्टिरब्दः षट् षतंवोऽयने।
मासा द्वादश सौरास्स्युः एतत्पञ्चगुणं युगम् ॥28॥

इसका अर्थ है कि

1 युग=5 साल=1830 दिन

1 सौर वर्ष=2 अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन)
=6 ऋतुएं
=12 सौर मास
=366 दिन

1 सौर मास=$30\frac{1}{2}$ दिन

चान्द्र परिक्रान्ति=नक्षत्रों का उदय

पांच साल के युग में धनिष्ठा (और दूसरे नक्षत्रों) की उदय संख्या वही है, जितनी उनकी दिन संख्या धन पांच (अर्थात् 1830+5=1835); चन्द्रोदय की संख्या उसमें से 62 कम है (अर्थात् 1830—62=1768); चन्द्रमा की नक्षत्र परिक्रान्तियां (चन्द्र भगण) भी उसमें से 21 कम हैं (अर्थात् 67×27=1830—21=1809)[1] । (29)

1 युग=1830 सावन दिन (सौर दिन)

भ-भ्रम (धनिष्ठादि नक्षत्रों का उदय)=1830+5=1835
एक युग में चन्द्रोदय=1830—62=1768

चन्द्रभगण वा चन्द्रमा की नाक्षत्र परिक्रान्तियां 1 युग में=67×27=1809=1830—21

हर नक्षत्रोदय (भ-भ्रम) को लग्न कहते हैं (बाद में लग्न शब्द का प्रयोग $2\frac{1}{4}$ नक्षत्रों की राशि के उदय के लिए किया गया) ।

एक युग में सूर्य की नाक्षत्र परिक्रान्तियां 135 होती हैं; एक युग में चन्द्र के अयन 135−1=134 होते हैं; एक युग के पर्वों की चौथाई संख्या को पाद कहते हैं; उतनी ही काष्ठाओं की संख्या (अर्थात् 124) को एक कला कहते हैं ।[2] (30)

---

1. उदया वासवस्य स्युर्दिनराशिः सपञ्चकः ।
ऋषेर्द्विषष्ट्या हीनस्स्याद् विंशत्या सैकया स्तृणाम् ॥29॥
2. पञ्चत्रिंशं शतं पौष्णमेकोनमयनान्यृषेः ।
पर्वणां स्याच्चतुष्पादी काष्ठानां चैव ताः कलाः ॥30॥

एक युग में सौर भगणों (सूर्य की नाक्षत्र परिक्रान्तियों की संख्या)=135

एक युग में चन्द्रमा के अयनों की संख्या=134

एक युग में नक्षत्र मासों की संख्या=67

67 नक्षत्र मासों के अयनों की संख्या=124

एक युग में चन्द्र पर्वों की संख्या=124

$\frac{1}{4}$ पर्व=पर्व पाद

1 कला=124 काष्ठाएं

और फिर 1 नाडिका=$10\frac{1}{20}$ कलाएं

2 नाडिका=$20\frac{2}{20}$ कलाएं=1 मुहूर्त

$$30 \text{ मुहूर्त} = \frac{2 \times 201 \times 30}{20} = 603 \text{ कलाएं} = 1 \text{ दिन}$$

एक युग में सावन, चान्द्र और नाक्षत्र मासों की संख्या क्रमश: 61, 62 और 67 होती है। एक सावन मास के दिनों की संख्या 30 होती है; 27 नक्षत्रों में से सूर्य की परिक्रान्ति को एक सौर वर्ष कहते हैं[1]। (31)

नक्षत्रों के देवता

अग्नि (कृत्तिका का देवता है), प्रजापति (रोहिणी का), सोम (मृगशिरस्का), रुद्र (आर्द्रा का), अदिति (पुनर्वसु का), बृहस्पति (पुष्य का), सर्प या नाग (आश्लेषा का), पितृ (मघा का), भग (पूर्वाफाल्गुनी का). अर्यमा (उत्तराफाल्गुनी का), सवितृ (हस्त का), त्वष्टृ (चित्रा का), वायु (स्वाती का), इन्द्राग्नी (विशाखा के), मित्र (अनुराधा का), इन्द्र (ज्येष्ठा का), निर्ऋति (मूल का), आप: (पूर्वाषाढ़ा के), विश्वेदेवा (उत्तराषाढा के), विष्णु (श्रवण का), वसु (धनिष्ठा के), वरुण (शतभिषक् का), अज-एकपाद (पूर्वाभाद्रपदा का), अहिर्बुध्न्य (उत्तराभाद्रपदा का), पूषा (रेवती का), अश्विनौ (अश्विनी के), यम (भरणी का)—ये नक्षत्रों के देवता हैं; शास्त्रज्ञ कहते हैं कि यज्ञ-काल में यजमान का नाम किसी न किसी नक्षत्र के आधार पर रखना चाहिए। ये नक्षत्र उग्र (शत्रु) माने गए हैं: आर्द्रा, चित्रा, विशाखा,

1. सावनेन्दुस्तृमासानां षष्टि: सैकद्विसप्तिका।
द्युत्रिंशत्सावनस्याब्द: सौर: स्त णां स पर्ययः ।।31।।

श्रवण और अश्वयुक् । ज्यादा मात्रा में शत्रु या क्रूर नक्षत्र ये हैं : मघा, स्वाती, ज्येष्ठा, मूल और भरणी जो यम का[1] है । (32-36)

चान्द्र और सावन दिनों का अन्तर : अधिक मास

हर चान्द्र दिन के सावन दिन से 1/62 भाग कम होने से जिस दिन दो महीनों के बीच वृद्धि होती है, और सावन दिन के सौर दिन से 1/62 भाग कम होने से जिस दिन दो महीनों के बीच वृद्धि होती है, उन दोनों दिनों के पर्वदिन के समान होने से उनको अच्छी तरह समझना चाहिए, क्योंकि उन दोनों दिनों के कारण दो अधिक मास बन जाते हैं एक पांच सालों के बीच में और दूसरा युग के पांच सालों के अंत में[2] । (37)

चूंकि चान्द्र मास सावन मास से 30/62 दिनांश कम होता है, इसलिए चान्द्रदिन (जिसे तिथि कहते हैं) सावन दिन से 1/62 दिनांश कम होता है। इस तरह 62 दिनों में एक अधिक-दिन पैदा हो जाता है।

इसी तरह सावन मास 30 दिन का होने से $30\frac{1}{2}$ दिनों के सौर मास से आधा दिन कम होता है। 61 दिनों के दो पूरे सौर मासों के बीच यह एक पूरा दिन कम हो जाता है। सावन मास की तुलना में चान्द्र मास में यह कमी होने से और सावन मास में सौर मास से यह कमी होने के कारण 1830 दिनों के युग में दो अधिक मास पैदा हो जाते हैं। इन दो महीनों में से एक पांच सालों के बीच में और दूसरा इस युग के अन्त में रखा जाता है।

---

1. अग्निः प्रजापतिः सोमो रुद्रोऽदितिर्बृहस्पतिः ।
   सर्पाश्च पितरश्चैव भगश्चैवार्यमाऽपि च ॥32॥ —ऋ० ज्यो० 25
   सविता त्वष्टाऽथ वायुश्चेन्द्राग्नी मित्र एव च ।
   इन्द्रो निऋ॑तिरापो वै विश्वदेवास्तथैव च ॥33॥ —ऋ० ज्यो० 26
   विष्णुर्वसवो वरुणोऽहिर्बुध्न्यस्तथैव च ।
   अज एकपात् तथा पूषा अश्विनौ यम एव च ॥34॥ —ऋ० ज्यो० 27
   नक्षत्रदेवता ह्येता एताभिर्यज्ञकर्मणि ।
   यजमानस्य शास्त्रज्ञैर्नाम नक्षत्रजं स्मृतम् ॥35॥ —ऋ० ज्यो० 28
   उग्राण्यार्द्रा च चित्रा च विशाखा श्रवणोऽश्वयुक् ।
   क्रूराणि तु मघा स्वाती ज्येष्ठा मूलं यमस्य यत् ॥36॥
2. ऊनं द्विषष्टिभागेन ज्ञेयं सूर्यात्सपार्वणम् ।
   यत्कृतावुपजायेते मध्येऽन्ते चाधिमासकौ ॥37॥

चान्द्र अधिक दिन को अवमरात्र और सौर अधिक दिन को अतिरात्र कहते हैं। अतिरात्र का सम्बन्ध सौर ऋतुओं से होता है। एक अतिरात्र दिन पहले चार महीनों के और अगले चार-चार महीनों के दो समूहों के हर तीसरे और सातवें पर्व में पड़ता है।

अवमरात्र का सम्बन्ध युग के पांच सालों से है: चन्द्र संवत्सर, चन्द्र संवत्सर अभिवर्धित चन्द्र संवत्सर, चन्द्र संवत्सर और अभिवर्धित चन्द्र संवत्सर, (चन्द्र संवत्सर चान्द्र वर्ष है और अभिवर्धित चन्द्र संवत्सर अधिक चान्द्र वर्ष है)। अवमरात्र हर दूसरे महीने पड़ता है और इस तरह अवम रात्र एक साल में 6 होते हैं, फलत: एक युग या पांच सालों के चक्र में 30।

एक सावन दिन के भाग

एक नाडिका में $10\frac{1}{20}$ कलाएं होती हैं, 22 नाडिकाओं से एक मुहूर्त्त बनता है। एक अहोरात्र में 30 मुहूर्त्त होते हैं; एक दिन में 603 कलाएं होती हैं।[1] (38)

चन्द्रमा एक नक्षत्र के साथ एक दिन और 7 कलाओं (अगले दिन की) तक रहता है; सूर्य एक नक्षत्र में तेरह दिन और 5/9 दिनांश रहता है। पांच दीर्घ अक्षरों के उच्चारण में लगने वाला समय एक काष्ठा होती है।[2] (39)

दो अयनों में दिन की लंबाई

उत्तर अयन में जो गत होता है और दक्षिण अयन में जो शेष रहता है उस (अर्थात् दोनों मामलों में दिनों की संख्या) में दो का गुणा करके इकसठ का भाग देना चाहिए और बारह जोड़ देने चाहिएं। यह दिन का परिमाण (नाप) है।[3] (40)

श्लोक 8 में बताया गया है कि उत्तरायण में दिन में कुल वृद्धि 6 मुहूर्त्त होती है और वैसे ही दक्षिणायन में रात में कुल वृद्धि 6 मुहूर्त्त होती है। उत्तरायण के शुरू में दिन की न्यूनतम लंबाई और दक्षिणायन के शुरू में रात की

---

1. कलादश सविंशा स्यात् द्वे मुहूर्तस्य नाडिके।
   तत् त्रिंशद् द्युकुलानां तु षट् छतीत्यधिका भवेत् ॥38॥ —ऋ० ज्यो० 16
2. ससप्तैकं भयुक्सोमः सूर्यो द्यूनि त्रयोदश।
   नवमानि च पञ्चाह्नः काष्ठा पञ्चाक्षरी भवेत् ॥39॥ —वही, 18
3. यदुत्तरस्यायनतो गतं स्यात् शेषं तथा दक्षिणतोऽयनस्य।
   तदेकषष्ट्या द्विगुणं विभक्तं सद्वादशं स्याद् दिवसप्रमाणम् ॥40॥ —वही, 22

न्यूनतम लंबाई 12 मुहूर्त्त होती है। तदनुसार अयन के 183 दिनों में दिन या रात में कुल वृद्धि 6 मुहूर्त्त होती हैं। इसलिए दिनों (या रातों) की इच्छित संख्या न में दिन को लंबाई ल इस तरह होगी—

$$=\frac{6\text{ न}}{183}+12=\frac{2\text{ न}}{61}+12$$

यहां वृद्धि की दर एक रूप मानी गई है, हालांकि हमेशा वस्तुतः ऐसा नहीं होता। भारत में दिन या रात में वृद्धि 6 मुहूर्त्त तक कभी नहीं होती और इसमें स्थान-स्थान में अंतर रहता है। यह 6 मुहूर्त्त को वृद्धि देश के कुछ पश्चिमोत्तर भाग में ही देखी जाती है।

कुछ ऐसा ही सूत्र पैतामह सिद्धांत, पंचसिद्धांतिका में दिया गया है: मान लो उत्तरायण के आरंभ से गत दिनों की संख्या न हो; इसे 732 में जोड़ दो, इसमें फिर 732+न के बराबर संख्या दक्षिणायन में गत दिनों के लिए जोड़ दी जाती है। इस तरह 2 (732+न) होता है। इसमें 61 का भाग दो और भजनफल में से 12 घटा दो। यह दिन की लंबाई ल को बताता है। यह लगध के सूत्र के अनुसार है:

$$\text{ल}=\frac{6\text{ न}}{83}+12=\frac{2\text{ न}}{61}+12=\frac{2\text{ न}}{61}+24-12$$

$$=\tfrac{1}{61}(2\text{ न}+61\times 24)-12$$

$$=\tfrac{2}{61}(\text{न}+732)-12$$

दिन में इतनी वृद्धि काश्मीर में ही सम्भव है।

> वह आधा दिन, जितना चान्द्र मास सावन मास से कम रहता है और जितना सावन मास सौर मास से कम रहता है, ऋतु-शेष कहा जाता है और मासिक पर्वों की संख्या जोड़ते समय इसका ज्ञान होना जरूरी है[1]। (41)

कुछ पांडुलिपियों में ऋतु शेष के स्थान पर अतिशेष पाठ मिलता है। उस स्थिति में अतिशेष का मतलब अतिरात्र का हिस्सा है और श्लोक का अभिप्राय सावन वर्ष में सौर वर्ष की कमी का और एक युग में अधिवर्ष बनाने वाले 30 अतिरात्रों का लेना चाहिए।

---

1. यदर्धं दिनभागानां सदा पर्वणि पर्वणि।
ऋतुशेषं तु तद्विद्यात्संख्याम् सह पर्वणाम् ॥41॥ —ऋ॰ ज्यो॰ 23

उपसंहार

यह समीकरणों का संक्षिप्त निरूपण है, जिसका प्रयोग बार-बार करना पड़ता है; प्रश्न के तीन पहलू होते हैं : ज्ञात संख्या (ज्ञानराशि), ज्ञेय संख्या (या राशि) और ज्ञात और ज्ञेय के बीच का अनुपात—संबंध। इनमें से ज्ञेय संख्या में ज्ञात संख्या से गुणा करो और गुणनफल में अनुपात से भाग दे दो[1]। (42)

लगध ने मास, वर्ष, मुहूर्त्त, लग्न(उदय), पर्व, दिन, ऋतु, अयन और (चान्द्र तथा नाक्षत्र) मासों के बारे में इसी तरह बताया है[2]। (43)

जो विद्वान् चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्रों को जानता है, उसे इस लोक में सन्तान सुख मिलता है और (मृत्यु के बाद) वह चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्रों के लोक को प्राप्त करता है[3]। (44)

---

1. इत्युपाय समुद्देशो भूयोऽप्येवं प्रकल्पयेत्।
ज्ञेयराशिं गताभ्यस्तं विभजेद् ज्ञानराशिना ॥42॥ —ऋ० ज्यो० 24
2. इत्येतन्मासवर्षाणां मुहूर्तोदयपर्वणाम्।
दिनर्त्वयनमासानां व्याख्यानं लगधोऽब्रवीत् ॥43॥ —वही, 30
3. सोमसूर्यस्तृचरितं विद्वान् वेद विदश्नुते।
सोमसूर्यस्तृचरितं लोकं लोके च सन्ततिम् ॥4॥

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
अथर्व०	अथर्ववेद
ऋ० ज्यो०	ऋग्वेद ज्योतिषवेदांग
ऋ०	ऋग्वेद
ता० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
यजु० ज्यो०	यजुर्वेद ज्योतिष वेदांग
यजु०	यजुर्वेद

प्रस्तावेऽपि न दोषान् जानन्नपि वक्ति यः परोक्षस्य ।
प्रथयति गुणांश्च तस्मै सुजनाय नमः परहिताय ।।

जो दूसरों के दुर्गुणों को जानते हुए भी और अवसर होने पर भी उनको नहीं बताता, बल्कि उनके सद्गुणों को ही घोषित करता है, ऐसे पर-हितैषी सज्जन को नमस्कार करता हूं ।

—वराहमिहिर : पंचसिद्धान्तिका, 17/64

अध्याय : बारहवां

लाटदेव और श्रीषेण द्वारा भारत में ग्रीक ज्योतिष का सूत्रपात

यह कहना कठिन है कि भारत कुछ ग्रीकवासियों के सम्पर्क में आया था। लगता है कि भारत और लैवेंट के बीच अप्रत्यक्ष व्यापार तो बहुत पुराने जमाने से चला आ रहा था। होमर को टीन और अन्य भारतीय पण्यवस्तुओं के संस्कृत नाम मालूम थे। ग्रीक कैसिटेरस संस्कृत कस्तीर था, जिसका अर्थ टीन था। इसी से ग्रीकवासियों ने सिली द्वीपों को कैसिटेराइड्स नाम दिया था और टीन कच्ची धातु को कैसिटेराइट नाम। एलेफास शब्द हाथीदांत के अर्थ में अरबी एलेफ से आया था, जो स्वत: अरबी में एल और संस्कृत 'इभ' के मेल से बना है, जिसका अर्थ घरेलू हाथी का होता है। हमें बताया गया कि बाइबिल में भारतीय चीजों की एक बहुत बड़ी सूची है (जो डा० बर्डवुड ने अपनी पुस्तक 'हैंडबुक टु दी ब्रिटिश इंडियन सेक्शन आफ दि पेरिस एग्ज़्हीबिशन आफ 1878 पृष्ठ 20-35 पर दी है)। पर भारत के बारे में पहली बार स्पष्ट रूप से बात करने वाला ग्रीक इतिहासकार माइलेटस का हेकाटियस (549-486 ई० पू०) था, और हेरोडोटस (450 ई० पू०) का भारत का ज्ञान सिन्धु नद पर खत्म हो जाता था। चिकित्सक टेशियस (401 ई० पू०) भी फारस में रहने के बाद भारत की वस्तुओं के बारे में थोड़ा सा ज्ञान अपने साथ लाया था—इसके रंग और कपड़े बन्दर, और तोते, आदि के बारे में। सिन्धु पार के भारत की जानकारी यूरोप में सबसे पहले सम्भवत: 327 ई० पू० में सम्राट सिकन्दर के साथ जाने वाले इतिहासकारों और वैज्ञानिकों ने दी थी। उनके वर्णन यद्यपि अब समाप्त हो चुके हैं, तो भी संक्षिप्त रूप से स्ट्रैबो, प्लिनी और आरियन की रचनाओं में मिलते हैं। इसके तुरन्त बाद ग्रीक राजदूत मेगास्थानीस को भारत में रहकर (306-298 ई० पू०) निकट से भारत को देखने का मौका मिला था। अपने विजय स्थल पर सिकन्दर ने दो स्मारक नगर बसाये थे। आधुनिक जलालपुर के पास नदी के पश्चिमी किनारे पर बुचफैलिया, जो वहां पर युद्ध में मारे गए उसके प्रिय घोड़े के नाम से था और नदी के पूर्वी किनारे पर निचेइया (आज का मौंग)। सिकन्दर ने पांचों नदियों के संगम के पास भी एक नगर बसाया

था—अलेक्जेंड्रिया, जो आज का उच्छ है। ग्रीक सत्रपों की एक टुकड़ी को सिकन्दर वहां छोड़ गया था, जिन्होंने अपने स्थायी प्रभाव की नींव डाली। उसने ग्रीकवासियों और उनके मित्रों के लिए यह सैन्य नगर स्थापित किया। सिकन्दर की फौज बहुत बड़ी संख्या में बैक्ट्रिया (बलख) में रह गई थी और सिकन्दर की 323 ई० पू० मृत्यु के बाद साम्राज्य का जो बंटवारा हुआ, उसमें बैक्ट्रिया और भारत सीरियाई साम्राज्य के स्थापक सेल्यूक्स निकेटर के हिस्से में आए। वह चन्द्रगुप्त के अभ्युदय का समय था, जिन्होंने 316 ई० पू० में पाटलिपुत्र में अपनी राजधानी बनाकर एक साम्राज्य की स्थापना की और गंगा की घाटी में अपना सुदृढ़ शासन स्थापित किया तथा पश्चिमोत्तर के नरेशों-ग्रीक और भारतीयों से अपना आधिपत्य मंजूर करवाया। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूक्स से मैत्री को और सेल्यूक्स ने चन्द्रगुप्त से युद्ध में हारकर अपनी बेटी का विवाह उसके साथ कर दिया और गंगा के मैदान की उसकी राजधानी में अपने राजदूत मेगस्थनीज को रखा (लगभग 306-298 ई० पू०)। यही समय था जब भारतीय स्थापत्य और मूर्ति कला के साथ भारतीय ज्योतिष पर भी ग्रीक प्रभाव पड़ा। संवत् गणना की—विक्रमादित्य, शक, सेल्यूसिडन और पार्थियन पर आधारित चार प्रणालियां भी तभी से चली आ रहीं हैं। भारत में गड़बड़ी का भी एक समय आया। ग्रीक बैक्ट्रियन काल और मुसलमानों की विजय के बीच की बारह सदियों की तिथि-परम्परा शिलालेखों और सिक्कों पर आधारित बहुत से परस्पर विरोधी साक्ष्यों पर ही निर्भर रही है। इस गड़बड़ के बीच हमें आभास होता है कि बड़े-बड़े जनसमूह मध्य एशिया से भारत में आकर बसते रहे। सिक्कों के सहारे ग्रीक-बैक्ट्रियन सम्राटों के प्रभाव को यमुना के किनारे मथुरा तक खोजा गया है।

इसी काल में भारतीय ज्योतिर्विद ग्रीक और अन्य पड़ोसियों के सम्पर्क में आए। अब भारतीय ज्योतिष पर ग्रीक ज्योतिष का प्रभाव पड़ा। इसी बीच में पांच ज्योतिष प्रणालियां इस देश में विकसित हुईं, जो अंशतः ग्रीक ज्योतिष के सहकार में पनपी थीं। इस समय यह कहना कठिन है कि ग्रीक ज्योतिष का भारत में पहली बार किसने सूत्रपात किया और पौलिश सिद्धान्त और रोमक सिद्धांत जैसी ज्योतिष प्रणालियों की नींव किसने डाली?

ग्रीक ज्योतिष के तत्त्वों के भारतीय ज्योतिष में अन्तरित होने के कारण दोनों के बीच समानताओं को खोजना बड़ा रोचक है। हम देखते हैं कि पौलिश और रोमक सिद्धान्त प्राचीनतम संस्कृत ग्रन्थ हैं, जिनमें विदेशों से आयात किए गए ज्ञान को लेखबद्ध किया गया था। ये दोनों ग्रन्थ विशेष रूप से ग्रीक ज्योतिष पर निर्भर थे, यह केवल इनके नाम से ही पता नहीं चलता, बल्कि महान् ज्योतिर्विद वराहमिहिर की सुप्रसिद्ध कृति पंचसिद्धान्तिका में लिखे हुए ब्योरों से भी मालूम पड़ता है। यह मात्र भाग्य की संघटना नहीं हैं कि इन

दो सिद्धान्तों—पौलिश और रोमक—में से एक में कटिबंधीय सौर वर्ष का प्रयोग होता है और अहर्गण की गणना यवनपुर के मूल याम्योत्तर से की जाती है, और दूसरे में यवनपुर और उज्जयिनी के देशान्तरों का अन्तर स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। इसमें पहले भारतीय ज्योतिष पर ग्रीक प्रभाव के कोई और ब्यौरे हमें नहीं मिलते।

हम यह भी जानना चाहेंगे कि किन ग्रीक ग्रन्थों से भारतीयों ने इन सिद्धान्तों को भारतीय ज्योतिष में उतारा था और ज्योतिर्ज्ञान का यह पहला आविर्भाव किस समय हुआ था। प्रो० ह्विटनी ने (जिन्होंने सूर्य सिद्धान्त का अनुवाद किया था) यह विचार व्यक्त किया है कि ग्रीक ज्योतिष में टौलेमी द्वारा किए गए सुधारों का हिन्दू प्रणाली के ज्योतिष में अभाव देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत में ग्रीक ज्योतिष का मूल अविर्भाव टौलेमी से पहले हुआ था। यह भारतीय ज्योतिष और सिटेक्सिस के उपदेशों के बीच ब्यौरों के बहुत से अन्तर को भी स्पष्ट कर देता है। अतः भारतीय प्रणाली सीधे-सीधे टौलेमी पर आधारित नहीं हैं। अब इस बारे में हम थिबोट का भी उद्धरण देते हैं :—

> टौलेमी ने अपने पूर्ववर्ती ग्रीक ज्योतिष सिद्धान्तों में जो सुधार किये थे और नई बातें दी थीं (जैसे चाद्र सिद्धान्त में चान्द्र क्षोभ की धारणा का सूत्रपात) उनके बारे में यह माना जा सकता है कि हिन्दू ज्योतिर्विद् यद्यपि सिटेक्सिस की बातों को सीधे-सीधे उतार रहे थे, उन्होंने उनको बिलकुल अपने व्यावहारिक ग्रन्थों में आवश्यक समझ कर शामिल नहीं किया क्योंकि वे जटिल परिष्कार मात्र थे; पर यदि हम हिन्दुओं को टौलेमी के ग्रन्थ से सुपरिचित मानते हैं, तो फिर हम उस सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण बातों में अनेक भूलों का उत्तर देंगे, जैसे बहुत सी चीजों में से एक ही उदाहरण दिया जा सकता है कि हिन्दुओं और टौलेमी ने ग्रहों के अधिचक्र में अलग-अलग घात बताये हैं। इसलिए इससे इस नतीजे पर पहुँचना खतरनाक होगा कि वैज्ञानिक हिन्दू ज्योतिष का आरम्भ टौलेमी से पहले के समय में हो चुका था। पूरे प्रश्न पर कोई निश्चित बात इस कारण नहीं कही जा सकती कि टौलेमी से पहले के ग्रीक ज्योतिष का हमारा ज्ञान बड़ा ही अपूर्ण है[1];

भारतीय ज्योतिष पर ग्रीक प्रभाव की चर्चा करते समय यह सदा ध्यान में रखना होगा कि वस्तुतः दोनों देशों में गणित ज्योतिष का विकास एक

1. पं० सि०, भूमिका पृष्ठ 5.-52

दूसरे के सहकार से हुआ। भारत ग्रीक विचार धारा का ऋणी है, तो ग्रीक ज्योतिष भी इस देश में प्रतिपादित सिद्धान्तों से समान रूप से प्रभावित हुआ होगा।

हिप्पार्कस और टौलेमी : आम तौर पर यह माना जाता है कि सूर्य और चन्द्रमा सम्बन्धी सभी सिद्धान्त सभी महत्वपूर्ण बातों में हिप्पार्कस ने स्थिर कर दिये थे और टौलेमी ने उनको केवल उतार लिया था। थिबोट का विचार है कि इस कारण यह बात असम्भव नहीं है कि इन दोनों ज्योतिष्पुंजों की गति का ही विवरण देने वाले और उनके ग्रहणों की लगभग गणना के नियम देने वाले भारतीय ग्रन्थ हिप्पार्कस और टौलेमी के बीच के काल में लिखे गए होंगे। हिप्पार्कस ने ग्रहों के भ्रान्ति काल के मध्य पद से कुछ निर्णायक सिद्धांत बताए थे, जिनमें टौलेमी के कुछ महत्त्वपूर्ण ब्यौरों के बारे में सुधार किया। दूसरी ओर यह बात भी हिप्पार्कस से अछूती न बची थी कि ग्रहों की सच्ची गतियों की संतोषजनक व्याख्या तभी की जा सकती है, जब हम दो स्पष्ट असमानताओं का ध्यान रखें। पर उसने हर मामले में इन असमानताओं को अलग से बताने की ओर इस तरह ग्रहों की गति का एक कामचलाऊ सिद्धांत तय करने की बात नहीं की। इस पिछली बात को टौलेमी अपनी निश्चित उपलब्धि मानता है और हमें इस नतीजे पर पहुँचना चाहिए कि ऐसे भारतीय ग्रन्थ जैसे उदाहरण के लिए 'सूर्य सिद्धान्त', जिनमें नीचोच्च बिन्दु के अपवाद और युति के अपवाद को स्पष्ट रूप से अलग-अलग रखा गया है, टौलेमी के बाद के हैं, क्योंकि उसी से उन्होंने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्धान्त लिया होगा।

इस तरह की चर्चा के बाद थिबोट यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इनमें से किसी कारण से रोमक सिद्धान्त का रचना काल टौलेमी से पहले नहीं रखा जा सकेगा। दूसरी ओर ग्रन्थ के नाम से ही उस काल का संकेत मिलता है कि जब रोम की कीर्ति इतनी फैल चुकी थी कि सुदूर पूर्व में भी उसका नाम नए विचारों और सिद्धान्तों से सम्बद्ध कर लिया जाता था, भले ही यह ज्ञान किसी भी पश्चिमी देश से भारत में आया हो अर्थात् यह समय टौलेमी की शताब्दी से पहले का नहीं हो सकता।

थिबोट की नीचे लिखी बात भी रोचक है : यह किसी तरह असम्भव नहीं है कि हिन्दुओं ने ज्योतिष का ज्ञान अपने सिद्धान्तों में निरूपित किया है वह अलेक्जेंड्रिया के ज्योतिर्विदों के किसी महान् वैज्ञानिक ग्रन्थ से न लिया हो, बल्कि यह बिलकुल भिन्न तरह की पुस्तकों से जैसे ग्रीक फलित-ज्योतिर्विदों की पुस्तिकाएँ और यह भी बहुत सम्भव है कि पंचांग बनाने वालों से लिया गया हो। यह अनुमान कि प्राचीन वैज्ञानिक (या अर्द्ध वैज्ञानिक) हिन्दू ज्योति-

विद हिप्पार्कस, टौलेमी या थिग्रन जैसे व्यक्तियों की रचनाओं से परिचित न थे, बल्कि उपर्युक्त प्रकार के ग्रन्थों से ही परिचित थे, इस अन्तरण की सारी प्रक्रिया को ज्यादा बोधगम्य बना देता है[1]।'

मैं थिबोट के उक्त विचारों से सहमत नहीं हूँ। मेरा कहना यह है कि इस काल में भारतीय ज्योतिर्विद ग्रीक ज्योतिष के श्रेष्ठतम ग्रन्थों से परिचित हुए और इसके पलट में ग्रीक ज्योतिर्विद भी भारतीय ग्रन्थों से। कामचलाऊ पंचांग बनाने से ही उनको संतोष नहीं हो सकता था। दोनों देशों ने बहुत से विज्ञानों में सहकार से काम किया और ग्रीक और भारतीय ज्योतिष संयुक्त प्रयास के रूप में विकसित हुए। इसने पश्चिम को टौलेमी जैसे ज्योतिर्विद दिए और पूर्व को भास्कर-प्रथम और ब्रह्मगुप्त जैसी विभूतियां प्रदान कीं। वस्तुतः पिछले विद्वानों ने ग्रीक प्रभाव को गलत बताया है, जो ज्योतिष के कुछ भागों में क्रमशः परिव्याप्त होता जा रहा था।

ज्योतिष के विभिन्न सिद्धान्तों का संक्षिप्त उल्लेख करने से पूर्व हम दूसरे प्राचीन देशों में खासकर पश्चिम में ज्योतिष के विकास और समय-समय पर इसके क्षेत्र की चर्चा करेंगे।

प्राचीन ज्योतिष और उसका क्षेत्र

एस्ट्रोनोमी (ग्रीक एस्टर=तारा और नोमी=वर्गीकृत या व्यवस्थित करना) वह विज्ञान है जो आकाश के ज्योतिष्पुंजों के दिशा-विभाजन, गतियों और गुणों का वर्णन करता है। इसका संस्कृत पर्याय ज्योतिष् है जिसका उद्भव प्रकाशार्थिक ज्युत या द्युत् धातु से हुआ है, जिसका अर्थ है कि ज्योतिष्पुंजों (या प्रकाशपिंडों) की गति बताने वाला विज्ञान। एक और पर्याय नक्षत्र-दर्शन है। प्राच्य देशों में गणित ज्योतिष के साथ फलित ज्योतिष का भी विकास हुआ, इसलिए भारत में पूरे विषय को तीन भागों में बांटा गया है : गणित, संहिता (शुभ-अशुभ आदि का वर्णन) और जातक (जन्म के ग्रहों आदि के आधार पर फलित भविष्य-वाणियां आदि)।

ज्योतिष का उद्भव

ज्योतिष को संभवतः सबसे पुराना विज्ञान माना जा सकता है। न्यूनतम सभ्य जातियों ने भी दिन और रात के नियमित चक्र (और तदनुसार सूर्य के दैनंदिन मार्ग) को देखा—समझा होगा। उसके तुरन्त बाद ही ऋतुओं के भेद और शृंखला की ओर उनके तथा कारणों—उसी ज्योतिष्पुंज की वार्षिक तिर्यक् गति

---

1. पं० सि० भूमिका, पृ० 53-54

की ओर भी ध्यान दिया होगा। सूर्य के अभाव में चन्द्रमा इतना स्पष्ट उपयोगी होता है कि उसकी गति, उसके विभिन्न रूप और उसकी नियमित अनुपस्थिति और नियमित काल बाद पुनर्भाव, प्राचीनतम काल में बड़े ध्यान और रुचि के साथ देखे गये होंगे। ग्रहणों और अन्य असामान्य बातों ने भी निकट से ध्यान आकर्षित किया होगा। तारों भरे आकाश के दृश्य ने जो तारा मण्डल की कुछ कक्षाओं के कुछ भ्रामी ग्रहों के अलावा आभासी रूप से अपरिवर्तित रहता है, और एक ओर अपरिवर्तित इन प्रतीकों तथा दूसरी ओर बहुत ही परिवर्तन-शील मानवता ने शुरू में ही राष्ट्रों और व्यक्तियों का भाग्य उनसे जुड़ा हुआ सुझाया होगा। इस तरह फलित ज्योतिष का उद्भव हुआ—एक अन्ध विश्वास, जिसका गणित ज्योतिष से वही सम्बन्ध था, जो कीमियागिरी का रसायन-शास्त्र से। कीमियागिरी की ही तरह फलित ज्योतिष भी—भले ही यह अन्ध विश्वास रहा हो प्रेक्षणों को प्रोत्साहित करने और रोचक खोजों तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध हुआ।

पर हालांकि मनुष्य पहले जिज्ञासा से ही तारा-पथों का प्रेक्षण करने के लिए प्रवृत्त हुए, थोड़े ही समय में उन्होंने देख लिया होगा कि इन प्रकाश-पिंडों की नियमित और एकरूप क्रान्ति उनकी आवश्यकताओं और सुविधाओं के लिए बड़ी ही अनुकूल थी। तारों की मदद से गडरिये रात में घंटों को जोड़ सकते थे और यात्री एकरूप रेगिस्तान में से अपना यात्रा पथ खोज सकते थे और नाविक अपने जहाज को समुद्र में बढ़ा सकते थे। कृषक-पशुपालक भी कुछ नक्षत्रों के उद्भव के आधार पर, जो उन्हें आने वाली ऋतुओं की सूचना देते थे, अपने काम का विनियमन कर सकते थे। इन बातों के सरल प्रेक्षण से जो तत्व शुरू में उन्होंने समझे वे निःसन्देह बड़े ही अस्पष्ट थे, पर जैसे-जैसे सभ्यता में प्रगति होती गई, वैसे ही सौर वर्ष और चान्द्र मास की शुद्ध-शुद्ध गणना पंचांग और धार्मिक कृत्यों को विनियमित करने के लिए जरूरी होती गई और इसलिए विभिन्न प्रेक्षणों को इकट्ठा करके उनकी तुलना की गई और दोनों को दूर करके पूर्ण विज्ञान की नींव डाली गई।

इस तरह ज्योतिष में जिज्ञासा के समाधानकी बहुत सी रोचक और व्याव-हारिक उपयोग की बातें थीं। फलतः यह मनुष्य द्वारा पहले-पहल अपनाए जाने वाला विज्ञान बने बिना न रह सकता था। इसका उद्भव सुदूर अतीत के धूमिल पृष्ठों में छिपा है और वस्तुतः मानव बुद्धि के आरम्भिक विकास का समकालीन है। हर प्राचीन देश की परम्परा और अभिलेखों में आकाशपिंडों की ओर, ग्रहों की गतियों की ओर, प्रमुख तारों की ओर, नक्षत्रों के सूर्य-सापेक्ष उदय तथा सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों जैसी ज्यादा उल्लेखनीय बातों के लिए कुछ नियम, व्यवस्था या अवधि जोड़ने की ओर दिए गए इस ध्यान का उल्लेख मिलता है। चाल्डिया, मिस्र, चीन, भारत, गौल, पेरू आदि देशों के निवासी अपने-अपने को

ज्योतिष का प्रतिष्ठापक मानते है, पर जोसेफस ने इसका श्रेय प्रलय-पूर्व के मन्वतर-स्थापकों को देकर उन सभी को इस सम्मान से वंचित कर दिया है। बताया जाता है कि इन ऋषियों ने ईंट और संगमरमर के दो स्तंभ खड़े करके उन पर अपने ज्योनिष के ज्ञान को अंकित करा दिया था, जिससे अग्नि या जल से संसार का नाश होने पर, जिसकी बात उन्होंने एडम से जानी थी, वह ज्ञान बचा रहे। इन कहानियों को दुहराने की जरूरत नहीं है। उस विश्वासी इतिहासकार के इस अनुमान से ज्यादा बड़ा और कोई प्रमाण नहीं है कि 600 सालों के महान् ज्योतिचक्र से परिचित थे, जो सूर्य और चन्द्रमा को पीछे करीब-करीब इसी स्थल तक ले आता है कि इसकी खोज से यह निहितार्थ निकाला जा सकता है कि उनको सौर और चान्द्र गतियों का बहुत ही सही-सही ज्ञान था। इन परंपरागत विचारों या महत्त्वहीन तथ्यों को छोड़कर हम आगे चलते हैं और अब हम कुछ ऐसे प्राचीन राष्ट्रों में ज्योतिष की स्थिति का ब्यौरा देने जा रहे हैं, जिन्होंने निःसन्देह इस विज्ञान के सुधार में योगदान दिया था और जो ज्योतिष सम्बन्धी अपने परिश्रम का कुछ लेखा-जोखा भावी युगों के लिए छोड़ गये थे।

चाल्डियनों, मिस्रवासियों, फिनीशियनों, चीनियों और भारतीयों का ज्योतिष

चाल्डियन

ग्रीक इतिहासकारों के एकमत साक्ष्य के अनुसार मध्यपूर्व (पश्चिम एशिया) में ज्योतिष विज्ञान के प्राचीनतम चिह्न चाल्डियनों और मिस्रवासियों में पाए जाते हैं। विस्तृत धरती और बादल रहित क्षितिज ने चाल्डिया वालों को आकाश के पिंडों को देखने की विपुल सुविधाएं दीं और पशुचारी जीवन की फुरसत के कारण और तारों के स्वरूप से जीवन के भविष्य के बारे में जानने की व्यर्थ-इच्छा से चाल्डिया-वासियों ने बड़े प्रयास के साथ गणित और फलित ज्योतिष का अध्ययन किया। ग्रहणों की बहुत बड़ी शृंखला, जो कुछ लेखकों के अनुसार उन्नीस सदियों तक या और भी आगे तक व्याप्त थी, उन्होंने 223 चान्द्र-भुक्तियों के चक्र की या अठारह सौर वर्षों की खोज की, जो चन्द्रमा को उसके पात, भूमि-नीच के बारे में और सूर्य को प्रायः उसी स्थिति तक वापस ले आते हैं और फिर ग्रहण उसी क्रम में पड़ने लगते हैं। यह वह अवधि है, जिसे उन्होंने 'सरोस' जैसा स्पष्ट नाम दिया है। और भी अवधियां थीं जिनको उन्होंने सोआस और नीरोस नाम दिए पर उनके स्वरूप और विस्तार के बारे में ठीक-ठीक कुछ भी ज्ञात नहीं है। फिर भी प्रायः निश्चित है कि ये चाल्डियन अवधियां, उनका रूप कुछ भी हो, विशुद्धतः आनुभविक थीं। अभिल्लिखित प्रेक्षणों की तुलना में खोजी गई, वे न तो सिद्धान्त कही जा सकतीं थीं न विज्ञान ही, जब तक सरल गणितीय प्रक्रिया को वैसा न माना जाए; न यह मानने का ही कोई कारण है कि अपनी ग्रहणों सम्बन्धी भविष्योक्ति में वे चाल्डियन किसी गणना-प्रक्रिया को

इस्तेमाल करते थे। एक बार अपने चक्र की स्थापना करने के बाद उनके हाथ में उसके बीच होने वाली सभी बातों का पूर्व-कथन करने का एक सरल साधन आ गया था और उसमें जितना वे जरूरी समझते थे, परिशुद्धता भी थी।

मिस्रवासी

पुराने जमाने में ज्योतिष का अध्ययन करने में मिस्रवासी चाल्डिया वालों के प्रतिद्वन्द्वी थे, यद्यपि वे अपने पीछे अपने श्रम के बहुत थोड़े स्मारक छोड़ गए हैं, ग्रीक लोगों के अतिरंजित कथन के अनुसार उन्होंने और भी ज्यादा ख्याति पाई थी। ग्रीसवासी अपने विज्ञान और सभ्यता के लिए अपने को मिस्रवासियों का ऋणी मानते हैं, पर अपने को उन प्राचीन मिस्रवासियों का वंशज मानते हुए वे अपने उन अनुमानित पूर्वजों के ज्ञान की प्राचीनता के ब्यौरे बढ़ा-चढ़ाकर देते हुए व्यर्थ ही स्वकीर्ति—कथन में रुचि लेते थे। यह असम्भव नहीं है कि आकाश के कुछ परंपरागत प्रेक्षण और प्राचीनतम समाज के लिए भी अपरिहार्य कुछ कलाएं यूरोप में नील नदी के किनारे से प्रव्रजन करने वाले लोगों द्वार ले जाई गई थीं और यह भो निश्चित है कि ग्रीक के आरंभिक दार्शनिक, अपने देश में उपलब्ध ज्योतिष ज्ञान से कहीं ज्यादा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए मिस्र की यात्रा किया करते थे। पर मिस्रवासियों के पास सिखाने के लिए बहुत कुछ था यह बताने वाले तथ्य थोड़े से ही हैं और कम प्रमाणित हैं। उनमें भी इतनी कपोल-कथाएं भरी पड़ी हैं कि उनके ज्योतिष विज्ञान की वास्तविक प्रगति के बारे में प्राप्त ब्यौरों के अनुसार कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती। पुजारी राष्ट्रीय ज्ञान के भंडार थे और जनसाधारण से इसे रूपक आदि में होशियारी से छिपाकर रखते थे, जिनके चिह्न आज की परंपराओं तक में देखे जा सकते हैं, ऐसा बताया गया है।

फिनीशियन

फिनीशियनों को भी साधारणतः उन राष्ट्रों में गिना जाता है, जिन्होंने बहुत आरंभिक काल में ज्योतिष ज्ञान को बढ़ाया था, पर प्राचीन लेखकों द्वारा बताए गए किन्हीं तथ्यों से यह सिद्ध नहीं होता कि वे विशेषतः आकाश के प्रेक्षण की ओर ध्यान दिया करते थे और उन्होंने ग्रहों की गति के बारे में कोई खोज की थी। वे नौ-विज्ञान में कहीं ज्यादा निपुण थे, यह निश्चित है, क्योंकि अफ्रीका और स्पेन के तट पर बहुत जगहों से और भूमध्य सागर के प्रमुख द्वीपों से वाणिज्य कार्य चलाया करते थे और ध्रुव-परिधि के तारों से अपने मार्ग का पता चलाते थे। यदि उनको ज्योतिष की कुछ कल्पना थी, तो यह उनको चाल्डिया या मिस्रवासियों से मिली थी।

चीन वासी

चीन में ज्योतिष का अध्ययन सुदीर्घ अतीत काल से किया जाता रहा है।

और उसे राज्य के नागर प्रशासन के लिए जरूरी और अपरिहार्य विज्ञान माना गया है। चीनवासी सगर्व कहते हैं कि उनके देश के अभिलेखों में 3858 सालों तक के दीर्घ समय के ग्रहणों को अभिलिखित किया गया था, और इन सबका उनके कथनानुसार न केवल ध्यान से प्रेक्षण किया गया था, बल्कि उनके होने से पहले ही उनकी गणना की गई थी और उनका स्वरूप समझ लिया गया था। जिन कारणों से, (अर्थात् समय-विभाजन और विनियमन) चाल्डिया और मिस्र-वासी आकाश पिंडों का प्रेक्षण करने के लिए प्रेरित हुए थे, उन्हीं से चीन वासी भी प्रभावित हुए थे और तदनुसार हम देखते हैं कि उनके प्राचीनतम नरेश भी पंचांग की ओर ध्यान देते थे। सम्राट फाउ-ही के बारे में, जिनका राज्य ईसा सें 2857 साल पहले शुरू हुआ था, यह कहा जाता है कि उसने आकाश पिंडो की गति का ध्यान से अध्ययन किया था और वह अपने अज्ञानी प्रजाजनों को आकाश के रहस्य यत्नपूर्वक समझाया करता था। पर चूंकि वे उसके सिद्धान्तों को समझ सकने लायक ज्ञान प्राप्त न कर सके थे, वह 10 और 12 के अकों से समय-गणना का सूत्र उनको समझाकर ही अपना संतोष कर लेते थे। इन अंकों के जोड़ से 60 वर्षों का चक्र निकाला जा सकता है, जो एक ऐसी मानक इकाई माना जाता है, जिससे वे अपने घंटे, दिन और महीने जोड़ा करते थे। अनुश्रुति इस बारे में मौन है कि फाउ-ही ने अपना ज्ञान किस स्रोत से प्राप्त किया था। 2608 ई० पू० में होआंग-ती ने एक वेधशाला बनवाई, जिसका प्रयोजन पंचांग को सुधारना था, जो बड़े झमेले में पड़ चुका था। उसने ज्योतिर्विदों के एक दल को सूर्य का, दूसरे को चन्द्रमा का और तीसरे को तारों का प्रेक्षण करने के लिए नियुक्त किया। तभी यह पता चला कि बारह चान्द्र महीने सौर वर्ष के ठीक-ठीक अनुरूप नहीं होते और उनको फिर से एक साथ लाने के लिए यह जरूरी है कि उन्नीस सालों के समय में सात चान्द्र अधिमास छोड़े जाएं। यदि यह तथ्य असन्दिग्ध प्रमाणों पर आधारित होता तो इससे यह नतीजा निकलता कि मीटनीय चक्र का ज्ञान चीनियों को ग्रीकों से 2000 वर्ष पहले हो गया था। हो आंग-ती का शासन काल गणितीय-अधिकरण संस्था स्थापित करने के लिए भी स्मरणीय है, जो विज्ञान की उन्नति के लिए बनाई गई थी, जिसे सदैव असा-धारण महत्त्व दिया जाता था। साम्राज्य के एक कानून के अनुसार इस अधि-करण के सदस्यों से मृत्यु दण्ड के खतरे के साथ अपनी भविष्यवाणियों की परि-शुद्धता की अपेक्षा की जाती थी। इस कानून में बताया गया था कि 'किसी आकाशीय घटना के बारे में त्रुटिपूर्ण भविष्यवाणी करने पर या उसको पहले से ठीक से न समझ लेने पर, इन दोनो में से किसी भी लापरवाही पर मृत्युदण्ड दिया जा सकता था' त्योंग कांग के शासनकाल में सम्राज्य के दो गणितज्ञ-हो और ही—इस घातक कानून के शिकार बने, जिसका कारण यह था कि एक ऐसा ग्रहण पड़ा, जिसकी भविष्यवाणी वे पहले अपनी विद्या के बल पर न कर सके थे। सम्राट याओ ने, जो चीनी इतिहासों के अनुसार 2317 ई० पू० के

साल के आस-पास सिंहासन पर बैठे थे, ज्योतिष के अध्ययन को नई प्रेरणा दी, जबकि उसका पहले ही पतन-शुरू हो चुका था। उसने अपने ज्योतिर्विदों को सूर्य और चन्द्रमा की, ग्रहों और तारों की, गतियों का प्रेक्षण करने और चारों ऋतुओं की पूरी अवधि ठीक से निश्चित करने का आदेश दिया। राशि चक्र को 28 नक्षत्रों में, जिन्हें चन्द्रग्रह कहा जाता है, बांटने के चीनी तरीके का श्रेय इसी सम्राट को दिया जाता है और ऊपर बताए गए गलत भविष्यवाणी के लिए दंड को चालू करने का श्रेय भी। याओ के समय से चीनी साल $365\frac{1}{4}$ दिनों का माना जाता रहा है। वे वृत्त को भी $365\frac{1}{4}$ अंशों में बांटते थे, इसलिए सूर्य हर रोज चीनी अंश का एक चाप बताता था। उनके सामान्य चान्द्र वर्ष में $364\frac{348}{940}$ दिन होते थे और इस संख्या को $365\frac{1}{4}$ में जोड़कर वे 4617 सालों की अवधि को निकालते थे, जिसके बाद सूर्य और चन्द्रमा फिर वैसी ही सापेक्ष स्थिति प्राप्त कर लेते थे।

ज्योतिष के लिए उपयोगी प्रतिफल वाले पर्याप्त रूप से संमित जिन प्राचीनतम चीनी प्रेक्षणों से हम परिचित हैं, वे त्चेऊ कांग द्वारा किए गए थे, जिसका राज्य-काल ईसा से 1110 साल पहले शुरू हुआ। इनमें से दो प्रेक्षण उत्तरायण और दक्षिणायन में लोयांग गांव के पास बड़े ध्यान से प्रेक्षित सूर्य के याम्योत्तर उन्नतांश के बारे में हैं। रविमार्ग की तिर्यक्ता उस प्राचीन युग में इस तरह $23^0 54' 3''$—15 बताई गई है, जो विश्वजनीन गुरुत्व की सर्वथा संगति में है। प्रायः उसी समय किया गया दूसरा प्रेक्षण आकाश में दक्षिणायन की स्थिति के बारे में है और यह लाप्लास को गणना के एक अंश के एक मिनट के भीतर ही प्रायः तत्संवादी है। लाप्लास इस असाधारण एकरूपता को उन प्राचीन प्रेक्षणों की प्रामाणिकता का एक अकाट्य प्रमाण मानता है। चीनी ज्योतिष का स्वर्णकाल फाउ-ही के राज्य काल से 480 ई० पू० तक अर्थात् 2500 साल से कुछ ज्यादा ही बताया जाता है। पर इस लम्बे काल के आखीरी हिस्से में ही कहीं जाकर चीनी इतिहास कुछ प्रामाणिक होता है और इन प्रेक्षणों के आरम्भ की कुछ विश्वसनीय तिथि 722 ई० पू० के आसपास ही या नैबोनजार के युग के 25 साल बाद ही की मानी जा सकती है। कन्फ्यूसियस 36 ग्रहणों की माला की गणना बताते हैं और इनमें से आधुनिक ज्योतिर्विदों ने 31 की जांच की है। इसके बाद इस विज्ञान का बड़ा अधः पतन हो गया, भले ही चीनी सामान्यतः अपनी प्राचीन प्रथाओं के प्रति बद्धमूल आसक्ति रखते हों। ज्योतिष के अधः पतन का कारण, भले ही यह उचित हो या न हो, सम्राट त्सिन-ची-होंग-ती की पाशविक नीतियों को बताया जाता है, जिसने वर्ष 221 ई० पू० में यह आदेश निकाल दिया था कि कृषि, चिकित्सा और फलित ज्योतिष विज्ञानों को छोड़, जिन को कि वह कुछ मानवोपयोगी मानता था, उनकी सभी पुस्तकें जला दी जाएं। यह बताया जाता है कि इस तरह से ज्योतिष के प्रेक्षणों और धारणाओं की बहुमूल्य युगों से संचित निधि हमेशा के लिए नष्ट हो गई।

चीनी ज्योतिष के जो विवरण मिलते हैं, उन पर ध्यान से विचार करने पर हम देखते हैं कि इसमें प्रेक्षणों की ही प्रथा थी, जिसका नतीजा कुछ एकांगी तथ्यों का पता चलना मात्र था। जैस्युटों ने सत्रहवीं सदी के आखीर में जिन प्रचारकों को भेजा था, और जिनके द्वारा हमें चीन के आरंभिक इतिहास का पता चलता है, या तो वे कुछ सत्य बातें देख उनसे प्रभावित हो गए या जिनका मत-परिवर्तन करने की वे कोशिश कर रहे थे, उनके साथ तालमेल रखना ही उन्होंने ठीक समझा और इस तरह उन्होंने उनके विज्ञान की प्राचीनता के बारे में उनके सम्बन्धों को स्वीकार कर लिया और उनका पूरे यूरोप में प्रसार कर दिया। जैसे-जैसे राष्ट्र का इतिहास ज्यादा प्रामाणिक होता जाता है, उनका ज्योतिष ज्ञान वस्तुतः तुच्छ आकार में सिमिटता हुआ मालूम पड़ता है। चीनी अपनी पुरानी परंपराओं में अन्धविश्वास के साथ बंधे होते हैं और अन्धे होकर पूर्वजों की आदतों को अपनाते हैं। चीनी सदियों तक आकाश का प्रेक्षण करते रहे, पर अपने सैद्धान्तिक ज्ञान की प्रगति में उन्होंने मामूली सा भी योगदान नहीं दिया। बाद में उन्होंने बहुत से सुधार अपनाए, जिसके लिए वे पूरी तरह से विदेशियों के ऋणी थे। खलीफों के समय बहुत से मुसलमान चीन गए और अपने साथ अरब के ज्योतिष ज्ञान और तरीकों को भी ले गए। धर्म प्रचारकों ने यूरोप के विज्ञान का सूत्रपात किया और चीनियों की प्रशंसा में ज्यादा से ज्यादा यही कहा जा सकता है कि कभी-कभी उनकी सरकार ईर्ष्या और अलग रहने की भावना में ढील देकर इन विदेशियों की रक्षा करती थी और उनकी कलाओं का आदर करती थी और उनको गणितीय अधिकरणों का प्रमुख तक बना देती थी।

भारतीय

भारतीय ज्योतिष विज्ञानेतिहास द्वारा प्रस्तुत एक बड़ी अजीब समस्या है और बड़े वाद-विवाद के बाद भी आज भी यह बड़े अनिश्चय से ओत-प्रोत है। जिन प्राचीन देशों के विज्ञान के बारे में हमने अभी चर्चा की है, उनका जो लेखा-जोखा आज हमें मिलता है वह कल्पना और परंपरा पर आधारित है, क्योंकि लेखकों ने बड़ी प्राचीनता और परिपूर्णता के बारे में उनकी जो कीर्ति-गाथा निबद्ध की है उसकी पुष्टि या उसके निराकरण के लिए बहुत थोड़े से ही स्मारक शेष रह गए हैं। पर भारतीयों का दावा ज्यादा ठोस नींव पर आधारित है। हमारे पास वे सारणियां उपलब्ध हैं, जिनसे वे ग्रहण और ग्रहों के स्थान की गणना किया करते थे, और गणना के तरीके भी बताए गए हैं; संक्षेप में हमें भारतीय ज्योतिष लिखित रूप में मिलता है, जो आकाश पिंडों की बात काफी यथार्थता के साथ बताता है। इसका उद्भव विज्ञान में काफी प्रगति कर चुके लोगों में ही हुआ होगा। पर इस समस्या की कठिनाई उन स्रोतों को खोजने की है, जिनसे इस विज्ञान का उदय हुआ और उसके अस्तित्व का काल बताने की है—प्रश्न यह है कि क्या इसकी रचना उन लोगों ने की थी जो आज इसके

सिद्धान्त को बिना समझे इसके नियमों का आंख बन्द करके पालन करते हैं या यह विज्ञान उनको ज्यादा मौलिक प्रतिभा वाली जाति के ऐसे स्रोतों से बताया गया था, जिनका आज हमें ज्ञान नहीं है। कुछ लोग भारत को सभी विज्ञानों, खासकर ज्योतिष, की क्रीड़ास्थली मानते हैं, जिसका अध्ययन-अनुशीलन यहां सुदूर अतीत से होता था, दूसरे भारतीय ज्योतिष का उदय उस समय मानते हैं जब पैंथागोरस इस देश में आया था और ग्रीक कलाओं और विज्ञान का ज्ञान यहां लाया था। तीसरा विचार है कि ज्योतिष का ज्ञान भारत में अरब से नवीं सदी ईसवी में आया था और ब्राह्मणों को यही श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने उन लोगों के नियमों और व्यवहार को अपनी खास गणना के तरीकों के अनुकूल गढ़ लिया। हमारे पास इसका खंडन करने के कारण हैं। पैंथागोरस के इस देश में आ सकने से बहुत पहले भारतीयों को ज्योतिष का ज्ञान था। ज्यामिति के सुप्रसिद्ध पैंथागोरस प्रमेय की भी इस देश में स्वतंत्र रूप से बहुत पहले खोज हो चुकी थी। फिर भी पहले हम ग्रीक ज्योतिष का कुछ ब्यौरा प्रस्तुत करेंगे।

ग्रीक ज्योतिष

दूसरे प्राचीन राष्ट्रों की तरह ग्रीस में भी ज्योतिष का उद्भव प्रामाणिक इतिहास से प्राचीन समय में हुआ था। ग्रीस में इस विज्ञान की सच्ची नींव थेल्स ने डाली थी जो मिलेटस में 740 ई० पू० में पैदा हुआ था। उसने एक सम्प्रदाय बनाया जिसे 'आयोनियन धारा' का नाम दिया गया है। उसके ज्योतिष में कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो उसकी बुद्धिमत्ता और प्रेक्षणों को सम्मानित बना देते हैं, यद्यपि उनमें त्रुटियां और दोष भी मिले हुए हैं। उसने पढ़ाया था कि तारे आग से बने हैं, चन्द्रमा, अपना प्रकाश सूर्य से प्राप्त करता है और युतियों में वह सूर्य की किरणों से छिपे रहने के कारण अदृश्य रहता है। उसने धरती के गोल होने की बात भी सिखाई और उसने धरती को ब्रह्मांड के केन्द्र में रखा। उसने भूवृत्त को पांच महाखण्डों में बांटा : उत्तर ध्रुव और दक्षिण-ध्रुव के वृत्तों में और दो कटिबंधों में। उसका विचार था कि भूमध्यरेखा रवि मार्ग से तिर्यक् रूप में कटती है और याम्योत्तर से लम्ब रूप में। बताया जाता है कि उसने ग्रहणों के भी प्रेक्षण किए थे : और हैरोडोटस बताता है कि उसने ग्रहणों के बारे में भविष्यवाणी की थी, जिसने मीडस और लीडियमों के बीच होने वाले युद्ध का अंतर कर दिया था। पर यह नहीं लगता कि उसने वर्ष के दिन और मास बताने का साहस किया था, इसलिए उसके पूर्व-कथन वर्ष तक ही सीमित रहे होंगे। कालीमेकस के अनुसार उन्होंने सप्तर्षि के तारों की स्थिति का निर्णय किया, जिनको देखकर फिनीशियन अपने मार्ग का पता चलाते थे। फिर भी यह अनुमान करना कठिन है कि यन्त्रों से अपरिचित थेल्स ने तारों की स्थिति का इतना शुद्ध निर्णय कैसे किया होगा कि वह नाविकों को वास्तविक मदद दे पाता। संभव है कि उसने इन नक्षत्रों में से कुछ ज्यादा चमकीले

तारों की संस्थिति को बताया हो, जिसमें वह यह बता सका हो कि कौन तारा ध्रुव तारे के निकटतम रहता है। थेल्स के बाद एनेक्सीमेंडर हुआ, उसे भी गोले और तारामण्डल का ज्ञान था, ऐसा कहा जाता है। डायोजीनस लाएरटियस के अनुसार अपने गुरु थेल्स की तरह उसने धरती को गोल मानकर ब्रह्मांड के मध्य में रखा, पर प्लूटार्क के अनुसार उसने इसकी समता स्तंभ से की थी जो कम दार्शनिक विचार था। उसने सूर्य को धरती के बराबर आकार का बताया था। उसने धूपघड़ी की खोज की और अयन तथा विषुवों का प्रेक्षण करने के लिए एक धूपघड़ी लैसडैमन में स्थापित की। पिछली पीढ़ियां खास तौर पर एनेक्सीमेंडर की कृतज्ञ इसलिए हैं कि उसने भौगोलिक चार्ट खोज निकाले। आयोनियन धारा में एनेक्सीमीन्स, एनेक्सीमेंडर के बाद आया और वह करीब-करीब उन्हीं सिद्धान्तों को मानता रहा। प्लिनी के अनुसार उसने पहले-पहल घड़ी बनाई, जिसके आविष्कार का श्रेय एनेक्सीमेंडर को दिया जाता हुआ हमने अभी-अभी देखा है। इन दो दार्शनिकों ने सम्भवत: एक ऐसे यन्त्र का ज्ञान पुन: चलाया था, जिसका उपयोग उनके अज्ञानी और उग्र देशवासी भूल चुके थे। उनसे पहले ग्रीक दिन का विभाजन सूर्य की छाया की विभिन्न लम्बाइयों से ही करते थे। एनेक्सागोरस एनेक्सीमीन का शिष्य और अनुवर्ती था। प्लूटार्क ने इस दार्शनिक के मत्थे जो बातें मढ़ी थीं वे यदि सही थीं तो थेल्स के बाद आयोनियन धारा के दर्शन में प्रगति न होकर अवनति ही हुई थी। बताया जाता है कि उसका विश्वास था कि सूर्य लाल-तपे लोहे का या गरम पत्थर का पैलोपोनेसस से कुछ बड़ा गोला था, आकाश पत्थरों की मंजूषा है जो गोल चक्कर में तेजी से चलने के कारण ही नहीं गिरता और सूर्य घने और मोटे वातावरण के कारण कटिबन्धों के ऊपर की ओर नहीं जा पाता, जो उसके मार्ग को पलट देता है। ये तथाकथित विचार शायद ज्यादा अतिरंजित हैं, पर ऐसा नहीं लगता कि एनेक्सागोरस ने आकाश-ज्ञान को आगे बढ़ाया था। अपने युग की अन्धविश्वासी बातों की परवाह न करने का दण्ड उसे भुगतना पड़ा। चन्द्रग्रहण का कारण बताने पर उसे यह दोष लगाया गया कि वह प्राकृतिक बातों में परमात्मा की शक्ति की बात जोड़ता है और केवल एक ब्रह्म के अस्तित्व की बात करने से उस पर अपावनता और देशद्रोह का इलजाम लगाया गया। इस दार्शनिक को और उसके परिवार को प्राणदण्ड दिया गया, पर उसके मित्र और शिष्य पेरिकिल्स ने बड़ी रुचि लेकर इस दण्ड को हमेशा के लिए देशनिकाले में बदलवा दिया।

जब आयोनियन सम्प्रदाय ग्रीक में प्राकृतिक ज्ञान का विकास और प्रसार करने में लगा हुआ था, उसी समय दूसरे ज्यादा प्रसिद्ध सम्प्रदाय को इटली में पैथागोरस ने जन्म दिया। कहा जाता है कि पैथागोरस ने मिस्र में रविमार्ग की तिर्यक्ता का और प्रात: और शाम के तारों को पहचानने का ज्ञान प्राप्त किया था। ज्योतिष के इतिहास में जिस मुख्य बात के लिए उसका नाम अमर

है वह धरती की गति के बारे में उसका प्रसिद्ध सिद्धान्त है। उसने खुले आम कहा कि धरती ब्रह्मांड के मध्य में स्थित है, लेकिन अपने चुने हुए शिष्यों में उसने यह सिद्धान्त प्रचारित किया कि ग्रहों में केन्द्र स्थान सूर्य का है और धरती सूर्य के चारों ओर घूमने वाला एक ग्रह है। इस बात के साथ आज भी उसका नाम जुड़ा हुआ है और आज भी इसे ब्रह्मांड की पैथागोरस धारणा या पुरानी धारणा कहा जाता है, जिसे कोपर्निकस ने फिर से चलाया था। पर पिछले के प्रति न्याय करते हुए यह कहा जा सकता है कि किसी बात को कह देना अलग बात है और अकाट्य तर्कों द्वारा उसके अस्तित्व को सिद्ध करना अलग बात है, और दोनों में बहुत अन्तर है। पैथागोरस ने तन्त्री के तार के बाद और उसकी झंकृति की तीव्रता के बीच विद्यमान सम्बन्ध की बात कही थी। यही रूपक उसने ग्रहों के बारे में भी लागू किया और कहा कि अपनी-अपनी दूरी के अनुसार वे ध्वनि फेंकते हैं और एक अपूर्व दिव्य मिले-जुले संगीत की सृष्टि करते हैं, जिसे मानव-इन्द्रियों से नहीं सुना जा सकता। रूपक में अपनी प्रवृत्ति के कारण ज्यामिति के पांच ठोस पदार्थों को दुनिया के तत्वों पर भी लागू किया। घन प्रतीक रूप से धरती का प्रतिनिधि था, पिरामिड अग्नि का, अष्टफलक वायु का, विंशतिफलक जल का और द्वादशफलक ब्रह्मांड के बाह्य रूप का। पैथोगोरस ने कोई लिखित ग्रन्थ नहीं छोड़ा है और उसके नाम से जो विचार और कल्पनाएं जुड़ी हुई है, उनके बारे में यह कहना संदिग्ध है कि वह इन सबको मानता था। क्रोटोना के फिलोलोस ने, जो पैथागोरस का शिष्य था, सूर्य के चारों ओर धरती के भ्रमण के बारे में अपने गुरु के सिद्धान्त को अपनाया। उसने सूर्य को कांच की तश्तरी माना जिसमें ब्रह्मांड का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। उसने चान्द्रमास को 29½ दिनों का माना, चान्द्र वर्ष 354 दिनों का और सौर वर्ष 365½ दिनों का। साइराकूस का नाइकतास पहला व्यक्ति बताया जाता है जिसने पैथागोरस के ब्रह्मांड सिद्धान्त का खुलकर अध्यापन किया। प्राचीन ज्योतिष इतिहासविद थ्योफ्रेस्टस के प्रमाण पर सिसरो उसे इस धारणा का श्रेय देता है कि तारों की आयामी गति अपनी धुरी पर धरतो की दैनिक गति के कारण पैदा होती हैं[1]। पर लगता है कि यह युक्तियुक्त संगत सिद्धान्त पहले-पहल पोंटस के हेराक्लाइड्स और पैथागोरस के एक शिष्य एकफांटस ने प्रतिपादित किया था।

---

1. देखिए सिसरो एकेड० क्वाएस्ट० लाइ० चार, कैप 391 स्वयं कोपर्निकस इस सिद्धान्त को इससे ज्यादा जोर देकर नहीं कह सकता था :
"Nicetas Śyracusius, ut ait Theophrastus, coelum, solem, lunam, stellas, supera denique omnia, stare censet; neque, praeter terram, rem ullam in mundo moveri; quae cum circum axem se summa celeritate convertat et torqueat, eadem effici omnia, quasi, stante terra, coellum moveretur."

ग्रीस के ज्योतिष के इतिहास में मीटनिक चक्र के आरम्भ ने एक नए ही युग को जन्म दिया। जैसा हम पहले ही बता चुके हैं, चाल्डियनों ने कई चान्द्र-सौर अवधियां स्थापित की थीं या ऐसी अवधियां बताई थीं जिनके अंत में ये दोनों ज्योतिष्पिड पुनः तारों से सापेक्ष बड़ी स्थिति प्राप्त करते हैं। इसने पर्वों के विनियमन की परवाह करने वालों को बड़े असमंजस में डाला था। मीटन और यूक्टेमन ने पहली बार यह कठिनाई कम से कम कुछ समय के लिए दूर की, क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा की गतियां अमाप्य होने से ऐसी कोई अवधि ठीक-ठीक नहीं बताई जा सकती, जिसमें वे पहले जैसी स्थितियों में ही आ जाएंगे। इन दो ज्योतिर्विदों ने उन्नीस चान्द्र वर्षों का एक चक्र स्थापित किया, जिसमें से 12 में बारह-बारह चान्द्र मास थे और 13 में सात-सात। जिनको वे पहले वर्षों के बीच अधिकाल (लौंद) के रूप में मानते थे[1]। बहुत पहले लोग जानते थे कि संयुति मास लगभग $29\frac{1}{2}$ दिनों का होता था और भिन्न को हटाने के लिए आम तौर पर 12 संयुति मास, जिनसे सौर वर्ष बनता था, वैकल्पिक रूप से 29 और 30 दिनों के माने जाते थे; पहले प्रकार के महीनों को कम वाला और दूसरे को पूरा मास कहा जाता था। मीटन ने अपने कालचक्र में 125 पूरे और 110 कम वाले मास रखे, जिनमें 235 चान्द्र मासों के लिए 6940 दिन थे और यह लगभग 19 सौर वर्षों के बराबर समय था। यह चक्र वर्ष 433 ई० पू० में 16 जुलाई को शुरू हुआ। ओलिम्पिक खेलों में इकट्ठे हुए लोगों ने हर्षध्वनि के साथ इसका स्वागत किया और इसे ग्रीस के सभी नगरों और उपनिवेशों में चलाया गया। इसे पीतल की पट्टियों पर सुनहले अंकों में लिखा गया और यह आधुनिक यूरोप के सभी राष्ट्रों के पंचांगों का आधार बना। अभी भी यह धार्मिक उपयोग में आता है, और इसमें समयानुसार हेरफेर कर लिए जाते हैं।

क्नीडस के यूडोक्सस ने 370 ई० पू० के आस-पास एक ज्योतिर्विद के रूप में विशेष कीर्ति प्राप्त की। प्लिनी के अनुसार उसने ग्रीस में $365\frac{1}{4}$ दिनों का साल चालू किया। आर्कीमीडीस का कहना है कि उसने अनुमान लगाया था कि सूर्य का व्यास चन्द्रमा के व्यास से नौ गुना है, जिसका मतलब है कि कुछ सीमा तक वह ऐन्द्रिय ज्ञान के भ्रम से ऊपर निकल गया था। उसके तीन ग्रन्थों के नाम आज भी विदित हैं: **दि पीरियड आफ दि सरकमफिरेंस आफ दि अर्थ, दि फेनोमेना और दि मिरर**। उसकी वेधशाला स्ट्रैबो के समय भी क्नीडस में खड़ी थी। चाल्डिया के ज्योतिषियों की भविष्यवाणी की मजाक उड़ाने के लिए और न्यायिक फलित ज्योतिष की कल्पनाओं से सच्चा ज्योतिष विज्ञान अलग करने के लिए वह प्रसिद्ध है। ग्रहों की आभासी गति की यांत्रिक व्याख्या सबसे पहले लगता है, यूडोक्सस ने ही दी। उसने माना कि आकाश में हर ग्रह खास हिस्से

---

1. अधिकाल या अधिमास के लिए इस पुस्तक का दीर्घतमस संबंधी अध्याय देखिए।

में स्थित होता है और वह जिस हिस्से को बताता है, वह विभिन्न दिशाओं में निष्पादित अनेक गोलों की संयुक्त गति से निश्चित किया जाता है। सूर्य के और चन्द्रमा के तीन-तीन गोले होते हैं, एक धरती के ध्रुवों से गुजरने वाली धुरी के चारों ओर घूमता है जो दैनिक गति पैदा करता है। दूसरा रविमार्ग के ध्रुवों के चारों ओर विपरीत दिशा में घूमता हुआ मासिक और वार्षिक क्रान्तियों का हेतु बनता है, तीसरा पहले की लम्ब दिशा में घूमता है और अवनति में परिवर्तन का कारण बनता है। हर ग्रह का चौथा गोला भी होता है, जिससे स्थिति और पतन की व्याख्या की जा सकती है। जैसे-जैसे नई असमानताओं और गतियों का पता चलता गया, नए गोले जोड़े जाते रहे, जब तक यह तंत्र इतना जटिल न बन गया कि बिलकुल अबोध्य हो जाए।

यद्यपि प्लेटो को ज्योतिर्विद नहीं कहा जा सकता, पर उसकी पैनी प्रतिभा के प्रकाश से इस विज्ञान की भी प्रगति हुई। ग्रहणों के कारणों के बारे में उसे सही ज्ञान था, उसने कल्पना की थी कि आकाशपिंड सीधी रेखा में चलते हैं पर गुरुत्व उनकी दिशा पलटकर उन्हें वक्रों में चलने के लिए प्रेरित करता है। उसने तारों और ग्रहों के मार्ग वर्तुल और नियमित गतियों में बताने की समस्या ज्योतिर्विदों के समक्ष प्रस्तुत की। प्लेटो की धारा में ज्यामिति का खूब विकास हुआ और इस कारण सच्चे ज्योतिष प्रवर्तकों में उसका विशिष्ट स्थान है।

ज्योतिष अरस्तू का भी बहुत कुछ ऋणी है। इस विज्ञान पर उसने एक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें उसने अपने बहुत से प्रेक्षणों को लिखा था। उसमें अन्य चीजों के साथ उसने चन्द्रमा द्वारा मंगल के आच्छादन और गुरु ग्रह द्वारा जैमिनी नक्षत्रमंडल के एक तारे के आच्छादन का भी जिक्र किया है। चूंकि ऐसी बातें कभी-कभी ही होती हैं, उनके प्रेक्षण से यह सिद्ध हो जाता है कि उसने नक्षत्रों की गतियों की ओर बहुत ध्यान दिया था।

इस समय के आस-पास बहुत से ज्योतिर्विद पैदा हुए जिनके परिश्रम और प्रेक्षणों ने इसके तुरन्त बाद हिप्पार्कस द्वारा इस विज्ञान के सुधार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। साइजीकस के हेलिकोन के बारे में प्रसिद्ध है कि उसने एक ग्रहण की भविष्यवाणी की थी जो प्लूटार्क के अनुसार घोषित समय पर ही पड़ा था। पुराने ग्रीस के ऐसे तीन व्यक्तियों—थेल्स, हेलिकन और यूडेमस—के ही नाम इतिहास में मिलते हैं जिन्होंने ग्रहणों की भविष्यवाणियां की थीं। यूडेमस ने ज्योतिष का एक इतिहास लिखा, जिसका कुछ पंक्तियों का ही खंडित अंश फेब्रीसियस ने 'बिब्लोथेका ग्राएका' में सुरक्षित रखा है। इसमें बताया गया है कि रविमार्ग और भूमध्य रेखा की धुरियां एक दूसरे से पंच-दशभुज से पृथक् हैं, जिसका मतलब यही कहना है कि उनके बीच 240 का कोण है। रविमार्ग की तिर्यक्ता के बारे में ग्रीकों द्वारा यह पहला ही मूल्यांकन है। इसे पूरे अंकों में

दिया गया है और इसमें ½ अंश की गलती होने की सहज ही कल्पना की जा सकती है।

केलिप्पस चार मीटनिक चक्रों की अवधि की गणना के लिए प्रसिद्ध है। एक चन्द्रग्रहण का प्रेक्षण करके, जो सिकन्दर की मृत्यु के लगभग छः साल पहले पड़ा था, उसने बताया कि मीटनिक चक्र में ¼ दिन की गलती है। उसने 940 चान्द्रमासों की अवधि चलाई, जिसमें एक दिन कम करके चार मीटनिक चक्र थे। उसी तरह उसने ग्रहों के सूर्य-सापेक्ष उदय के बारे में प्रेक्षणों का संग्रह किया। थ्योफेस्टस ने ज्योतिष का इतिहास लिखा और उसने माना कि आकाश-गंगा दो गोलार्द्धों की अपूर्ण युति के कारण बनती है, जिसके कारण बाहर के आकाश से प्रकाश आ जाता है। पिटाने के औटोलाइकस ने दो पुस्तकें लिखीं। एक चल गोल के बारे में और दूसरी तारों के उदयास्त के बारे में। आज उपलब्ध ग्रीक ज्योतिष कृतियों में ये सबसे पुराने हैं।

मार्सील्स के पाइथिआस ने महान् सिकन्दर के समय के आस-पास धूप घड़ियों के सहारे विभिन्न देशों में अयनों की छाया की माप की। उसने छाया को मार्सील्स और बाइजेंटियम में समान पाया—जो दोनों जगहों के अक्षांश में मात्र 2¼ अंश का अंतर होने से उसके प्रेक्षणों की शुद्धता को सही-सही रूप से नहीं बताता। यह प्रेक्षण फिर भी इस नाते बड़ा रोचक है कि यह त्वेओकोंग के बाद से इस प्रकार का सुरक्षित सबसे पुराना प्रेक्षण कहा जा सकता है। यह रविमार्ग की तिर्यक्ता के क्रमशः कम होते जाने की भी पुष्टि करता है। भौगोलिक और ज्योतिष सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए पाइथिआस ने अनेक यात्राएं कीं और उत्तर में वह आइसलेंड तक गया। स्ट्रेबो और पोलीबियस ने उसके ब्यौरों को अतिरंजित माना है, पर आधुनिक प्रेक्षणों और अनुभवों ने उनमें से बहुतों की शुद्धता की पुष्टि की है। उसने ही पहली बार दिन और रात की विभिन्न लम्बाइयों के आधार पर जलवायु का भेद निरूपित किया था।

एलैक्जेंड्रिया की धारा में ज्योतिष

एलेक्जेंड्रिया की धारा के पहले ज्योतिर्विद एरिस्टिलस और टिमोचेरिस थे, जो ईसा से लगभग 300 साल पहले टौलेमीं के काल में पैदा हुए थे। उनके श्रम का मुख्य उद्देश्य राशिमंडल के प्रमुख तारों की सापेक्ष स्थिति का निर्णय करना था, केवल उनका उदयास्त बताना नहीं जैसा कि प्राच्यों की या प्राचीन ग्रीक की प्रथा रही थी। इन दो ज्योतिर्विदों के प्रेक्षणों के आधार पर हिप्पार्कस ने विषुवों के अयन की महत्त्वपूर्ण खोज की थी और ये कुछ शताब्दियों बाद टौलेमी ने इन चीजों के बारे में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया था, उसके भी आधार रहे हैं।

सैमोस के एरिस्टार्कस ने, जिनका स्थान एलेक्जेंड्रिया के ज्योतिर्विदों में

अगला था, 'ग्रौन दि मैग्नीच्यूड्स एंड डिस्टेंसिज आफ दि सन एंड मून' नामक ग्रन्थ लिखा था, जो आज तक बचा हुआ है। इस ग्रन्थ में उसने एक नया तरीका बताया है, जिसका उपयोग उसने दोनों ज्योतिष्पिंडों की सापेक्ष दूरी का पता लगाने में किया था। जिस क्षण चन्द्रमा आधी कलाओं का होता है अर्थात् जब उसका ठीक आधा भाग धरती पर दर्शक को सूर्य के प्रकाश से चमकता मालूम देता है, तो चन्द्रमा के मध्य से दर्शक की आंख तक जाने वाली दृश्य किरण चन्द्रमा और सूर्य के मध्य को जोड़ने वाली रेखा के लम्ब में होती है। इसलिए उस क्षण में उसने दोनों की कोणीय दूरी नापी और इसे 87^0 का पाकर उसने समकोण त्रिभुज की कल्पना के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि सूर्य की दूरी चन्द्रमा की दूरी से अठारह उन्नीस गुनी ज्यादा है। सिद्धान्त में यह तरीका बिलकुल सही है, पर चन्द्रमा की अर्द्धकला के ठीक-ठीक क्षण का पता लगाना मुश्किल है और इतने विशाल कोण में मामूली सी त्रुटि भी नतीजे में बहुत अंतर ला देती है। एरिस्टार्कस की त्रुटि काफी बड़ी है। असली कोण $87^0—50'$ का है। सूर्य की अनुमानित दूरी परिणामतः बहुत कम है, फिर भी यह निर्धारण सदोष होने पर भी ब्रह्मांड की सीमारेखा सम्बन्धी विचारों को आगे बढ़ाने में कारण बना, क्योंकि पैथागोरस के शिष्यों ने सिखाया था कि सूर्य चन्द्रमा से तीन या ज्यादा से ज्यादा साढ़े तीन गुना ज्यादा दूर है। एरिस्टार्कस ने जो दूसरा सूक्ष्म प्रेक्षण किया था, वह सूर्य के व्यास के बारे में है, जिसके बारे में आर्कीमीडीस के अनुसार उसने बताया था कि वह सूर्य की दैनिक परिक्रमा द्वारा बताए गए वृत्त की परिधि का 720 वां हिस्सा है। यह अनुमान सत्य से बहुत ज्यादा दूर नहीं है और यह प्रेक्षण भी ज्यादा आसान नहीं है। उसने धरती की गति के बारे में पैथागोरस के सिद्धांत को माना और ब्रह्मांड के आकार और विस्तार के बारे में उसके विचार उसके पूर्ववर्ती ज्योतिर्विदों से कहीं ज्यादा उपयुक्त थे। 'आन दि मेग्नीच्यूड्स एंड डिस्टेन्सेज' नामक उसका ग्रन्थ डा० वालिस की कृतियों की तीसरी जिल्द में कमांडीन के लेटिन अनुवाद और कुछ टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ है।

एरिस्टार्कस के परवर्ती और साइरीन के निवासी एराटोस्थनीज को टोलेमी यूरजेट्स ने एलेक्जेंड्रिया में बुलाया था और रायल पुस्तकालय का कीपर नियुक्त किया था। बताया जाता है कि वह प्रवलयी गोलों का अन्वेषक था। प्राचीन ज्योतिर्विदों द्वारा इस यन्त्र का खूब उपयोग किया जाता था। इस तरह के एक यन्त्र से उसने देखा कि कर्क-मकर रेखाओं का अन्तर बड़े वृत्त की परिधि के 11 और 83 के अनुपात में था—यह अनुपात $47^0\ 42'\ 39''$ के बराबर है, जिसका आधा रविमार्ग की तिर्यक्ता $23^0\ 51'\ 19.\ 5''$ है। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रेक्षण है और सिद्धान्त में बताई गई तिर्यक्ता के क्रमशः कम करने की पुष्टि करता है। एराटोस्थनीज वह पहला व्यक्ति है, जिसने धरती की विशालता नापने के लिए एक सही सिद्धान्त अपनाया था। किसी आधार पर

जिससे हम ग्राज परिचित नहीं है, उसने देखा कि पुराने मिस्र का दक्षिणी स्पेन नगर लगभग एलेक्जेंड्रिया के ही याम्योत्तर पर स्थित है। इससे उसने इन दोनों जगहों की क्षितिजों के बीच खगोलीय चाप की विशालता को और साथ ही धरती पर उनकी दूरी को नापने का विचार किया। इस काम से धरती के पूरे याम्योत्तर की लम्बाई का पता चलना था। स्पेन ठीक कर्क रेखा पर स्थित था, क्योंकि उत्तरायण में धूपघड़ी को कोई छाया न पड़ती थी ग्रौर सूर्य की किरणें उस नगर के एक गहरे कुएं की तली को प्रकाशित कर देती थीं। उत्तरायण के दिन उसने सूर्य की याम्योत्तर दूरी एलेक्जेंड्रिया के क्षितिज पर 70°।2' या परिधि का पचासवां हिस्सा पाई। सिकन्दर के सर्वेक्षकों ग्रौर टौले-मियों ने यह पता चलाया था कि एलेक्जेंड्रिया ग्रौर स्पेन की पैदल दूरी 5000 स्टेडिया थी, इसलिए 5000 × 50 = 250000 स्टेडिया धरती के बड़े वृत्त की या धरती के याम्योत्तर की लम्बाई थी। दुर्भाग्य से यहां इस्तेमाल किए गए स्टेडियम के पैमाने के बारे में ग्रनिश्चितता के कारण हमारे पास इस मोटे पर प्रतिभापूर्ण कृत्य के प्रतिफल का सही अन्दाज लगाने के लिए कोई साधन नहीं है।

लगभग इसी समय ज्योतिष विज्ञान कुछ ज्यामितिज्ञों के प्रयत्नों से भी समृद्ध हुग्रा जिनके प्रयासों ने एलेक्जेंड्रिया की धारा की कीर्ति का बहुत विस्तार किया। प्रसिद्ध 'एलीमेंट्स' का लेखक यूक्लिड टौलेमी—प्रथम के समय हुग्रा था। उसने गोले पर एक पुस्तक लिखी, जो भविष्य में इस विषय की पुस्तकों का ग्राधार बनी। उसने गोले की विभिन्न ग्रवनतियों के रूप को ज्यामिति के ग्राधार पर पहली बार निरूपित किया। ग्रार्कीमीडीस के मित्र समोस वासी कोनन ने पुराने मिस्रवासियों द्वारा देखे ग्रहणों के बारे में सामग्री एकत्र की ग्रौर कैलीमेक्स उसका सम्बन्ध बेरीनाइस के बाल के नक्षत्रमण्डल से जोड़ता है। ज्योतिष के उपासकों में ग्रार्कीमीडीस का स्थान ऊंचा है। उसका प्रसिद्ध प्लेने-टेरियम, जो सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहों ग्रौर तारा मण्डल की गतियों को निरूपित करता था, कवियों की बार-बार की जाने वाली प्रशंसा का पात्र बना। क्लोडियन ने ग्रपने एपिग्रा० (18) में इसके बारे में लिखा है।

परगा के एपोलोनियस ने ग्रहों की स्थिरता ग्रौर पतन की समस्या का समाधान ले जाने वाले (डेफरेंट) के ग्रधिचक्रों से किया। ज्योतिष ग्रौर ज्यामिति को साथ जोड़ने का श्रेय उसे दिया जाएगा, जो दोनों ही शास्त्रों के लिए बड़ा हितकर सिद्ध हुग्रा।

ज्योतिष में ग्रभी तक एकांगी तथ्यों का समावेश था। उसने हिप्पार्कस की प्रतिभा से प्राय: नया ग्रस्तित्व पाया। वह ऐसे विज्ञानों का प्राय: सबसे बड़ा दार्शनिक था, जो विशुद्धत: कल्पना पर ग्राधारित नहीं है। ज्योतिष विज्ञान का यह यशस्वी प्रतिष्ठापक बिथिनिया स्थित निकाइआ में पैदा हुग्रा था ग्रौर उसकी

प्रेक्षणशाला रोड्स में थी। टौलेमी के कुछ अस्पष्ट कथन से फ्लेमस्टीड और कासिनी को शायद कुछ भ्रम हो गया था और उन्होंने लिखा था कि उसके प्रेक्षण एलेजेंक्ड्रिया में किए जाते थे। यह विचार इतिहासकारों ने सामान्य तौर पर मान लिया था। इस प्रश्न पर डेलाम्बर (एस्ट्रोनोमी एन्शीन) ने सावधानी से और काफी विस्तार से विचार किया है। वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि हिप्पार्कस कभी ऐलेक्जेंड्रिया गया था। हिप्पार्कस के प्रेक्षणों का विवरण देते समय टौलेमी ने रोडस और एलेक्जेड्रिया को प्रायः उसी याम्योत्तर पर स्थित माना था, इसलिए उसने प्रेक्षण के स्थल का ब्यौरा देना जरूरी न समझा। हिप्पार्कस ने एराटोस्थनीज द्वारा की गई रवि-मार्ग की तिर्यक्ता की जांच करके अपना अद्भुत कार्य किया। फिर उसने सायन वर्ष की लम्बाई की ओर ध्यान दिया। उत्तरायण सम्बन्धी अपने प्रेक्षण की तुलना 140 साल पहले के एरिस्टार्कस के प्रेक्षण से करके उसने पता लगाया कि $365\frac{1}{4}$ दिनों का पुराना निर्धारण सात मिनट ज्यादा था। हालांकि सायन वर्ष का काल अब भी काफी ज्यादा है, पर संभव है कि यह त्रुटि एरिस्टार्कस के प्रेक्षण के कारण आई हो, क्योंकि हिप्पार्कस का अपना प्रेक्षण आधुनिक प्रेक्षणों की तुलना में सायन वर्ष की लंबाई 365 दिन 5 घंटे और 49 मिनट के करीब थी, जो कि सच्ची बात से सिर्फ 12 सैंकिण्ड ज्यादा है। अयनों और विषुवों का ध्यान से प्रेक्षण करके उसने पता चलाया कि इनसे साल चार बराबर हिस्सों में नहीं बंटता—सूर्य वसन्त विषुव से उत्तरायण जाने में $94\frac{1}{2}$ दिन लेता है और शरद् विषुव तक जाने में केवल $92\frac{1}{2}$ दिन। इसलिए सूर्य भूमध्य रेखा से उत्तरी ध्रुव की ओर वाले रविमार्ग के हिस्से में 187 दिन रहता है और इसलिए दूसरे हिस्से में केवल 178 दिन। इस प्रेक्षण से हिप्पार्कस ने सूर्य की कक्षा की उत्केन्द्रता का पता चलाया। सूर्य की आभासी असमान गति का कारण उसने यह बताया कि धरती सूर्य की वर्तुल कक्षा के ठीक मध्य में स्थित नहीं है और फलतः धरती से उसकी दूरी बदलती रहती है। जब सूर्य ज्यादा दूरी पर होता है, तो वह ज्यादा धीमे चलता है और जब वह पास आता है, तो उसकी गति तेज हो जाती है। कक्षा के केन्द्र से धरती की दूरी को उत्केन्द्रता कहते हैं; इस से वास्तविक और आभासी गतियों के बीच का एक समीकरण पैदा होता है जिसे 'केन्द्र का समीकरण' कहते हैं। उसने इस समीकरण की विशालता का निर्णय रविमार्ग की त्रिज्या (व्यासार्ध) के रूप में किया और नीचोच्च रेखा या उस रेखा की स्थिति तय की जो धरती से कक्षा के अधिकतम और न्यूनतम दूरियों वाले दो आमने-सामने के बिन्दुओं को जोड़ती है। इस दत्तसामग्री से उसने सूर्य की पहली सारणियां बनाई, जिनका ज्योतिष के इतिहास में उल्लेख मिलता है। उत्केन्द्रता की खोज से हिप्पार्कस ने साल की विभिन्न ऋतुओं और सौर दिनों की लम्बाई की असमानता का भी पता चलाया। सूर्य के याम्योत्तर में जाने और अगले दिन लौटने में रविमार्ग पर जो समय गुजरता है, उससे सूर्य अपनी ही

गति से पूर्व की ओर लगभग 1^0 बढ़ जाता है। पर इस गति की दर असमान है, और इसमें एक अंश 57 से 61 मिनट तक का अंतर रहता है, असमानताओं के समुच्चय से समय का वह समीकरण पैदा होता है, जो सूर्य द्वारा बताए जाने वाले सही समय और समान और एकरूप गतिवाली सुनियमित घड़ी द्वारा बताए जाने वाले माध्यम समय का अंतर निरूपित करता है।

फिर हिप्पार्कस का ध्यान चन्द्रमा की गतियों की ओर आकर्षित हुआ और इस विषय पर भी उसके अनुसन्धानों को वैसी ही सफलता मिली। चाल्डियनों द्वारा अभिलिखित ग्रहणों की अधिकतम परिस्थितियों में शुद्ध प्रेक्षणों के बाद वह तारों, सूर्य, चन्द्रमा के पात और भूम्युच्च के सिलसिले में चन्द्रमा की गतियों का काल निर्णय कर सका। ये निर्धारण प्राचीन ज्योतिष के बहुत ही बहुमूल्य निर्णायों में से माने जाते हैं, क्योंकि वे एक श्रेष्ठतम सैद्धान्तिक गणना-चन्द्रमा की माध्य गति की वृद्धि की पुष्टि करते है और इस न्यूटन के गुरुत्व नियय का एक बड़ा ही सूक्ष्म साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। हिप्पार्कस के प्रेक्षणों की अरबों और आधुनिक ज्योतिर्विदों के प्रेक्षणों से तुलना करके ही डा० हेली ने वह महत्त्वपूर्ण खोज की थी। हिप्पार्कस ने चान्द्र कक्षा की उत्केन्द्रता का और रविमार्ग के तल पर उसकी नति का भी निर्धारण किया। उसने उनका निर्धारण इन तत्त्वों के सिलसिले में किया और अक्षांश में चन्द्रमा की गति की असमानता और चान्द्र क्षोभ का भी ध्यान रखा और इन नतीजों में आज के प्रेक्षणों से कुछ मिनटों का ही अन्तर है। उसे चन्द्रमा की गति की दूसरी असमानता अर्थात् चान्द्र क्षोभ का भी ख्याल था और उसने उस खोज के लिए सारी जरूरी सामग्री इकट्ठी कर दी, जो बाद में टौलेमी ने की। इसी तरह उसने चन्द्रमा के लंबन की करीब-करीब गणना की, जिसे उसने सूर्य के लंबन से निकालने का प्रयास किया, ऐसा उसने चन्द्रमा की पार्थिव छाया के शंकु में से छिन्नक काटकर किया, जो वह अपने ग्रहणों के समय लाँघता है। लंबन से वह इस नतीजे पर पहुँचा कि चन्द्रमा की अधिकतम और न्यूनतम दूरियाँ क्रमशः धरती के अर्द्धव्यास के 78 और 67 के बराबर हैं और सूर्य की दूरी उसी व्यासार्ध के 1300 गुने के बराबर है। इनमें से पहला निर्धारण सच्ची दूरी से ज्यादा है और दूसरा बहुत कम, क्योंकि सूर्य की दूरी करीब-करीब 24000 पार्थिव व्यासार्धों के बराबर हैं। पर यह कहा जा सकता है कि टौलेमी, जिसने हिप्पार्कस को लंबन के बारे में सही करने की कोशिश की थी, सत्य से और भी ज्यादा दूर चला गया।

हिप्पार्कस के समय एक नए तारे के आविर्भाव ने उसे क्षितिज में दिखाई देने वाले सभी तारों की सूची बनाने, उनकी सापेक्ष स्थितियाँ तय करने और उनकी संयुतियाँ बनाने के लिए प्रेरित किया, जिससे भावी पीढ़ियाँ आकाश की स्थिति में आगे चलकर होने वाले किन्हीं परिवर्तनों के प्रेक्षण के साधन

प्राप्त कर सकें। इस श्रमसाध्य कार्य का एक सुफल यह हुआ कि विषुवों के पुरस्सरण की महत्त्वपूर्ण खोज की जा सकी, जो आज ज्योतिष का एक मूल तत्त्व बनी हुई है। अपने प्रेक्षणों की तुलना एरिस्टिलस और टीमोचारिस के प्रेक्षणों से करके उसने वसन्त विषुव का पता लगाया, जो इन ज्योतिर्विदों के समय या 150 साल पहले वसन्त विषुव के स्थल पर था और दो अंश या 48 सेकिंड प्रति वर्ष की दर से आगे बढ़ चुका था। यह निर्धारण सत्य से बहुत दूर नहीं है, क्योंकि आधुनिक प्रेक्षणों के अनुसार भी पुरस्सरण की वार्षिक दर 50·1 सेकिंड है। उसकी सूची में 1080 तारे थे—जैसा कभी-कभी गलती से बताया जाता है, टौलेमी के 1022 तारे नहीं, जिनमें उसने नीहारिका के और कुछ दूसरे अस्पष्ट तारों को छोड़ दिया है। उसने अगली पीढ़ियों को ग्रहों के बारे में कुछ सिद्धान्त निरूपित करने में समर्थ बनाने की दृष्टि से भी बहुत से प्रेक्षण किए। इसी तरह हिप्पार्कस ने क्षेत्र-गोल (प्लेनीस्फियर) की खोज की, जो तारों से भरे आकाश को समतल पर प्रकट करने का तरीका था। यह गोलीय-त्रिकोणमिति के प्रश्नों को ग्लोब की अपेक्षा कहीं ज्यादा आसान और ठीक तरीके से हल करने का साधन बन गया। उससे पहली बार त्रिभुजों को चाहे वे सरल रेखीय हों या गोलीय जोड़ने का तरीका निकाला और उसने जीवाओं की एक सारणी बनाई, जिससे उसने वड़ा काम निकाला जो उन ज्याओं की सारणी से निकालते हैं। भूगोल भी इस सुन्दर विचार के लिए जगहों की स्थिति अक्षांश-देशान्तर से निरूपित करने के लिए उसका ऋणी है और उसने ही पहली बार चन्द्र-ग्रहणों से देशान्तर का निर्धारण किया।

हिप्पार्कस की मृत्यु के बाद तीन सदियों तक कोई उल्लेखनीय परवर्ती पैदा नहीं हुआ। इस दीर्घकाल में ज्योतिष में कोई खास प्रगति नहीं हुई। कुछ मोटे-मोटे प्रेक्षण किए गए, जो चाल्डियनों के प्रेक्षणों से ज्यादा अच्छे न थे। कुछ मामूली से ग्रन्थ लिखे गए। बस यही साक्ष्य हैं, जो बताते हैं कि कवियों और व्याख्याताओं की दृष्टि से इतने उर्वर काल में यह विज्ञान बिलकुल भुला नहीं दिया गया था। जेमिनस और क्लीओमीडीस के ग्रन्थ आज भी मिलते हैं, कहा जाता है कि एगरिप्पा और मेनेलोस ने प्रेक्षण किए थे। जूलियस सीजर ने रोमन पंचांग में सुधार किया और मिस्री ज्योतिर्विद सोसीगनीज और पोसी-डोनियस ने एक अंश को मापा और बताया कि ज्वार के नियम सूर्य और चन्द्रमा की गति पर आधारित हैं।

टौलेमी मिस्र में टौलेमेस में पैदा हुआ था और 130 ईसवी के आसपास हाड्रियन और एटोनिनस के शासन काल में एलेक्जेंड्रिया में जीवित था। एलेक्जेंड्रिया की धारा का यह भव्य अलंकार अपनी ही खोजों से ज्योतिर्विदों के बीच उस उच्च स्थान को प्राप्त करने का अधिकारी है, जो दुनियां में उसे दिया गया है। पर विज्ञान की उसने जो सेवा की वह यह थी कि उसने प्राचीन

प्रेक्षणों का संग्रह करके उनको व्यवस्थित किया। इस सामग्री से उसने 'ग्रेट कम्पोजीशन' की रचना की। इस ग्रन्थ में टौलेमी के समय की ज्योतिष की स्थिति का पूरा चित्र दिया गया है और आज प्रयुक्त बहुत से तरीकों के बीज इसमें विद्यमान है। आभासी गतियों की व्याख्या करने के लिए टौलेमी ने जो आधार अपनाया था, वह हिप्पार्कस द्वारा अपनाया गया आधार ही था। एकरूप वर्तुल गति के लिए एपोलोनियस ने अभिचक्रों और अग्रवाहकों (डैफरेंट्स) के साधनों की अमूर्त कल्पना की थी, और हिप्पार्कस ने सूर्य के वृत्त के केन्द्र को धरती से थोड़ी दूर पर रख कर एक कदम और आगे बढ़ाया था। टौलेमी ने इन दोनों बातों को लिया और अनुमान लगाया कि ग्रह वृत्त में एक रूप क्रान्ति द्वारा एक अधिवृत्त को निरूपित करते हैं, जिसका केन्द्र धरती के चारों ओर एकरूप उत्केन्द्र में आगे बढ़ता रहता है। इन अनुमानों से और अधिवृत्त और अग्रवृत्त की त्रिज्याओं के बीच उपयुक्त संबंध बताकर तथा ग्रह के वेग और उसके अधिवृत्त के केन्द्र के बीच उपयुक्त संबंध बताकर उसने काफी शुद्धता के साथ ग्रहों की आभासी गति निरूपित की और खास तौर पर उसने स्थिरता और अवनति की बात को बताया, जो प्राचीन ज्योतिर्विदों के अनुसन्धानों का मुख्य लक्ष्य रही थी। इस प्रकार एपोलोनियस और हिप्पार्कस के विचारों को विधिवत् रूप दिया गया और टौलेमी ने सभी ग्रहों की उत्केन्द्रता के अनुपात और अधिवृत्त निरूपित कर दिए। इसी कारण इस प्रणाली का श्रेय आम तौर पर उसे दिया जाता है और इसका नाम ही 'टौलेमी की ब्रह्मांड प्रणाली' पड़ गया है।

टौलेमी की ज्योतिष को सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण देन चन्द्रमा के चान्द्रक्षोभ की खोज है। हिप्पार्कस ने पहली बार चन्द्रमा की असमानता या केन्द्र के समीकरण को खोजा था जो युति—वियुति में माध्य गति को सही करने का काम करता है और उसने क्षेत्रकलन में दूसरी शुद्धि की बात बताई थी। उसने इसकी राशि और इसके नियमों का पता लगाने के लिए भी कुछ प्रेक्षणों को शुद्ध किया था पर इसके पहले कि वह इस बारे में किसी सफल नतीजे पर पहुंचे, मृत्यु ने उसके काम का अन्त कर दिया। टौलेमी ने इस जांच को पूरा किया और पता लगाया कि चन्द्र की ही उत्केन्द्रता में कुछ वार्षिक परिवर्तन आता है जो नीचोच्च रेखा की गति पर निर्भर रहता है; नीचोच्च की स्थिति के अंतर से चन्द्रमा की दिशा में उसकी गति में कुछ असमानता आती है, जिसे पारिभाषिक रूप में चान्द्रक्षोभ कहा गया है। यद्यपि टौलेमी द्वारा दिया गया समीकरण आनुभविक है, पर बड़ा ही यथातथ्य है।

टौलेमी ने चन्द्रमा के लंबन का निर्धारण करने के लिए एक बड़ा आसान तरीका अपनाया था, जो शायद उसके प्रेक्षण स्थल एलेक्जेंड्रिया ने ही उसको सुझाया था। उसने उस शहर से कुछ दक्षिण की ओर के एक शहर का अक्षांश तय किया, जिसके क्षितिज से होकर चन्द्रमा अपने अधिकतम उत्तरी झुकाव

के समय जाता हुआ देखा जाता था। पर जब चन्द्रमा क्षितिज पर होता था या प्रेक्षक और धरती के केन्द्र के बीच की ही रेखा पर होता था, तो उसमें कोई लंबन नहीं होता था, फलतः रविमार्ग की तिर्यक्ता और उस स्थान का अक्षांश मालूम होने से चन्द्रमा का दीर्घतम उत्तरी अक्षांश भी जाना जा सकता था। अगला कदम पहले प्रेक्षण के पन्द्रह दिन बाद चन्द्रमा की याम्योत्तर तुंगता को देखना था, जब उसके दक्षिणी अक्षांश ज्यादा से ज्यादा हो। इस प्रेक्षण ने चन्द्रमा की आभासी तुंगता बताई पर उसके अधिकतम उत्तरी और दक्षिणी झुकाव समान मानने से धरती के मध्य से उसकी सही तुंगता पहले प्रेक्षण से ठीक आती थी और ठीक और आभासी तुंगता ने लंबन की मात्रा बता दी।

देशान्तर में तारों की गति से या विषुव बिन्दुओं के प्रतीप-गमन से संबंधित हिप्पार्कस के प्रेक्षणों की टौलेमी ने पुष्टि की, यद्यपि उसने उसकी राशि को गलत माना था और एक मात्रा को कम किया था, जिसे हिप्पार्कस ने पहले ही कम अन्दाजा था। हिप्पार्कस के अनुसार प्रतीप-गमन 150 साल में दो अंशों की गति से होता हैं। टौलेमी ने इसे घटाकर 90 साल में 1 अंश कर दिया। दोनों का यह अन्तर प्रेक्षणों में एक अंश से ज्यादा की भूल बताता है जिसे टौलेमी द्वारा अपने निर्णय के समर्थन में दिए गए विभिन्न प्रेक्षणों के बीच विद्यमान संगति को देखते हुए बड़ी मुश्किल से स्वीकार किया जा सकता है। इस कारण से और कुछ दूसरे कारणों से टौलेमी पर हिप्पार्कस के प्रेक्षणों को बदलने और उन्हें अपने सिद्धान्त में शामिल कर लेने का आरोप लगाया गया है और इनके लिए काफी न्यायोचित आधार भी है। प्रतीप-गमन की गलती इस परिस्थिति से भी हो सकती है कि हिप्पार्कस ने वर्ष की लंबाई को बहुत ज्यादा महत्त्व दिया था, जिससे विषुवों के सम्बन्ध में सूर्य की गति को बहुत धीमा किया जा सकता है और फलतः टौलेमी द्वारा काम में लाया गया देशान्तर कम हो गया।

टौलेमी को ज्योतिर्विदों का राजकुमार बताया गया है, जो सार्वजनीन रूप से बहुत समय तक उसकी प्रणाली के प्रचलित रहने के कारण न्यायोचित ठहराया जा सकता है, पर उसके अपने प्रेक्षणों की संख्या या मूल्य के आधार पर उसको कोई श्रेय नहीं दिया जा सकता। 'एलमाजेस्ट' की श्रमसाध्य और सूक्ष्म परीक्षण के बाद डेलेम्बर को सन्देह है कि इस महान् कृति में लेखक के अपने कथन के अलावा ऐसी कोई बात नहीं है, जिसमें यह कहा जा सके कि टौलेमी ने कभी कुछ प्रेक्षण किए भी थे। वह वस्तुतः बहुधा अपने प्रेक्षणों की बात कहता है पर उसकी सौर सारणियां, पुरस्सरण की दर, ग्रहण चन्द्रमा की गति और लंबन का निर्धारण और सबसे ज्यादा उसके तारों की सूचियां यह सन्देह करना असम्भव बना देती हैं कि अपने जिन नतीजों को उसने प्रेक्षणों के रूप में बताया है, उन में से ज्यादातर हिप्पार्कस की सारणियों से जोड़े गए हैं। सामने प्रस्तुत दृष्टिकोण के समर्थन के लिए जरूरी से एक भी ज्यादा प्रेक्षण

को वह उदाहरण के रूप में नहीं देता और फलतः एक प्रेक्षण की दूसरे प्रेक्षण से तुलना करने से हमें वंचित करके उसने हमें अपने सौर, चान्द्र और ग्रह सारणियों में सम्भाव्य गलतियों का अन्दाज लगाने का भी अवसर नहीं दिया है। जैसा डिलेम्बर ठीक ही कहता है यदि आज कोई ज्योतिर्विद यही तरीका अपनाए तो कोई भी उसका विश्वास न करेगा, पर टौलेमी सबसे अलग रहा, उसका न कोई निर्णायक था, न प्रतिद्वन्द्वी और वह जो थोड़े से प्रेक्षण हमारे लिए छोड़ गया है उनको कोई जोड़ नहीं सकता। उसकी सूची में मात्र 1022 तारे हैं और इसलिए वह हिप्पार्कस की सूची से छोटी है, पर अपने ब्यौरों के कारण यह बहुत ही मूल्यवान् है।

अरब वासियों का ज्योतिष

अरब ज्योतिषियों में से सबसे ज्यादा प्रसिद्ध अलबाटेगनी या मुहम्मद बेन गेबर अल वतनी था, जिसे यह नाम वतन (मेसोपोटामिया के एक शहर) में 850 ईसवी के आस-पास पैदा होने से मिला था। वह सीरिया का राजकुमार था और मैसोपोटामिया में रक्का में रहता था, पर उसने अपने अधिकांश प्रेक्षण एंटिओक में किए थे। टौलेमी की सिंटेक्सिस को पढ़ने के बाद और ग्रीक ज्योतिषियों के तरीकों से अपने को सुपरिचित बनाने के बाद उसने अपने प्रेक्षण शुरू किए और उसने शीघ्र ही यह देखा कि टौलेमी की सारणी में दिए गए बहुत से तारों के स्थान अपनी वास्तविक स्थिति से बहुत अलग थे, जो उसके द्वारा विषुवों के पुरस्सरण के बारे में की गई गलती के कारण थे। एलबाटेगनी ने पुरस्सरण की दर टौलेमी की अपेक्षा ज्यादा शुद्धता से नापी और कक्ष्या की उत्केन्द्रता तय करने में उसे और भी ज्यादा सफलता मिली जिसके बारे में उसके द्वारा निर्धारित मूल्य आधुनिक प्रेक्षणों के प्रतिफल से तय किए गए मूल्य से बहुत ही कम हैं। पर वर्ष की लंबाई तय करने में उसने दो मिनट से ज्यादा की गलती की, पर जैसा डा० हेली ने बताया हैं, यह टौलेमी के प्रेक्षणों में बहुत ज्यादा विश्वास रखने के कारण हुआ। अलबाटेगनी ने यह भी कहा कि सूर्य का भूम्युच्च स्थल अचल नहीं है, जैसा पिछले ज्योतिर्विदों ने माना था, पर यह राशियों के क्रम के अनुसार धीमी गति से बढ़ता है, यह एक ऐसी खोज है जिसकी गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त ने पुष्टि कर दी है। इसी तरह अलबाटेगनी के अथक परिश्रम के फलस्वरूप टौलेमी से कहीं ज्यादा शुद्ध नई ज्योतिष सारणियां तैयार हुईं; और उसके महत्त्वपूर्ण प्रेक्षण इस कारण और भी रोचक हो जाते हैं कि वे एलेक्जेंड्रिया और आधुनिक यूरोप के प्रेक्षणों के बीच की कड़ी का काम देते हैं। अलबाटेगनी की कृतियां 1537 में 'दे साइंटिया स्टेलेरम' के नाम से प्रकाशित हुई थीं।

इब्न जूनिस ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में जीवित था और उसने सारणियां तैयार की थीं और उसने एक तरह का खगोलीय इतिहास ही लिखा था,

जिसमें उसने अपने और उसी सदी के कई दूसरे ज्योतिर्विदों के प्रेक्षणों को अभिलिखित किया है। यह कृति लोगों को कुछ उद्धरणों के रूप में अपर्याप्त रूप से ही विदित थी और यह बहुत दिनों तक ज्योतिर्विदों में जिज्ञासा जागृत करती रही, क्योंकि बताया गया था कि इसमें वे प्रेक्षण हैं जो चन्द्रमा की मध्य गति की वृद्धि की स्थापना करते हैं। इसकी एक पांडुलिपि, जो लेडन विश्व-विद्यालय की थी, 1804 में फ्रांसीसी इंस्टीट्यूट को भेजी गई और प्रो० कोसिन ने इसका अनुवाद किया। इसमें 829 से 1004 तक के वर्ष के 28 ग्रहण-प्रेक्षण हैं, सात विषुवों के प्रेक्षण हैं, एक उत्तरायण का, एक दमिश्क में किया गया रवि-मार्ग की तिर्यक्ता का प्रेक्षण है, जिससे उस तत्त्व का मूल्य 23°35 पाया गया। इसी तरह सूर्य और चन्द्रमा की सारणियों का एक अंश है और कुछ और सामग्री है, जो अरबवासियों के तत्कालीन ज्योतिष की स्थिति पर प्रकाश डालती है। माध्य चान्द्र गति की वृद्धि के बारे में दो सूर्य ग्रहणों और एक चन्द्र ग्रहण के प्रेक्षण दिए गए हैं, जिनको इब्न जूनिस ने काहिरा के पास सन् 977, 978 और 979 में देखा था और वे सिद्धान्ततः उस तत्त्व का समर्थन करते हैं।

महान् तैमूरलंग के पोते तारतार राजकुमार उलुघ बेग ने न केवल ज्योतिष के अध्ययन को बढ़ावा दिया बल्कि वह स्वयं निपुण और सफल प्रेक्षक बना। समरकन्द में, जो उसकी राजधानी थी, उसने ज्योतिर्विदों की एक अकादेमी स्थापित की और उनके उपयोग के लिए बड़े भव्य यंत्र बनवाए। 180 फीट ऊंची धूपघड़ी से उसने रविमार्ग की तिर्यक्ता 23° 30′20″ तय की, विषुवों का पुरस्सरण 70 साल में 1 अंश और सारणियों के बनाने के लिए सामग्री संकलित की जो शुद्धता में टाइयोब्राहे की सारणियों से घटिया नहीं हैं। प्राचीन ज्योतिष ने स्थिर तारों के बारे में एक हिप्पार्कस की ही सूची दी थी। उलुघ बेग ने सोलह सदियों[1] के अंतर के बाद दूसरी सूची तैयार करने का श्रेय प्राप्त किया।

यह संक्षेप में प्राचीनतम समय से ज्योतिष के विकास का एक संक्षिप्त ब्योरा है। उलुघ बेग की मृत्यु के बाद पूर्व में इस दिशा में ज्यादा उन्नति न हुई। आस्ट्रियावासी जार्ज पुरबाच ने (1923 में) अलमागेस्ट का अनुवाद किया। उसके शिष्य कोनिसबर्ग के वासी जौन मूलर (जिसे रेजियोमोंटेनस भी कहते हैं) ने लेटिन में टौलेमी की कृतियों का और एपोलोनियस की कोनिक्स का अनुवाद किया और उसने नूरेमबर्ग में एक बेधशाला स्थापित की, जहां रेजियोमोंटेनस की मृत्यु के बाद वाल्टर और जौन वर्नर प्रेक्षण करते रहे। वर्नर ने स्थिर तारे

---

1 इस टिप्पण के लिए लेखक ब्रितानी विश्वकोश (नवें संस्करण) में 'एस्ट्रोनोमी' लेख का ऋणी है।

और चन्द्रमा के बीच की दूरी के प्रेक्षण द्वारा समुद्र में देशांतर खोजने का तरीका निकाला।

फिर हम कोपर्निकस के काल में आते हैं। उसने ज्योतिष विज्ञान का पुनरुद्धार किया और टौलेमी की प्रणाली को छोड़ दिया। भले ही कोपर्निकस बड़ा गुणी था, पर वह अपनी प्रणाली को अपूर्ण स्थिति में छोड़ गया। उसने अन्तरिक्ष में सुदूरतम सीमा पर विश्राम करने वाले तारों की धारणा प्रदान की और शनि, गुरु, मंगल, भूमि, शुक्र और बुध की और अन्त में केन्द्र में अचल सूर्य की कक्ष्याएं बताईं, उसने धरती की दैनिक भ्रमण प्रणाली की व्याख्या की। प्राचीनों की तरह उसने ग्रहों की एकरूप गोल गति को एक स्वयंसिद्धि के ही रूप में मान लिया। सूर्य को इनमें से प्रत्येक ग्रह की कक्ष्या में रखा गया, पर उनमें से किसी के केन्द्र में नहीं। फिर कोपर्निकस के बाद हमें टाइको ब्राहे (1546-1601) जैसे प्रख्यात ज्योतिर्विद के दर्शन होते हैं, जिसने सौर सारणियों को यथातथ्य बनाया और चान्द्र सारणियों में सुधार किया। उसने 777 स्थिर तारों की सापेक्ष और परम स्थितियों का भी निर्धारण किया।

इतिहास में केपलर का नाम रविमार्ग कक्ष्या में ग्रहों की गतियों के अध्ययन के लिए उल्लेखनीय है, जब सूर्य भी एक फोकस में होता है। उसने यह भी निरूपित किया कि अपनी कक्ष्या बताने में ग्रह समान समय में समान क्षेत्र को पार करते हैं और ग्रह की क्रान्ति के समय का वर्ग सूर्य से इसके माध्य अन्तर के घन के अनुपात में होता है। केपलर का ही समकालीन सुप्रसिद्ध गैलिलिओ (1564-1642) था, जिसने टेलिस्कोप का आविष्कार किया और उसने पतनोन्मुख पिंडों की गतिवृद्धि के नियम पर काम किया। उसने गुरु के चार उपग्रहों की खोज की।

मेरचिस्टन के बैरन लार्ड नेपियर (1550-1617) द्वारा लोगारिथ्मों की खोज एक बहुत बड़ी घटना थी जिसके बारे में लाप्लास का कथन है, 'एक प्रशंसनीय गढन्त, जो कई महीनों के श्रम को कुछ दिनों में घटाकर ज्योतिर्विद की जिन्दगी दूनी कर देती है और लम्बे-लम्बे जोड़ों में अपरिहार्य रूप से होने वाली गलतियों के बारे में उसकी निराशा को कम कर देती है।' इसके बाद यूरोप में ज्योतिष ने एक नया मोड़ लिया। टेलिस्कोप और जोड़-तोड़ के सरल तरीके ने इस विज्ञान को नई जिन्दगी दी। ह्यूघेन ने टेलिस्कोप में काफी सुधार किए और उसने घड़ियों में पेंडुलम लगाया, जो ज्योतिष की सहायक एक बहुत बड़ी घटना थी। पिकार्ड (1667) ने टेलिस्कोप में अणुमापित्र (माइक्रोमीटर) लगाए। डोमिनिक कासिनी के निदेशों के अनुसार 1670 में पेरिस की राजकीय वेधशाला बनकर तैयार हुई। कासिनी ने गुरु के उपग्रहों की गति का निर्णय किया। उसने गुरु और मंगल के भ्रमण का निर्धारण किया और शुक्र के बारे में भी कुछ प्रेक्षण किए। उसने नक्षत्र मण्डल के प्रकाश के बारे में प्रेक्षण किए और सूर्य के लंबन

के बारे में लगभग अनुमान लगाया। उसने यह भी बताया कि चन्द्रमा के भ्रमण की धुरी रविमार्ग की ओर झुकी हुई है और इसके पात चान्द्र कक्ष्या के पातों के तत्संवादी हैं, जिससे कक्ष्या, रविमार्ग और चन्द्रमा की मध्य रेखा के ध्रुव अक्षांश के एक ही वृत्त में आते हैं, रविमार्ग (क्रान्तिवृत्त) का ध्रुव बाकी दो के बीच में स्थित रहता है। कासिनी को ज्योतिष का एक ऐसा निर्माता बताया जाता है जिसने विज्ञान में क्रान्ति ला दी थी। उनके प्रेक्षण में उनकी मदद उनके भतीजे जेम्स फिलिप मराल्डी करते थे, जिनका निधन 1729 में हुआ। उसने मंगल संबन्धी सिद्धान्त को सही किया और सूर्य के लम्बन का अध्ययन किया।

फिर हम भौतिक ज्योतिष के नवयुग में प्रवेश करते हैं, जिसको गुरुत्वाकर्षण नियम के आविष्कारक न्यूटन (1642-1727) ने नवजीवन प्रदान किया। इतिहास में उसके महान् कार्य और उसके अनुवर्तियों के काम का विवरण देना व्यर्थ है, वे हैं : फ्लेमस्टीड (1646-1719), हैली (1656-1742), ब्रैडले (1697-1762), लाकेल, डेलिजले, वारजेनटिन, मासकेलिन, हरशेल (1738-1822), डिलेम्बर (1749-1822), पिआजी (जन्म 1746 उसने 1846 में 7646 तारों की सूची प्रकाशित की) और बहुत से अन्य लोग।

पंच सिद्धान्त

वराहमिहिर अपने प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ पंचसिद्धान्तिका में ज्योतिष के पंच सिद्धान्तों या प्रणालियों का उल्लेख करते हैं : पैतामह, वशिष्ठ, रोमक, पौलिश और सौर सिद्धान्त। महत्त्व की दृष्टि से वह पहला स्थान सूर्य सिद्धान्त को देते हैं और फिर रोमक और पौलिश को रखते हैं। बाकी दो को वे निश्चय ही घटिया दरजे का बताते हैं। भारतीय ज्योतिर्विदों के सामने सबसे ज्यादा कठिन समस्या सूर्य ग्रहणों की भविष्य-वाणी करने की रही है। पैतामह सिद्धांत में इसके बारे में कोई नियम न था और शायद पुराने वशिष्ठ सिद्धान्त में भी यही बात थी।

वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जो ज्योतिष की पांचों धाराओं की समीक्षा करता है, जैसे कि माधवाचार्य के सर्व दर्शन-संग्रह में हम भारतीय दर्शन की विभिन्न प्रणालियों की एकत्र समीक्षा पाते हैं। पांचों सिद्धान्तों में से हमारे पास पूरे-पूरे ग्रन्थ का पाठ आज सौभाग्य से सूर्य सिद्धान्त का ही मिलता है। आधुनिक सूर्य सिद्धान्त भी मौलिक बातों में वही है, जिसका उल्लेख वराहमिहिर ने किया है। पंचसिद्धान्तिका के उन अध्यायों की, जो सूर्य सिद्धांत का निरूपण करते हैं, मोटे तौर पर समीक्षा करने से हमें एकदम मालूम हो जाता है कि वराहमिहिर को विदित उस नाम का ग्रन्थ आधुनिक सूर्य सिद्धान्त जैसा ही था। दोनों ग्रन्थों की पद्धति वैसी ही हैं और दूसरी ओर वराहमिहिर द्वारा संक्षिप्त रूप से निरूपित दूसरे सिद्धान्तों से सर्वथा

अलग हैं, जो सूर्य सिद्धान्त के दोनों रूपों को पृथक् स्थिति सिद्ध कर देती हैं। पर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दोनां ग्रन्थ (वराहमिहिर को विदित पुराना सूर्य-सिद्धान्त और हमें आज उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त) बहुत सी जरूरी बातों और ब्यौरों में एक दूसरे से भिन्न हैं। उदाहरण के लिए पुराने सूर्यसिद्धांत ने सूर्य और चन्द्रमा के माध्य व्यास को 32′-5″ और 30′, 54″ के मूल्य दिए थे, (पं० सि० 9. 15-16), जबकि आधुनिक के अनुसार ये मूल्य क्रमश: 32′, 3.6″ और 32′ हैं। दूसरे भेद भी हैं।

आधुनिक सूर्य सिद्धांत हमें बताता है कि 43,20,000 सालों के महायुग में 15,93,000 अधिमास पड़ेंगे और 2,50,82,252 लुप्त चान्द्र दिन। इससे यह भी पता चलता है कि इसी अवधि में दिए सावन दिन 1,57,79,17,828 होते हैं। दूसरी ओर अपने सूर्यसिद्धान्त के अनुसरण में वरामिहिर बताते हैं कि 1,80,000 सालों की अवधि में 66,389 अधिमास होंगे और 10,45,095 लुप्त चान्द्र दिन; जिससे एक महायुग (24 × 1,80,000 सालों) में 1,57,79,17,800 सावन दिन होते हैं अर्थात् आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के अनुसार 28 दिन कम। बहुत सी बातों में वराहमिहिर का सूर्यसिद्धान्त पौलिश सिद्धान्त से मिलता-जुलता था। दोनों सूर्यसिद्धान्तों में ग्रहों की माध्य क्रान्ति के बारे में अन्तर है। वराह मिहिर के सूर्यसिद्धान्त में माध्य क्रान्तियों को जो मूल्य दिए गए हैं, वे भट्टोत्पल को विदित पौलिश सिद्धान्त के और आर्यभट के उपदेशों से मिलते-जुलते हैं। कई जगहों पर यह लगता है कि वराहमिहिर ने जानबूझ कर केवल गणना की सुविधा के लिए सूर्यसिद्धान्त में परिवर्तन कर दिए हैं। फिर भी यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि वराहमिहिर के निरूपण में पुराने सूर्यसिद्धान्त में जो परिवर्तन आए हैं। वे विशुद्धत: औपचारिक हैं और वह गणना की सुविधा को दूसरी श्रेणी के महत्त्व की बात मानते थे। इस तरह यदि वराह मिहिर ने सूर्य सिद्धांन्त का सचाई से निरूपण किया है, तो कोई कारण नहीं कि उन्होंने दूसरे सिद्धान्तों का वैसा निरूपण न किया हो। निश्चय ही हमारे पास इसकी जांच के कोई साधन नहीं हैं। पर वहां भी हमें मानना चाहिए कि वराहमिहिर ने उन सिद्धान्तों के तत्त्वों और तरीकों के निरूपण में उनके लेखकों का निकट से अनुसरण किया है; गणना की सुविधा के लिए भले ही उन्होंने छोटे-मोटे औपचारिक परिवर्तन कर लिए हों। समय बीतने पर इन सिद्धान्तों में भी परिवर्तन आए होंगे। सातवीं सदी में लिखते हुए ब्रह्मगुप्त वशिष्ठ सिद्धान्त के दो संस्करण हमें बताते हैं, एक विजय नन्दी का और एक विष्णु चन्द्र का और रोमक सिद्धान्त का श्रीषेण द्वारा पुन: निरूपण। फारसी विद्वान अलबेरुनी ने ग्यारहवीं सदी में जिस पौलिश सिद्धान्त का उद्धरण दिया था, वह उस कृति का नया संस्करण था। शाकल्य संहिता के ब्रह्म सिद्धान्त और विष्णु-धर्मोत्तर पुराण के पितामहसिद्धान्त भी पुराने पितामह सिद्धान्त के संशोधित रूप

हैं। सूर्य सिद्धान्त के पहले का कोई पाठ वराह मिहिर द्वारा संक्षिप्त किए गए रूप को छोड़कर आज हमारे पास उपलब्ध नहीं है।

इन ग्रन्थों की रचना का ठीक ठीक समय हमें निश्चय ही नहीं मालूम है। फिर भी हम कह सकते हैं कि वे आर्यभट प्रथम (जन्म 476 ईस्वी) की आर्यभटीय से निश्चय ही पहले लिखे गए होंगे। उनमें से कुछ ईस्वी सन् के आरंभ से पहले भी विद्यमान रहे होंगे।

पैतामह सिद्धांत

पैतामह सिद्धांत का मूलपाठ आज हमारे पास उपलब्ध नहीं है, पर इस सिद्धांत के सर्वत्र दिए जाने वाले उपदेश भारतीय ज्योतिष साहित्य के एक सुविदित वर्ग से मिलते-जुलते हैं। 'पंचसिद्धान्तिका' में एक छोटा अध्याय (12) इस सिद्धांत को दिया गया है। वस्तुतः इस अध्याय में उद्धृत पांच श्लोक इस प्रणाली की भावना का संक्षिप्त रूप स्पष्टतः बता देते हैं; ये श्लोक इस ग्रन्थ की सभी महत्त्व की बातों को उद्धृत कर देते हैं। वराहमिहिर को विदित यह सिद्धांत ग्रीक ज्योतिष से अभी तक अप्रभावित भारतीय ज्योतिष के दर्शन कराता है (थिबौट, जर्नल एशि० सो० बंगाल, 1878)। इस बारे में यह ज्योतिष वेदांग, गर्गसंहिता, सूर्य प्रज्ञप्ति और दूसरे वैसे ही ग्रन्थों की कोटि में आता है। बहुत से ब्यौरों के बारे में यह 'वेदांग ज्योतिष' से मिलता जुलता है। पैतामह सिद्धान्त की गणना का आधारभूत युग पांच सौर वर्षों का युग है, जिनमें से हर एक में 366 सौर दिन होते हैं। 60 सौर मास, 62 संयुति मास और 67 तथाकथित नक्षत्र-मास या चन्द्रमा की नक्षत्र क्रान्तियां। युग का आरंभ धनिष्ठा नक्षत्र के पहले बिन्दु पर सूर्य और चन्द्र की संयुति से होता है।

साल के सबसे बड़े दिन की अवधि अठारह मुहूर्त्त होती है, सबसे छोटे दिन की बारह मुहूर्त्त; बीच के अन्तराल में दिन उसी दैनिक मात्रा में घटते-बढ़ते हैं। पैतामह ज्योतिष केवल ऐसी दो बातों का ही उल्लेख करता है, जो वेदांग ज्योतिष में नहीं मिलती : (एक), यह तथाकथित व्यतिपात योग की गणना का नियम बताता है (श्लोक 4); (दो) यह वह काल तय करता है जब से पंचवर्षीय युग जोड़े जाने चाहिए। दूसरे श्लोक में वराहमिहिर हमें शक तारीख से दो घटाकर बाकी में पांच का भाग देने को कहते हैं, जिसका निहितार्थ है कि नया युग शक वर्ष के तीसरे साल से या दो शक वर्ष बीतने पर शुरू होता है। हम नहीं जानते कि क्या यह निदेश मूल पैतामह सिद्धान्त में था या नहीं या यह स्वयं वराहमिहिर की देन है। थिबौट का विचार है कि यह निदेश मूल पैतामह सिद्धांत में था, क्योंकि बहुत सम्भव था कि वराहमिहिर पैतामह सिद्धांत के उपदेश में कुछ बढ़ाने या उसे ज्यादा सुनिश्चित करने के लिए उसके लिए वही आरंभिक तिथि लेता, जो उसने दूसरे सिद्धांतों के लिए ली थी अर्थात् 427 शक।

पैतामह सिद्धांत को ब्रह्मसिद्धान्त भी (इसे ब्राह्मस्फुट सिद्धांत में ब्रह्मगुप्त द्वारा निरूपित ब्रह्मसिद्धांत से पृथक् समझना चाहिए) कहते हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी पैतामह सिद्धांत का सारोल्लेख किया गया है। पर यह पुराने पैतामह सिद्धांत का निरूपण नहीं है और यह भारतीय ज्योतिष के आधुनिक रूप का ही परिचय देता है और इसमें बहुत थोड़ी ऐसी बातें हैं, जिनको वस्तुतः प्राचीन कहा जा सकता है। एक ब्रह्मसिद्धांत को शाकल्यसिद्धांत भी कहा गया है।

नीचे हम वराहमिहिर द्वारा बताए गए पैतामह सिद्धांत का पाठ दे रहे हैं।

पितामह के उपदेश के अनुसार पांच साल सूर्य और चन्द्रमा का एक युग बनाते हैं। तीस अधिमास होते हैं और एक लुप्त चान्द्र दिन (अवम) बासठ दिनों में[1]। (1)

शकराज के समय में दो घटाकर पांच का भाग दे दो; बाकी साल अहर्गण बताते हैं, जो माघ के शुक्लपक्ष से शुरू होता है। अहर्गण दिन या सूर्योदय से शुरू होता है।[2] (2)

पैतामह सिद्धांत के पंचवर्षीय चान्द्र-सौर युग में तीस सौर मासों में एक अधिमास होता है और एक अवम अर्थात् लुप्त चान्द्र दिन बासठ दिनों की हर अवधि में होता है।

इस श्लोक के अनुसार जो हमें बीते शक वर्ष से दो घटाने को कहता है, एक नया युग दो शक वर्ष बीतने पर शुरू होता है।

यदि अहर्गण में उसका ही इकसठवां भाग बढ़ा दिया जाए, तो नतीजे में तिथियां आ जाती हैं। यदि इसमें 9 का गुणा करके 122 का भाग दिया जाए तो सूर्य का नक्षत्र आ जाता है। अहर्गण में 7 का गुणा करो और 610 से भाग देकर (भजनफल को अहर्गण में से) घटा दो, फलतः धनिष्ठा से गिनकर चान्द्र नक्षत्र आ जाएगा[3] (3)

---

1. रविशशिनोः पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि।
अधिमासास्त्रिंशद्भिर्मासैरवमस्त्रिशद्याप्तुम्। —पं० सि० 12. 1

2. द्युनंशकेन्द्रकालं पञ्चविगुधृत्यशेषवर्षाणाम्।
द्युगणं माघ-सिताद्यं कुर्याद्युगणं तदह्न्युदयात्॥ —वही, 12. 2

3. त्र्यंशत्वञ्चे द्युगणे तिथिर्भमार्कनचाहस्नेष्टर्कैः।
दिग्ग्रहभागैः सप्तभिर्नूनंशशिभं धनिष्ठाद्यम्॥ —वही, 12. 3

दिए हुए अहर्गण में आई हुई तिथियों का और दिए हुए समय में सूर्य और चन्द्रमा की गणना करने के नियम :

युग में 1830 सावन दिन और साथ ही दिए गए अहर्गण को 1860 तिथियां होती हैं।

$$= \frac{1860 \times \text{अहर्गण}}{1830} = \frac{62 \times \text{अहर्गण}}{61}$$

$$= \text{अहर्गण} + \frac{\text{अहर्गण}}{61}$$

चूंकि सूर्य युग में पांच वार 27 नक्षत्रों से होकर जाता है। वह दिए हुए अहर्गण में इतने नक्षत्रों से होकर जाता है :

$$= \frac{27 \times 5 \times \text{अह॰}}{1830} = \frac{9 \times \text{अह॰}}{122}$$

चूंकि चन्द्रमा एक युग में 27×67 नक्षत्रों में से होकर जाता है, (युग में चन्द्रमा की 67 नाक्षत्र क्रान्तियां होती हैं), वह दिए गए अहर्गण में इतने में से गुजरता है—

$$= \frac{27 \times 67 \times \text{अह॰}}{1830} = \frac{603 \times \text{अह॰}}{610}$$

$$= \text{अह॰} - \frac{7 \times \text{अह॰}}{610}$$

नक्षत्र धनिष्ठा से जोड़े जाते हैं जिसमें सूर्य और चन्द्रमा युगारंभ में संयुति में होते हैं।

> अहर्गण में 12 का गुणा करके 305 से भाग दो; फलतः व्यतिपात आ जाएंगे।[1] (4 ख)

दिए हुए अहर्गण में आए व्यतिपात योगों को निकालने का नियम : योग 27 होते हैं, जो सूर्य और चन्द्रमा के जोड़ में 27 का भाग देकर निकाले जाते हैं। पंचवर्षीय युग के आरंभ में सूर्य और चन्द्रमा धनिष्ठा के आरंभ में या श्रवण के

1. प्रागर्धे पर्वयदा तदोतरात्तोन्यथातिथिः पूर्वा-
अर्कघ्ने व्यतिपाता द्यु गणे पञ्चाम्बरहुताशैः ॥ —प॰ सि॰ 12. 4

अंत में संयुति में होते हैं। इसलिए प्रत्येक का देशान्तर 22 नक्षत्र आता है—यदि हम सामान्य तरीके से अश्विनी से गिनें—और उनके देशान्तरों का योग 44 आता है। 44 में 27 का भाग देने से शेष (=17) बताता है कि युग के आरंभ में योग शृंखला का सत्रहवां अर्थात् व्यतिपात है। एक पूरे युग में सूर्य के संचित भ्रक्षांश 5 × 27 नक्षत्र होते हैं, और चन्द्रमा का 27 × 67 नक्षत्र; और दोनों का योग 72 × 27। इस जोड़ में 27 का भाग देने से भजनफल 72 बताता है कि युग में कितने व्यतिपात होते हैं इसलिए अनुपात

1830 (=युग के दिन) : 72=दिए हुए अहर्गण : य

$$\text{इसलिए}\quad य=\frac{72\times\text{अह॰}}{1830}=\frac{12\times\text{अह॰}}{305}$$

732 में सूर्य की उत्तर-गति के बीते हुए दिन जोड़ दो और दक्षिण गति में अभी आने के लिए शेष दिन; जोड़ में 2 का गुणा करके इसमें 61 से भाग दे दो; यह बारह कम दिनमान है।[2] (5)

वर्ष के किसी दिन की लंबाई निकालने का नियम :

इस अनुमान के आधार पर कि छोटे से छोटे दिन की लंबाई 12 मुहूर्त्त होती है और बड़े से बड़े दिन की अठारह मुहूर्त्त और हर अयन में 183 दिन होते हैं; वर्ष के किसी दिन की लंबाई दिन की संख्या में 6 से गुणा करके गुणनफल में 12 जोड़ दो और उसमें 183 का भाग दे दो। उत्तरायण के मामले में दिन की संख्या मकर संक्रान्ति से आगे गिनी जाती है, जबकि दक्षिणायन के मामले में इसे उसी से पीछे की ओर गिना जाता है। फिर हम दिन की लंबाई की अभिव्यक्ति नीचे लिखे तरीके से करते हैं :

$$12+\frac{6\times\text{दिया हुआ दिन}}{183}=12+\frac{2\times\text{दिन}}{61}=24+\frac{2\times\text{दिन}}{61}-12$$

$$=\frac{24\times 61+2\times\text{दिन}}{61}-12$$

$$\tfrac{2}{61}\,(12\times 61+\text{दिन})-12=\tfrac{2}{61}\,(732+\text{दिन})-12$$

1. धृतिरनयाद्युत्तरयो स्वमृणं तद्यमपि च याम्यास्य।
द्विघ्नं शशिरसभक्तं द्वादशहीनं दिवसमानम्॥ —वही, 12. 5

वराहमिहिर का सूर्य सिद्धांत

वराहमिहिर द्वारा संक्षेप में निरूपित सूर्यसिद्धांत के उपदेश पंचसिद्धांतिका के अध्याय 1,9,10,11,16 और 17 में आए हैं। आगे हम जो कुछ बता रहे हैं, उससे पाठक देखेंगे कि छठी सदी का 'सूर्यसिद्धांत' आज वाले से कितना भिन्न है। हमने यह लेखा-जोखा थिबोट के 'पंचसिद्धांतिका' के संस्करण और डा० के० एस० शुक्ल द्वारा सूर्यसिद्धांत के संस्करण की उनकी भूमिका से लिया है।[1] नीचे लिखी सारणियां शुक्ल की भूमिका से ली गई हैं :

सारणी—1

एक युग (अर्थात् 43,2000 वर्षों के समय) में ग्रहों की क्रान्तियां

ग्रह	वराहमिहिर का सूर्यसिद्धांत	वर्तमान सूर्यसिद्धांत	अन्तर
सूर्य	4,320,000	4,320,000	
चन्द्रमा	57,753,336	57,753,336	
चन्द्रमा का भूम्युच्च	488,219	488,203*	—16
		या 4๐8,211●	— 8
चन्द्रमा का उच्चगामी पात	232,226	232,238*	+12
		या 232,234●	+ 8
मंगल	2296,824	2296,832	+ 8
बुध	179,37,000	179,370,60	+60
गुरु	364,220	364,220	
शुक्र	7022,328	7022,339	—12
शनि	146,564	146,568	+ 4

1. सूर्य सिद्धांत, परमेश्वर की टीका सहित, कृपाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1957

* मल्लिकार्जुन सूरि, यल्लय, तम्म यज्वा और रंगनाथ के पाठों के अनुसार।

● परमेश्वर, रामकृष्ण और भूधर के पाठों के अनुसार।

सारणी—2

ग्रह	वराहमिहिर का सूर्यसिद्धांत	वर्तमान सूर्यसिद्धांत	अन्तर
लौकिक दिन	1,577,917,800	1,577,917,828	+28
अधिमास	1,593,336	1,593,336	
लुप्त चान्द्र दिन	25,082,280	25,082,252	—28

सारणी—3
ग्रहों के भूम्युच्च के देशान्तर

ग्रह	वराहमिहिर का सूर्यसिद्धांत	वर्तमान सूर्यसिद्धांत (499 ईसवी से जोड़ा गया)
सूर्य	80°	77°14′
मंगल	110°	130°00′
बुध	220°	220°26′
गुरु	160°	171°16′
शुक्र	80°	79°49′
शनि	240°	236°37′

अधिवृत्त : ग्रहों की गति की ज्यामिति के हिसाब से व्याख्या करने के लिए हिन्दू ज्योतिर्विदों ने माना है कि सूर्य और चन्द्रमा के मामले में माध्य ग्रह भूकेन्द्री वर्तुल कक्ष्या में माध्य कोणीय वेग से चलता है और सच्चा ग्रह छोटे वृत्त में माध्य ग्रह में केन्द्रित होकर माध्य ग्रह जितने ही कोणीय वेग से किन्तु विरुद्ध अर्थ में चलता है। माध्य ग्रह पर केन्द्रित यह छोटा वृत्त मन्द अधिवृत्त या मात्र अधिवृत्त कहा जाता है। माध्य और सच्चे ग्रह के बीच भूकेन्द्रीय कोणीय दूरी, जिसे मन्द फल कहा जाता है, ग्रह के केन्द्रीय समीकरण की तत्संवादी होती है।

मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि के मामले में दो अधिवृत्त सोचे गए हैं : मन्द अधिवृत्त और शीघ्र अधिवृत्त। मन्द अधिवृत्त माध्य ग्रह पर केन्द्रित और 'सच्चा माध्यग्रह' नामक एक काल्पनिक पिंड उस पर चलता माना जाता है। शीघ्र अधिवृत्त सच्चे-माध्य ग्रह पर केन्द्रित होता है और सच्चा ग्रह इस पर चलता हुआ माना जाता है। माध्य पर सच्चे माध्य ग्रहों के बीच की भूकेन्द्री कोणीय दूरी, जिसे मन्दफल कहते हैं, ग्रह के केन्द्रीय समीकरण की तत्संवादी होती है। और सच्चे माध्य और सच्चे ग्रह के बीच भूकेन्द्री कोणीय दूरी जिसे शीघ्रोच्च कहते हैं, मंगल, गुरु और शनि के मामले में 'वार्षिक लंबन' की

तत्संवादी होती है और बुध और शुक्र के मामले में 'सूर्य से ग्रह के दीर्घकरण' की तत्संवादी होती है।

मन्द और शीघ्र अधिवृत्तों की परिमाएं भारतीय ज्योतिर्विदों ने अंशो में बताई हैं जहां एक अंश ग्रह की माध्य कक्ष्या का 360 वाँ भाग होता हैं। इसलिए जब एक अधिवृत्त की परिमा 19° बताई जाती है, तो इसका अर्थ ग्रह की कक्ष्या का 14/360 होता है।

सारणी—4
मन्द अधिवृत्तों के आकार

ग्रह	वराहमिहिर का सूर्यसिद्धान्त	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		
		(विषम पाद)		(सम पाद)
सूर्य	14°	13°14′	से	14°
चन्द्रमा	31°	31°40′	से	32°
मंगल	70°	72°	से	75°
बुध	28°	28°	से	30°
गुरु	32°	32°	से	33°
शुक्र	14°	11°	से	12°
शनि	60°	48°	से	49°

सारणी—5
शीघ्र अधिवृत्तों के आकार

ग्रह	वराहमिहिर का सूर्य सिद्धान्त	वर्तमान सूर्य सिद्धान्त		
		(विषम पाद)		(सम पाद)
मंगल	234°	234°	से	235°
बुध	132°	132°	से	133°
गुरु	72°	72°	से	70°
शुक्र	260°	260°	से	262°
शनि	40°	40°	से	39°

यह उल्लेखनीय है कि वराह मिहिर के सूर्य सिद्धान्त के अधिवृत्तों का मूल्य तय है, जबकि आज के सूर्य सिद्धान्त का परिवर्तनीय है। ऊपर विषम और समपादों के लिए दिए गए अधिवृत्त उन पादों के अंत के लिए हैं।

सारणी—6

समय अंशों में सूर्य से वह दूरी जिसमें ग्रह दिखाई देने लगता है

ग्रह	वराहमिहिर का सूर्य सिद्धान्त	वर्तमान सूर्य सिद्धान्त
चन्द्रमा	12°	12°
मंगल	17°	17°
बुध	13°	14° (सीधा होने पर) 12° (पश्चगामी होने पर)
गुरु	11°	11°
शुक्र	9°	10° (सीधा होने पर) 8° (पश्चगामी होने पर)
शनि	15°	15°

वराह मिहिर के सूर्य सिद्धान्त और वर्तमान सूर्य सिद्धान्त दोनों के अनुसार चन्द्रमा की कक्ष्या की रविमार्ग से नति 4°30′ है।

ग्रहों के माध्य देशान्तर

वराह मिहिर के सूर्य सिद्धान्त में माध्य देशान्तरों के बारे में ग्रहों के सरल सूत्र दिए गए हैं, जो सारणी-1 में दिए गए ज्योतिष तत्त्वों और नीचे लिखे सामान्य नियम पर आधारित है :

किसी ग्रह का माध्य देशान्तर $= \frac{\text{क} \times \text{र}}{\text{ग}}$ जहां 'क' अहर्गण है, र और ग युग में ग्रह की क्रान्तियां और लौकिक दिन है।

ग्रहों के जोड़े गए माध्य देशान्तरों के लिए नीचे लिखी बीज अशुद्धियां[1] भी विहित की गई हैं :

ग्रह	ग्रन्थ में दी गई बीज शुद्धियां			
	वराहमिहिर के सूर्यसिद्धान्त में	ग्र० नि० सं० में	शि० धी० वृ० में	कि० प० में
मंगल	+17″	+12″46‴	+11″31‴	+11″29‴
बुध	+ 2′	+1′49″47‴	+1′40″48‴	+1′47″14‴
गुरु	—10″	—12″46‴	—11″17‴	—12″
शुक्र	—45″	—40″51‴	—36″43‴	—39″4‴
शनि	+7.5″	+ 5″22‴	+ 4″48‴	+ 5″6‴

वराहमिहिर के सूर्य सिद्धान्त में दी गई बीज अशुद्धियां हरिदत्त के ग्रहाचार निबन्ध संग्रह (ग्र० नि० सं०), लल्ल के शिष्यधीवृद्धिद (शि० धी० वृ०), पुथुमन सोमयाजी की किरण-पद्धति (कि० प०) से बहुत मिलते-जुलते हैं।

वर्तमान सूर्य सिद्धान्त कोई बीज अशुद्धियां विहित नहीं करता।

ग्रहों का सच्चा देशान्तर

किसी ग्रह का सच्चा देशान्तर निकालने के लिए वराहमिहिर का सूर्य-सिद्धान्त नीचे लिखी शुद्धियां विहित करता है:

ग्रह के भूम्युच्च का सही देशान्तर निकालने के लिए :

(एक) ग्रह के भूम्युच्च के देशान्तर में आधा शीघ्रफल (उलटे रूप में)।

(दो) ग्रह के भूम्युच्च के परिणामी देशान्तर में आधा मन्दफल (उलटे रूप में)।

ग्रह का सच्चा देशान्तर निकालने के लिए :

(तीन) सारा मन्दफल (ग्रह के भूम्युचच के सच्चे देशान्तर से जोड़ा गया) ग्रह के माध्य देशान्तर में।

1. बीजशुद्धियाँ ज्योतिष तत्त्वों में होने वाली गलतियों को शुद्ध करने के लिए होती हैं ज्योतिष तत्वों को बीज कहते हैं।

(चार) सारा शीघ्रफल (फिर से जोड़ा गया) ग्रह के देशान्तर में।

यहां यह कहा जा सकता है कि वराहमिहिर के सूर्यसिद्धान्त में किसी ग्रह के मन्द और शीघ्र अपवादों की परिभाषा नीचे लिखे सूत्र से की गई है :

मन्द अपवाद=ग्रह का देशान्तर—मन्दोच्च[1] का देशान्तर।

शीघ्र अपवाद=शीघ्रोच्च[2] का देशान्तर—ग्रह का देशान्तर, जबकि वर्तमान सूर्य सिद्धान्त में दोनों ही अपवाद इस सूत्र में परिभाषित किए गए हैं :

अपवाद=उच्च का देशान्तर—ग्रह का देशान्तर।

बुध के लिए विशेष शुद्धि :

बुध के शीघ्रोच्च के देशान्तर में से सूर्य के भूम्युच्च के देशान्तर को घटाने के बाद उस (अन्तर) की ज्या को सूर्य के अधिवृत्त के अनुसार घटा दो (उसमें सूर्य के अधिवृत्त से गुणा करके और फिर 360 का भाग देकर) और (फिर) इस (तत्संवादी चाप को) बुध के (सच्चे) देशान्तर पर लगाओ (इस तरह बुध के देशान्तर का सही मूल्य निकाला जाता है)[3]।

शुक्र के लिए विशेष शुद्धि :

शुक्र के सच्चे देशान्तर में से चाप के 67 मिनट घटा दो (तो शुक्र का शुद्धतर देशान्तर आ जाएगा)[4]।

---

1. मन्दोच्च (धीमी गति का शिरो बिन्दु) ग्रह का भूम्युच्च होता है।
2. शीघ्रोच्च (तेज गति का शिरोबिन्दु) मंगल, गुरु और शनि के मामले में माध्य सूर्य होता है, बुध और शुक्र के मामले में सूर्य के चारों ओर घूमने वाले ग्रह की तरह धरती के चारों ओर घूमने वाला एक काल्पनिक पिंड।
3. पं० सि० 17. 10, इस श्लोक का जी० थिबोट और एस० द्विवेदी द्वारा संशोधित पाठ सही नहीं है। सही पाठ यह है : सर्वे स्फुटा : स्युरेवं ज्ञस्य तु शीघ्राद्विहाय रविमन्दम्, रविपरिधिनतं बाहुं बुधेऽर्कवत् क्षयधनं कुर्यात्॥ और देखिए शि० धी० वृ० 1. 2. 37 (2)।
4. पं० सि० 17. 11 (1) शि० धी० वृ० में किया गया सामान्य नियम यह है : शुक्र का सच्चा देशान्तर और शुद्धतर हो जाता है जब सूर्य का अधिकतम केन्द्रीय समीकरण इसमें से घटा दिया जाता है।

[अगले पृष्ठ पर—

वर्तमान सूर्य सिद्धान्त में भी ग्रहों के शुद्ध देशान्तर निकालने के लिए यही तरीके दिए गए हैं, पर बुध और शुक्र के लिए विशेष शुद्धि के ये तरीके नहीं दिए गए हैं।

चन्द्रमा की सच्ची दैनिक गति

वराहमिहिर के सूर्य सिद्धान्त में नीचे लिखा सूत्र दिया गया है :

$$\text{चन्द्रमा की सच्ची दैनिक गति} = \text{म} \pm \frac{(\text{म}-\text{म}') \times [\text{र ज्या}\theta - \text{र ज्या}\theta'] \times \text{र}}{225 \times 360}$$

यहां म = चन्द्रमा की दैनिक माध्य गति, म′ = चन्द्रमा के भूम्युच्च की दैनिक माध्य गति और र = चन्द्रमा के अधिवृत्त की परिमा।

θ = चन्द्रमा का माध्य अपवाद, और

$\theta' = \theta + \text{म} - \text{म}'$,

+ या — को चन्द्रमा के माध्य अपवाद के $\frac{\pi}{2}$ या $\frac{3\pi}{2}$ होने या न होने के अनुसार लिया जाता है।

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी यही नियम दिया गया है। इसे दो दिन लगातार चन्द्रमा के सच्चे देशान्तरों के अन्तर को लेकर निकाला जाता है।

ग्रहणों की गणना

(1) चन्द्रग्रहण : वराहमिहिर के सूर्यसिद्धान्त में छाया का व्यास इस सूत्र से निकाला जाता है :

छाया का व्यास = धरती का व्यास

$$\frac{(\text{सूर्य का व्यास} - \text{धरती का व्यास}) \times (\text{चन्द्रमा की सच्ची दूरी})}{\text{सूर्य की सच्ची दूरी}}$$

—पिछले पृष्ठ से]

अब वराहमिहिर के सूर्यसिद्धांत के अनुसार सूर्य का अधिवृत्त 14^0 है, इसलिए

$$\text{सूर्य के केन्द्र-समीकरण का आधा} = \frac{14 \times 60}{4 \times 3.1416} = 67'$$

इसी से यह नियम बनाया गया।

चारों संसर्गों के समय उत्तरोत्तर लगभग अनुमान के सामान्य भारतीय तरीके से निकाले जाते हैं।

(दो) सूर्य ग्रहण : लम्बन (अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा के देशान्तर में लम्बनों का अन्तर) पांच र ज्याओं की मदद से—मध्य ज्या, उदय ज्या, दृक्क्षेप ज्या, दृक् ज्या और दृग्गति ज्या—से निकाला जाता है। मध्य-ज्या याम्योत्तर रविमार्ग बिन्दु की खमध्य दूरी की र ज्या है[1], उदय ज्या भूमध्य रेखा और रविमार्ग के बीच आने वाली क्षितिज की चाप की र ज्या है, दृक्क्षेप ज्या केन्द्रीय रविमार्ग बिन्दु की खमध्य दूरी की र ज्या है,[2] दृक्ज्या (सूर्य की) खमध्य दूरी की र ज्या है और दृग्गति ज्या केन्द्रीय रविमार्ग बिन्दु की तुंगता की र ज्या है। नीचे लिखे सूत्र विहित किए गए हैं :

(1) मध्य ज्या = र ज्या (ϕ ± याम्योत्तर रविमार्ग बिन्दु की नति) यहां ϕ उस स्थान का अक्षांश है (र ज्या = र × ज्या, र खगोल मंडल की त्रिज्या है)।

(2) $$\text{उदयज्या} = \frac{\text{र ज्या ल} \times \text{र ज्या } \epsilon}{\text{र कोज्या } \phi}$$

यहां ल रविमार्ग बिन्दु क्षितिज का पूर्व में देशान्तर है और ϵ रविमार्ग की तिर्यक्ता।

(3) $$\text{दृक्क्षेप ज्या} = \left[(\text{मध्य ज्या})^2 - \left\{\frac{\text{उदय ज्या} \times \text{मध्य ज्या}}{\text{र}}\right\}^2\right]^{\frac{1}{2}}$$

यहां र खगोल मंडल की त्रिज्या है।

(4) $$\text{दृग्गति ज्या} = \left[\text{र}^2 - (\text{दृक्क्षेप ज्या})^2\right]^{\frac{1}{2}}$$

(5) $$\text{दृग् ज्या} = \left[\text{र}^2 - \left\{\frac{\text{दृग्गति ज्या} \times \text{र ज्या (ल} - \theta)}{\text{र}}\right\}^2\right]^{\frac{1}{2}}$$

---

1. याम्योत्तर रविमार्ग-बिन्दु याम्योत्तर पर रविमार्ग के बिन्दु को कहते हैं।
2. केन्द्रीय रविमार्ग बिन्दु क्षितिज में ऊपर पड़े रविमार्ग के अंश का केन्द्रीय बिन्दु होता है।

यहां ल रविमार्ग बिन्दु क्षितिज का पूर्व में देशान्तर है और θ सूर्य का देशान्तर।

(6) $$\text{लम्बन} = \left[\frac{\{(\text{दृग् ज्या})^2 - (\text{दृक्क्षेप ज्या})^2\}^{\frac{1}{2}} \times 18}{\text{चन्द्रमा की सच्ची दूरी}} - \frac{\{(\text{दृग् ज्या})^2 - (\text{दृक्क्षेप ज्या})^2\}^{\frac{1}{2}} \times 18}{\text{सूर्य की सच्ची दूरी}}\right] \text{ मिनट}$$

$$= \frac{60}{\text{घ}}\left[\frac{\{(\text{दृक् ज्या})^2 - (\text{दृक्क्षेप ज्या})^2\}^{\frac{1}{2}} \times 18}{\text{चन्द्रमा की सच्ची दूरी}} - \frac{\{(\text{दृग् ज्या})^2 - (\text{दृक्क्षेप ज्या})^2\}^{\frac{1}{2}} \times 18}{\text{सूर्य की सच्ची दूरी}}\right] \text{ घड़ियां}$$

यहां घ सूर्य और चन्द्रमा की दैनिक गतियों का अन्तर बताता है।

(7) नति (अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा के अक्षांश में लंबनों का अन्तर)

$$= \left[\frac{\text{दृक्क्षेप ज्या} \times 18}{\text{चन्द्रमा की सच्ची दूरी}} - \frac{\text{दृक्क्षेप ज्या} \times 18}{\text{सूर्य की सच्ची दूरी}}\right] \text{ मिनट}$$

(8) चन्द्रमा का सच्चा अक्षांश = चन्द्रमा का अक्षांक्ष $\pm$ नति

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में लंबन और नति के लिए नीचे लिखे सूत्र दिए गए हैं :

$$\text{लंबन} = \frac{\text{र ज्या }(\text{म} - \odot) \times \text{दृग्गति ज्या}}{[\text{र ज्या } 30^\circ]^2} \text{ घड़ियां}$$

यहां म और $\odot$ क्रमशः याम्योत्तर के रविमार्गबिन्दु और सूर्य के अक्षांश बताते हैं।

$$\text{नति} = \frac{\text{दृक्क्षेप ज्या} \times \text{घ}}{15 \times \text{र}}$$

घ पूर्ववत् है।

बाकी नियम और तरीके प्रायः वराहमिहिर के सूर्यसिद्धांत जैसे ही हैं।

(3) ग्रहण का प्रक्षेप : वराहमिहिर के सूर्यसिद्धांत में अक्षवलन और अयनवलन के लिए नीचे सूत्र विहित किए गए हैं :

$$\text{र ज्या (अक्ष वलन)} = \frac{\text{र शरज्या घ} \times \text{र ज्या } \phi}{\text{र}}$$

यहां घ चन्द्रमा द्वारा रविमार्ग पर डाले जाने वाले लंब के पाद के कोण का घंटा है और ϕ स्थान का अक्षांश।

$$\text{र ज्या (अयन वलन)} = \frac{\text{र ज्या (म} + \text{3राशियां)} \times \text{र ज्या } \epsilon}{\text{र}}$$

यहां म चन्द्रमा का अक्षांश है और ϵ रविमार्ग की तिर्यक्ता।

वर्तमान सूर्यसिद्धांत अक्षवलन के लिए निम्नलिखित सूत्र विहित करता है :

$$\text{र ज्या (अक्ष वलन)} = \frac{\text{र ज्या घ} \times \text{र ज्या } \phi}{\text{र}}$$

यह सुन्दर संक्षेप डा० कृपा शंकर शुक्ल के 'सूर्यसिद्धान्त' की भूमिका से उद्धृत किया गया है।

आर्यभट-प्रथम की मध्यरात्र दिन गणना से सूर्य सिद्धान्त का सम्बन्ध

उपर्युक्त तुलना से जैसा शुक्ल का निष्कर्ष है यह स्पष्ट है कि वराहमिहिर का सूर्यसिद्धान्त, ज्योतिष स्थिरांक और तरीका, दोनों में वर्तमान सूर्यसिद्धान्त से भिन्न है (थिबोट के अनसार अन्तर मौलिक स्वरूप का नहीं है)। यह वराहमिहिर द्वारा संक्षिप्त रूप से वर्णित दूसरे सिद्धान्तों से भी भिन्न है। फिर भी हम देखते है कि वराहमिहिर के सूर्यसिद्धान्त के ज्योतिष स्थिरांक वही हैं, जो भास्कर-प्रथम[1] (629 ईसवी) द्वारा और ब्रह्मगुप्त[2] द्वारा आर्यभट-प्रथम के एक ग्रन्थ (अब अप्राप्त) में बताए जाते है, जो मध्यरात्र से दिन गणना करता था। पहले ग्रन्थ के ज्योतिष सम्बन्धी तरीके वही हैं, जो दूसरे ग्रन्थ के बताए जाते हैं। ग्रहों का खगोल अक्षांश निकालने का जो तरीका[3] वराहमिहिर ने सूर्य-

---

1. म० भास्क० 7. 21-35
2. दे० ब्रह्मगुप्त का खण्डखाद्यक।
3. पं० सि० 17. 13-14 इन श्लोकों का पारंपरिक पाठ यों है :

मन्दग्रहान्तरज्या स्वाष्ठांशयुतार्किजीवशुक्राणाम्।
सौम्यान्ययोः पदोनां विक्षेपोऽन्यश्च शीघ्रविधौ॥

[अगले पृष्ठ पर—

सिद्धान्त में बताया है, वह यद्यपि स्पष्ट नहीं है, पर भास्कर-प्रथम द्वारा जो तरीका आर्यभट-प्रथम का बताया गया है[1], उससे मिलता-जुलता ही लगता है। वराहमिहिर ने अपने सूर्यसिद्धान्त में बुध और शुक्र के लिए जो विशेष शुद्धियां बताई हैं, वे आर्यभट-प्रथम के मध्यरात्र दिनगणना वाले सिद्धान्त में नहीं आतीं; पर वे लल्ल के शिष्य धी वृद्धि[2] में मिलती हैं और उसके टीकाकार मल्लिकार्जुन सूरि (1178 ईसवी) के अनुसार आर्यभट-प्रथम के शिष्यों की कृतियों से ली गई है। दोनों कृतियों में यह निकट की समता आकस्मिक नहीं हो सकती। यह उनके बीच कुछ सम्बन्ध की सम्भावना का सुझाव देता है। पर वह सम्बन्ध वस्तुतः क्या है; यह हम आज हिन्दू ज्योतिष के इतिहास के अपूर्ण ज्ञान के कारण नहीं बता सकते। अलबेरूनी (793-1048 ईसवी) ने लाटदेव को सूर्य-सिद्धान्त का लेखक बताया है और मुनीश्वर[3] (603 ईसवी) ने यह स्थान आर्यभट प्रथम को दिया है। यद्यपि इनमें से किसी लेखक के समर्थन में ज्यादा नहीं कहा जा सकता, यह असंभव नहीं है कि मध्यरात्र दिन गणना को मानने वाले आर्यभट-प्रथम और लाटदेव के ग्रन्थ सूर्य सिद्धान्त पर आधारित थे। दूसरी ओर पी. सी. सेनगुप्त[4] का विचार यह है कि 'पुराने सूर्य सिद्धान्त को वराहमिहिर ने आर्यभट-प्रथम की मध्यरात्र दिन गणना से नए स्थिरांक लेकर उनको पुरानों

—पिछले पृष्ठ से]

गुरुभूतनयास्फुजितां पादोनाज्ञयममयोस्तुसाष्टांशाः।
त्रिज्याघ्नी कर्णाप्ता वियोगयोगः स विक्षेपः॥

और संभवतः इसका अर्थ : मन्द (पात) और ग्रह के बीज अन्तर की रज्या में शनि, गुरु और शुक्र के मामले में अपने अष्टमांश को जोड़कर और बुध और मंगल के मामले में उसका चौथाई घटाकर खगोल अक्षांश (ग्रह के मन्दपात के कारण) होता है। दूसरा खगोल अक्षांश जो ग्रह के शीघ्रपाती के कारण होता है इस तरह निकलता है : गुरु, मंगल और शुक्र के मामले में (शीघ्रपात और ग्रह के बीच के अंतर की रज्या में) इसका चौथाई घटा दो और बुध और शनि के ग्रह की दूरी (कर्ण) से भाग दे दो। (इस तरह आए दो खगोलीय अक्षांशों का) जोड़ या बाकी (ग्रह का) (सच्चा) खगोलीय अक्षांश है।

हमारे विचार से इन श्लोकों का थिबौट और एस० द्विवेदी का निर्वचन लेखक का अभिप्रेत अर्थ सही-सही नहीं बताता (के० एस० शुक्ल)।

1. म० भा० 7. 29-32
2. शि० धी० वृ० 1. 2. 37
3. दे० पी० सी० सेनगुप्ता, ई० बरगस के सू० सि० का अनुवाद पुनर्मुद्रण (कलकत्ता 1953) भूमिका, पृ० 40
4. वही, पृ० 12

की जगह रखकर अद्यतन बनाया था।' पर यह विचार इसलिए सही नहीं लगता है कि वराहमिहिर किसी भी तरह अपने को आर्यभट-प्रथम का ऋणी नहीं मानते (के० एस० शुक्ल)।

पुराने सूर्यसिद्धान्त के उपयोग का चालू रहना

पुराना सूर्यसिद्धान्त भारत के कुछ भागों में किसी न किसी रूप में दसवीं सदी ईसवी के अन्त तक पढ़ा जाता रहा। 800 ईसवी में नैपाल के एक ज्योतिर्विद सुमति ने ज्योतिष पर दो ग्रन्थ लिखे: एक का नाम सुमति-तन्त्र और दूसरे का सुमति-करण। पहले ग्रन्थ के आरंभिक श्लोक में सुमति ने लिखा:' यह सुमति-तन्त्र दूध से घी की तरह सूर्यसिद्धान्त से निकाला गया है, 'जिसका मतलब है कि सुमति के ग्रन्थ का आधार सूर्यसिद्धान्त था। इसलिए ऐसा लगता है कि सुमति का आधार वही सूर्यसिद्धान्त था जो वराहमिहिर को छठी ईसवी में उपलब्ध था। सुमति का दूसरा ग्रन्थ सुमति-तन्त्र पर आधारित है और जैसा इसका नाम बताता है पंचांग संबन्धी ग्रन्थ है। सुमति के ग्रन्थ बताते हैं कि आठवीं सदी ईसवी के अन्त में नैपाल के ज्योतिर्विद पुराने सूर्यसिद्धान्त को ज्योतिष का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते थे और हिन्दू पंचांग बनाने में वे इसके तत्वों को काम में लाते थे। लगता है कि सुमति का खूब प्रचार हुआ और उसके ग्रन्थ दक्षिण में तिरुवांकुर तक पहुँच गए। तिरुवांकुर के किवलोन के निवासी शंकरनारायण ने भास्कर-प्रथम की लघुभास्करीय पर अपनी टीका में सुमति का नाम लिया है और उसके ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया है। यह कहा जा सकता है कि शंकरनारायण की यह टीका सुमति-तन्त्र के लिखे जाने के मात्र 69 साल बाद लिखी गई थी।

ज्योतिर्विद भट्टोत्पल ने जो दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में काश्मीर में रहता था, बृहत् संहिता[1] पर अपनी टीका में सूर्यसिद्धान्त के ऐसे बहुत से श्लोक बताए हैं जो हमें उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त में नहीं मिलते। अतः वे पुराने सूर्यसिद्धान्त के ही रहे होंगे।

पंचसिद्धान्तिका में संक्षिप्त रूप से दिया गया सूर्यसिद्धान्त भी पंचांग बनाने वाले के कई सदियों तक काम में आता रहा होगा, क्योंकि 11 वीं सदी ईसवी के अन्त में पुरी (उड़ीसा) के निवासी शतानन्द अपने पंचांग संबन्धी ग्रन्थ भास्वती के लिए उसे आधार बनाते हुए लिखते हैं:

'मैं (भास्वती में) संक्षेप में (ज्योतिष के वे तरीके) बताऊंगा जो (वराह), मिहिर द्वारा उपदिष्ट सूर्यसिद्धान्त के समकक्ष होंगे[2]।'

---

1. बृ० सं० 4. 1; 4. 2; 4. 3 और 5. 11 (टीका)।
2. भास्वती 1. 4. (1)।

यह ध्यान देना चाहिए कि भास्वती बाद के सालों में बड़ा लोकप्रिय ग्रन्थ बन गया।

वर्तमान सूर्य सिद्धान्त

यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का पुनः-व्यवस्थापन किसने और कब किया। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि इसको 628 ईसवी के कुछ बाद 966 ईसवी से पहले पुनर्व्यवस्थित किया गया होगा। इसका कारण यह है कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त और ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त (628 ईसवी में लिखित) की स्पष्ट छाप है और 966 से पहले इसलिए कि उसके आस-पास जीवित भट्टोत्पल ने इस साल में इस पर एक टीका लिखी थी। सूर्य-सिद्धान्त पर भट्टोत्पल की टीका का उल्लेख नृसिंह के पुत्र दिवाकर (1606 ईसवी) ने अपनी प्रौढ़ मनोरमा (केशव जातक की—पद्धति पर[1] टीका) में किया है। दिवाकर ने वस्तुतः वर्तमान सूर्य सिद्धान्त के सातवें अध्याय के श्लोक 19 पर भट्टोत्पल की टीका उद्धृत की है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के उद्धरण सिद्धांत शिरोमणि (1150 ईसवी में लिखित) पर भास्कर द्वितीय की टीका में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। बारहवीं सदी ईसवी तक इस सूर्यसिद्धान्त को विपुल लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी जैसा कि इस तथ्य से प्रकट होता है कि मल्लि-कार्जुन सूरि ने 1178 ईसवी के आसपास इस पर दो टीकाएं एक तेलुगु में और दूसरी संस्कृत में लिखीं। यह ध्यान देने की बात है कि उनकी तेलुगु टीका पहले लिखी गई थी। बाद के सालों में थोड़े ही समय में अनेक अन्य टीकाएं भी लिखी गईं।

रोमक सिद्धांत

पंचसिद्धांतिका के पहले अध्याय का पन्द्रहवां श्लोक रोमकसिद्धांत में काम में आने वाले वर्ष का स्वरूप संक्षेप में बताता है। युग वर्ष को 'सूर्य का और चन्द्र का' अर्थात् सौर-चान्द्र बताया गया है और उसमें 2850 साल बताए गए हैं। इस काल में 1050 अधिमास और 16547 प्रलय अर्थात् तिथि प्रलय या लुप्त चान्द्र दिन बताए गए हैं। उक्त साल और अधिमासों में 150 कम किए जा सकते हैं और इस तरह हम देखते हैं कि रोमक के लेखक के विचार से 19 सौर वर्षों में 235[2] संयुति चान्द्रमास होते हैं।

रोमक सिद्धांत और मीटन

मीटन एथेन्स का एक ज्योतिर्विद था, जिसने 430 ई० पू० में अपने काल

1. वामनाचार्य का संस्करण, 1882, (वाराणसी), पृ० 62
2. रोमकयुगमर्केन्द्वोर्वर्षाण्याकाश पञ्चवसुवक्षाः।
   खेन्द्रियदिशोऽधिमासाः स्वकृतविषयाष्टय प्रलयाः॥ —पं० सि० 1. 15

के ग्रीक कलेंडर में सुधार करने के तरीके बताए और 19 सायन वर्षों में 235 संयुति मास माने। हम देखते हैं कि रोमक का युग स्पष्ट ही ग्रीक ज्योतिर्विद के नाम से प्रसिद्ध मोटनिक युग पर आधारित हैं। पर रोमक सिद्धांत में सोधे मोटन युग को न अपनाकर उसका 150 गुना काल लिया गया है। इसका कारण है। रोमक का लेखक स्पष्ट ही यद्यपि अपने मौलिक काल को पश्चिम से उधार ले रहा था, साथ ही वह अपने सिद्धांत में दिन के योग जोड़ने की भारतीय पद्धति का भी समावेश करना चाहता था, जो दिए गए समय से बीत चुका हो (तथाकथित अहर्गण) और जो सौर वर्षों, चान्द्र मासों और प्राकृतिक दिनों के गुणांक वाली संख्या के कालचक्र से निकाला जाता था। साधारण मीटन युग में इस प्रकार के अहर्गण के निकालने की संभावना न थी; चाहे हम मीटन के आधार पर सायन वर्ष को $365\frac{5}{19}$ दिनों का मानें या बाद में ग्रीक ज्योतिषियों द्वारा इसमें किए गए सुधार को आधारस्वरूप लें, इसलिए इसमें गुणन का इस्तेमाल जरूरी हो जाता है। गुणा कितनी संख्या से किया जाए, यह वर्ष की दीर्घता के दिए गए मूल्य पर निर्भर है और हमें इस बारे में रोमक के लेखक का विचार मानना होगा। पंचसिद्धांतिका के पहले अध्याय के श्लोक 15 में जो दत्तसामग्री दी गई है, उससे हमें इस बारे में कोई दिक्कत नहीं होती, क्योंकि यदि हम रोमक युग के 2850 में 12 का गुणा कर दें (जिससे तत्संवादी सौर मास मिल जाएं), 1050 अधिमास जोड़ दें (जिससे हमें संयुति चान्द्र मास मिल जाएं), 30 से गुणा कर दें (जिससे चान्द्र दिन आ जाएं) और अन्त में 16547 तिथि-प्रलय घटा दें, तो अंतिम प्रतिफल 10,40,953 प्राकृतिक दिन आता है; इसमें 2850 (या युग के सालों की संख्या) से भाग देने पर एक साल के लिए पूरे 365 दिन, 5 घंटे 55 मिनट और 12 सेकिंड आते हैं। पर ऐसी कुल वर्ष संख्या पाने के लिए जिसमें दिनों के गुणांक हों और साथ ही जिसमें 19 से भाज्य हों, $19 \times 150 = 2850$ साल लेने होंगे। हमें बताया गया है कि रोमक वर्ष सैकिंड तक हिप्पार्कस के सायन वर्ष से या टौलेमी के वर्ष से मिलता है, जिसने अपने पूर्ववर्ती के निर्धारण के सदोष होने पर भी उसे माना था।

रोमक सिद्धांत (दे० पं० सि० 1,8-10)[1] अहर्गण की गणना के लिए यह नियम बताता है:

---

1. सप्ताश्विवेद (427) संख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्द्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥8॥
मासीकृते समासे द्विष्टे सप्ताहतेष्टयमपक्षैः (228)।
लब्धैर्युतोऽधिमासैस्त्रिशघ्नस्तिथि युतो द्विष्ठः ॥9॥
रुद्रघ्नः समनुशरो (514) लब्धोनो गुणख सप्तभि (703) द्युगणः।
रोमकसिद्धान्तोऽयं नातिचरे पौलिशेऽप्येवम् ॥10॥ —पं० सि० 1. 8-10

शक वर्ष 427 (उस शकाब्द से जिसका अहर्गण निकालना है) घटाकर, चैत्र शुक्ल के आरंभ में जब यवनपुर में सूर्यास्त हो चुका हो, सोमवार के आरंभ में। (8)

(427 घटाने के बाद शेष सौर वर्षों की संख्या को सौर) मासों में बदल दो और मासों को (अर्थात् चालू साल के बीते हुए चान्द्र मासों को) दो जगहों पर लिखो, इसमें (एक जगह पर) सात से गुणा करो और 228 से भाग दो, (इस तरह निकले सौर मासों में) लब्ध अधिमास जोड़ दो; जोड़ में 30 का गुणा करो, और तिथियों (अर्थात् चालू मास की बीती तिथियों) को दो जगहों पर लिखो। (9)

(एक जगह पर) इसमें 11 से गुणा करके 514 जोड़ दो और 703 से भाग दे दो; भाज्यफल को (ऊपर आई तिथि संख्या में से) घटा दो; अंतिम नतीजा-रोमक सिद्धांत के अनुसार (सावन) अहर्गण होंगे। ऐसा ही पौलिश सिद्धांत के अनुसार होगा, जो ज्यादा प्राचीन नहीं है (?) (10)

इन तीन श्लोकों में संक्षिप्त रूप में रोमक सिद्धांत के अनुसार सावन अहर्गण (अर्थात् किसी युग में दी हुई तिथि तक बीतने वाले लौकिक दिनों की संख्या) निकालने का नियम दिया गया है। दिनारंभ सामान्य भारतीय रीति के अनुसार मध्यरात्र या सूर्योदय से न गिनकर सूर्यास्त से गिना गया है और लंका (या उज्जयिनी) के याम्योत्तर से न गिनकर यवनपुर या अलेक्जेंड्रिया से गिना गया है। फिर जिस युग से गणना शुरू होती है वह चैत्र 427 शक की पहली तिथि अर्थात् 505 ईसवी है।

सूर्य और चन्द्रमा के माध्य स्थान : पंचसिद्धांतिका के आठवें अध्याय में सूर्य और चन्द्रमा के माध्य स्थान जोड़ने का यह नियम मिलता है :

अहर्गण में 150 का गुणा करो, 65 घटाओ और 54787 से भाग दे दो; फलतः रोमक सिद्धांत के अनुसार सूर्य का माध्य देशान्तर क्रमशः (अर्थात् भ्रान्तियों, राशि आदि के क्रम में) आ जाएगा[1]। (1)

यह ध्यान देना होगा कि रोमकसिद्धांत के अनुसार युग के स्वरूप के अनुसार प्रयुक्त होने वाली भिन्न 2,850/1,040,953; होनी चाहिए थी, पर यहां इस

---

1. रोमसूयाद्युगणात्ख तिथि(150)घ्नात्यंचकर्त्तु(65)परि-
हीणान्नसप्ताष्टक सप्तकृतेन्द्रियो(54787)द्धतान्मध्यमाः क्रमशः ॥ —पं० सि० 8. 1

नियम में हमें घटीं हुई भिन्न 150/54,787; का इस्तेमाल करने को कहा गया है। 65 क्षेपसंख्या है। जिससे चुने हुए युग से गणना शुरू की जा सके।

> सूर्य और चन्द्रमा के सही स्थान निकालने की क्रिया (आगे बताई जाने वाली) ऐसी संख्याओं द्वारा की जाती है, जो सीधे या उलटे क्रम में सूर्य और चन्द्रमा के अपवाद की आधी राशि को मापती हैं। सूर्य का (माध्य देशान्तर) मिथुन अर्थात् दो और आधे (ढाई) राशि से घटाना होता है[1]।

एक राशि 30° के बराबर होती है; $2\frac{1}{2}$ राशियां=75°। केन्द्र या सूर्य का अपवाद पाने के लिए हमें उसके माध्य देशान्तर और उसके भूम्युच्च के देशांतर का अन्तर लेना होगा, जो ढाई राशि=75° माना जाता है।

> बीस में क्रमशः 15,14,10 और 4 बढ़ाकर और 6 और 14 घटाकर मिनट आ जाते हैं (जो क्रमशः जोड़ने पर 15°,30°,45° आदि समीकरणों की राशि बता देते हैं)। पहली और दूसरी संख्याओं में से 18 और 5 सेकिंड घटाए जाते हैं; (बाकी चार में) 2,10,16 और 18 सेकिंड जोड़े जाते हैं।[2] (3)

ऊपर के श्लोक में बताई गई छः संख्याएं इस तरह आती हैं : 34′42″; 33′55″;30′2″;24′10″;14′16″;618″ जिनमें जोड़ करने से यह समीकरण आता है :

अपवाद	15°	30°	45°	60°	75°	90°
समीकरण	34′42″	68′37″	98′39″	122′49″	137′5″	143′23″

> अहर्गण में 38,900 का गुणा करके 1984 घटा दो और 10,40,953; का भाग दे दो; भजनफल चन्द्रमा का माध्य देशान्तर बताएगा[3] (4)।

अहर्गण में 110 का गुणा करो, 609 जोड़कर 3031; से भाग दे दो;

1. रविशशिनोः स्फुटकरणं स्वकेन्द्रभवनार्द्ध संमितैः खण्डैः।
   तत्क्रमशश्च पुनस्तैर्मिथुनदलशोध्यतेर्कस्य॥ --वही, 8. 2
2. तिथिमनुदशकृतसहिता रसमनुहीनाभविंशतिर्हीना।
   घृतविषयोनाद्विदशाष्टिधृतिषु वृद्धिः कलाद्विरकिला॥ —पं० सि० 8. 3
3. खखरूपाष्टगुणाष्टघ्नात्कृताष्टनवकैकवर्जिताद्युगणात्।
   त्रिविषये च खकृताशा परिशुद्धान्मध्यशीतांशोः॥ —वही, 8. 4

भजनफल सूर्यास्त के समय उज्जैन में चन्द्रमा के केन्द्र की स्थिति बताएगा[1]।

यहां पर यह अनुमान है कि चन्द्रमा का केन्द्र 3032 सावन दिनों में 110 अपवाद मास होते हैं। इस तरह चन्द्रमा 27 दिन 13 घटे 18 मिनट 32.7 सेकिडों में एक अपवाद क्रान्ति करता है।

श्लोक 3 के नीचे हमने रोमक सिद्धांत के अनुसार केन्द्र का समीकरण दिया है। आधुनिक सूर्यसिद्धांत के अनुसार केन्द्र का अधिकतम समीकरण है—2° 10′ 13″ होता है, जबकि रोमक के अनुसार यह 2° 23′ 23″ होता है। टौलेमी ने इसका मूल्य 2° 23′ दिया है। छोटे अपवादों के समीकरण भी रोमक और टौलेमी के समीकरणों से काफी मिलते-जुलते है :

अपवाद के अंश	30°	60°	90°
केन्द्र का समीकरण (रोमक)	68′ 37″	122′ 49″	143′ 23″
केन्द्र का समीकरण (टौलेमी)	68′	121′	143′

टौलेमी से उद्धृत किए गए मूल्य वही हैं जो उसने भूम्युच्च के पाद के लिए दिए हैं। रोमक सिद्धांत स्पष्ट ही पादों के लिए कोई भेद नहीं करता, पर सभी के लिए निर्भेद रूप से उसी समीकरण को काम में लाता है।

चन्द्रमा का केन्द्र समीकरण : पंच सिद्धांतिका के अध्याय 8 के श्लोक 6 में चन्द्रमा का केन्द्र समीकरण 15 से 15 अंश अपवाद रहता है :

> एक अंश धन 14, 11 और 2 (मिनिट); चार गुने अठारह (72), तीन गुने आठ से कम (24); पांच गुने छः (30); और साठ में आठ गुने छः (60-48, अर्थात् 12)। आखिरी दो संख्याओं में एक कम करना है[2]।

यहां चन्द्रमा का केन्द्र समीकरण दिया गया है, जो 15 से 15 अंशों तक का लिया गया है। बताई गई संख्याएं जोड़कर नीचे लिखी सारणी आती है :

अपवाद	15°	30°	45°	60°	75°	90°
चंद्रमा का केन्द्र समीकरण	1°14′	2°25′	3°27′	4°15′	4°44′	4°56′

---

1. शून्यैकैका(110)न्यस्तान्नवशून्यरसा(609)न्विताद्दिनसमूहाद् ।
रूपत्रिखगुण(3031)भक्तात्केन्द्रं शशिनोस्तगमवन्त्यां ॥ —वही, 8. 5

2. मनुभवयमसहितांशौ वसुहोतावर्जितौ धृतिकृतौ च ।
विषयकृतिरष्टवषट्कं नवतिर्हितौ न चन्द्रेना ॥ —वही, 8. 6

ये समीकरण टौलेमी के तत्संवादी समीकरणों से वहुत ज्यादा नहीं मिलते, जिसके अनुसार सबसे बड़ा समीकरण 5° 1′ आता है।

चन्द्रमा के पात की लम्बाई : उसी अध्याय के श्लोक 8 में हमें चन्द्रमा के पात की क्रांति की लम्बाई का उल्लेख मिलता है :

> अहर्गण में 24 और 56,266 का गुणा करो और 1,63,111 का भाग दे दो; फलतः राहु के सिर (अर्थात् चन्द्रमा के ऊर्ध्वगामी पात) की मीनराशि के आखीर (वसन्त विषुव) से पीछे गिनने पर (क्रांतियां, राशियों आदि में) क्रमिक स्थिति आ जाएगी[1]।

अनुमान है कि पात के—जिसकी गति पश्चगामी है—24 परिक्रमण 1,63,111 सावन दिनों में पूरे होते हैं। इस तरह चन्द्रमा के पात के परिक्रमण की लंबाई 6796 दिन 7 घटे आती है। यह टौलेमी के इसी संख्या के निर्धारण से बहुत मिलता-जुलता है, जो 6796 दिन और चौदह घंटे हैं।

चन्द्रमा का अधिकतम अक्षांश : इस सिलसिले में हमें अध्याय 8 के श्लोक 11 और 14 में, दो विरोधी कथन मिलते हैं : पहले के अनुसार चन्द्रमा का अधिकतम अक्षांश 240′ और पिछले के अनुसार 270′ है।

> प्राक् रविमार्ग बिन्दु के अन्तर को तीन और पात की ज्या को दो से गुणा करो और 60 से भाग दे दो। अंशों में दत्त परिणाम को दिक्पात (श्लोक 10 के नियम से जोड़े गए[2]) में से घटा दो, यदि दोनों की

---

1. त्र्यष्टकगुणिते दद्याद्रसर्त्तुयमषट्क पञ्चका(56266)न्नाहोः।
भवरूपान्यष्टि हृते क्रमाभ्रखांत्तोव्यते वक्त्राम्॥ —पं० सि० 8. 8
जह्यादिग् व्यत्यासौ विज्ञेयैकेतयोर्योगः॥ —वही, 8. 11

2. उदयात् प्रभृति च नाड्यो याः स्युः प्राग्लग्नमानयेत्ताभिः।
तस्मात्तु नवसमेतादपक्रमांशा विनिश्चिन्त्याः॥ —वही, 8. 10

अर्थात् सूर्योदय से बीती हुई नाडिकाओं से प्राक् लग्न (रविमार्ग बिन्दु) को जोड़ो, उसमें नौ जोड़कर उससे (अर्थात् वित्रिभ या त्रिभोन नामक बिन्दु से) दिक्पात के अंशों का पता चला लो। —पं० सि० 8-10

यह रविमार्ग के उच्चतम बिन्दु को बताने का नियम देता है, जिसे वित्रिभ या त्रिभोन कहते हैं जिसका देशांतर प्राक् लग्न से तीन राशि कम या नौ ज्यादा होता है।

दिशाएं विरोधी हों; और यदि प्रतिफल (और दिक्पात) एक ही दिशा में है तो दोनों को जोड़ा जाएगा[1]।

चन्द्रमा की दूरी की ज्या को (जिसका युति के समय) (सूर्य के साथ) वही अक्षांश था, पात से 21 का गुणा करो और 9 से भाग दे दो, प्रतिफल और अक्षांश के लंवन को जोड़ लो, यदि दिशा एक ही हो और विपरीत हों तो दोनों का अन्तर निकाल लो[2]।

अक्षांश में लंबन और चन्द्रमा का सही अक्षांश निकालने का नियम यह है :

(1) **लंबन का नियम :** यह नियम इस अनुमान पर आधारित है कि अधिकतम लंबन चन्द्रमा की दैनिक गति के 15वें हिस्से के बराबर है। अनुपात यह आता है।

$$\text{त्रिज्या} = : \frac{\text{दैनिक गति}}{15} = \text{त्रिभोन की ज्या खमध्य दूरी} : \text{लंबन}$$

$$\therefore \text{ लम्बन} = \frac{\text{दैनिक गति} \times \text{ज्या खमध्य दूरी}}{15 \times 120}$$

चन्द्रमा का देशान्तर निकालने के लिए हम पहले यह अनुपात स्थापित करते हैं :

त्रिज्या : अधिकतम अक्षांश की ज्या (=270)=पात से चन्द्रमा की दूरी की दी हुई ज्या : इष्ट अक्षांश।

इसलिए

$$\text{अक्षांश} = \frac{270 \text{ ज्या दूरी}}{120} = \frac{27 \times \text{ज्या दूरी}}{3 \times 4 \times 21/27} = \frac{21 \times \text{ज्या दूरी}}{3 \times 3} \text{ (लगभग)}$$

इस तरह उक्त लंबन से आए अक्षांश को घटा-बढ़ाकर हम सच्चा अक्षांश निकाल सकते हैं।

---

1. वग्रासुर विरज्यां द्विगुणां सवसांस संयुतयममरान्।
   (लग्नत्र्यगुविवरज्यां द्विगुणां खरसांशसंमितामपमात्)
2. समलिप्तराहुविवरज्याम्यस्ता मूर्च्छना नवहृताश्च।
   अवनत्या युतविश्लेषिताश्च दिक्साम्यवैलोम्ये॥ —पं० सि० 8-14

रोमक सिद्धांत के प्राचीनतम संकलयिता श्रीषेण

कोलब्रुक का विचार था कि मूल रोमक सिद्धांत श्रीषेण ने लिखा था। थिबौट का मत है कि श्रीषेण की कृति उसी नाम के एक पुराने ग्रन्थ का फिर से व्यवस्थित रूप है। ब्राह्मस्फुट सिद्धांत के प्रसिद्ध लेखक ब्रह्मगुप्त ने अपने ग्रन्थ में बहुत अंशों में श्रीषेण के नाम का उल्लेख किया है और इस सिलसिले में उनके टीकाकार पृथूदक स्वामी बार-बार कहते हैं कि श्रीषेण रोमक सिद्धांत के लेखक थे। और एक जगह पर ब्रह्मगुप्त स्वयं श्रीषेण का नाम रोमक सिद्धांत के सिलसिले में लेते हैं। थिबौट के अनुसार इस अंश का सामान्य अभिप्राय यह है कि वह श्रीषेण की आलोचना के रूप में आया है, जिसने अपनी ज्यौतिष पाठ्य-पुस्तक की रचना करते समय नियम और प्रक्रियाएं विभिन्न सूत्रों से उधार ली थीं और उन सबको एक बेतुके भण्डार में भर दिया था। वह अंश इस तरह है :

> श्रीषेण, विष्णुचन्द्र, प्रद्युम्न, आर्यभट, लाट और सिंह ग्रहणों और दूसरी बातों में परस्पर विरोधी हैं। इसलिए हर रोज उनका अज्ञान सिद्ध होता है। आर्यभट की हमने जो आलोचना की है, वे ही बातें उपयुक्त हेर-फेर के बाद इनमें से प्रत्येक पर भी लागू की जा सकती हैं। श्रीषेण आदि के बारे में कुछ और बातें भी कहूँगा।

> श्रीषेण ने चन्द्र और सूर्य की मीन गतियों, चन्द्रमा का भूम्युच्च और पात, मंगल, बुध, बृहस्पति और शनि की माध्य. गतियों के नियम लाट से लिए; बीते वर्षों और युग परिक्रमणों को······से लिया आर्यभट से भूम्युच्च, अधिवृत्त और पात के तथा ग्रहों की सच्ची गतियों वाले नियम लिए और इस तरह मणि तुल्य रोमक सिद्धांत को श्रीषेण ने जोड़ा हुआ चिथड़ा बना दिया[1]।

---

1. श्रीषेण विष्णुचन्द्रप्रद्युम्नार्यभटलाटसिंहानां।
ग्रहणादिविसंवादात् प्रतिदिवसं सिद्धमज्ञत्वम् ॥
युक्त्यार्यभटोक्तानि प्रत्येकं दूषणानि योज्यानि।
श्रीषेणप्रभृतीनां कानिचिदन्यानि वक्ष्यामि ॥
आर्यान्सूर्यशशांकौ मध्याविन्दूच्च चन्द्रपातौ च।
कुजबुधशीघ्रबृहस्पति सितशीघ्र सनिश्चरान् मध्यान् ॥
युगयातवर्षे भगणान्वासिष्ठाविजयनन्दिकृतपादान्।
मन्दोच्च परिधिपातान्स्पष्टीकरणाद्यार्यभटात् ॥
श्रीषेणेन गृहीत्वा रक्षोच्चरारोमककृतकर्यः।
एतावानेव गृहीत्वा वासिष्ठो विष्णुचन्द्रेण ॥ —ब्र॰ स्फु॰ सि॰ 11. 46-50

इस अंश से थिबौट का निष्कर्ष है कि श्रीषेण ने पुराने यथार्थ रोमक सिद्धांत में विभिन्न छिटपुट सूत्रों से तत्त्वों को लेकर खिचड़ी पकाई और उसे भ्रष्ट करके चिथड़ों से बनी पोशाक जैसा बना दिया। इस तरह श्रीषेण के नाम से प्रसिद्ध रोमक सिद्धांत उनका अपना न था, बल्कि उसका नव-संपादन था, जिसने विभिन्न ज्योतिर्विदों से लेकर नई बातें ठूँस दी गई थीं।

एक बात और याद रखनी चाहिए। यदि हम श्रीषेण के रोमक सिद्धान्त से सम्बन्धित ब्रह्मगुप्त द्वारा दी गई जानकारी की तुलना वराहमिहिर द्वारा संहिताबद्ध सिद्धान्त से करें, तो दोनों कृतियों के सिद्धान्त में कुछ अन्तर स्पष्ट ही हमारे सामने आ जाते हैं। उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत अंशों में हम देखते हैं कि ब्रह्मगुप्त के अनुसार श्रीषेण ने अपने स्पष्टीकरण या ग्रहों की सही स्थिति सम्बन्धी नियम आर्यभट से लिए थे। आर्यभटीय के नियम हमें लघ्वार्य-भटीय में मिलते हैं और वहां हम देखते हैं कि सभी महत्त्वपूर्ण बातों में वे सूर्य सिद्धान्त के नियमों से मिलते-जुलते हैं और पिछले ग्रन्थ की तरह उनमें भी परिधि का आकार, हर ग्रह का अधिचक्र आदि दिया गया है और वे बताते हैं कि किसी इष्ट अपवाद का केन्द्र-समीकरण त्रिकोणमिति के सहारे किस तरह निकाला जाना चाहिए। दूसरी ओर वराहमिहिर रोमक सिद्धान्त केन्द्र का समीकरण निकालने के लिए वस्तुतः कोई नियम नहीं देता, पर केवल सारणी के रूप में सूर्य और चन्द्रमा के हर पचासवें अंश के लिए समीकरण मात्र ही बताता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि रोमक सिद्धान्त ने अपने नियम आर्यभट से उधार नहीं लिए थे और इसलिए श्रीषेण की कृति में उनको नहीं देखा जा सकता। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि ग्रहों की माध्य गति के बारे में पुराने रोमकसिद्धान्त का अनुसरण करने वाले श्रीषेण ने सही स्थान जोड़ने के नियम आर्यभट के ग्रन्थों से लिए होंगे, क्योंकि वे पुराने रोमक सिद्धान्त में उपलब्ध न थे।

रोमक सिद्धान्त के सिलसिले में एक तिथि

पंचसिद्धान्तिका के पहले अध्याय (श्लोक 8 से 10) में अहर्गण (एक युग के आरम्भ से दृष्ट तिथि तक बीते हुए लौकिक दिनों का योग) निकालने का एक नियम दिया गया है। इसमें इससे चालू शक वर्ष में से 427 घटाने के लिए कहा गया है, इसका अर्थ है कि गणना के लिए आरंभिक युग 427 शक वर्ष है। फिर इसमें अहर्गण निकालने के ब्यौरे दिए गए हैं और अन्त में ये शब्द आते है 'रोमक सिद्धान्त (के अनुसार) यह अहर्गण है।' हम इन श्लोकों को पहले उद्धृत कर चुके हैं। यह तिथि (427 शक) पंचसिद्धांतिका में भी आई है, यह बात विद्वान् बहुत समय से जानते हैं। डा० विलियम हंटर इस तिथि को वराहमिहिर का समय मानते थे। अलबेरुनी इसे पंचसिद्धान्तिका का रचना वर्ष बताता है। भाऊ दाजी पंचसिद्धान्तिका के इस श्लोक को उद्धृत करते हुए इसे वराहमिहिर

द्वारा भी अपनाया गया रोमकसिद्धान्त का युग बताने वाला मानते हैं (जरनल आफ रोयल सर्वे एशि० सोसा०, नई सीरीज, जिल्द 1)। डा0 कन 427 शक का वराहमिहिर का जन्मवर्ष मानने के पक्ष में है, जिनका निधन भाऊ दाजी द्वारा उद्धृत एक पदांश के अनुसार शक 509 में हुआ था।

आर्यभटीय से हम जानते हैं कि आर्यभट ने इस ग्रन्थ की रचना 476 ईसवी में की थी। पंचसिद्धान्तिका में एक जगह आर्यभट के विचारों का उल्लेख है। यदि आर्यभट का जन्म 476 ईसवी (शक 398) में हुआ था और पच-सिद्धान्तिका की रचना 505 ईसवी (शक 427) में हुई थी, तो पंचसिद्धान्तिका लिखते समय आर्यभट की आयु केवल 29 साल की थी। यह सम्भव नहीं दीखता। आर्यभटीय की रचना 499 ईसवी (शक 421) में हुई थी। क्या इसका उल्लेख 505 ईसवी (शक 427) में लिखे गए ग्रन्थ में किया जा सकता है? इस तरह थिबौट का विचार है कि पंचसिद्धान्तिका 505 ईसवी में नहीं लिखी गई होगी। अनेक कारणों पर सोच-विचार करते हुए वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अहर्गण के बारे में पूरा नियम, जिसमें क्षेप संख्या 427 भी आती है, वराहमिहिर ने रोमक सिद्धान्त से उधार लिया था। वस्तुतः यह बात हमारे निकट बहुत स्पष्ट नहीं है कि वराहमिहिर ने इस साल को युग शुरू करने वाला क्यों माना था।

पंचसिद्धान्तिका के पहले अध्याय के तीसरे[1] श्लोक से हमें यह मालूम पड़ता है कि इस ग्रन्थ की रचना से पहले ही रोमक सिद्धान्त की लाटदेव द्वारा किसी न किसी रूप में व्याख्या हो चुकी थी (व्याख्यातौ)। बहुत सम्भव है कि लाटदेव की व्याख्या सिर्फ स्पष्टीकरण देने वाली थी और उसकी रचना लगभग 505 से 550 ईसवी के बीच की गई थी (550 ईसवी पंचसिद्धान्तिका का रचना काल है)। लाटदेव टीकाकार से कहीं अधिक थे, ब्रह्मगुप्त एक ज्योतिर्लेखक के रूप में उनका जिक्र करते हैं। वराहमिहिर ने दिन के किस समय से अहर्गण की गणना करनी चाहिए, इस बारे में लाटदेव का विचार उद्धृत किया है (पं० सि० 15. 18)। वहां यह निहितार्थ है कि लाट के विचार से ज्योतिर्दिन की गणना उस समय से करनी चाहिए जब यवनपुर में सूर्य आधा अस्त हो चुका हो। बहुत सम्भव है कि अहर्गण निकालने का नियम वराहमिहिर ने पुराने मूल रोमक सिद्धान्त से न लिया हो, बल्कि इस ग्रन्थ के तत्वों के आधार पर इस रूप में पुनर्निमित लाटदेव के सिद्धान्त से लिया हो। उनके समय की जरूरतें पूरी कर सके, इस तरह यह लाटदेव के ग्रन्थ से पंचसिद्धान्तिका में गया। इसलिए थिबौट के विचार से 427 शक वर्ष को मूल सिद्धान्त की तिथि के रूप में नहीं

---

1. पौलिशरोमकवासिष्ठसौरपैतामहास्तुसिद्धान्ताः।
पञ्चभ्यो द्वावाद्यौ व्याख्यातौ लाटदेवेन॥ —पं० सि० 1. 3

बल्कि इस तिथि के रूप में लेना चाहिए, जिसे लाट ने रोमकसिद्धान्त पर अपनी टीका या अपने अनुकूलन के लिए चुना।

पौलिश सिद्धांत

वराहमिहिर की पंचसिद्धांतिका पौलिश सिद्धांत का बहुत अच्छा विवरण हमारे लिए प्रस्तुत करती है। सिद्धांत के बारे में मौलिक जानकारी अर्थात् अहर्गण बनाने के बारे में अध्याय 1 श्लोक 11-13 में दी गई है (श्लोक बड़े अस्पष्ट और अननुवाद्य हैं)। फिर अगले दो श्लोक संभवतः वे शुद्धियां बताते हैं, जो बताए गए पूरे-पूरे अंक बाद में करना जरूरी कर देते हैं। पौलिश सिद्धांत कुल लौकिक दिन निकालने के लिए, जो किसी युग में दृष्ट तिथि तक बीत चुके हैं, अधिमास और अवम रात्र (तिथि प्रलय) के जरिए सामान्य कदम उठाता है। इसमें गणनावर्ष चान्द्रमास और लुप्त चान्द्रदिनों के गुणांक देने वाले किसी काल चक्र पर आधारित नहीं हैं, यह ज्यादा सीधे तरीके से थोड़े से समग्र दिन स्थापित करके अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। इस थोड़े से पैमाने में लगभग एक अधिमास या एक लुप्त चान्द्र दिन होता है और बाद में उसमें उपयुक्त शुद्धि कर ली जाती है।

वर्ष की लंबाई

पंचसिद्धांतिका में पौलिश सिद्धांत के अनुसार सूर्य का माध्य देशान्तर निकालने के बारे में एक श्लोक है—

> अहर्गण में 120 का गुणा करके 33 घटा दो और 438 से भाग दे दो; फलतः सूर्य का माध्य देशान्तर यथोचित (अर्थात् क्रान्तियाँ, राशियां आदि के) क्रम में आ जाएगा। सूर्य के माध्य अपवाद के लिए बीस अंश जोड़ दो[1]।

इस अंश से यह तात्पर्य निकलता है कि पौलिश सिद्धांत में वर्ष में 365 दिन, 6 घंटे और 12 मिनट माने जाते थे।

चन्द्र का स्थान निकालने के नियम

यह नियम पंचसिद्धांतिका के दूसरे अध्याय के शुरू के हिस्से में दिया गया है। यह दूसरे सिद्धांतों से बिलकुल भिन्न तरह का है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस अध्याय के शुरू में हमने सूर्य और चन्द्रमा के सही और माध्य स्थान

---

1. खार्कघ्नेऽग्निहुताशनमघास्य रूपाग्निवसु हुताशकृतैः (43831)।
हृत्वा क्रमाद्दिनेशो मध्यः केन्द्रं सविंशांशम्। —पं० सि० 3. 1

जानने के लिए दक्षिण भारत की कुछ जगहों के ज्योतिषियों द्वारा काम में लाए जाने वाले तरीकों से स्पष्ट समानता देखी है। (देखिए वारेन, काल संकलित, पृष्ठ 118 आदि)। इन तमिल ज्योतिषियों ने सूर्य और चन्द्रमा का देशांतर निकालने के लिए सौर या वकियम नामक एक खास प्रक्रिया का इस्तेमाल किया था, जिसकी खास विशेषता यह है कि यह हमें माध्य स्थान बिना निकाले ही सही स्थान बता देती है। यह चन्द्रमा कितनी बार अपने भूम्युच्च या भूमि-नीच पर लौटा है, उसे सीधे ही जोड़कर निकाला जाता है। इसमें से वे दिन निकाल दिए जाते हैं, जिनमें पूरा परिक्रमण किया गया है और बाकी दिनों के लिए सही गति को लिया जाता है। इस उद्देश्य से दिनों के गुणांक वाली अवधियां तय की जाती है, जिनमें चन्द्रमा कुछ तुलनात्सक परिक्रमण करता है और इन अवधियों द्वारा उत्तरोत्तर दिए गए अहर्गण में भाग दिया जाता है। हर बार के भजनफल को छोड़कर चन्द्रमा का स्थान जानने के लिए केवल आखीरी बाकी को ही लिया जाता है। ये अवधियां चार हैं और उनके नाम हैं : वेदम्, रस घेरिच, चलनिलम् और देवरम् (1) देवरम् में 248 दिन होते हैं, जिनमें चन्द्रमा के नौ पूरे अपवादी परिभ्रमण होते हैं (2) चलनिलम् में 3031 दिन=110 परिभ्रमण होते हैं (3) रसघेरिच में 12372 दिन=441 परिभ्रमण होते हैं (4) वेदम् भी रसघेरिच के गुणन में होता है और इसमें 16,00,948 दिन होते हैं।

दिए गए अहर्गण में पहले 12372 का गुणा किया जाता है, फिर शेष में 3031 का, फिर शेष में 248 का। इस आखिरी भाग की बाकी को चन्द्र वकियम धुरमवहनम् कहते हैं और उसे 248 दिन के (=9 अपवादी परिभ्रमण) हर दिन में चन्द्रमा के सही स्थान और सही गति बताने वाली सारणी के तर्क के रूप में काम में लाया जाता है। यदि दूसरी ओर चन्द्रमा का माध्य स्थान इष्ट हो, तो उपर्युक्त प्रत्येक अवधि में चन्द्रमा की माध्य गति की मात्रा बताने वाली मात्रा में कुछ स्थिरांक का इस्तेमाल किया जाता है, जिसमें अन्त में आखिरी बाकी द्वारा बताए गए दिनों में चन्द्रमा की माध्य गति को जोड़ दिया जाता है। उदाहरण के लिए तेलुगु ज्योतिर्विदों के अनुसार एक देवरम् के लिए चन्द्रमा की माध्यगति 27°44′6″ (सभी परिक्रमणों को छोड़कर) आती है। एक चलनिलम् में 11^रा 7°31′1″ आती है आदि। (रा=राशि)

दक्षिण भारत में प्रचलित इस प्रणाली का ब्योरा हमने इसलिए दिया है, क्योंकि पंचसिद्धांतिका के दूसरे अध्याय के शुरू में दिए गए नियम तेलुगु ज्योतिर्विदों के जैसे ही हैं। चन्द्रमा का स्थान जोड़ने के लिए प्रयुक्त अवधियां दो हैं; एक घन कही जाती है जिसमें 3031 दिन होते हैं जो तेलुगु चलनिलम् जैसी ही है। दूसरी में 248 दिन के नवमांश होते हैं और इसे गति कहते हैं और इस तरह इसमें एक अपवाद मास होता है। ज्यादा लंबे समय का जिक्र नहीं किया गया,

जैसे तेलुगु का वेदम् या रस धेरिच; वस्तुतः करण के लिए पिछली तरह की अव-धियां जरूरी भी नहीं होतीं। इनके नियम वस्तुतः तुलना में कम अहर्गणों के लिए इस्तेमाल करने योग्य होते हैं।

यदि हम दिए दिनों में से उसके सभी घन निकाल दें और फिर बाकी में से उसके द्वारा बताई जाने वाली सभी गतियां निकाल दें तो चन्द्रमा की सच्ची स्थिति बताने के लिए सिर्फ आखीरी बाकी ही जरूरी है, क्योंकि यह बताती है कि चन्द्रमा चालू अपवादी परिक्रमण की कितनी भिन्न पूरी कर चुका है और तब एक आसान सा नियम या सारणी केन्द्र समीकरण बताने के लिए काफी होगी, जिसे चन्द्रमा की माध्य गति से उसे सही बनाने के लिए जोड़ा—या घटाया—जाएगा। पर चन्द्रमा के माध्य देशान्तर को बताने के लिए दूसरे नियम जरूरी है। पंचसिद्धांतिका इस जरूरत की पूर्ति हर घन और गति में माध्य गति की कुल संख्या बताकर करती है, जिससे हमें हर मामले में उन संख्याओं में बीते हुए घनों या गतियों की संख्या से गुणा करना होता है और नतीजों को जोड़ देना होता है।

इस सिलसिले में नीचे हम पंचसिद्धांतिका के दूसरे अध्याय के छः अस्पष्ट श्लोकों को देते हैं। थिबौट ने ऊपर की गई चर्चा के प्रसंग में कुछ सीमा तक इनका कुछ अर्थ निकालने की कोशिश की है। पहले श्लोक का अनुवाद नहीं दिया जा रहा है क्योंकि वह इसके लिए बहुत ही ज्यादा अस्पष्ट है :

अहर्गण में 1936 जोड़ो और उसमें 3031 का भाग दे दो, भजनफल घन होंगे। बाकी में नौ का गुणा करके 248 से भाग दे दो, भजनफल गतियां होंगी और बाकी पाद[1] (2)

घनों में 16 का भाग दो; बाकी में अलग से तीन का गुणा करो और चार से भाग दो, नतीजे को राशि आदि के रूप में लेकर परिक्रमण के रूप में ली गई सरल बाकी में से घटा दो; घनों में 2 का गुणा करके 2971 से भाग दे दो और जोड़कर राशि आदि मान लो[2] (3)

185 में गतियों का गुणा करो और इसमें गतियों का दशमांश कम करने

1. रसगुणनवेन्दु (1936) युक्ते शशिगुणखगुणो(3,031)द्धृतेघनाद्युगणो। शेषेनवभिर्गुणिते गतयोऽष्टजिनैः पदं शेषम्। —पं० सि० 2. 2

2. घनषोडशहृतशेषं प्रोह्याधस्त्रिगुणितं चतुर्भक्तम्।
भादि फलं द्विगुणघनाः शशिमुनिनबयम (2,971) हृताश्च राश्याद्याः॥
—पं० सि० 2. 3

से मिनिट आ जाएंगे। पाद संख्या 124 होने पर (गतियों में) आधी गति जोड़ दो और यही संख्या पाद में से घटाई जाएगी[1]। (4)

हर आधी गति के लिए छः राशियां चार लिप्ताओं और बाकी पाद के बराबर संख्या के अंशों के साथ जोड़ी जाएंगी। पिछले के अनुसार नतीजे को या तो धन राशि या ऋण राशि के रूप में जोड़ा जाएगा[2]। (5)

पाद में से एक घटाकर पांच से गुणा करो, 1094 जोड़कर 2414 में से घटा दो; बाकी में पाद का गुणा करके 63 से भाग दे दो, नतीजा मिनिट होगा[3] (?) (6)।

श्लोक 2 हमें क्षेप संख्या 1936 को अहर्गण में जोड़ने की बात कहता है फिर पिछले को 3031 दिनों की अवधियों में बांटना है जिसे घन कहते हैं। बाकी में नौ का गुणा करके 248 का भाग देना है अर्थात् इसमें से प्रत्येक 248/9 दिनों की अवधियों में विभाजित करना है जिनको गति कहते हैं। आखीरी भाग की बाकी को पाद कहते हैं। इस तरह पूरा दिया हुआ अहर्गण घनों और कुछ गतियों में और एक पाद में बांटा जाता है।

इस उपभाग का हेतु यह है कि 3031 दिनों की अवधि एक अपवादी मास के लगभग होती है; 3031 दिनों की घन अवधि ऐसे लगभग 110 महीनों के बराबर होती है। अतः घनों या गतियों के किसी भी गुणांक में चन्द्रमा अपने भूम्युच्च पर आ जाता है। (जिससे गणना शुरू होती हुई माननी चाहिए) और इस तरह केन्द्र समीकरण इसमें लागू करने की जरूरत नहीं रहती। पिछला वस्तुतः बाकी पर ही निर्भर हैं, जिसे पाद कहते हैं।

अहर्गणों या घनों और गतियों में विभाजन और ज्यादा गणना की अपेक्षा किए बिना ही चन्द्रमा की भूम्युच्च संबंधी स्थिति हमें बता देता है, पर उसकी माध्य स्थिति निकालने के लिए विशेष गणना करनी होगी। पहले हमें यह पता लगाना होगा कि चन्द्रमा एक घन में कितने परिक्रमण करता है। चूंकि उस सिद्धान्त

---

1. विषयधृतयो(185)गतिघ्ना गतिकाष्ठांशोनिताः कलाः प्रोक्ताः। वेदार्काः पाद(124)-संख्या गत्यर्धं घनमृणं पदतः॥ —पं० सि० 2. 4
2. गत्यर्द्धे भगणार्द्धं देयं लिप्ताचतुष्कसंयुक्तम्। शेषपदसमाश्चांशास्तैश्च धनर्णात्फलं देयम्॥ —वही, 2. 5
3. व्येकपदमिन्द्रियघ्नं कृतनवदश(1,094)संयुतं वियुक्तं च। मनुवेदयमेभ्यः(2,414)पदगुणे त्रिषष्ट्योद्धृते लिप्ताः॥ —वही, 2. 6

के अनुसार जिसके उपदेशों का सारांश यहां दिया गया है, हम अभी तक चन्द्रमा की माध्य गति को नहीं जानते, हम सूर्य सिद्धान्त द्वारा निर्धारित गति की दर को लागू करते हैं और हम देखते हैं कि चन्द्रमा की गति 3031 दिनों में $110^{\text{परि}}$ $11^{\text{रा}}\ 7^{\circ}\ 31'\ 23''$ होती है (परि=परिक्रमण)। पूरे परिक्रमण को छोड़कर हम इस 1 परिक्रमण में ऋण राशि (रा) के तीन पाद घन राशि का 1. 1285 के रूप में व्यक्त कर सकते हैं। आखीरी भिन्न के स्थान पर मूल पाठ में भिन्न 2/2971 है। यह संख्या एक घन में चन्द्रमा की गति का निरूपण करती है।

$$\left(1^{\text{परि}} - \frac{3}{4}^{\text{रा}} + \frac{2}{2971}^{\text{रा}}\right)$$

इसमें तब दिए गए अहर्गण में शामिल घनों की संख्या से गुणा करना है। फलतः यह यों व्यक्त होगा (घ=घन)

$$\text{घ}^{\text{परि}} - \frac{3\text{घ}}{4}^{\text{रा}} + \frac{2\text{घ}}{2971}^{\text{रा}} \quad \ldots \quad \ldots \text{(एक)}$$

अवांछित परिक्रमणों को निकालने के लिए घनों को बताने वाली संख्या में 16 का भाग दिया जाता है, जिससे घ के स्थान पर हमें 16 ह+श (श=शेष) मिलता हैं, तो (एक) इस तरह व्यक्त होता है :

$$(16\ \text{ह} + \text{श})^{\text{परि}} - \left(\frac{48\ \text{ह} + 3\ \text{श}}{4}\right)^{\text{रा}} + \frac{2\ \text{घ}}{2971}^{\text{रा}}$$

(यदि हम तीसरी रकम में घ को रहने दें)।

रकमों को पुनर्व्यवस्थित करने से आता है,

$$16\ \text{ह}^{\text{परि}} + \text{श}^{\text{परि}} - 12\ \text{ह}^{\text{रा}} - \frac{3}{4}\,\text{श}^{\text{रा}} + \frac{2\ \text{घ}}{2971}^{\text{रा}}$$

अब चूंकि $12\text{ह}^{\text{परि}} = \text{ह}^{\text{परि}}$, और पूरे परिक्रमण छोड़े जा सकते हैं, इसलिए हम आखिर में पाते हैं :

$$\text{श}^{\text{परि}} - \frac{3}{4}\text{श}^{\text{रा}} + \frac{2\ \text{घ}}{2971}^{\text{रा}}$$

जो श्लोक 3 की वात के अनुकूल है ।

इसी तरह चन्द्रमा की माध्य गति को जोड़कर एक गति $\left(=\frac{248}{9}\text{ दिन}\right)$ में हम पाते हैं :

$$1^{\text{परि}}+\left(185-\frac{1}{10}\right)^{\text{न्यूनतम}}$$

इस अभिव्यक्ति में अहर्गण में शामिल गतियों की संख्या से गुणा करके और सभी परिक्रमणों को निकालकर यह आता है :

$$\left(185\text{ गति}-\frac{\text{गति}}{10}\right)^{\text{न्यूनतम}}$$

जो श्लोक 8 के पूर्वार्द्ध के अनुकूल है (थिबोट) ।

पंचसिद्धान्तिका के तीसरे अध्याय में पौलिश सिद्धान्त के बारे में बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें बताई गई हैं, पर मुख्य कठिनाई यही है कि श्लोकों का अर्थ अस्पष्ट है । श्लोक 4-9 में चन्द्रमा की गति और सही स्थिति निकालने के बारे में कुछ और नियम दिए गए हैं । इसी अध्याय के श्लोक 2 और 3 सूर्य की सही स्थिति के नियमों का जिक्र करते हैं । यह नियम रोमक सिद्धान्त के नियम के समान है, क्योंकि यह किसी दिए हुए अपवाद के लिए केन्द्र समीकरण निकालना नहीं सिखाता, बल्कि केवल हर अपवाद के हर तीस अंश के लिए समीकरण की संख्या बता देता है ।

> अपवाद की राशियों के समान ही मिनटों की नीचे लिखी (समग्र) संख्या भी आती है, जिसे हमें (सूर्य के माध्य देशान्तर में से) घटाना या जोड़ना चाहिए, अर्थात्

11 48 69 69 54 25;

और फिर

10 48 70 71 54 25

इनमें से होकर सूर्य का माध्य देशान्तर सच्चे देशान्तर में बदल दिया जाता है[1] ।

---

1. एकादशाष्टषट्कं रूपोना सप्ततिः ख-युक्ता च ।
नवषट्कमक्षकृतिश्च क्षयः कलाः केन्द्रराशिसमाः ।। [अगले पृष्ठ पर—

पर अपवाद के अंश भूम्युच्च से नहीं जोड़े जाते, बल्कि वसन्त विषुव से जोड़े जाते हैं, जिससे केन्द्र समीकरण को, भूम्युच्च के देशान्तर से माध्य देशांतर को प्रारंभिक रूप में घटाए बिना ही सूर्य के देशांतर से जोड़ा या घटाया जा सके। पिछली संख्या 80° बताई गई है।

श्लोक 17 में सौर वर्ष के हर मास में सूर्य की माध्य दैनिक गतियों का ऐसा ही स्थूल विवरण दिया गया है। इससे हमें कोई सामान्य नियम नहीं मिलता।

सूर्य की (दैनिक) गति (60 मिनट) ऋण 3, 3, 3, 3, 2, 1 धन 1, 1, 1, 1 और बदले में ऋण शून्य, 1 होती है[1]।

चैत्र से शुरू होने वाले साल में सूर्य की दैनिक गति इस क्रम में आती है :

57′	57′	57′	57′	58′	59′
61′	61′	61′	61′	60′	59′

तीसरे अध्याय के श्लोक 28 में दिए चन्द्रमा के पात के परिक्रमण की लम्बाई का अनुमान दिया गया है :

> अहर्गण में 8 का गुणा करके 151 से भाग दे दो, भजनफल राहु (अर्थात् चन्द्रमा के पात) की राशि बताता है, जिसमें उतने मिनट जोड़े जाते हैं, जितने पूरे परिक्रमण होते हैं[2]।

चन्द्रमा के पात की जगह जोड़ने का यह नियम इस अनुमान पर आधारित है कि पात 151 दिनों में 8 अंश के करीब चलता है, जिसका अर्थ है कि यह 6795 दिनों में पूरा परिक्रमण करता है। हमें आगे बताया गया है कि अहर्गण की अवधि में पूरे हुए प्रत्येक परिक्रमण से निकालने के लिए मोटी प्रक्रिया से निकलने वाली जगह में एक मिनट जोड़ना होगा। जब इन सभी शुद्धियों को

—पिछले पृष्ठ से]

दशषट्काष्टकसप्तति सप्ततिरेकाधिका च नवषट्कम्।
पञ्चकृतिश्चोपचयो मध्यमसूर्यः स्फुटो भवति ॥ —पं० सि० 3. 2-3

1. गुणशशिखिगुणाग्नियमशशियियुता सैका सरूपरूपैका।
खैकंवियुता च भानां षष्टिर्भुक्तिः क्रमाद्भानोः ॥ —वही, 3. 17

2. अष्टगुणे दिनराशौ रूपेन्द्रियशीतरश्मिभिर्भक्ते।
लब्धा राहोरंशा भगणसमाश्च क्षिपेल्लिप्ताः ॥ —वही, 3. 28

कर लिया जाए, तो पात के एक परिक्रमण की विशुद्ध अवधि 6794 दिन, 16 घंटे 27 मिनट और 29 सेकिंड आती है।

चन्द्रमा के अधिकतम अक्षांश के बारे में यह श्लोक है :

अपना अक्षांश अधिकतम होने पर चन्द्रमा राहु से 90 अंश दूर होता है (और तब अक्षांश) 270 मिनट होता है; दूसरी जगहों का (अक्षांश) अनुपात से निकाल लिया जाता है[1]।

एक और जगह पर हमें एक और नियम मिलता है, जहां पहले से मान गया अधिकतम अक्षांश 240′ मात्र होता है (अर्थात् चन्द्र ग्रहण में कुल खग्रास की अवधि जोड़ने के लिए अध्याय 4. 5 में दिया गया नियम)।

(चन्द्रमा और उसके पात से) अंतरांश रहित 5 द्वारा दस कम करके और गुणा करके उसमें 4 का गुणा करो, वर्गमूल निकालो और पिछले को 21 से गुणा करो; नतीजे का पांचवां हिस्सा कुल खग्रास के मिनट बताता है[2]।

इसका मतलब यह है कि कुल खग्रास के मिनट ये हैं।

$$=\frac{21}{5}\sqrt{4[5-\text{अंश}]\ [10-(5-\text{अंश})]}$$

इस अभिव्यक्ति में ऋण इस अनुमान पर आधारित है कि चन्द्रमा का अधिकतम अक्षांश 240′ है, तदनुसार यह अनुपात आता है :

$$\text{त्रिज्या : ज्या (अधिकतम अक्षांश)} = \frac{21\times\text{अंश}}{10} : \text{ज्या अक्षांश}$$

$$\text{ज्या अक्षांश} = \frac{240\times21\times\text{अंश}}{120\times10} = \frac{21\times\text{अंश}}{5}$$

ब्योरेवार क्रिया के लिए इस श्लोक पर थिबौट की टीका देखिए।

---

1. भागनवत्या राहोश्चन्द्रोऽन्तरितोऽतिमहति विक्षेपे।
   लिप्ताशतद्वयाधिक-सप्ततिरनुपाततोऽन्यत्र ॥ —पं० सि० 3. 31
2. किन्त्वन्तरांशहीनैः पञ्चभिरूनाहता दशकृतघ्नाः।
   तत्पदमेकाश्विघ्नं पञ्चांशोऽस्माद्विमर्दकलाः ॥ —वही, 6. 5

एक नियम और भी पौलिश सिद्धांत[1] से सम्बन्धित है, जो चन्द्रमा का अधिकतम अक्षांश 470′ मान कर चलता है।

पौलिश सिद्धांत में चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण को जोड़ने के लिए विहित प्रक्रियाएं बड़े स्थूल प्रकार की हैं और रोमक और सूर्यसिद्धांत की इन्हीं संक्रियाओं की तुलना में कहीं कम शुद्ध हैं। पौलिश के लेखक का लक्ष्य सुविधाजनक संख्या के सूत्र खोजना ही था, उसने विषय के सामान्य सिद्धांत का निरूपण नहीं किया और गणना की सुविधा के लिए केवल लगभग मूल्य ही अपनाए। ग्रहण के समय सूर्य चन्द्रमा और छाया के सच्चे (आभासी), आकार बताने के लिए भी कोई नियम नहीं दिया गया है। चन्द्रग्रहण के बारे में नीचे लिखा श्लोक है :

> चन्द्रमा के अक्षांश के मिनट के वर्ग को 55 के वर्ग से घटा दो और बाकी का वर्गमूल निकाल लो, इसे दूना करके और इस पर तिथि की रीति से संक्रिया करके हमें ग्रहण काल मिल जाता है।[2] चन्द्रमा और राहु के अन्तरांशों को 13 में से घटाकर 5 से गुणा कर दो; वैनाडिकाओं के रूप में आया यह नतीजा चन्द्रमा की अपेक्षा अक्षांश में राहु के ज्यादा बढ़ जाने पर ग्रहण-अवधि में जोड़ा जाएगा; अन्यथा इसे घटा दिया जाएगा।[3]

इस चौथे श्लोक से यह नतीजा निकलता है कि चन्द्रमा के व्यास का माध्य मूल्य 34′ माना गया है और छाया का 76′। दूसरे श्लोक (6.6)[4] से कुछ भिन्न मूल्य निकलते मालूम पड़ते हैं, जिसका निहितार्थ सूर्य और चन्द्रमा के व्यासों का जोड़ बताना मालूम पड़ता है। पर इन मामलों में इन श्लोकों की अस्पष्टता के कारण विश्वास के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

---

1. स्थितिदल विमर्ददलयोर्विशेषके तमः सकलमत्तीन्दुम्।
   प्रग्रहमोक्षे शशिराहुविवरभागैश्च दिग् वाच्या।। —पं० सि० 6. 6
2. विक्षेपकलाकृतिर्वजितस्य पञ्चोनषष्टिवर्गस्य।
   मूलं द्विगुणं तिथिवद्विभज्य कालः स्थितेर्भवति। —वही, 6. 3
3. शशितिमिरविवरभागैस्त्रयोदशोनाः शराहताः क्षेप्याः।
   स्थित्या विनाडिकास्ता राहावधिकेऽन्यथा हानिः।। —वही, 6. 4
4. तद्वर्गमपास्येन्दोर्नवर्त्तुरूपाद्रवेः श्रुतिरसाच्च।
   तदन्मूलं पादोनं स्थितिकालश्चन्द्रभान्वोश्च।। —वही, 7. 6

   चन्द्रमा के मामले में 169 में से अन्तरांशों का वर्ग घटा दो और सूर्य के मामले में 64 में से घटा दो, शेष का वर्गमूल उनका चौथाई घटाने से चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण की अवधि को बतला देता है।

यवनपुर, उज्जयिनी और वाराणसी का उल्लेख

पौलिश सिद्धांत का विवरण देते हुए पंचसिद्धांतिका में नीचे लिखे श्लोक आए हैं :

> उच्चगामी अन्तर की वैनाडिकाओं को निकालने के इस तरीके से सागर और हिमालय के बीच के देश के लिए शुद्ध नतीजे निकल आते हैं; दूसरे क्षेत्रों के लिए शुद्ध नतीजे कैसे निकाले जाएं, इसकी व्याख्या मैं छेद्यक अध्याय में करूंगा। यवन (अर्थात् यवनपुर) से देशान्तर के अन्तर से आने वाली नाडिकाएं सात और एक तिहाई अवंती में और नौ वाराणसी में होती हैं। अब मैं दूसरी जगहों के बारे में (देशान्तर के अन्तर) की गणना को स्पष्ट करूंगा। योजनों के जोड़ में नौ का गुणा करके 80 से भाग देकर, फिर उनका वर्ग निकालकर उससे, दोनों देशान्तरों के अन्तर का वर्ग घटा दो; (बाकी के) वर्गमूल में छः का भाग देने से वांछित नाडिकाएं आ जाती हैं[1]।

ये श्लोक बताते हैं कि इष्ट स्थान का देशान्तर कैसे निकाला जाएगा। श्लोक 13 यवन (पुर) निस्संदेह अलेक्जेंड्रिया से उज्जयिनी और वाराणसी की देशान्तर दूरी बताता है। श्लोक 14 बताता है कि दिए हुए याम्योत्तर से इष्ट जगह की देशान्तर दूरी किस तरह निकाली जा सकती है।

> याम्योत्तर उज्जयिनी को मान लो और उज्जयिनी से दी गई जगह की दूरी योजनों में मालूम हो, तो पहला काम इसे अंशों में निरूपित करना है। धरती की भूमध्य रेखा परिधि 3200 योजन मानी गई है, इससे यह सरल समानुपात आता है :

3,200 योजन : 360^0 = दिए गए योजन : य

$$\text{य} = \frac{360 \times \text{दिए गए योजन}}{3200} = \frac{9 \times \text{दिए गए योजन}}{80}$$

---

1. सागरहिमाद्रिपरिधौ स्पष्टमिदं चरविनाडिकाकर्म ।
अन्यत्रापि यथैतत्स्पष्टं तच्छेद्यके वक्ष्ये ॥
यवनान्तरजा नाड्यः सप्तावन्त्यां त्रिभागसंयुक्ताः ।
वाराणस्यां त्रिकृतिः साधनमन्यत्र वक्ष्यामि ॥
त्रिकृतिघ्नात् खवसु हृताद्योजनपिण्डात्स्वताडिताज्जह्यात् ।
अक्षद्वयविवरकृतिं मूलाः षट्कोद्धृता नाड्यः ॥ —पं० सि० 3. 12-14

फिर हम समकोण गोलीय त्रिकोण को लेते हैं, जिसमें उज्जयिनी और इष्ट जगह की दूरी कर्ण रेखा द्वारा व्यक्त की गई है और जिसकी दोनों भुजाओं के लिए (एक) दी गई जगह के अक्षांश के समानान्तर का वह हिस्सा जो उस जगह और प्रमुख याम्योत्तर के बीच है, और (दो) याम्योत्तर का वह अंश जो उज्जयिनी और अक्षांश के वृत्त के बीच में हैं। अब यह त्रिकोण सरल त्रिकोण मान लिया जाएगा और कर्णरेखा और ज्ञात भुजा से तीसरी भुजा—जो वांछित दूरी देशान्तर में बताती है—निकाल ली जाती है। अंशों में आने वाले नतीजे में छः का भाग देकर नाडिकाएं निकाल ली जाती हैं।

ज्या के मूल्य बताने का ग्रीक तरीका :

पंचसिद्धांतिका के चौथे अध्याय में ज्याओं की एक सारणी दी गई है। यह कहना बड़ा संदिग्ध है कि वराहमिहिर ने वह सारणी किस सिद्धांत में से ली थी। यह तीनों प्रमुख सिद्धांतों—सूर्य, रोमक और पौलिश—में समान रही होगी। इस सारणी के मूल्यों का उपयोग पंचसिद्धांतिका में सर्वत्र किया गया है। सारणी का सबसे ज्यादा रोचक स्वरूप यह है कि इसका आधार त्रिज्या (व्यासार्ध) को 120 भागों में और इनमें से हर एक को 60 भागों में बांटना है। इसे सामान्य भारतीय तरीके से 3438 में नहीं बांटा गया है। इसमें इस तरह स्पष्ट ही ज्याओं का मूल्य व्यक्त करने का ग्रीक तरीका निकट से अपनाया गया है। बस त्रिज्या को 60 की जगह 120 हिस्सों में बांटा गया है।

फिर इसमें यह भी बड़ी रोचक बात है कि अधिकांश मामलों में ज्याओं के बताए गए मूल्य टॉलेमी द्वारा दिए गए मूल्यों से यथासंभव ज्यादा से ज्यादा मिलते हैं। हां, इसमें यह ख्याल रखना होगा कि पिछले लेखक ने व्यास के एक सौ बीसवें भाग को मिनटों और सैकिंडों में बांटा है, जबकि पंचसिद्धांतिका की सारणी में साठवें हिस्से में ही। कुछ मामलों में समानता पूरी-पूरी नहीं है (शायद गलती पंचसिद्धांतिका के पाठ में है)।

यह देखना बड़ा रोचक है कि ज्याओं और अन्तरों की पूरी सारणी श्लोकों में व्यक्त की गई है :

मेष की ज्याएं 7,15,20, धन 3=23,20 धन 11=31,20 धन 18=38, 45,50 धन 3=53,60 मिनट (कला) होती हैं।[1]

---

1. मेषज्याः स्वरतिथयः गुणशिवधृतिभिश्च विंशतिः सहिता।
पञ्चनरकं शतार्द्धं त्रिसमेतं षष्टिरिति लिप्ताः॥ —पं॰ सि॰ 4. 6

(इनमें क्रमशः ये जोड़ने होंगे) 51,40,25,4,34,56,5,0 (सेकिंड)[1]।

वृष की ज्या-एँ, 6,13,19,24,30,35,39,43 मिनट होती हैं।[2]

वृष के सेकिंड (विकला) 40,3,7,51,13,13,46,56 होते हैं।[3]

दूसरी राशि के अन्त से (अर्थात् तीसरी राशि मिथुन से) ज्याएँ 3 6,9, 12,13,15,15, 16 मिनट (कला) होती हैं।[4]

सेकिंड (विकला) 42,57,42,0,47,4,49,5 होती हैं।[5]

मेष में अन्तिम ज्या 6 में मिनट (कला) 7 होते हैं, वृष में वे 6,6,6,5, 5,5,4.4 होते हैं, मिथुन में वे 3,3,2,2,1,1,0,0 होते हैं।[6]

मेष में सेकिंड (विकला) 51,49,45,39,30,22,9 होते हैं।[7]

....[8]

मिथुन में वे 45,15,42,18,47,17,45,16 होते हैं।[9]

---

1. सैकाऽजे पञ्चाशत् पञ्चाष्टकपञ्चवर्गवेदाश्च।
त्रिंशच्चतुर्भिरधिका षट् पञ्चाशच्छराः शून्यम्॥ —पं० सि० 4. 7
2. षट्कत्रयो दशैकोनविंशतिस्त्र्यष्टकोऽन्यतस्त्रिंशत्।
युक्ताम्बरपञ्चनवाग्निहिमगुभिर्लिप्तिका वृषभे॥ —वही, 4: 8
3. चत्वारिंशद्रामा मुनयोऽर्द्धशतं च सैकमिति।
द्विरति द्वादश षष्टिर्हीना मनु सागरैर्वृषे विकलाः॥ —वही, 4. 9
4. गुणरसनवकद्वादश विश्वे द्विस्त्रिभूपभूपान्तरजाः।
ज्यापिण्डा पिण्डाद्या द्वितीयराश्यन्ततो विकलाः॥ —वही, 4. 10
5. धृतिगुण धृति परिहीना षष्टिः शून्यं शतार्द्धमनलोनम्।
वेदा व्येकार्द्धशतं पञ्चेति तदन्तरज्याः स्युः॥ —वही, 4. 11
6. मुनयोऽजे व्येकान्ते रसत्रयं त्रि. शराः कृताब्धी गवि।
शिखिपक्षचन्द्रशून्या द्वौ द्विर्मिथुने कला ज्यार्द्धे॥ —वही, 4. 12
7. मेषे विकलार्द्धशतं सैकं व्येकेन्द्रियेश्वरं त्रिंशत्।
द्वाविंशतिस्त्रिवर्गः ... ... ॥ —वही, 4. 13
8. ... ... ।
खगुर्णकृतार्णवयमनव क समुद्रा शिखिवर्गः॥ —वही, 4. 14
9. मनुविषयतिथिरसाः स्युस्त्रिगुणाः पञ्चाष्टकं स्वरोपेतम्।
सप्त दशनवपञ्चकं षोडश चेति क्रमान् मिथुने॥ —वही, 4. 15

संख्या	चाप	ज्या	अंतर
			7′51″
1	3°45′	7′51″	
			7′49″
2	7°30′	15′40″	
			7′45″
3	11°15′	23′25″	
			7′39″
4	15°	31′4″	
			7′30″
5	18°45′	38′34″	
			7′22″
6	22°30′	45′56″	
			7′9″
7	26°15′	53′5″	
			6′55″
8	30°	60′	
			6′40″
9	33°45′	66′40″	
			6′23″
10	37°30′	73′3″	
			6′4″
11	41°15′	79′7″	
			5′44″
12	45°	84′51″	
			5′22″
13	48°45′	90′13″	
			5′
14	52°30′	95′13″	
			4′33″
15	56°15′	99′46″	
			4′10″
16	60°	103′56″	
			3′42″
17	63°45′	107′38″	

			3'15"
18	67°30'	110'53"	
			2'45"
19	71°15'	113'38"	
			2'18"
20	75°	115'56"	
			1'47"
21	78°45'	117'43"	
			1'17"
22	82°30'	119'	
			45"
23	86°15'	119'45"	
			16"
24	90°	120'1"	

इस पर टिप्पणी करते हुए थिबौट लिखते हैं : यह ध्यान में रखना होगा कि ग्रीकों जैसी ज्या-सारणी के मामले में व्यासार्ध को—व्यास को नहीं—120 हिस्सों में बांटने से उसे लेने वाले को, बिना किसी परिवर्तन के, ग्रीक सारणी में कोण की जीवाग्रों को दी गई संख्याएं लेकर अपनी सारणी में उन कोणों की आधी ज्या के मूल्य के रूप में शामिल करने में कठिनाई न हुई होगी।

पौलिश सिद्धान्त अन्य सूत्रों से

पंचसिद्धांतिका में तो हमें पौलिश सिद्धांत का ब्योरा निःसन्देह मिलता ही है, पर वराहमिहिर के इस निरूपण के अलावा हमें दूसरी रचनाओं में भी इसके थोड़े-बहुत उल्लेख मिलते हैं। उदाहरण के लिए बृहत्संहिता पर, जो वराहमिहिर की दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक है, भट्टोत्पल्ल की टीका में, और ब्रह्मगुप्तके ब्राह्मस्फुट सिद्धांत पर पृथूदक स्वामी की टीका में से कोलब्रुक ने बड़ी योग्यता के साथ यह सामग्री खोज निकाली है।

लगता है कि उक्त दो टीकाकारों को विदित पौलिश सिद्धान्त, सूर्य-सिद्धांत, आर्यभट और बाद के सभी ज्योतिर्विदों के सामान्य तरीकों पर आधारित था। कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि एक ऐसे महायुग की सिद्धि करने में जिसमें सावन दिनों आदि की और ग्रहों के परिक्रमण के गुणांक होते हैं, यह अधिकांश ज्योतिष ग्रन्थों की बात मानता है (देखिये कोलब्रुक का निबंध जिल्द दो, पृष्ठ 365)। वर्ष की लम्बाई 365 दिन 6 घण्टे 12 मिनट और 36 सेकिण्ड मानी गई है, पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पौलिश सिद्धान्त, जैसा कि उसे पंचसिद्धांतिका में निरूपित किया गया है, कुछ मामलों में भट्टोत्पल

द्वारा निरूपित पौलिश सिद्धांत से भिन्न है। शायद दोनों ने जो आयोजनाएं अपनाई थीं वे बिल्कुल भिन्न थीं। भट्टोत्पल को पौलिश वर्ष की जो लम्बाई ज्ञात थी वह वही है जो वराहमिहिर को ज्ञात सूर्यसिद्धान्त के वर्ष की थी। यह भी संभव है कि समयानुसार पौलिश सिद्धान्त में भी भट्टोत्पल से पहले भी कुछ संशोधन हुए होंगे।

वशिष्ठ सिद्धान्त

जैसा पहले कहा जा चुका है, वराहमिहिर ने वशिष्ठ सिद्धान्त को पैतामह सिद्धान्त के साथ ग्रन्थों की निचली सीढ़ी में रखा है। हम नहीं जानते कि वस्तुतः वशिष्ठ सिद्धान्त का रूप क्या था। पंच सिद्धान्तिका के दूसरे अध्याय के उत्तरार्ध्द में वराहमिहिर ने स्वयं ऐसे कुछ नियम दिए हैं, जो वशिष्ठ सिद्धांत पर आधारित बताए गए हैं और ये बड़े विशिष्ट तरह के है, जो उनके दूसरे सिद्धान्तों से उसे पृथक् कर देता है।

हम देखते हैं कि वर्ष के किसी समग्र दिन की लम्बाई नापने के लिए दिया गया नियम (पं० सि० 2.8) समान दैनिक वृद्धि मानने में पैतामह सिद्धांत से मिलता-जुलता है, पर छोटे से छोटे और बड़े से बड़े दिन की लंबाई के बारे में यह उससे भिन्न है।

> मकर के शुरू में सौर दिन (अर्थात् यहां पर सावन दिन) 1591 पलों से जोड़ा जाता है, जिसमें हर दिन के लिए तीन पल जोड़ने होते हैं; कर्क से शुरू होने वाली छः राशियों से तिगुने तीन (रोज जोड़ने से) रात का मान आ जाता है[1]।

अवन्ती में छोटे से छोटे दिन का मान 1591 पल = 26 नाडिका 31 पल बताया गया है। अनुमान है कि दिन रोज बड़े से बड़े दिन तक तीन पल बढ़ता है और फिर वर्ष के शेष आधे भाग में वह रोज तीन पल घटता है। रातों में तदनुरूप घट-बढ़ होगी। इस तरह 180 दिनों में कुल वृद्धि $180 \times 3 = 540$ पल होगी, और इस तरह बड़े से बड़ा दिन लगभग 2131 पलों का और छोटे से छोटा 1591 पलों का होगा।

उसी अध्याय में श्लोक (9-13) में छाया की लम्बाई, सूर्य का माध्य देशान्तर और लग्न निकालने के नियम दिए गए हैं, जो आदिम से (पैतामह से कुछ अच्छे) लगते हैं :

---

1. मकरादौ गुणयुक्तो भूस्वर्गतितिथिमितो (1591) रवेर्दिवसः।
कर्कटकादिषु षट्सु त्रयस्त्रिकाः शर्वरीमानम् ॥ —पं० सि० 2. 8

कर्क से शुरू होने वाली छः राशियों में सूर्य जितने से गुजर चुका है उतने (अर्थात् राशियों में सूर्य के देशांतर) को 2 से गुणा कर दो; नतीजे में दोपहर की छाया की लम्बाई आ जाएगी; मकर से शुरू होने वाली छः राशियों में भी (उसी तरह से गुणा करो और नतीजे को बारह से घटा दो[1]। (किसी दिन की) दोपहर की छाया के आधे को लेकर उसे राशि मानते हुए उसमें तीन राशियां जोड़ दो; यह सूर्य के दक्षिणायन का देशांतर बताता है। उत्तरायण में दोपहर की छाया के आधे को पन्द्रह से घटा दो[2]।

सूर्य के उत्तरायण में होने पर उनकी छः राशियों में दोपहर की छाया (12—2×बीती हुई राशियां) के बराबर है, अतः

2×बीती हुई राशियां=12—छाया

राशि संख्या $=6-\frac{1}{2}$ छाया

पर चूंकि सूर्य के उत्तरायण में होने के आरम्भ पर देशांतर पहले ही नौ राशियां था, तो उक्त सूत्र के 6 में हमें नौ जोड़ना होगा और इस तरह आखिर में आता है :

सूर्य की राशियों में देशांतर $=15-\frac{1}{2}$ छाया

12 और दी गई छाया जोड़कर दोपहर की छाया घटाने के बाद 36 में भाग दे दो और सूर्य का देशांतर जोड़ दो, नतीजा लग्न आएगा, अर्थात् पूर्वी क्षितिज का रविमार्ग बिन्दु। यदि दोपहर बाद किसी समय की लग्न निकालनी है, तो नतीजे को छः राशियों में से घटाना होगा और बाकी को सूर्य के देशान्तर में जोड़ देना होगा[3]।

(दी हुई लग्न में से छाया को जोड़ने के लिए) लग्न में से सूर्य का देशांतर घटा दो, बाकी आए मिनटों (कलाओं) 64800 का भाजक बनाओ। इस तरह पूर्वी गोलार्द्ध में। पश्चिमी गोलार्द्ध में इन मिनटों को

---

1. कर्कटकादिषु भुक्तं द्विगुणं माध्यन्दिनी भवेच्छाया।
मकरादिषु चाप्येवं किन्त्वास्मिन् मण्डलाच्छोध्यम्। —पं० सि० 2. 9
2. मध्याह्नच्छायार्द्धं सन्निभमर्कोऽयने भवेद्याम्ये।
उदगयने संशोध्यं पञ्चदशभ्यो रविर्भवति॥ —वही, 2. 10
3. द्वादशभिः सच्छायैर्माध्याह्नोनैर्भजेद्रसहुताशम्।
अपराह्णे चक्रार्द्धाद्विशोध्य सार्कं भवति लग्नम्॥ —वही, 2. 11

भाजक के रूप में प्रयुक्त होने से पूर्व छः राशियों के मिनटों में से घटाना होगा[1]।

(दोनों स्थितियों में) आए नतीजे में से 12 घटाना होगा और दोपहर की छाया को जोड़ना होगा। संक्षिप्त वशिष्ठ सिद्धांत के अनुसार छाया निकालने का यह नियम है[2]।

इससे हम यह निहितार्थ निकाल सकते है कि वशिष्ठ सिद्धांत में नक्षत्रों से काम न लेकर खगोल को राशि, अंश और मिनटों (कलाओं) में बांटा जाता था और इसे तथाकथित लग्न (अर्थात् रविमार्ग बिन्दु) का ज्ञान था, जो किसी निश्चित समय पर पूर्वी क्षितिज में रहता है। इनके अलावा यह सिद्धांत इतना स्थूल था कि इसमें भारतीय वैज्ञानिक ज्योतिष में शामिल करने लायक कोई बात न थी।

वराहमिहिर को विदित वशिष्ठ सिद्धान्त के बारे में इतना कहना ही काफी है। एक और सिद्धांत वशिष्ठ सिद्धांत के नाम से चलता है, जिसके लेखक का नाम कोलब्रुक ने विष्णुचन्द्र बताया है। (इनका नाम पहले बताए गए ब्रह्म गुप्त के उद्धृतांश में भी आया है) शायद इन विष्णुचन्द्र ने विभिन्न स्रोतों से सिद्धांत की विभिन्न बातें लीं—और उन्हें मूल वशिष्ठ सिद्धांत में जोड़कर उसे वैसे ही विभिन्नतापूर्ण और बेतुका बना दिया जैसे श्रीषेण ने उसी तरह मूल रोमक सिद्धांत को बनाया था। निःसंदेह वशिष्ठ सिद्धांत बिष्णुचन्द्र से पहले विद्यमान था जैसा कि ब्रह्मगुप्त की एक पंक्ति से पुष्ट होता है, जो स्पष्ट कहती है कि श्रीषेण ने बीते हुए बर्षों (की संख्या) को और युग के (ग्रह) परिक्रमणों को वशिष्ठ (सिद्धांत) से लिया था। और वशिष्ठ की रचना विजय नन्दी ने की थी या वह किसी तरह सम्बद्ध था। इस नाम के ज्योतिर्विद का नाम ब्रह्मगुप्त ने दूसरी जगह भी लिया है और वराहमिहिर ने भी—जो ज्यादा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ज्यादा निश्चित रूप में उसके समय का भी संकेत देता है—पंचसिद्धांतिका के आखिरी अध्याय में ग्रहों की गणना के नियम देने के लिए विजयनन्दी का नाम लिया है :

प्रद्युम्न के मंगल सम्बन्धी (सिद्धांत) में और विजयनन्दी के (द्वारा जोड़े

1. व्यर्के लग्ने लिप्ता. प्राक् पश्चाच्छोधितास्तु चक्रार्द्धात् ।
कार्यच्छेदः शून्याम्बराष्टलवणोदषट्कानाम् ॥ —पं० सि० 2. 12

2. लब्धं द्वादशहीनं मध्याह्नच्छायया समायुक्तम् ।
सा विज्ञेया छाया वासिष्ठसमाससिद्धान्ते ॥ —वही, 2. 13

गए) गुरु, शनि के सिद्धांत में और बुध के बारे में जिनका प्रयास व्यर्थ (भग्नोत्साह) रहा है, वे इस ग्रन्थ को पढ़ें[1]।

पर न तो विजयनन्दी का और न विष्णुचन्द्र का ही ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध है। हमारे पास जो लघुवशिष्ठ सिद्धांत है, वह न तो वराहमिहिर के ज्ञात वशिष्ठ सिद्धांत से ही कोई सम्बन्ध रखता है और न विष्णुचन्द्र की ही कृति से, जिनके कुछ ब्यौरों से हमें ब्रह्मगुप्त और परवर्ती टीकाकारों ने परिचित बनाया है।

लगता है वराहमिहिर ने अपनी पंचसिद्धांतिका के 18वें अध्याय को बहुत कुछ सामग्री वशिष्ठ सिद्धांत से ली थी: दो अन्तवाक्य हैं जो ऐसी ही कुछ जानकारी देते हैं। थिबौट कहते हैं कि पंचसिद्धान्तिका की पाण्डुलिपि के 5वें श्लोक के बाद एक अन्तवाक्य है: 'वासिष्ठसिद्धान्ते शुक्रः' और अध्याय के अन्त में 'पौलिश सिद्धान्ते ताराग्रहाः' श्लोक 3-5 में शुक्र का उल्लेख है:

> 60-60 दिनों की तीन अवधियों में शुक्र 70 की क्रमशः 4, 3 और 2 बढ़ कर पार करता है; फिर 85 दिनों में 77 अंश और फिर 3 दिनों में $1\frac{1}{4}$ अंश। फिर पश्चगामी होकर यह 15 दिनों में 2 अंश पार करता है, 5 दिन बाद पश्चिम में अस्त हो जाता है; 10 दिन बाद पूर्व में उदित होता है; 20 दिन बाद 4 अंश चलकर (आखीर में बताई तीन अवधियों में से प्रत्येक में) अनुवक्रिन् हो जाता है; 232 दिनों में 250 अंश पार करता है और पूर्व में अस्त हो जाता है; 60 दिनों में 75 अंश पार करता है और पश्चिम में उदित होता है[2]।

यदि ये श्लोक वसिष्ठ सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं, तो इसमें सन्देह नहीं कि इस सिद्धान्त में दूसरे ग्रहों के बारे में भी कुछ ब्यौरे थे।

---

1. प्रद्युम्नभूमितनये जीवे सौरेऽथ विजयनन्दिकृते।
   बुधे च भग्नोत्साहः प्रस्फुटमिदं करणं भजतात्॥ पं० सि० 18. 62

2. षष्टित्रयेण वेदाग्नि यमयुतामंश सप्तति भुङ्क्ते।
   अर्थाष्टकेन सप्तसप्तत्यंशांस्त्रिभिः सपादांशम्॥
   वक्रमतस्तिथिभिर्द्वौ पञ्चभिरेवं ततोऽपरास्तमितः।
   दशभिः प्रागुदितः स्यान्नखैश्च जलधीन् मितान् गत्वा॥
   अनुवक्री दन्तकरैः ख शरयमानस्तमेत्यैन्द्रयाम्। (?)
   षष्ठ्यांश पञ्चसप्ततिमित्वाऽपरतो भृगुर्दृश्यः॥ —वही, 18 3-5

ग्रीक ज्योतिष का भारतीय ज्योतिष में आत्मसात्

शुरू में चाहे जो पूर्वाग्रह रहा हो, बाद में ग्रीक ज्योतिष भारत के ज्योतिष का अंग-उपांग बन गया। कश्यप के अनुसार ज्योतिर्विदों के अठारह नाम सुप्रसिद्ध हैं :

1 सूर्य	7 कश्यप	13 लोमश
2 पितामह	8 नारद	14 पौलिश
3 व्यास	9 गर्ग	15 च्यवन
4 वसिष्ठ	10 मरीचि	16 यवन
5 अत्रि	11 मनु	17 भृगु
6 पराशर	12 अंगिरस्	18 शौनक

इसमें आखिर में लोमश (रोमश ही) का नाम आया है। पौलिश का अर्थ है, पुलिश सम्बन्धी। यह शब्द पौलुम् से बना है जिसका अर्थ हैं अलेक्जेंड्रिया वाले (पुलिश ग्रीक रहा होगा, जो भारत का नागरिक बन गया था) रोमक या रोमकाचार्य जो रोमक या लोमश सिद्धान्त के प्रणेता बताए जाते हैं, शायद रोमन रहे होंगे और भारतीय नागरिक बन कर इस देश में बस गए होंगे। कुछ लोग लोमश सिद्धान्त (लोमश शिक्षा और लोमश संहिता) का लेखक गर्ग को बताते हैं (दे० मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अंग्रेजी कोश)। पर ऊपर की सूची में गर्ग के अलावा तीन स्पष्टतः भिन्न लेखक बताए गए हैं : लोमश, पौलिश और यवन।

पराशर द्वारा दी गई दूसरी सूची के अनुसार उन्नीस प्रमुख ज्योतिर्विद ये है :

1 विश्वसृड्	8 यवन	15 पौलिश
2 नारद	9 सूर्य	16 शौनक
3 व्यास	10 च्यवन	17 अंगिरस्
4 वसिष्ठ	11 कश्यप	18 गर्ग
5 अत्रि	12 भृगु	19 मरीचि
6 पराशर	13 पुलस्त्य	
7 लोमश	14 मनु	

यहाँ भी लोमश, यवन और पौलिश का जिक्र है। क्या हम यह नहीं कह सकते कि ये इतिहास-पुरुष न थे, पर रोमनों और ग्रीकों से संबद्ध ज्योतिष की तीन धाराएँ थीं जो इस देश में आकर बसे पश्चिमी विदेशियों द्वारा लाई गई थीं।

वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका लाटदेव का उल्लेख करती है, जो रोमक या पौलिश सिद्धान्तों का संकलन करने या उनकी व्याख्या करने के लिए जिम्मेवार थे।

> सिद्धान्त ये हैं : पौलिश, रोमक, वाशिष्ठ, सौर और पैतामह। इन पाँच में से पहले तीन की लाटदेव ने व्याख्या की है। पौलिश का सिद्धान्त काफी शुद्ध या स्फुट है, इसके साथ ही रोमक द्वारा बताया गया सिद्धान्त आता है। ज्यादा शुद्ध या स्पष्ट सिद्धान्त सावित्र (सूर्यसिद्धान्त); बाकी दो सत्य से बहुत दूर हैं[1]।

प्रसिद्ध ज्योतिर्विद ब्रह्मगुप्त न केवल पौलिश और रोमक सिद्धान्तों से परिचित था, बल्कि जानता था कि इन दोनों में आर्यभट द्वारा बताई गई बातों से कुछ ज्यादा चीजें हैं (जैसे नक्षत्र नयन का विषय); उन्होंने कई जगह पश्चिमी ज्योतिष की आलोचना भी की है। ब्रह्मगुप्त के अनुसार रोमकसिद्धांत का संकलन और अनुकूलन श्रीषेण ने किया था। वस्तुतः ब्रह्मगुप्त के अनुसार श्रीषेण का रोमक सिद्धान्त उस समय प्रचलित अनेक सिद्धान्तों, ग्रीक रोमन सिद्धान्तों समेत, का संग्रह था।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार ब्रह्मगुप्त को दो वशिष्ट सिद्धान्त और दो रोमक सिद्धान्त विदित थे। उनके अनुसार शक 427 से पहले केवल एक रोमक और एक वशिष्ठ सिद्धान्त था और वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका मूल रोमक सिद्धान्त का जिक्र करती है क्योंकि इस पुस्तक में हमें श्रीषेण का या विष्णुचन्द्र (दोनों ब्रह्मगुप्त द्वारा उल्लिखित) का जिक्र नहीं मिलता।

यदि हम दीक्षित को इस कल्पना को मानें, तो मूल रोमक और पौलिश सिद्धान्तों का सूत्रपात भारत में लाटदेव ने किया था और पिछले का श्रीषेण ने। वस्तुतः विष्णुचन्द्र ने पिछला वशिष्ठ सिद्धान्त शुरू किया था।

लाटदेव का नाम, जिनको लाटाचार्य भी कहते हैं, पंचसिद्धान्तिका में दूसरे प्रसंग में भी आया है :

---

1. पौलिशरोमकवासिष्ठ सौरपैतामहास्तु सिद्धान्ताः।
पञ्चभ्यो द्वावाद्यौ व्याख्यातौ लाटदेवेन ॥
पौलिशकृतः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकप्रोक्तः।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ ॥ —पं० सि० 1. 3–4

सप्ताह के दिनों का नियम सर्वत्र एक जैसा नहीं है। चूंकि इसके लिए कोई (निश्चित) कारण नहीं बताया जा सकता, इसलिए इस बारे में ज्योतिषियों में मतभेद है। (17)

सप्ताह के दिन का निर्णय अहर्गण से होता है, अहर्गण स्वयं के स्थानकाल पर निर्भर रहता है। लाटाचार्य के अनुसार अहर्गण यवनपुर में सूर्यास्त के समय से गिनना चाहिए, सिंहाचार्य के अनुसार लंका में सूर्योदय से; जबकि इसे यवनों के रात से दस मुहूर्त बाद के क्षण से उनके गुरु (अर्थात् यवनों के गुरु) के अनुसार गिनना चाहिए। (18)

आर्यभट का कहना है कि दिनारम्भ लंका में मध्यरात्र से गिनना चाहिए और वही फिर कहते हैं कि दिनारम्भ लंका में सूर्योदय से होता है। (20)

सूर्य के भारतवर्ष में उदित होते समय ही भद्राश्व के क्षेत्र में दोपहर होती है, कुरु में सूर्यास्त के समय केतुमाल में आधीरात होती हैं। (22)

लंका में जब सूर्योदय होता है, तो सिद्धपुर में सूर्यास्त, यमकोटि में दोपहर और रोमक देश में आधीरात[1]।

---

1. दिनवारप्रतिपत्तिर्न समा सर्वत्र कारणं कथितम् ।
नेहापि भवति यस्माद् विप्रवदन्तेऽत्र दैवज्ञाः ॥
द्विगणाद्दिनवाराप्तिद्युगणोऽपि हि देशकालसम्बन्धात् ।
लाटाचार्येणोक्तो यवनपुरेऽर्द्धास्तगे सूर्ये ॥
रव्युदये लङ्कायां सिंहाचार्येण दिनगणोऽभिहितः ।
यवनानां निशि दशभिर्गतैर्मुहूर्तैश्च तद्गुरुणा ॥
लङ्कार्द्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्यभटः ।
भूयः स एव सूर्योदयात्प्रभृत्याह लङ्कायाम् ॥
देशान्तरसंशुद्धिं कृत्वा चेन्न घटते तथा तस्मिन् ।
कालस्यास्मिन् साम्यं तैरेवोक्तं यथाशास्त्रम् ॥
मध्याह्नं भद्राश्वेष्वस्तमयं कुरुषु केतुमालानाम् ।
कुरुतेऽर्द्धरात्रमुद्यन् भारतवर्षे युगपदर्कः ॥
उदयो यो लङ्कायां सोऽस्तमयः सवितुरेव सिद्धपुरे ।
मध्याह्नो यमकोट्यां रोमकविषयेऽर्द्धरात्रः सः ॥ —पं० सि० 15. 17-22

इस सब पर विचार करते हुए मेरा मत है कि लाटदेव या लाटाचार्य यवन थे। जब लंका में सूर्योदय है, तो रोमक देश में आधीरात होनी चाहिए।[1] श्लोक 19 में आए सिंहाचार्य से सिंहलद्वीप या लंका के ज्योतिषियों का अर्थ निकाला जा सकता है या इसका अर्थ लंका का कोई खास प्रसिद्ध ज्योतिषी भी हो सकता है। सिद्धपुर लंका के ठीक दूसरी ओर हमारी धरती के तल पर है और उसी तरह यमकोटि रोमक देश के ठीक दूसरी ओर।

यवनपुर रोमक देश से भिन्न है, जो पंचसिद्धान्तिका के इस श्लोक से स्पष्ट है :

> रोमक देश से लिया गया देशान्तर अलग है और यवनपुर से लिया गया अलग; (दिनारंभ) लंका में आधीरात से गिनने से अलग आता है और सूर्योदय से गिनने से अलग।[2]

लाटदेव का संबंध यवनपुर से था, रोमक देश से नहीं।

पंचसिद्धान्तिका में श्रीषेण या विष्णुचन्द्र का जिक्र नहीं आता। फिर भी एक जगह पर इसमें शनि के प्रसंग में विजयनन्दी का नाम आता है।[3]

लंका, रोमक, सिद्धपुर और यमकोटि काल्पनिक स्थान हैं

महाभास्करीय, लघुभास्करीय और आर्यभटीय की एक टीका के लेखक भास्कर-प्रथम ईसवी सन् की सातवीं सदी में जीवित था और ब्रह्मगुप्त (628 ईसवी) का समकालीन था। वह आर्यभट-प्रथम (जन्म 476 ईसवी) का अनुवर्ती था। भास्कर-प्रथम अपनी महाभास्करीय में हिन्दू प्रथम याम्योत्तर पर स्थित कुछ जगहों के बारे में कहते हैं :

> लंका से (उत्तर की ओर प्रथम याम्योत्तर पर नीचे लिखे स्थान हैं) : खर नगर, सितोरुगेह, पाणाट, मिसितपुरी, तपर्णी, सितवर नामक ऊंचा पहाड़, वात्स्यगुल्म नामक धनी नगर, विख्यात वन-नगरी, अवन्ती,

---

1. आर्यभटीय में भी यही आया है : जब लंका में सूर्योदय होता है, सिद्धपुर में सूर्यास्त, यमकोटि में दोपहर और रोमक में आधीरात। (आ० भ० गोलपाद, 13)
   उदयो यो लङ्कायां सोऽस्तमयस्सवितुरेव सिद्धपुरे।
   मध्याह्नो यवकोट्यां रोमकविषयेऽर्धरात्रस्स्यात्॥
2. अन्यद्रोमकविषयाद्देशान्तरमन्यदेव यवनपुरात्।
   लङ्कार्द्धरात्रसमयादन्यत्सूर्योदयाच्चैव॥ —पं० सि० 15. 25
3. प्रद्युम्नभूमितनये जीवे सौरेऽथ विजयनन्दिकृते।
   बुधे च भग्नोत्साहः प्रस्फुटमिदं करणं भजतात्॥ —वही, 18. 62

> स्थानेश और मेरु, जहां प्रसन्न लोग रहते हैं। जो लोग इन स्थानों पर रहते हैं, उनके लिए देशान्तर (स्थानीय) शुद्ध करने का प्रश्न नहीं उठता।[1]

इस पर टिप्पणी करते हुए शुक्ल ने लिखा है :

> 'हिन्दू ज्योतिष में लंका उस जगह को बताती है, जहां हिन्दू प्रथम याम्योत्तर उज्जैन से जाती हुई भूमध्य रेखा को काटती है (अर्थात् 0 अक्षांश और 0 देशान्तर का स्थल)। वह भूमध्य रेखा पर माने गए चार काल्पनिक नगरों में से है, जिनके नाम हैं : लंका, रोमक, सिद्धपुर और यमकोटि। लंका को सूर्य सिद्धान्त में महापुरी बताया गया है, जो भारतवर्ष के दक्षिण में एक द्वीप पर स्थित है। सीलोन द्वीप का भी नाम लंका है, पर यह ज्योतिष का लंका नहीं है, क्योंकि वह भूमध्य रेखा से लगभग छः अंश उत्तर में है (म० भास्क० 1960, पृ० 47)।

खर नगर नासिक के पास है, जहां रावण का भाई खर रहा करता था। पाणाट और मिसितपुरी (या निसितपुर) की पँहचान नहीं हो सकी है। सितवर पहाड़ क्रौंचगिरि या कुमारपर्वत है जो श्रीशैल से तीन योजन दूरी पर है। वात्स्य-गुल्म इलाहाबाद से 38 मील दूर स्थित कौशाम्बी है। वन नगरी या तुम्बवन नगर मध्यप्रदेश का आधुनिक तुमैन है। अवन्ती उज्जैन है। स्थानेश स्थानेश्वर है, जो कुरुक्षेत्र के पास एक जगह है। मेरु उत्तर ध्रुव है। ऐसी सूची लल्ल, वटेश्वर, श्रीपति और भास्कर-द्वितीय (बारहवीं सदी ईसवी के) जैसे अन्य ज्योतिर्विदों ने भी दी है।

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

बृ० सं०	वराहमिहिर की बृहत्संहिता
ब्र० स्फु० सि०	ब्रह्मगुप्त का ब्राह्मस्फुट सिद्धांत
म० भास्क०	भास्कर प्रथम की महाभास्करीय
पं० सि०	वराहमिहिर की पंच सिद्धांतिका
शि० धी० वृ०	लल्ल की शिष्यधीवृद्धिद

---

1. लङ्कातः खरनगरं सितोरुगेहं पाणाटो मिसितपुरी तथा तपर्णी।
उत्तुङ्गस्सितवरनामधेयशैलो लक्ष्मीवत्पुरमपि वात्स्यगुल्मसंज्ञम्॥
विख्याता वननगरी तथा ह्यवन्ती स्थानेशो मुदितजनस्तथा च मेरुः।
मध्वाख्यः करणविधिस्तु मध्यमानामेतेषु प्रतिवसतां न विद्यते सः॥
—म० भास्क० 2. 1-2

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ।।

सोम, ब्रह्म, शिला और यज्ञ हमारे लिए कल्याणकर हों। यज्ञयूपों के पैमाने हमारा भला करें; पवित्र घास हमारे सुख के लिए बिखेरी जाए। वेदी (तैयार होकर) हमारी प्रसन्नता का साधन बने।

—ऋ० 7. 35. 7
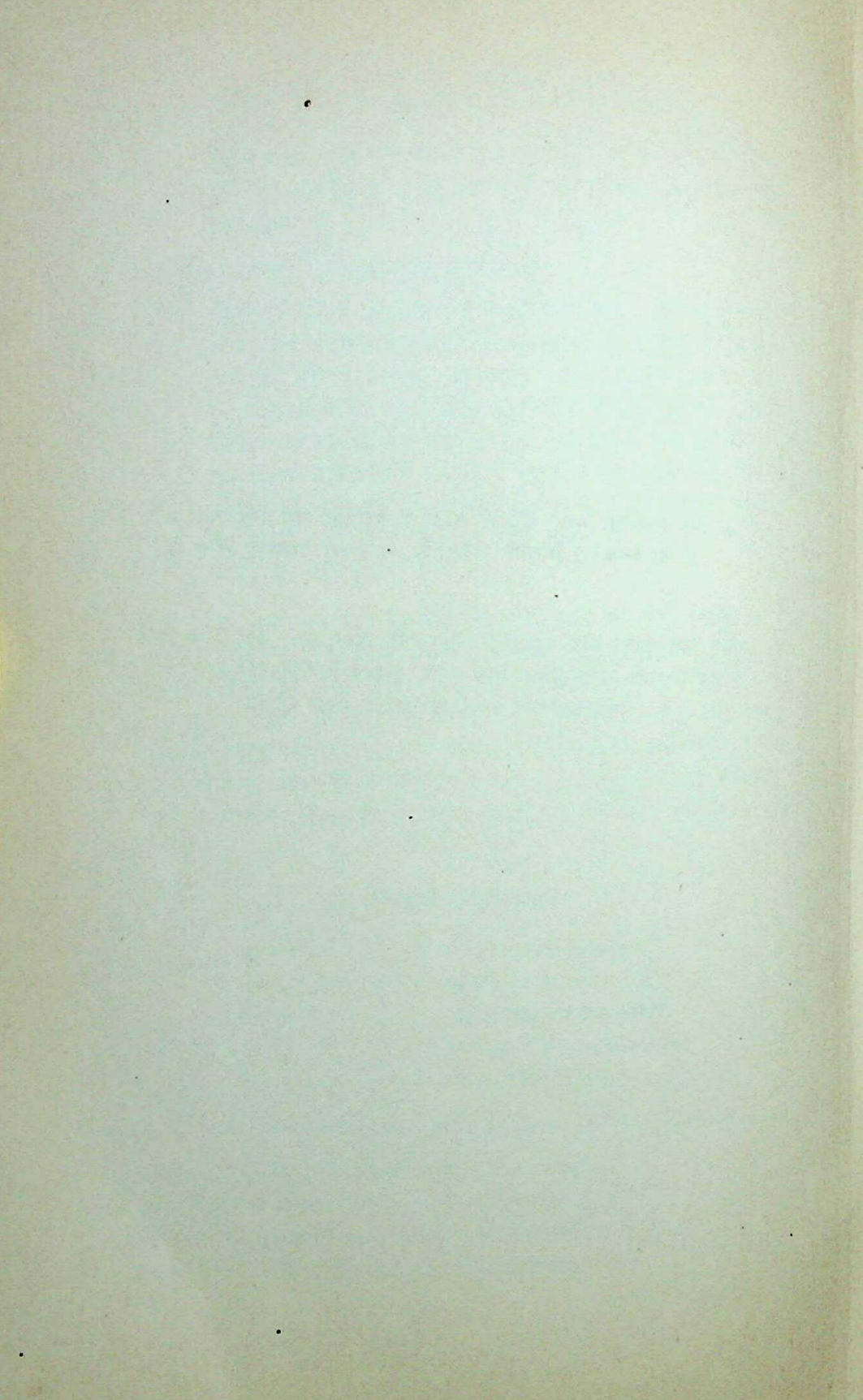
अध्याय : तेरहवां

बौधायन—
सबसे पहला महान् ज्यामितिज्ञ

८०० ई० पू०

ज्यामिति के विज्ञान का उद्भव भारत में वैदिक यज्ञ की वेदी का निर्माण करने के सिलसिले में हुआ। यह विज्ञान मुख्यतः भारत का है और इसका विकास एक ऐसे प्रयोजन से हुआ जिसके समकक्ष उदाहरण किसी दूसरे देश के मानव इतिहास में देखने को नहीं मिलता है। यह समझने के लिए कि वैदिक युग में किस तरह के ज्यामिति का ज्ञान जरूरी था, यज्ञ के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना जरूरी है, जिससे चतुर्दिक् उस प्राचीनतम युग में इस देश की समूची संस्कृति और सभ्यता का विकास हुआ।

वैदिक यज्ञ मुख्यतः दो तरह के हैं : नित्य या अनिवार्य या बाध्यकर और काम्य या वैकल्पिक या किसी विशेष कामना से किए जाने वाले। नित्य यज्ञ अवश्य करने चाहिए और उनका नियमित रूप से न करना पाप माना जाता था। काम्य विशेष लक्ष्य या कामना से किए जाते थे और जो उन बातों की सिद्धि नहीं चाहते थे, उनके लिए उनमें से कोई यज्ञ करना जरूरी नहीं था।

प्रामाणिक ग्रन्थों और वेदादि में विहित सख्त विधि-निषेध के अनुसार यज्ञ दिए हुए आकार की वेदी पर ही किया जाना चाहिए। इस विहित विधि-निषेध से थोड़ा भी इधर-उधर होना या जरा सी भी अनियमितता पूरे यज्ञ के फल को नष्ट कर देने वाली मानी जाती थी और उसका विरुद्ध या बिलकुल विपरीत फल भी होने की आशंका रहती थी।

तरह-तरह की वेदियां विहित की गई हैं। 'अग्नि' शब्द का मूल अर्थ आग था पर बाद में यह 'वेदी' का भी एक पर्याय हो गया। अनिवार्य (नित्य) यज्ञ के लिए अभिप्रेत नित्य अग्नियों या वेदियों में तीन प्रमुख ये हैं : गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण। वे रोज के यज्ञ के लिए होती हैं। इसके अलावा ऋतु विशेष के या अवधि विशेष के यज्ञ होते हैं, जो हव्य के स्वरूप के अनुसार तीन वर्गों में बांटे जाते हैं :

(एक) इष्टियज्ञ, जो हर दर्श (अमावस) और पौर्णमास (पूनम) को घी; फल आदि के हव्य से किया जाता है।

(दो) पशुयज्ञ, पशुओं (मनुष्य समेत) की शरीर रचना के अध्ययन के लिए जीवित या मृत पशुओं पर और अध्ययन के बाद अंगों का आग में निपटान करना; इनमें से निरुद्ध पशुबन्ध जैसे यज्ञ हर साल एक बार या खास तौर पर बरसात में अमावस या पूर्णिमा को किए जाते थे और इनमें से कुछ शरीर रचना की यज्ञ प्रयोगशालाओं में उत्तरायण और दक्षिणायन में वर्ष में दो बार किए जाते थे।

(तीन) सोम यज्ञ बड़ी विस्तृत तरह का और खर्चीला था और कभी-कभी ही किया जाता था।

शुल्ब और रज्जु

शुल्ब या शुल्व शब्द शुल्ब् या शुल्व् धातु से बना है, जिसका अर्थ मापना है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका मतलब 'नापना' या 'नापने' की क्रिया है। इससे इसका अर्थ हुआ 'नापी गई चीज' या 'एक रेखा या सतह' और साथ ही 'नापने का यन्त्र' या 'नापने की ईकाई'। इस तरह शुल्ब शब्द का अर्थ रस्सा या रस्सी भी था। रस्सी के लिए दूसरा शब्द 'रज्जु' है। 'शुल्ब' और 'रज्जु' शब्दों का कालांतर में चार अर्थों में प्रयोग होता था :

(क) क्षेत्रमिति या नापने की क्रिया-प्रक्रिया।

(ख) रेखा या सतह, जो नापने का फल हो।

(ग) एक माप, मापने का यन्त्र।

(घ) ज्यामिति या नापने की कला या विज्ञान।

हमारे साहित्य में तीन तरह के पैमानों का जिक्र आता है : रेखाओं के, सतह के और आयतन के। तीनों के लिए 'रज्जु' शब्द का प्रयोग किया गया है। शुल्ब साहित्य में नापने का फीता रज्जु कहा जाता है। रेखा को भी कभी-कभी रज्जु कहते हैं, जैसे 'अक्ष्णया रज्जु' शब्द विकर्ण रेखा के लिए आता है। कात्यायन शुल्ब सूत्र में आता है :

> (शब्द) करणी (करने वाली), तत्करणी (वह करने वाली), तिर्यङ्मानी (तिरछा मापने वाली), पार्श्वमानी (बगल मापने वाली) और अक्ष्णया (विकर्ण) ये पांच रज्जुएं (रेखाएं) होती हैं[1]।

---

1. करणी तत्करणी तिर्यङ्मानी पार्श्वमान्यक्ष्णया चेति पञ्च रज्जवः।

—का॰ शु॰ 2.7

मानव शुल्ब और मैत्रायणी शुल्ब में ज्यामिति विज्ञान को शुल्ब विज्ञान कहते हैं।

गणित-शाखाओं के विशेषज्ञों को अलग-अलग नाम दिए गए :
संख्यज्ञ : संख्याओं का विशारद।

परिमाणज्ञ : मापने में विशारद।

समसूत्रनिरञ्चक : समान रस्सी फैलाने वाला।

शुल्बविद् : शुल्ब में विशारद या ज्यामितिज्ञ।

शुल्ब परिपृच्छक : शुल्ब की पड़ताल करने वाला।

ग्रीक में समसूत्रनिरञ्चक का समानान्तर शब्द 'हार्पेडोनाप्टाए' है, जिसका मतलब रस्सा फैलाने वाला है। यह शब्द डैमोक्रिटोस (लगभग 400 ई० पू०) की रचनाओं में आया है, जो ग्रीक विज्ञानों पर भारतीय प्रणाली के प्रभाव का ही स्पष्ट संकेत देता है। पालि साहित्य में रज्जुक या रज्जुग्राहक शब्द आए है जो राजा के भूसर्वेक्षकों के लिए प्रयुक्त होते थे। पिछले शिल्पसूत्रों में ऐसा ही शब्द सूत्रग्राही या सूत्रधार है। वह भी रेखज्ञ या रेखाओं का जानकार था।

शुल्ब सूत्र

शुल्ब या शुल्ब सूत्र के निर्माण की हिदायतें देने वाली पुस्तिकाएं है। वे कल्प सूत्रों के या खासतौर पर श्रौत सूत्रों के खण्ड हैं जो छः वेदांगों में से एक है। हर श्रौत सूत्र का अपना शुल्ब सूत्र होता है, पर अभी इनमें से सात ही मिले हैं। इनको नीचे की सारणी में दिया गया है (इस सारणी में वे जिस वेद से सम्बद्ध हैं, उसका उल्लेख किया गया है और साथ ही अध्यायों और श्लोकों की संख्या भी दी गई है)। ये शुल्ब सूत्र अपने लेखकों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

लेखक	वेद	अध्याय	कुल सूत्र	टीकाकार
बौधायन	कृष्ण यजु०	1	113	1. द्वारकानाथ यज्वा शुल्ब दीपिका
		2	83	
		3	323	2. वेंकटेश्वरदीक्षित, शुल्ब मीमांसा
आपस्तम्ब	कृष्ण यजु०	21 खंड	223	1. कपर्दिस्वामी, शुल्ब-व्याख्या
				2. करविन्दस्वामी, शुल्ब-प्रदीपिका

लेखक	वेद	अध्याय	कुल सूत्र	टीकाकार
कात्यायन	शुक्ल यजु०	भाग 1 (सूत्र) (7 कंडिकाएं)	90	1. राम या रामचन्द्र, शुल्ब सूत्र वृत्ति
		भाग 2 (श्लोक)	40 या 48 श्लोक	2. महीधर, शुल्ब सूत्र बिवरण
मनु	कृष्ण यजु०	7 खंड	गद्य और श्लोक	—
मैत्रायण	कृष्ण यजु०	चार खंड	—	—
वाराह	कृष्ण यजु०	तीन भाग (अनेक खंड)	—	—
बाधुल	—	—	—	—

सभी उपलब्ध शुल्ब सूत्रों में बौधायन का सूत्र सबसे पुराना और बड़ा है। जैसा कि सारणी में बताया गया है, यह तीन अध्याय में बंटा हुआ है। पहले अध्याय में 116 सूत्र हैं। इनमें से दो भूमिका के सूत्र ही हैं; सूत्र 3-21 में शुल्बों में आमतौर पर काम में लाए जाने वाले पैमाने गिनाए गए हैं; सूत्र 22-62 में यज्ञवेदियों के बनाने के लिए ज्यादा जरूरी और महत्त्वपूर्ण बातें बताई गई हैं, और सूत्र 63-113 में संक्षेप में विभिन्न वेदियों की सापेक्ष स्थिति और जगहों की दूरियां दी गई हैं।

बौधायन शुल्ब सूत्र के दूसरे अध्याय में 83 सूत्र हैं जिनमें से ज्यादा हिस्सा सूत्र 1-61 अग्नियों (या ईंटों की बनी बड़ी अग्निवेदियों) की विभिन्न रचनाओं में जगहों की दूरियां सामान्य रूप से बताता है और बाकी हिस्सा सूत्र 62-63 दो साधारण अग्नियों (गार्हपत्य चिति या गृहस्थ की अग्निवेदी और छान्दस चिति या श्लोक की वेदी अर्थात् ईंटों की जगह मन्त्रों से बनी वेदी) के ब्यौरे देते हैं। तीसरा अध्याय पूरे 323 सूत्रों में 17 भिन्न-भिन्न तरह की जटिल प्रकार की काम्य अग्नियों (या विभिन्न वस्तुओं की कामना से किए गए यज्ञों की वेदियों) के निर्माण का वर्णन करता है। कुछ मामलों में बौधायन के ब्यौरे बड़े विस्तृत हैं, जबकि दूसरी जगहों पर वे संक्षिप्त है, और केवल संकेत देते हैं।

बौधायन और आपस्तम्ब ने करीब-करीब वही ज्यामितिक बातें कही हैं। अन्तर यही है कि आपस्तम्ब ने काम्य अग्नियों के बहुत थोड़े भेदों को ही लिया है। उदाहरण के लिए आपस्तम्ब केवल एक तरह की रथचक्रचिति (पहिए के आकार की वेदी) का बनाना सिखाते हैं, जबकि बौधायन दो बताते हैं। बौधायन

और आपस्तम्ब के ग्रन्थों की तुलना में कात्यायन के शुल्ब में कुछ रोचक बातें देखने को मिलती हैं और वह वैदिक चिति बनाने वाले के लिए ज्यामिति सम्बंधी सारा जरूरी ज्ञान क्रमबद्ध तरीके से सिखाते हैं। आपस्तम्ब और बौधायन दोनों के ही शुल्ब सूत्रों में हमें प्रमुख दिशा निश्चित करने का कोई तरीका देखने को नहीं मिलता, हालांकि यज्ञवेदियों के समुचित निर्माण के लिए उनका यथार्थ ज्ञान बहुत जरूरी है। मानव शुल्ब सूत्र में नापने वाले फीते, शंकु, पैमाने के विवरण और प्रमुख दिशा तय करने के चार तरीके और दी हुई सीधी रेखा पर वर्ग बनाने का एक तरीका दिया गया है। बौधायन और आपस्तम्ब यह मान कर चलते हैं कि प्रमुख दिशाएं पहले से ज्ञात हैं। कात्यायन इन प्रमुख दिशाओं को तय करने के तीन तरीके सिखाते हैं।

महत्त्व की दृष्टि से शुल्ब साहित्य दो वर्गों में बांटा गया है, पहले में बौधायन, आपस्तम्ब और कात्यायन की पुस्तिकाएं आती है। वे जैन मत (550-300 ई० पू०) के उदय से पहले वैदिक ज्यामिति की आरंभिक स्थिति हमें बताती हैं।

शुल्ब सूत्रों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली

शुल्बसूत्रों की विषयवस्तु की विस्तृत चर्चा से पहले इस साहित्य में आमतौर पर प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों से परिचित हो जाना उपयोगी होगा :

अक्ष्णा, अक्ष्णया : जो आर-पार या तिरछे अर्थात् विकर्ण से जाती है।

अक्ष्णया रज्जु : विकर्ण रस्सी

अक्ष्णया वेणु : विकर्ण बांस का लट्ठा

अर्ध्या : एक ईंट, चतुर्थी का आधी, हर एक समकोण त्रिभुज की तरह होती है, जिसकी भुजाएं $30, 30, \sqrt{1800}$ होती हैं।

अध्यास : फिर दुहरा करना, यह जोड़ और गुणा दोनों का वाचक बना। (इस तरह गुणा भी मूलतः जोड़ की ही एक प्रक्रिया माना गया)।

अस्र, अश्र : कोण: इसका प्रयोग त्र्यस्र अर्थात् त्रिकोण या त्रिभुज और चतुरस्र, चतुष्कोण या चतुर्भुज के समस्त पदों में होता है।

उभयतः प्रौग : एक चतुर्भुज, जिसके दोनों ओर प्रौग या प्रयुग या समद्विबाहु त्रिभुज होता है। समचतुर्भुज को विकर्णों से दो समद्विबाहु त्रिभुजों में बांट देते हैं।

एक कर्ण : जब किसी बहुभुज के सभी कोण बराबर होते हैं, तो उसे एक कर्ण कहते हैं।

कर्ण : (क) कोण; (ख) विकर्ण।

कोण : यह प्राकृत भाषा में कर्ण का ही घिसा हुआ रूप है; यह त्रिकोण, चतुष्कोण या पञ्चकोण जैसे समासों में प्रयुक्त होता है।

चतुःस्रक्ति : चार कोनों का; बौधायन द्वारा वर्ग के लिए प्रयुक्त।

चतुरस्र : चतुष्कोण।

चतुरसम : चारों समान भुजाओं वाला या वर्ग।

चतुर्थी : वर्गाकार (30 अंगुलियों का वर्ग) ईंट।

तिरः
तिरश्चि
तिरश्चिन्
तिर्यक् } : तिरछा करना, पलटना।

तिर्यङ्मानी : वेदी के वे किनारे जो प्राची के किनारे के समकोण पर होते हैं। इसका शब्दार्थ तिरछा माप है। यह पार्श्वमानी से भिन्न है, जो प्राची के दोनों ओर होती है, चाहे उसके समानान्तर हो या न हो।

त्रिकर्ण : त्रिकोण, तीन कोनों या या कोण वाला।

त्रिकोण : त्रिभुज।

त्र्यस्र : त्रिकोण।

दक्षिण प्रत्यक् : दक्षिण से होकर पश्चिम की ओर घूमना।

दक्षिण-प्राक् : दक्षिण से होकर पूर्व की ओर घूमना।

दक्षिणावर्त लेखा : घूम कर दाईं ओर जाने वाली रेखा (यह सव्यवृत रेखा से भिन्न है जो घूमती हुई बाईं ओर जाती है)।

दीर्घ चतुरस्र : आयत या बड़ा चतुरस्र; इसका संक्षेप दीर्घस् भी कभी-कभी आयत के लिए प्रयुक्त होता है।

निर्हार : घटाना।

पंच कर्ण : पंचभुज।

पंचकोण : पंचभुज।

पद-पुरस्तात् तिरश्चि : देखिए पश्चात् तिरश्चि।

परिणाह : वृत्त की परिधि।

परिमंडल : वृत्त, चारों ओर से गोल।

पश्चात् तिरश्चि : पश्चिम का अनुप्रस्थ किनारा; यह पुरस्तात् तिरश्चि या पद से भिन्न है, जो पूर्वी अनुप्रस्थ किनारा होता है।

पश्चात् तिरश्चि को मुख भी कहते हैं।

पाद्या : चतुर्थी ईंट का चौथाई; आयत त्रिकोण जिसकी भुजाएं होती हैं, 30, $\frac{1}{2}\sqrt{1800}$, $\frac{1}{2}\sqrt{1800}$

पार्श्व : किनारा।

पार्श्वमानी : वेदी के किनारे, जो इसकी प्राची या पूर्व की रेखा के दोनों ओर होता है, चाहे उसके समानान्तर हों या न हों। जो इसके समकोण पर होते हैं उनको तिर्यङ्मानी कहते हैं।

पृष्ठ्य : वेदी की संमिति की रेखा; व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द 'पृष्ठ' से बना है जिसका अर्थ पीठ है। यह रेखा वेदी की पृष्ठ या रीढ़ को बताती है।

प्र-उ-ग या प्रयुग : समद्विबाहु त्रिभुज; समचतुर्भुज को उभयतः प्र-उ-ग कहते हैं, जिसका मतलब है विकर्ण के दोनों ओर प्र-उ-ग।

प्रधि : वृत्त का चाप।

प्राची : यज्ञ वेदी इस रूप में बनाई जाती है कि इसकी मुख्य सम्मिति रेखा हमेशा पश्चिम से पूर्व की दिशा में रहे। सम्मिति रेखा को प्राची या पूर्व वाली रेखा

कहते हैं। शुल्ब के सभी निर्माण इस रेखा के सम्बन्ध से निरूपित किए जाते हैं। इस तरह शुल्ब ज्यामिति में इसका प्राथमिक महत्त्व है।

भूमि : किसी आकार का क्षेत्रफल; आकार को क्षेत्रफल कहते हैं। कभी-कभी क्षेत्र शब्द क्षेत्रफल के अर्थ में भी आता है।

मंडल : वृत्त, इसे परिमंडल भी कहते हैं।

मुख : पश्चात् तिरश्चि या पश्चिमी अनुप्रस्थ रेखा का दूसरा नाप।

मध्य : वृत्त का बीच, केन्द्र; इसे वृत्त या आयत या रेखा के सबसे बीच के विन्दु के लिए सामान्य अर्थ में भी लिया जाता है।

रेखा : पंक्ति, लेखा भी इसे ही कहते हैं।

लेखा : रेखा।

लेखा ऋजु : सरल रेखा।

विषम चतुरस्र : असमान भुजाओं का चतुर्भुज।

विष्कम्भ : वृत्त का व्यास।

वेदी : यज्ञ का कुंड।

व्यास : वृत्त का व्यास, वही जिसे विष्कम्भ भी कहते हैं।

समचतुरस्र : वर्ग; चारों समान भुजाओं वाला।

समस्त : जोड़ में आई कुल रकम।

समास : जोड़ना।

सव्यवृत लेखा : बाईं ओर घूमकर मुड़ने वाली रेखा। यह दक्षिण-वृत लेखा से भिन्न होती है, जो दाईं ओर को घूमती है।

स्रक्ति : कोण या कोना। यह समास में आता है जैसे चतुः स्रक्ति अर्थात् चतुष्कोण; नवस्रक्ति अर्थात् स्वर्ग के नौ कोने।

हंसमुखी : पांच कोनों वाली ईंट।

बौधायन से पूर्व की ज्यामिति

बौधायन और आपस्तम्ब ने यह दावा कभी नहीं किया कि ज्यामिति के सिद्धान्तों की खोज सबसे पहले उन्होंने की थी, या वे उनको वेदी-निर्माण की समस्याओं के लिए काम में लाए थे। जब कभी वे किसी प्रस्थापना का वर्णन करते हैं: तो वे कहते हैं : (1) प्रमाण-पुरुषों ने ऐसा माना या विहित किया है; (2) उनका उपदेश यह है; (3) यह कहा गया है (इति अभ्युपदिशन्ति, इति विज्ञायते, इत्युक्तम् आदि)। इसका मतलब यही है कि वे वही कह रहे हैं, जो पूर्व विद्वान् कह चुके हैं। जहां ऐसी बात कही गई है, उनमें से ज्यादातर पद तैत्तिरीय संहिता या तैत्तिरीय ब्राह्मण या उसके आरण्यक के शब्दश: उद्धरण हैं। इस सिलसिले में इन अंशों की तुलना की जा सकती है :

बौधायन श्रौतसूत्र	तैत्तिरीय संहिता
24. 2	1. 2. 2. 3
24. 29	1. 7. 3. 1
26. 21	7. 4. 2. 3

प्राय: बौधायन अपने पूर्वग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। किसी विशेष वेदी के आकार और स्वरूप के बारे में वेदी-निर्माताओं के बीच कुछ मतभेद के सिलसिले में बौधायन किसी सन्तोषजनक निर्णय पर पहुंचने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का स्पष्ट नामोल्लेख करते हैं। ब्राह्मण से उनका मतलब तैत्तिरीय संहिता से है। वे ऐसे शब्द कहते देखे जाते हैं :

> यह ठीक नहीं है क्योंकि यह पूर्व विद्वानों की बात के विरोध में है। इसके बारे में कुछ ब्राह्मणों में यह कहा गया है...दूसरे में यह कहा गया है...और हमारे पक्ष का पोषक ब्राह्मण यह कहता है[1]।

> इस बारे में एक ब्राह्मण में यह कहा गया है[2]। (यहां तैत्तिरीय संहिता 5. 2. 5. 1 का जिक्र है)।

> कई जगहों पर तैत्तिरीय संहिता के उद्धरण दिए हैं :
> बौ० सू० 3. 6 देखिए तै० सं० 5. 3. 1, 5; 5: 5. 3. 2

---

1. तन्नोपपद्यते पूर्वोत्तरविरोधात्। अथ हैकेषां ब्राह्मणं भवति श्येनचिदग्नीनां पूर्वा ततिरिति। अथापरेषाम्। न ज्यायाँसं चित्वा कनीयाँसं चिन्वीतेति। अथास्माकम्। —बौ० शु० सू० 2. 15-19
2. अथापि ब्राह्मणं भवति। —वही, 2. 35

बौ० शु० सू० 3. 1 देखिए तै० सं० 5. 4. 11. 1

उन्होंने एक बार मैत्रायणीय ब्राह्मण का भी नामोल्लेख किया है[1]।

ऋग्वेद और ज्यामिति

ब्राह्मण साहित्य को ज्यामिति के लिए प्रेरणा मुख्यतः ऋग्वेद से ही मिलती है, जिसमें अग्नि के 'तीन स्थानों' (त्रिषधस्थे) का जिक्र है, जिसका तात्पर्य गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि से है। इन तीन अग्नियों का सम्बन्ध तीन तरह की वेदियों से है :

(क) गार्हपत्य की वेदी गोल आकार की होनी चाहिए।

(ख) आहवनीय की वेदी हमेशा वर्गाकार की होनी चाहिए।

(ग) दक्षिणाग्नि की वेदी अर्द्धवर्तुल होनी चाहिए।

शुल्ब सूत्रों में आगे यह भी कहा गया है कि प्रत्येक का क्षेत्रफल एक जैसा और 1 वर्ग व्याम (1 व्याम=96 अंगुलियां) के बराबर होनी चाहिए। यह सही है कि ऋक्संहिता में तीन अग्निवेदियों का साकार-स्वरूप निश्चित नहीं किया गया है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि परवर्ती ब्राह्मणों में जो रूप मिलता है, वे उससे भिन्न नहीं रही होंगी। इस आधार पर विभूति भूषण दत्त द्वारा किया किया गया यह दावा मान्यता देने योग्य है :

> 'इससे यह लगता है कि वृत्त को वर्गाकार करने और कर्ण पर वर्ग बनाने की समस्याएं (कम से कम अपने सरल रूप में) भारत में ऋग्वेद जितनी पुरानी हैं। वे और भी ज्यादा पुरानी हो सकती है, क्योंकि ओल्डेन वर्ग ने यह दिखाया है कि ये तीन अग्नियां ऋग्वेद से भी पुरानी हैं।'
>
> —दत्त : दि साइंस आफ दि शुल्ब, 1932 पृ० 27

इस देश में ऐसे काल की बात सोचना मुश्किल है, जब ऋग्वेद की रचना नहीं हुई थी। पर हम यही कह सकते हैं कि इस वेद से प्रेरणा लेकर अग्निवेदियों के जो सबसे पहले निर्माण किए गए थे, उनमें निश्चित ज्यामितिक स्वरूप थे और उनके सापेक्ष आकार थे। निर्माण कार्य करने लिए विद्वान् विशेषज्ञों की एक शृंखला खड़ी हो गई। इस विज्ञान का विशेषज्ञ अग्निचित् या अग्निवेदी का निर्माता कहा जाने लगा।

---

1. समचतुरश्राभिरग्निं चिनुते दैव्यस्य च मानुषस्य च व्यावृत्त्या इति मैत्रायणीय ब्राह्मणम् ! बौ० शु० सू० 3. 10

चिति को वेदी भी कहते थे। हमें ऋग्वेद में वेदी और उसके निर्माण के कई उल्लेख मिलते हैं :

अध्वर्यु वेदी को सजाएं; वे पूर्व में अग्नि प्रज्वलित करें[1]।
ध्वनि करने वाले पत्थर जिनको घुमाने के लिए अध्वर्यु आगे आते हैं, वेदी को बनाएं[2]।

यज्ञ-स्तंभ की नापी हुई दूरी हमारा कल्याण करे, हमारे कल्याण के लिए पवित्र कुश बिछाएं जाएं; हमारी प्रसन्नता के लिए वेदी का निर्माण किया जाए[3]।

उन्होंने सुभग अग्नि के लिए वेदी बनाई और आहुतियां डालीं[4]।

गार्हपत्य अग्नि का नाम ऋग्वेद 1. 15. 12, 6. 15. 19 और 10. 85.27[5] में आया है। मैं एक ही उद्धरण दूंगा :

इसमें तेरे पति के परिवार का स्नेह शिशु के साथ बढ़े। इस घर की गार्हपत्य अग्नि की देखभाल करना।

वेदियां और शतपथ ब्राह्मण

गार्हपत्य के 1 वर्ग व्याम (=पुरुष) जितना वृत्त होने का और आहवनीय के उतने ही आकार का वर्ग होने का पहला स्पष्ट विवरण शतपथ ब्राह्मण में आया है :

यह (गार्हपत्य अग्नि वेदी) अर्द्ध व्यास में एक व्याम होती है, क्योंकि मनुष्य एक पुरुष (=व्याम) ऊंचा होता है और वह प्रजापति है और अग्नि प्रजापति है : वह अपने आकार के बराबर ही (अग्नि की) योनि को बनाता है। यह परिमण्डल या वर्तुल होती है

---

1. अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः। —ऋ० 1. 170. 4
2. वदन् ग्रावाव वेदिं भ्रियाते यस्य जीरमध्वर्यवश्चरन्ति। —वही 5. 31. 12
3. शं न सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं न स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः॥ —ऋ० 7. 35. 7
4. त इद् वेदिं सुभग त आहुतिं। —वही, 8. 19. 18
5. गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना (ऋ० 1. 15. 12); प्रस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु (ऋ० 6. 15. 19); इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः॥ —ऋ० 10. 85. 27

क्योंकि योनि वर्तुल होती है। फिर गार्हपत्य इस लोक का प्रतीक है और यह लोक (भूमण्डल) निश्चय ही गोलाकार है[1]।

शतपथ के सातवें काण्ड के पहले अध्याय में गार्हपत्य चिति के ब्यौरे दिए गए हैं। अग्निवेदी के निर्माताओं को अग्निचित् कहा गया है (7. 1. 1. 1)। अग्नि चित्[2] पलाश की शाखा से स्थली को साफ करता है। फिर वह ऊषा (खारी मिट्टी) या उल्बा (एमनिआन) को बखेरता है और फिर उनको सूखने से बचाने के लिए उस पर रेता डालता है। इससे वह पूरी वर्तुल गार्हपत्य वेदी को ढक देता है। गार्हपत्य अग्नि ही योनि है और खारी मिट्टी ही उल्ब है। फिर वह उसे ढकने वाले पत्थर (परिश्रित) से पाट देता है। वह पत्थर को दाहिने पलटकर (दक्षिणावृत्त) या दक्षिण को हर पत्थर में गड्ढा करके रख देता है। वृत्त में कुल मिलाकर 21 पत्थर होते हैं। इस तरह वह चारों ओर रखता जाता है और ऊपर की ओर को करके उनको रखता हुआ ऊंचा ले जाता है; इस तरह वह पाटने वाले पत्थर (परिश्रित) रखता है और कई इंटें (इष्टकाः) जैसे लोकम्पृण (जगह भरने वाली) रखता है। इसके ऊपर फिर वह वेदी या चिति बनाता है।
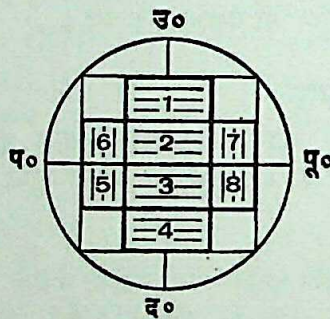
आकृति—1

गार्हपत्य वेदी (एगलिंग)

वह वर्तुल स्थली पर प्राची की ओर चार ईंटें रखता है। दो पीछे की ओर आड़ी (दक्षिण से उत्तर) रखता है और ऐसी ही दो सामने। वह जो चार

---

1. व्याममात्री भवति। व्याममात्रो वै पुरुषः, पुरुषः प्रजापतिः, प्रजापतिरग्निरात्मसम्मितां तद्योनिं करोति परिमण्डला भवति, परिमण्डला हि योनिरथोऽअयं वै लोको गार्हपत्यः परिमण्डलं ऽ उ वा ऽ अयं लोकः॥ —श० ब्रा० 7. 1. 1. 37
2. गार्हपत्यं चेष्यन्पलाशशाखया व्यूदूहति। अवस्यति हैतद्यद् गार्हपत्यं चिनोति य ऽ उ वै के चाग्निचितोऽस्यामेव तेऽवसितास्तद्यद् व्युदूहत्यवसितानेव तद् व्युदूहति नेदवसितानद्यवस्यानीति॥ —श० ब्रा० 7. 1. 1. 1

ईंटें पूर्व की ओर रखता है देह का प्रतीक हैं। दो पीछे की ओर जांघें हैं और दो आगे की बांहें हैं।

(ईंटें पूर्व की ओर रखना : यह आकृति में पश्चिम से पूर्व जाने वाली रेखाओं से अंकित करके बताया गया है। ये चार ईंटें चौकोर हैं और दो फीट गुणा एक फुट हैं। जो चार ईंटें पीछे या सामने रखी गई हैं वे एक फुट वर्गाकार की हैं। वर्ग के कोनों वाली भी इतनी ही बड़ी हैं—केवल दक्षिण के कोने में 1 फुट आधा फुट की दो ईंटें रखी जाती हैं।)

गार्हपत्य वेदी में अग्नि का प्रतिनिधित्व पक्षी की तरह नहीं (क्योंकि पूंछ और पंख नहीं होते) बल्कि पीठ के बल लेटे आदमी की तरह होता है, जिसका सिर पूर्व की ओर होता है। आहवनीय अग्नि की महावेदी में पूंछ और पंख भी होते हैं।

एक व्याम (अर्द्धव्यास) आकार वाली गार्हपत्य वेदी के बारे में एगलिंग का कहना है :

> यह वृत्त एक वर्ग व्याम के क्षेत्र के बराबर का होता है, जिसका अर्द्धव्यास लंबाई में एक व्याम से कुछ ज्यादा रहता है (जो बाहें फैलाने पर बीच की अंगुली के पोरों की दूरी जितना होना है)। यह माप कम से कम सि ान्ततः सापेक्ष है, जो याजक के आकार के अनुसार कम ज्यादा हो सकता है, पर व्यवहारतः व्याम या पुरुष लगभग छः फीट माना जा सकता है। क्योंकि व्याम चार अरत्नि के बराबर माना गया है और अरत्नि में दो-दो प्रादेश (करीब 18 इंच की लंबाई) होते हैं।
>
> इससे मध्य का वर्ग चार फीट का होता है और खंडों के दोनों समद्विभाजक लगभग 1-1 फुट (वस्तुतः कुछ कम) होते हैं।

आहवनीय महावेदी के लिए स्थली तैयार करना

इसका विवरण शतपथ ब्राह्मण में सोमयज्ञ के सिलसिले में किया गया है। महावेदी का माप 3. 5. 1 में दिया गया है। शक्ल में यह समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज होती है, जिसका फलक 24 पद या प्रक्रम होता है, आधार 30 पद और लंब 36 पद। यह देखना बड़ा रोचक है कि बिन्दु निश्चित करने के लिए शंकुओं का इस्तेमाल किया जाता था। हम पूरा विवरण तो नहीं दे सकते, पर नीचे लिखे उद्धरण शक्ल तय करने का तरीका बता देंगे :

हाल (प्राचीन वंश) के पूर्व की ओर के सबसे बड़े स्थल से अब वह तीन कदम

आगे (पूर्व की ओर) रखता है और वहां एक खूंटी (शंकु) गाड़ देता है। यह बीच की स्थिति (अन्तःपात) है।

बीच के शंकु से वह पन्द्रह कदम दाएं चलता है और वहां वह एक खूंटी (शंकु) गाड़ देता है। यह दायां कूल्हा है।

बीच की खूंटी से वह पन्द्रह कदम उत्तर को चलता है और वहां एक खूंटी गाड़ देता है। यह बायां कूल्हा है।

उस बीच की खूंटी से वह छत्तीस कदम पूर्व को चलता है और वहां एक खूंटी गाड़ देता है। यह पूर्वार्द्ध है।

उस बीच की खूंटी से वह (सामने) बारह कदम दाएं को चलता हैं और वहां एक खूंटी गाड़ देता है—यह दायां कंधा है।

उस बीच की खूंटी से वह बारह कदम उत्तर को चलता है और वहां एक खूंटी गाड़ देता है। यह बायां कंधा है। यह वेदी का माप है।[1]

इस माप में प्राची दिशा छत्तीस कदम लंबी बताई गई है। यह रेखा पश्चिमी किनारे के बीच से वेदी के सामने को ओर खींची जाती है। यह वेदी की रीढ़ या पृष्ठय होती है।

उत्तर वेदी महावेदी के आगे की ओर बनती है। यह यज्ञ की नासा होती है। गड्ढे या चात्वाल का माप भी उत्तर वेदी जितना ही बताया गया है (26)

अब वह जुए की कीली (शम्या) और काठ की तलवार (स्फ्या) को लेता है और जहां आगे की उत्तरी खूंटी है, वहां से वह तीन कदम पीछे चलता है और वहां चात्वाल तय कर देता है। गड्ढे का माप वही

---

1. तद्य ऽ एष पूर्वार्द्धंयो वर्षिष्ठ स्थूणाराजो भवति। तस्मात्प्राङ् प्रक्रामति त्रीन्विक्रमांस्तच्छङ्कु निहन्ति सोन्तः पातः (1)। तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। दक्षिणा पञ्चदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सा दक्षिणा श्रोणिः (2)। तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। उदङ् पंचदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सोत्तरा श्रोणिः (3)। तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। प्राङ् षट्त्रिंशतं विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स पूर्वार्द्धः (4)। तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। दक्षिणा द्वादश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं विहन्ति स दक्षिणोंऽसः (5)। तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। उदङ् द्वादश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स उत्तरोंऽस एषा मात्रा वेदेः (6)॥

—श० ब्रा० 3. 5. 1. 1-6

यज्ञवेदी की आयोजना

व्याख्या

आ = आहवनीय अग्नि
ग = गार्हपत्य अग्नि
द = दक्षिणाग्नि
ब = ब्रह्मा का आसन
य = यजमान का आसन

व्याख्या

प = पत्नी (यजमान की पत्नी) का आसन
ह = होतृ का आसन
अ = आग्नीध्र का आसन
प्र = प्रणीता की जगह
उ = उत्कर (कूड़े का ढेर)

(आकृति 12)
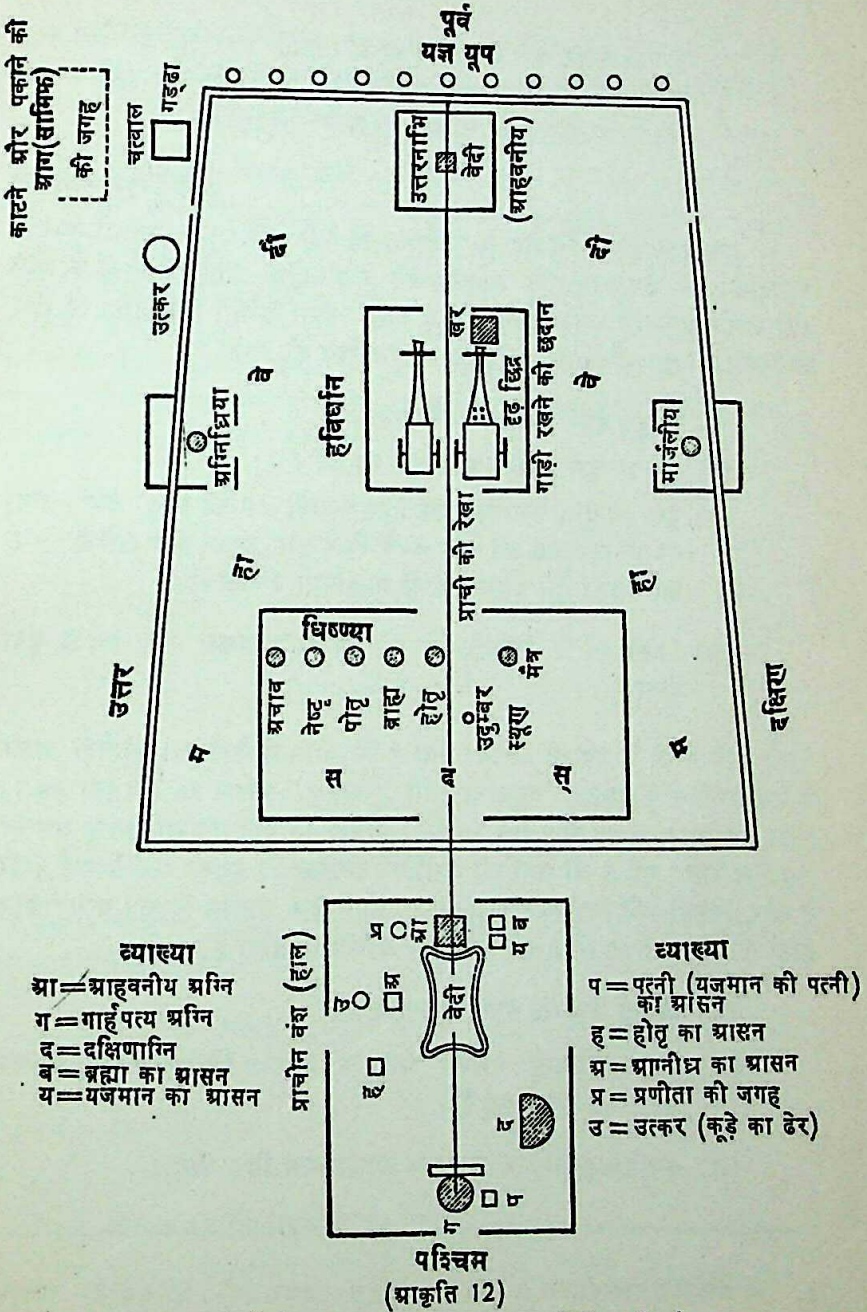
महावेदी (शतपथ ब्राह्मण भाग 2, पृष्ठ 475, एगलिंग)

है (जो उत्तर वेदी का); इसका और कोई माप नहीं है; जैसा स्वयं उसके मन में आए, कूड़े के ढेर (उत्कर) के सामने, वहीं पर वह गड्ढे (चात्वाल) को अंकित करता है[1] । (26)

ज्यामितिक संक्रियाएं

हम बता चुके हैं कि वेद में गार्हपत्य की वेदी को वर्तुल बताया गया है, आहवनीय को वर्गाकार और दक्षिण को अर्द्धवर्तुल । फिर भी तीनों का क्षेत्र वही अर्थात् एक वर्ग व्याम होना चाहिए । इन तीनों वेदियों के निर्माण के लिए ज्यामिति की इन संक्रियाओं के ज्ञान की पूर्वापेक्षा की जाती है :

(क) दी हुई सीधी रेखा पर वर्ग बनाना ।

(ख) वर्ग का वृत्त बनाना और वृत्त का वर्ग ।

(ग) वृत्त को दूना करना, इसके लिए करणी $\sqrt{2}$ का ज्ञान जरूरी होगा या इसे एक वर्ग को दूना करके फिर वृत्त बनाने के तरीके से किया जा सकता है । इससे यह भी प्रस्थापना निकलेगी :

(घ) किसी वर्ग के विकर्ण पर बने वर्ग का क्षेत्रफल उस वर्ग से दूना होता है ।

हमें ग्रन्थों में यह भी बताया गया है कि सौमिकी वेदी या महावेदी शक्ल में एक समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज होती है जिसका फलक 24 पद (या प्रक्रम) होता है आधार 30 पद और लंब 36 पद । सौत्रामणी वेदी एक समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज बताई गई है जो महावेदी जैसी पर क्षेत्रफल में उसको एक तिहाई होती है और पैत्रिकी वेदी पिछली का नवमांश होती है । प्राग्वंश (हाल) आयताकार होता है । इस या इस तरह की वेदी में ये संक्रियाएं होती हैं :

(ङ) दी गई भुजाओं वाला आयत बनाना ।

(च) ऐसा समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज बनाना जिसके फलक, आधार और लंब बताए गए हैं ।

(छ) समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज का क्षेत्रफल निकालना ।

---

1. अथ शम्याञ्च स्फ्यञ्चाऽदत्ते । तद्य एष पूर्वार्द्धयः उत्तरार्द्धयः शङ्कुर्भवति तस्मात् प्रत्यङ् प्रक्रामति त्रीन् विक्रमांस्तच्चात्वालं परिलिखति सा चात्वालस्य मात्रा नात्रमात्रास्ति यत्रैव स्वयं मनसा मन्येताऽग्रेणोत्करं तच्चात्वालं परिलिखेत् ।
—श० ब्रा० 3. 5. 1. 26

(ज) एक ऐसा समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज बनाना जिसका क्षत्रफल दूसरे समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज के सरल अपवर्त्य या अपवर्तक के बराबर होगा और वह वैसा होगा।

कुछ वेदियों का निर्माण और भी जटिल होता है। एक श्येन चित् या बाज के आकार की वेदी बताई गई है। इस चिति की आत्मा (देह) चार वर्ग पुरुष होती है। इसका प्रत्येक पंख एक पुरुष गुणा एक पुरुष और एक अरत्नि आकार का आयत होता है (एक अरत्नि = 1/5 पुरुष) इसकी पूंछ एक पुरुष और एक प्रादेश का आयत होती है (एक प्रादेश = 1/10 पुरुष)। इस वेदी को आमतौर पर सप्तविध सारत्नि प्रादेश चतुरस्र श्येनचित् जाना जाता है क्योंकि इसका क्षेत्रफल $7\frac{1}{2}$ वर्ग पुरुष होता है। इसकी शक्ल बाज जैसी होती है और इसके बनाने में वर्गाकार ईंटें इस्तेमाल की जाती है।
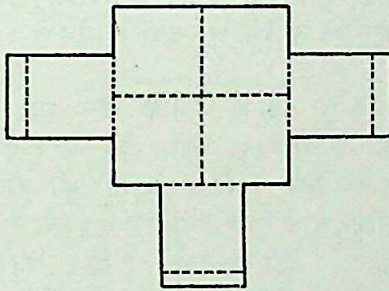
आकृति—3

श्येन-चित्

हम अन्य अनेक वेदियों के ब्योरों को न लेंगे, जिनके नाम भी किसी न किसी पशु-पक्षी आदि पर हैं, जैसे—

(1) वक्र पक्ष व्यस्त पुच्छ श्येनचित् (बाज पंख झुकाए और पूंछ फैलाए हुए)।

(2) कंकचित्।

(3) अलजचित्।

(4) प्र-उ-ग (समद्विबाहु त्रिभुज) चित् :

(5) उभयतः प्र-उ-ग (दोनों ओर समद्विबाहु त्रिभुज, सम-चतुर्भुज) चित्।

(6) रथचक्र चित्।

(7) द्रोणचित्।

(8) समूह्यचित् :
(9) श्मशानचित् ।
(10) कूर्मचित् आदि ।

इन वेदियों के निर्माण में ये ज्यामितिक संक्रियाएं जरूरी होंगी :

(ऋ) दूसरे वर्ग के समान सरल अपवर्त्य (अपवर्तक) वाला वर्ग बनाना।
(भ) दो असमान वर्गों के जोड़ या अन्तर के बराबर वर्ग बनाना।
(ट) आयत को वर्ग में और वर्ग को आयत में पलटना।
(ठ) वर्ग के बराबर त्रिभुज या चतुर्भुज बनाना।

इन सबके लिए निम्न सुविदित प्रमेय को मानना जरूरी है :

(ड) किसी आयत के विकर्ण पर बने वर्ग का क्षेत्रफल उसकी दो भुजाओं के वर्गों पर बने वर्गों के क्षेत्रफलों के योग के बराबर होता है।

यह रिवाज थी कि हर वेदी में ईंटों के पांच रद्दे रखे जाएं; ये पांच रद्दे वेदी को घुटनों की ऊंचाई तक पहुंचा देते थे (=लगभग 32 अंगुलि)। फिर शास्त्रों में हर रद्दे के लिए विशिष्ट आकार की ईंटों की निश्चित संख्या विहित की गई है। उदाहरण के लिए वर्गाकार गार्हपत्य वेदी का हर एक रद्दा वर्गाकार या आयताकार 21 ईंटों से बनता है और चतुरस्र श्येनचित् के हर रद्दे में 200 वर्गाकार ईंटें होती हैं। कुछ काम्य यज्ञों में ईंटों की संख्या वही 200 रहती है, पर उनके आकार अलग-अलग हो जाते हैं। स्वभावतः इस सबके लिए इसकी जरूरत होगी : (1) आकृतियों का दिए गए आकारों के हिस्सों में खास संख्या में बांटना और (2) कभी-कभी अनिर्णीत स्वरूप की समस्याओं का निपटान।

अभिधारणाएँ

डा० विभूति भूषण दत्त ने अपनी 'दि साइंस आफ़ दि शुल्ब' में ऐसी कई अभिधारणाएँ गिनाई हैं, जो ज्यामितिक संक्रियाओं के लिए शुल्ब के ज्यामितिज्ञों ने अप्रत्यक्ष रूप से मान ली थीं। इनमें कुछ दूसरे नतीजों की सचाई भी शामिल हैं, हालांकि उनका पहले से ब्योरा देने की या उनको कैसे किया जा सकता है यह बताने की कोई कोशिश नहीं की गई है। वस्तुतः वे यूक्लिड के अर्थ में सच्चे रूप में अभिधारणाएँ हैं भी नहीं। शुल्ब की ये अभिधारणाएँ आकृतियों के विभाजन के बारे में हैं जैसे—सरल रेखा, आयत, वर्ग और त्रिभुज। इनका सारांश हम दत्त की पुस्तक से दे रहे हैं।

अभिधारणा—एक : दी हुई निश्चित सरल रेखा को कितने ही समान हिस्सों में बांटा जा सकता है

यह विभाजन ज्यामिति से होना चाहिए, गणित से नहीं। बौधायन[1] में बांटने का जिक्र करते हैं, इनमें से प्रत्येक 29 हिस्सों (1. 59) एक स्थल पर एक दिए हुए वृत्त के अर्द्धव्यास को आठ बराबर हिस्सों में बांटा जाता है और इसी तरह आगे भी। बौधायन शुल्ब में ऐसे अनेक सूत्र हैं, जो एक सीधी रेखा को कई बराबर हिस्सों में बांटने का उल्लेख करते हैं।

यह सदा संभव नहीं कि एक रेखा को गणित की दृष्टि से बांट दिया जाए। हमें सीधी रेखा के ऐसे टुकड़ों में बांटे जाने के दृष्टान्त मिलते हैं, जिनको समकक्ष संख्याओं में व्यक्त नहीं किया जा सकता। एक वर्ग का वृत्त बनाने में ऐसी रेखा को तीन हिस्सों में बांटना पड़ता है[2] (1. 58), दूसरे मामले में 12 हिस्सों में[3] (3. 162)। कभी-कभी दी गई सीधी रेखा ऐसी होती है कि गणित में व्यक्त करने पर हिस्सों में बड़ी-बड़ी भिन्नें आती हैं। ऐसे ही एक वर्ग की 96 अंगुलियों की भुजा को सात बराबर हिस्सों में बांटना होता है[4] (2. 64)।

अभिधारणा—दो : अर्द्ध व्यास खींचकर वृत्त को कितने ही हिस्सों में बांटा जा सकता है

एक बौधायन सूत्र में हमें यह उल्लेख मिलता है कि धिष्ण्या आकार में वर्ग या वर्तुल हो सकती है और उनमें से एक अग्नीध्रीय को नौ हिस्सों में बांटना होता है। एक वर्गाकार वेदी के मामले में इसे नौ हिस्सों में (नौ छोटे वर्गों में) भुजाओं के त्रिखंड में से तिरछी रेखाएं खींचकर आसानी से बांटा जा सकता है। जब यह वर्तुल होती है तो उसके केन्द्र में से एक छोटा वृत्त बनाकर वलय को फिर चार अर्द्ध व्यास खींचकर आठ बराबर हिस्सों में बांट देते हैं (आकृति 4-5) (2. 73-74)[5]। इसी तरह मार्जलीय अग्नि की वैकल्पिक वर्तुल शक्ल में

---

1. मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन्विष्कम्भमष्टौ भागान्कृत्वा भागामेकोनत्रिंशधा विभज्याष्टाविंशति भागानुद्धरेद् भागस्य च षष्टमष्टमभागोनम्। —बौ० शु० सू० 1. 59
2. चतुरस्रं मण्डलं चिकीर्षन्नक्षणयार्धं मध्यात्प्राचीमभ्यापातयेद्यदतिशिष्यते तस्य सह तृतीयेन मण्डलं परिलिखेत्। —वही 1. 58
3. यावानग्निः सारत्नि प्रादेशस्तावत्प्रउगं कृत्वा तस्यापरस्याः करण्या द्वादशेनेष्टकास्तदर्धव्यासा. कारयेत्। —वही 3. 162
4. एकेषां चतुरश्रं सप्तधा विभज्य तिरश्चीं त्रेधा विभजेत्। —वही 2. 64
5. धिष्ण्या एकचितीकाश्चतुरश्राः परिमण्डला वा।
तेषामाग्नीध्रीयं नवधा विभज्यैकस्या स्थानेऽश्मानमुपदध्यात्। —वही 2. 73-74

से वृत्त को 32 बराबर हिस्सों में बांटना होता है[1] (3. 200); एक अन्य वलय को 64 बराबर हिस्सों में और फिर माध्य वृत्त खींचकर दो-दो हिस्सों में (3. 202)[2]।
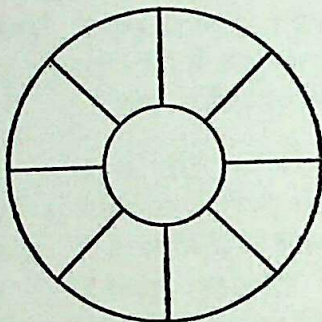
आकृति—4

अभिधारणा—तीन : आयत का हर विकर्ण उसे दो हिस्सों में बांटता है (आकृति 5)।

अभिधारणा– चार : आयत के विकर्ण एक दूसरे को देर में बराबर-बराबर बांटते हैं और वे आयत को चार हिस्सों में बांट देते हैं जिसमें से एक दूसरे के दो तरह से समान होते हैं। (आकृति 6)
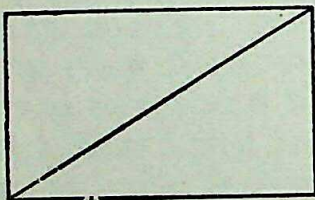
आकृति—5
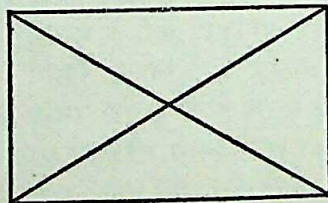
आकृति—6

जो बात आयत के बारे में सही है वही वर्ग के बारे में भी, जिसके विकर्ण उसे चार सब तरह से बराबर हिस्सों में बांट देते हैं : इस अभिधारणा का प्रयोग शुल्ब में वांछित आकार और शक्ल ईंटें बनाने के लिए किया गया है। वहां कुछ रोचक ज्यामितिक प्रभेदों की कल्पना की गई है। जो ईंट शक्ल में आयत या वर्ग के विकर्ण द्वारा काटे गए आधे हिस्से के बराबर होती है, उसे

1. नेमिनाम्ययोरन्तरालं द्वात्रिंशद्धा विभज्य विपर्यासं भागानुद्धरेत्।
—बौ० शु० सू० 3. 200

2. नेमिं चतुःषष्टिं कृत्वा व्यवलिख्य मध्ये परिकृषेत्।
—वही 3 202

अर्ध्या कहते हैं और जो दोनों विकर्णों से कट कर बनती है वह पाद्या या चौथाई होती है। फिर दो तरह की पाद्या ईंटें होती हैं :

(एक) दीर्घ पाद्या या आयत के लंबे या चौड़े चौथाई की ईंटें और

(दो) शूल पाद्या या त्रिशूल चौथाई[1] (3. 168-169, 170)।

इस स्पष्ट नाम का तात्पर्य यह है :

(क) आयत या वर्ग के विकर्ण द्वारा किए गए आधे भाग आकार और शक्ल में बराबर होते हैं।

(ख) वर्ग के दो विकर्णों से बने चौथाई भाग भी ऐसे ही बराबर होते हैं।

(ग) आयत के विकर्ण उसे चार हिस्सों में बाँट देते हैं, जिनके क्षेत्रफल बराबर होते हैं पर शक्ल में वे दो तरह के होते हैं। दत्त का विचार है कि इन नामों से अधिक और न्यून कोणों का भी संकेत मिलता है। ऐसी ईंटें भी होती हैं जो चौथाई ईंटों की आधी होती हैं और शीर्ष से आधार पर लंब डालकर बनती हैं। दीर्घपाद्या और शूलपाद्या के आधे हिस्सों के बीच कोई भेद नहीं किया गया है, जो स्पष्ट बताता है कि शुल्व के लेखकों को पता था कि ये बराबर होते हैं। इस तरह इन आरंभिक ज्यामितिज्ञों को सर्वांगसम प्रभेदों के सरल मामले विदित थे।

दत्त ने ईंटों की एक और रोचक स्थिति का उल्लेख किया है, जो दीर्घपाद्या या शूलपाद्या के आधे को दूसरी ईंट के साथ मिलाने से बनती है। बोधायन इसका जिक्र नीचे लिखे शब्दों में करते हैं :

उनके आठवें हिस्से को इस तरह मिलाना चाहिए कि एक ईंट तीन कोनों वाली बन जाए[2]।

---

1. चुबुक एकाम्। शूलपाद्याम्। —बौ० शु० सू० 3. 168, 169
दीर्घे चेतरे चतस्रः स्वयमातृण्णावकाश उपदध्यादर्ध्याश्चान्तयोः शेपमग्नि बृहतीभिः प्रच्छादयेदर्धेष्टकाभिः संख्यां पूरयेत्। —वही 3. 170

2. तयोश्चाष्टमभागौ तथा श्लेषयेद्यथा तिस्रः स्रक्तयो भवन्ति।
—बौ० शु० सू० 3. 122

इस तरह की ईंट का पारिभाषिक नाम उभयी है (यानी दोनों से सम्बन्धित) क्योंकि यह दो भिन्न तरीकों की दो ईंटों से मिलकर बनती है।[1]
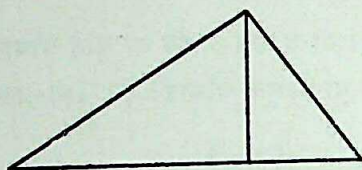
आकृति—7

आगे हम देखते हैं कि एक ही तरह की उभयी बताई गई हैं हालांकि आयत की दो बिल्कुल अलग तरह की चौथाई ईंटें (अध्यर्ध) होती हैं, तो इसका मतलब यह है कि जैसा अभी बताया गया बौधायन को खूब पता था कि आयत के सभी आठवें हिस्से एक समान होते हैं। यह बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात है कि उभयी के निर्माण में ही हमें बाद में भारतीयों द्वारा इस खोज के स्रोत मिलते हैं कि दो समकोण त्रिभुजों को बगल में रखकर एक परिमेय त्रिभुज बनाया जा सकता है। (आकृति-7)

अभिधारणा—पांच : समचतुर्भुज के विकर्ण एक दूसरे को समकोण पर काटते हैं।

अभिधारणा—छः भुजाओं को बराबर संख्या में बांटकर और फिर दो-दो विभाजक-बिन्दुओं को जोड़कर एक त्रिभुज को कई एक से और बराबर भागों में बांटा जा सकता है।

यह अभिधारणा बौधायन के ऐसे उल्लेखों पर आधारित है 'यह (त्रिभुज) दस हिस्सों में बंटा है[2]' हालांकि लेखक कोई रचना पद्धति नहीं बताता। यह हमें टीकाकारों से विदित होती हैं। वे कहते हैं कि ऐसे मामलों में परंपरागत पद्धति थी कि हर भुजा को चार बराबर भागों में बांट दो और फिर विभाजक बिन्दुओं को दो-दो करके जोड़ दो जैसा आकृति-आठ में बताया गया है।

---

1. अपरस्मिन्प्रस्तारे पूर्वयोः पक्षाप्ययोरेकैकामुभयीमुपदध्यात। — बौ० शु० सू० 3. 129

दूसरे प्रस्तार में एक उभयी ईंट उन दो रेखाओं के पूर्वी किनारे पर रखनी है कि जिससे पक्ष आत्मन् से जुड़ते हैं।

—वही 3. 256

2. तस्य दशधा विभागः।
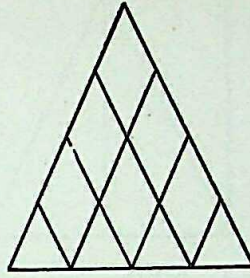
आकृति—8

अभिधारणा – सात : शीर्ष को आधार के मध्य बिन्दु से जोड़कर एक समद्विबाहु त्रिभुज को बराबर हिस्सों में बांटा जा सकता है

यह अभिधारणा बौधायन (3/258) से निकलती है।[1] फिर ये दोनों आधे हिस्से छ-छः भागों में बांटे गए हैं।[2]
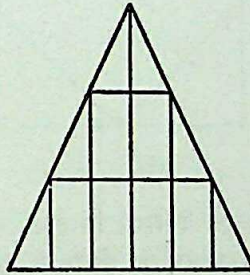
आकृति—9

बहुत से शुल्ब सूत्रों में ज्यादा जटिल स्वरूप और शक्ल की आकृतियों को दिए गए भागों, कभी-कभी 200 भागों तक में बांटने के उल्लेख मिलते हैं। ये निश्चय ही अनिश्चित स्वरूप वाले रोचक प्रश्नों तक ले जाते हैं।

अभिधारणा—आठ : वर्ग की किसी भुजा के छोरों को सामने की भुजा के मध्य बिन्दु से मिलाने से जो त्रिभुज बनता है वह वर्ग के आधे के बराबर होता है।

1. अपरस्मिन्प्रस्तारे। —बौ० शु० सू० 3. 258
2. प्रउगमध्येऽनूचीनं विभजेत्। तस्य षड्धा विभागः ॥ —वही 3. 259-260
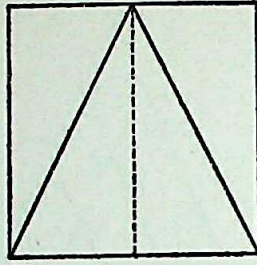
आकृति—10

अभिधारणा—नौ : वर्ग की भुजाओं के मध्य बिन्दुओं को जोड़ने वाली रेखाओं से जो चतुर्भुज बनता है वर्ग होता है और उसका क्षेत्रफल मूल वर्ग का आधा होता है।
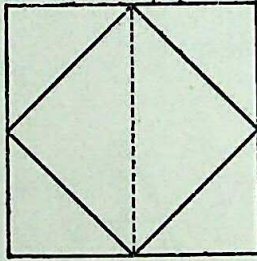
आकृति—11

अभिधारणा—दस : एक आयत के मध्य बिन्दुओं को जोड़ने वाली रेखाओं से जो चतुर्भुज बनता है वह समचतुर्भुज होता है और उसका क्षेत्रफल आयत के क्षेत्रफल से आधा होता है।
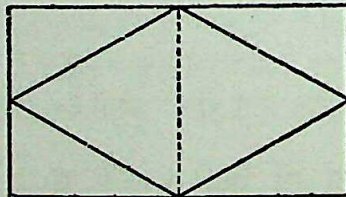
आकृति—12

अभिधारणा—ग्यारह : एक ही आधार पर और उन्हीं समानान्तर रेखाओं के बीच बने समानान्तर चतुर्भुज और आयत एक दूसरे के बराबर होते हैं।

इस प्रमेय की सच्चाई का मानना ही शुल्ब में ऐसे समानान्तर चतुर्भुज बनाने का आधार है, जिसकी दी हुई भुजाएं निश्चित कोण में झुकी होती हैं।

ऐसा लगता है कि इस अभिधारणा की सत्यता शतपथ ब्राह्मण (10. 2. 1. 5) के समय भी सुविदित थी, क्योंकि इसमें हमें उड़ते पक्षी जैसे वेदी बनाने के ब्यौरे मिलते हैं।
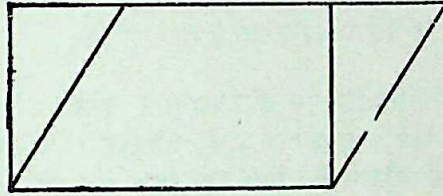
आकृति—13

वह उसे (अग्नि वेदी को) अंगुलियों से नापता है, क्योंकि यज्ञ के पुरुष होने से सब चीज उसी से नापी जाती हैं। अब ये अंगुलियां ही उसके सबसे छोटे पैमाने हैं, जिनसे वह उस (यज्ञ पुरुष) का न्यूनतम माप पा जाता है और तब वह उसी से उसको नापता है।[1]

वह चौबीस अंगुलियों से नापता है। गायत्री मन्त्र में भी चौबीस वर्ण होते है। और अग्नि गायत्री जैसी होती है, अग्नि भी अपने पैमाने जितना महान् है, उसी से तब वह उसको नापता है।[2]

वह (दाएं पंख को) दोनों ओर चार-चार अंगुल भीतर को सिकोड़ता है और दोनों ओर बाहर चार-चार अंगुल फैलाता है, इस तरह वह उतना ही फैलाता है जितना सिकोड़ता हैं; इस तरह वह न तो (उपयुक्त आकार से) ज्यादा जाता है और वह उसे पूंछ के बारे में और उसी तरह बाएं पंख के बारे में छोटा नहीं बनाता।[3]

फिर वह पंखों में दो झुके हुए अंग बनाता है, क्योंकि चिड़िया के पंखों में दो झुके हुए अंग होते हैं; हर पंख के एक तिहाई में वह उसे बनाता

1. तं वाऽङ्गुलिभिर्मिमीते। पुरुषो वै यज्ञस्तेनेदꣳ सर्वंमितन्तस्यैषावमा मात्रा यदङ्गुलयस्तद्यास्यावमा मात्रा तामस्य तदाप्नोति तयैतन्तन्मिमीते।

—श० ब्रा० 10. 2. 1. 2

2. चतुर्विंशत्याऽङ्गुलिभिर्मिमीते। चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनन्तन्मिमीते॥ श० ब्रा 10. 2. 1. 3

3. स चतुरङ्गुलमेवोभयतोऽन्तरतऽउपसमूहति। चतुरङ्गुलमुभयतो बाह्यतो व्युदूहति तद्यावदेवोपसमूहति तावद्व्युदूहति तन्नाहैवातिरेचयति नो कनीयः करोति तथा पुच्छस्य तथोत्तरस्य पक्षस्य॥ —वही 10. 2. 1. 4

है; क्योंकि झुके हुए अंग चिड़िया के पंख के एक तिहाई में होते हैं। (इनमें से हर एक अंग को) वह सामने चार अंगुल फैलाता है और पीछे चार अंगुल सिकोड़ता है, इस तरह वह उतना ही फैलाता है जितना सिकोड़ता है। इस तरह न वह उसका आकार बढ़ाता है और न उसे छोटा करता है।[1]

उस झुके अंग पर वह एक ईंट रखता है, इससे उसे वह एक नल (नलाकार अंग) प्रदान करता है, जो (देह को) उड़ती चिड़िया के झुके अंग से जोड़ता है। फिर यहां (बाएं पंख पर)।[2]

फिर वह पंख को टेढ़ा बनाता है, क्योंकि चिड़िया के पंख टेढ़े होते हैं; फिर वह उनको पीछे चार अंगुल की चौड़ाई में फैलाता है और सामने चार अंगुल सिकोड़ता है; इस तरह वह उसे उतना ही आगे निकालता है, जितना पीछे। इस तरह न वह उसका आकार बढ़ाता है और न उसे छोटा करता है।[3]

अभिधारणा—बारह : किसी वृत्त के भीतर सबसे बड़ा जो वर्ग बन सकता है, वह वही होगा जिसके कोने वृत्त की परिधि में होंगे।

शूल्ब सूत्रों में हमें बताया गया है कि वृत्त के भीतर यथा संभव बड़ा (यावत् सम्भवेत्) वर्ग खींचों, पर यह नहीं बताया गया है कि यह कैसे किया जाए। बाद के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस वर्ग के कोने वृत्त की परिधि पर माने गए हैं। टीकाकार स्पष्ट करते हैं कि इस वर्ग की एक भुजा वृत्त की त्रिज्या के $\sqrt{2}$ गुणा होगी।

---

1. अथ निर्णामौ पक्षयोः करोति। निर्णामौ हि वयसः पक्षयोर्भवतो वितृतीये हि वयसः पक्षयोर्निर्णामौ भवतोऽन्तरे वितृतीयेऽन्तरे हि वितृतीये वयसः पक्षयोर्निर्णामौ भवतः स चतुरङ्गुलमेव पुरस्तादुदूहति चतुरङ्गुलम्पश्चादुपसमूहति तद्याव-देवोदूहति तावदुपसमूहति तन्नाहैवातिरेचयति नो कनीयः करोति ॥
—श० ब्रा० 10. 2. 1. 5

2. स तस्मिन्निर्णामे। एकामिष्टकामुपदधाति तद्येयं वयसः पततो निर्णामादेका नाड्युप-शेते तान्तत्करोत्यथोऽइदम् ॥
—श० ब्रा० 10.2. 1. 6

3. अथ वक्रौ पक्षौ करोति। वक्रौ हि वयसः पक्षौ भवतः स चतुरङ्गुलमेव पश्चादु-दूहति चतुरङ्गुलम्पुरस्तादुपसमूहति तद्यावदेवोदूहति तावदुपसमूहति तन्नाहैवाति-रेचयति नो कनीयः करोति ॥
—वही 10: 2: 1. 7
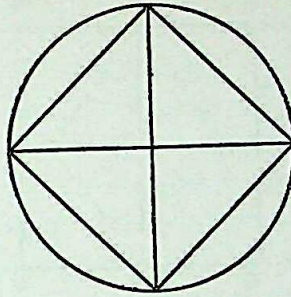
आकृति—14

वस्तुतः वृत्त के दो व्यास एक दूसरे पर समकोण बनाते हुए खींचे जाते हैं। इनके सिरों को जोड़कर जो आकृति बनती है, वह वृत्त के भीतर सबसे बड़ा वर्ग होता है[1]। (आकृति-14)

बौधायन की कुछ ज्यामितिक रचनाएं

रचना—एक : दी हुई भुजा पर वर्ग बनाना

तरीका—1

वर्ग की दी हुई भुजा से दूनी रस्सी लो। दोनों सिरों पर गांठ बांध मध्य पर चिह्न लगा दो। इस रस्सी के आधे से वर्ग की पूर्व से पश्चिम चौड़ाई नापो। दूसरे आधे हिस्से में (पश्चिमी सिरे से) इसकी चौथाई से कम दूरी पर चिह्न लगाओ। पूर्व से पश्चिम की चौड़ाई के दोनों सिरों पर गांठ बांधकर रस्सी को न्यंछन चिह्न से दक्षिण की ओर ले जाओ। इस तरह वर्ग के दोनों पूर्वी और पश्चिमी कोने रस्सी के दूसरे आधे हिस्से के मध्य चिह्न बनाने चाहिए[2]।

---

1. मण्डलायां मृदो देहं कृत्वा मध्ये शङ्कुं निहत्यार्धव्यायामेन स ह मण्डलं परिलिखेत्। तस्मिश्चतुरश्रमवदध्याद्यावत्सम्भवत्तन्नवधा व्यवलिख्य त्रैधमेकैकं प्रधिकं विभजेत्। उपाधाने चतुरश्रस्याभ्यान्तरदेशान्प्रति स्रक्तींस्सम्पादयेत्। मध्यानीतरस्मिन्प्रस्तारे। व्यत्यासं चिनुयाद्यावतः प्रस्तारांश्चिकीर्षेत्। पिशीलमात्रा भवन्तीति धिष्ण्यानां विज्ञायते। चतुरश्रा इत्येकेषा, परिमण्डला इत्येकेषाम्।

—आप० शु० 7. 10

यावानग्निस्सारत्निप्रादेशस्तावतीं भूमिं परिमण्डलां कृत्वा तस्मिश्चतुरमवदध्याद्यावत्सम्भवेत्।

—वही 12. 12

2. अथापरम्। (29) प्रमाणाद्द्विगुणां रज्जुमुभयतः पाशां कृत्वा मध्ये लक्षणं करोति। (30) स प्राच्यर्थः। (31) अपरस्मिन्नर्धे चतुर्भागोने लक्षणं करोति।

[अगले पृष्ठ पर—
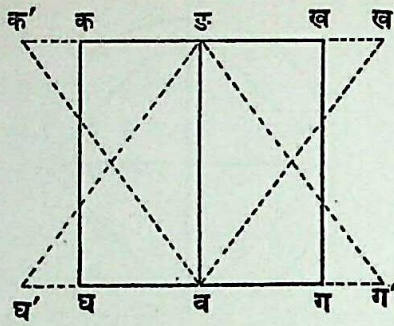
आकृति—15

ङव=य जो दी हुई भुजा है; कङ=ङख=घव=वग=1/2य, क′ङ=ङख′=घ′व=वग′=3/4 य; ङघ′=ङग′=वक′—वख′=5य/4 ।

तरीका—2

इसी वर्ग को बनाने का एक और तरीका बौधायन अंशतः बताते हैं; इसकी रचना को पूरे जरूरी ब्यौरे के साथ आपस्तम्ब ने बताया है। दी हुई रेखा पर वर्ग की रचना करने का शायद यह सबसे पुराना तरीका है। इस तरीके में अग्निवेदी की नाप के लिए वेणु का इस्तेमाल किया जाता है। तैत्तिरीय संहिता में भी वेणु के दण्ड का उल्लेख है[1] ।

—पिछले पृष्ठ से]

(32) तन्न्यञ्छनम् । (33) अर्धेऽँसार्थम् । (34) पृष्ठ्यान्तयोः पाशौ प्रतिमुच्य न्यञ्छनेन दक्षिणापायम्यार्धेन श्रोण्यँसान्निर्हरेत् । (35) —बौ० शु० सू० 1. 29-35

1. पुरानी संहिता और ब्राह्मण में अग्नि और वेणु के बीच पौराणिक संबंध मिलता है। इस तरह तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है : 'वह वेणु से मापता है, वेणु का सम्बन्ध अग्नि से है, इस तरह वह उसको उसके जन्म से जोड़ने का काम करता है।' (तै० सं० 5. 2. 5. 2) उस ग्रंथ में इस सम्बन्ध का वर्णन इस तरह है : 'अग्नि देवताओं से दूर चला गया। वह नरकुल में बस गया। नरकुल में छेद करने से जो सूराख बनता है वह उसमें रह गया।' यह पुराण कथा मैत्रायणी संहिता (3, 2. 4) और शतपथ ब्राह्मण में आती है। पिछले में कहा गया है : 'अग्नि देवताओं से दूर चला गया। वह नरकुल में बस गया। तभी वह पोला होता है और तभी इसके भीतर धुएं सा काला होता है।'

ते मौञ्जीभिरभिधानीभिरभिहिता भवन्ति । अग्निर्देवेभ्यऽउत्क्रामत्स मुञ्जं प्राविश-त्तस्मात्स सुषिरस्तस्माद्वेवाऽन्तरतो धूमरक्तऽइव सैषा योनिरग्नेर्यन्मुञ्जोऽग्निरिमे पशवो

[अगले पृष्ठ पर—

वर्ग बनाने का सबसे पुराना तरीका नीचे दिया जाता है :

एक वेणु दण्ड में दो छेद (क, ख) बनाओ जो इतनी दूर हों जितनी यजमान की बाहें उठाकर लम्बाई (इस स्थिति में बनाए जाने वाले वर्ग की भुजा इतनी लम्बी होगी) और तीसरा छेद दोनों के बीच में (आकृति-16)। वेणु के दण्ड को पूर्व से पश्चिम की रेखा पर रखो और छेदों में यज्ञस्थल के पश्चिमी छोर से शुरू करके खम्भे लगा दो। फिर दोनों खंभों (गख) को मुक्त करके पश्चिम की ओर (बांस को घुमाकर) एक वृत्त (सामने के सिरे के) छेद द्वारा दक्षिण पूर्व की ओर से बनाओ। फिर पूर्व के छेद को खोलकर और छेद को पश्चिम की ओर (पहले की जगह पर ही) रखकर सामने के सिर के छेद द्वारा दक्षिण पश्चिम की ओर से दूसरा वृत्त बनाओ। अब बाँस को बिल्कुल हटा दो; बीच के खंभे (ग) पर फिर सिर पर एक छेद बनाओ। दोनों वृत्त की काट से बिन्दु पर दक्षिण की ओर बांस को रखो और बाहर के छेद से आए बिन्दु (च) पर एक खंभा लगाओ। फिर इस खंभे पर बांस के बीच का छेद लगाओ और फिर इसे दोनों वृत्तों के आगे के छोरों पर रखने के बाद (अर्थात् बांस को दोनों वृत्तों और खम्भों की स्पर्शरेखा के रूप में स्पर्श-बिन्दुओं को छूते हुए रखो)। दोनों खम्भों (ङ, घ) को दोनों (बाहरी) छेदों पर लगाओ। यह (इस तरह की आकृति क ख घ ङ) वर्ग है, जिसकी एक भुजा एक पुरुष के बराबर है[1]।

—पिछले पृष्ठ से]

न वै योनिर्गर्भः हिनस्त्यहिंसायै योनेर्वै जायमानो जायते योनेर्जायमानो जायाता इति ॥

—श० ब्रा० 6. 3. 1-26

आगे फिर,

'अग्नि देवताओं को छोड़कर चला गया। वह मांस के डंठल में घुस गया। तभी वह पोला होता है। उसने दोनों ओर आड़ बना ली, जो गांठें हैं, जिससे उसका पता न चले। जब कभी वह जला, ये कल्मष चिह्न बन गए।'

सा वैणवी स्यात्। अग्निर्देवेभ्यऽउदक्रामत्स वेणुं प्राऽविशत्; तस्मात्स सुषिरः सऽएतानि वर्माण्यभितोऽकुरुत पर्वाण्यननुप्रज्ञानाय यत्र तत्र निर्ददाह तानि कल्माषाण्यभवन्।

—श० ब्रा० 6. 3. 1. 31

1. यावान्यजमान ऊर्ध्वबाहुस्तावदन्तराले वेणोश्छिद्रे करोति मध्ये तृतीयम्। (8) अपरेण यूपावटदेशमनुपृष्ठ्यं वेणुं निधाय छिद्रेषु शंकून्निहत्य उन्मुच्यापराभ्यां दक्षिणाप्राक्परि-

[अगले पृष्ठ पर—
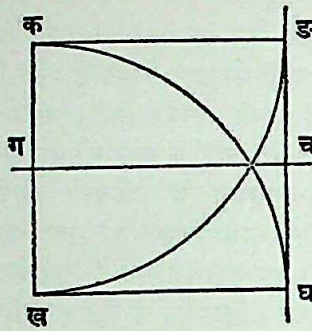
आकृति—16

तरीका—3

बौधायन शुल्ब सूत्र वर्ग बनाने का दूसरा तरीका यह बताता है :

अगर वर्ग बनाना चाहते हैं तो उसकी दी हुई भुजा जितनी बड़ी रस्सी लो; दोनों सिरों पर गांठ बांधकर मध्य में चिह्न लगा दो। फिर अपेक्षित लंबाई की रेखा (पूर्व से पश्चिम को) खींचकर इसके बीच में खंभा गाड़ दो ; दोनों गांठें इससे बांधकर चिह्न से एक वृत्त बनाओ। अब व्यास (पूर्व से पश्चिम जाने वाले) के दोनों सिरों पर खंभे गाड़ दो। पूर्वी खंभे में एक गांठ बांधकर दूसरी गांठ से एक वृत्त बनाओ। पश्चिमी खंभे के चारों ओर भी ऐसा ही वृत्त बनाओ। वृत्तों की काट को जोड़ने पर दूसरा (अर्थात् उत्तर-दक्षिण) व्यास भी मिल जाएगा। इस व्यास को दोनों सिरों पर दो खंभे गाड़ दो। अब दोनों गांठों को पूर्वी खंभे से बांधकर चिह्न से एक वृत्त बनाओ। इसी तरह दक्षिणी, पश्चिमी और उत्तरी खंभों से वृत्त बनाओ। (आकृति 17)। वृत्तों की काट के बाहरी बिन्दु वर्ग बनाएंगे[1]।

—पिछले पृष्ठ से]

लिखेदान्तात्। (9) उन्मुच्य पूर्वस्मादपरस्मिन्प्रतिमुच्य दक्षिणा प्रत्यक्परिलिखेदान्तात्। (10) —आप० शु० 8. 8-10

चतुरश्राभिरग्निं चिनुत इति विज्ञायते। समचतुरश्रा अनुपपदत्वाच्छन्दस्य।

—वही, 11. 1

1. चतुरश्रं चिकीर्षन्यावच्चिकीर्षेत्तावतीं रज्जुमुभयतः—पाशां कृत्वा मध्ये लक्षणं करोति। लेखामालिख्य। (22) तस्या मध्ये शंकुं निहन्यात्तस्मिन्पाशौ प्रतिमुच्य लक्ष-

[अगले पृष्ठ पर—
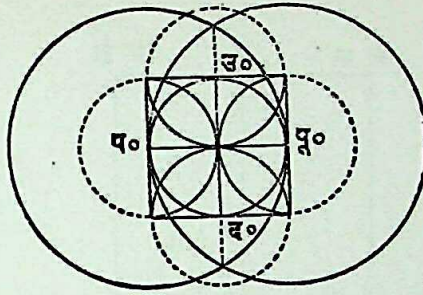
आकृति—17

तरीका 4

इस तरीके के ब्योरे आपस्तम्ब और कात्यायन दोनों ने दिए हैं। इसका उपदेश बौधायन ने भी दिया है, पर उन्होंने इसका उपयोग आयत बनाने तक ही सीमित रखा है। तरीका इस तरह है :

> दी गई भुजा जितनी लंबी रस्सी में उसका आधा और जोड़ दो और (जोड़े हुए हिस्से के दूसरे छोर से) इसके छठे हिस्से को कम करके एक चिह्न लगा दो। (बढ़ी हुई) रस्सी के सिरों को पूर्व-पश्चिम रेखा के छोरों पर बांध दो और इसे दक्षिण की ओर बढ़ाकर ले जाओ, इसके लिए चिह्न से शुरू करो और जिस बिन्दु तक यह पहुंचे उस पर चिह्न लगा दो। ऐसा ही उत्तर से करो और फिर रस्सी के सिरों को आपस में बदलकर दोनों ओर से करो। यही रचना है[1]।

—पिछले पृष्ठ से]
णेन मण्डलं परिलिखेद्विष्कम्भान्तयोः शङ्कू निहन्यात्। (23) पूर्वस्मिन्पाशं प्रतिमुच्य पाशेन मण्डलं परिलिखेत्। (24) एवमपरस्मिँस्ते यत्र समेयातां तेन द्वितीय विष्कम्भमायच्छेत्। (25) विष्कम्भान्तयोः शङ्कू निहन्यात्। (26) पूर्वस्मिन् पाशौ प्रतिमुच्य लक्षणेन मण्डलं परिलिखेत्। (27) एवं दक्षिणत एवं पश्चादेवमुत्तरंतस्तेषां येऽन्त्याः सँसर्गास्तच्चतुरश्रँ संपद्यते। (28) — बौ० शु० 1. 22-28

1. यथा परं प्रमाणादध्यर्धा रज्जुमुभयतः—पाशां कृत्वापरस्मिँस्तृतीये षड्भागोने लक्षणं करोति। (42) तन्न्यञ्छनम्। (43) इष्टेऽँसार्थं, पृष्ठयोन्तयोः पाशौ प्रतिमुच्य न्यञ्छनेन दक्षिणापायम्येष्टेन श्रोण्यँसान्निर्हरेत्। (44) —वही, 1. 42-44
यावदायामं प्रमाणम्। तदर्धमभ्यस्याऽपरस्मिस्तृतीये षडभागोने लक्षणं करोति। पृष्ठयान्तयोरन्तौ नियम्य लक्षणेन दक्षिणापायम्य निमित्तं करोति। एवमुत्तरतोविपर्यस्ये तरतस्स समाधिः। —आप० शु० 1. 2
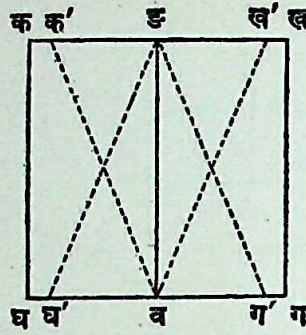
आकृति — 18

रचना—दो : दी हुई भुजाओं का आयत बनाना

बौधायन इस रचना का वर्णन इस तरह करते है :

यदि आप आयत बनाना चाहते हैं, तो धरती पर चाही हुई (जितनी लंबाई चाहो उतनी) दूरी पर दो खंभे गाड़ दो। दोनों खंभों के प्रत्येक ओर (आगे और पीछे) उससे बराबर की दूरी पर दो और खंभे गाड़ दो। (आयत की) चौड़ाई जितनी लंबी रस्सी लो। दोनों ओर गाँठ लगाकर बीच में चिह्न लगा दो। पूर्वी खंभे के दोनों ओर के खंभों में दोनों गाँठों को बाँध कर रस्सी को चिह्न पर से दक्षिण को खींचो और (चिह्न जहाँ जमीन को छुए वहाँ पर) एक निशान लगा दो। फिर दोनों गाँठों को बीच के खंभे से बांधो और फिर रस्सी को निशान पर से दक्षिण की तरफ चिह्न की ओर ले जाओ और चिह्न पर खंभा लगा दो। वह आयत का दक्षिण-पूर्वी कोना है। इसी से उत्तर-पूर्वी कोना (कैसे पता लगाया जाए) और पश्चिमी कोना (कैसे पता लगाए जाएँ यह) स्पष्ट होता है[1]।

1. दीर्घचतुरश्रं चिकीर्षन्यावच्चिकीर्षेत्तावत्यां भूम्यां द्वौ शङ्कू निहन्यात्। (36) द्वौद्वावे-कैकमभितः समौ। (37) यावती तिर्यङ्मानी तावतीँ रज्जुमुभयतः-पाशां कृत्वा मध्ये लक्षणं करोति पूर्वेषामन्त्ययोः पाशौ प्रतिमुच्य लक्षणेन दक्षिणामायम्य लक्षणे लक्षणं करोति। (38) मध्यमे पाशौ प्रतिमुच्य लक्षणस्योपरिष्टाद्दक्षिणापायम्य लक्षणे शङ्कुं निहन्यात्। (30) सोऽँसो एतेनोत्तरोऽँसो व्याख्यातस्तथा श्रोणी। (40)

—बौ॰ शु॰ 1. 36-40
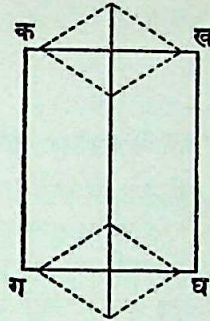
आकृति—19

रचना—तीन : दिए हुए आधार, फलक और शीर्ष लंब पर समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज बनाना

बौधायन ने इस रचना का संकेत दी हुई भुजाओं वाले आयत की पहले बताई गई रचना की तरह किया है। केवल आधार और फलक के किनारे तय करने के लिए अलग-अलग आकार की रस्सियां इस्तेमाल की जाती हैं। महावेदी के निर्माण के सिलसिले में आपस्तम्ब ने भी इस रचना का जिक्र किया है, जिसका आकार ऐसे समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज का होता है जिसका शीर्ष-लंब 36 पाद (या प्रक्रम) होता है, फलक 24 इकाइयां और आधार 30 इकाइयां। आपस्तम्ब के आधार पर इन अनेक में से एक तरीका बतलाना उपयोगी होगा :

36 (पाद या प्रक्रम) की रस्सी में 18 जोड़ दो और इसके पश्चिमी सिरे से 12 और 15 पर निशान लगाओ। पूर्व-पश्चिम की (36 पाद की) रेखा के दोनों सिरे पर (लगे दो खंभों से) रस्सी के दोनों छोरों को बांधकर, 15 वाले निशान से लेकर इसे दक्षिण की ओर फैलाओ और (इस निशान पर आने वाले बिन्दु पर) खंभा लगा दो; इसी तरह उत्तर की ओर (चलो); ये दोनों खंभे वेदी के दो पश्चिमी कोने हैं। दो पूर्वी कोने तय करने के लिए (रस्सी के दोनों छोरों को) आपस में बदल दो और फिर इसे 15 वाले निशान से लेकर दक्षिण को फैलाओ; 12 के निशान (से आए बिन्दु) पर खंभा लगाओ; इसी तरह उत्तर की ओर (चलो)। ये दो पूर्वी कोने हैं। एक रस्सी से रचना करने का यही तरीका है[1]।

1. षट्त्रिंशिकायामष्टादशोपसमस्य अपरस्मादन्ताद् द्वादश सुलक्षणं पञ्चदश सुलक्षणं पृष्ठ्यान्तरयोरन्तौ नियम्य पञ्चदशकेन दक्षिणापायम्य शङ्कुं निहन्त्येवमुत्तरतश्श्रोणी। विपर्यस्तयांसौ पञ्चदशकेनैवापायम्य द्वादशके शङ्कुं निहन्ति। एवमुत्तरतस्तावंसौ। (2) तदेक रज्ज्वाविहरणम्॥ —आ० शु० 5. 2

एक रस्सी की रचना को एकरज्ज्वाविहरण कहते हैं। इसी तरह दो रस्सियों से बनाने का तरीका है जिसे द्विरज्ज्वाविहरण कहते हैं।

क्षेत्रों का मिलाया जाना

संचय—एक : दिए हुए वर्ग के 'न' गुने के बराबर वर्ग बनाना

इस प्रस्थापना का हल दी हुई भुजाओं वाले वर्गों और आयतों की रचना पर ही निर्भर है। आज की ज्यामिति में तथाकथित पैथेगोरस की प्रमेय से हम जानते हैं कि दिए हुए वर्ग के विकर्ण पर बने वर्ग में उसने दूना क्षेत्रफल होगा। अगर हम दिए वर्ग से तीन गुने क्षेत्र का वर्ग बनाना चाहते हैं, तो नियम यह है जो बौधायन ने दिया है :

> (एक आयत बनाओ जिसकी) चौड़ाई (दिए गए वर्ग की एक भुजा) के नाप की होगी और लंबाई उसे दूना करने वाले (अर्थात् विकर्ण) के बराबर होगी। इसी आयत का विकर्ण तिगुना बनाने वाला होगा[1]।

चार-गुने, पांच-गुने और छः-गुने बनाने वालों के लिए इस संक्रिया को कितनी ही बार दुहराया जा सकता है।

$1^2+1^2 = 2$; विकर्ण $\sqrt{2}$ (दूना बनाने वाला) है

$1^2+(\sqrt{2})^2 = 3$; विकर्ण $\sqrt{3}$ (तिगुना बनाने वाला) है

$1^2+(\sqrt{3})^2 = 4$; विकर्ण $\sqrt{4}$ (चारगुना बनाने वाला) है आदि

एक जगह पर कात्यायन कहते हैं :

> (दिए गए वर्ग की भुजा का) दूना माप इसे चौगुना बनाने वाला है; तिगुना माप नौगुना बनाने वाला है, चारगुना माप सोलह गुना बनाने वाला है। रस्सी में जितनी इकाइयाँ हैं, (उस समय के) वर्गों की उतनी ही पंक्तियां (या श्रेणियां) उस रस्सी की भुजा पर बने वर्गों की बनाई जा सकेंगी। उनको संचित कर दो[2]।

---

1. प्रमाणं तिर्यग् द्विकरण्यायामस्तस्याक्ष्णया रज्जुस्त्रिकरणी।
—बौ० शु० 1. 46; आप० शु० 2. 2; का० शु० 2. 14

2. द्विप्रमाणा चतुःकरणी त्रिप्रमाणा नवकरणी, चतुःप्रमाणा षोडशकरणी। (6)
यावत्प्रमाणा रज्जुर्भवति तावन्तस्तावन्तो वर्गा भवन्ति तान्समस्येत्। (7)
—का० शु० 3. 6-7

द्वाभ्यां चत्वारि, त्रिभिर्नव। यावत्प्रमाणा रज्जुस्तावतस्तावतो वर्गान् करोति। तथोपलब्धिः। आप० शु० 3. 6-7

संचय—दो : दिए गए वर्ग के नवें हिस्से के बराबर वर्ग बनाना

दिए गए वर्ग के तिगुने वर्ग की रचना बताकर बोधायन कहते हैं :

> इस तरह तिहाई हिस्से का जनक (वर्ग की तृतीय करणी) बताया गया। यह क्षेत्र का नौवां हिस्सा होती है[1]।

इस नियम में वस्तुतः जो तरीका निहित है, टीकाकार उससे असहमत हैं। ऐसे ही वक्तव्य आपस्तम्ब[2] और कात्यायन[3] शुल्व सूत्रों में आए हैं। बोधायन ने इस संचय का उपयोग पैतृकी वेदी की रचना में किया है, जो वर्गाकार है और 18 पद लंबी भुजा के वर्ग की तिहाई है। उन्होंने सौत्रामणि की वेदी नापने के सिलसिले में भी इसका उपयोग किया है। (बौ० श्रौ० 19. 1)।

आपस्तम्ब शुल्ब सूत्रों की अपनी टीका में कपर्दिस्वामी ने इसका हल इस तरह दिया है :

> दिए गए वर्ग के बराबर वर्ग बनाओ, फिर इस वर्ग की भुजा को तीन बराबर हिस्सों में बांट दो। इनमें से किसी हिस्से पर बना वर्ग के तिहाई के बराबर होगा[4]।

प्रस्तावित दूसरा हल यों है : दिए गए वर्ग को नौ बराबर वर्गों में बांट दो। इनमें से तीन वर्गों को एक में जोड़ दो। यह दिए गए क्षेत्र के तिहाई के बराबर होगा।

शायद ये दोनों तरीके चलते थे। इस सिलसिले में कात्यायन यह नियम देते हैं :

> (दिए गए वर्ग की) भुजा का तिहाई हिस्सा इसके नवें हिस्से को बना देता है। इन नौवें हिस्सों को तीन टुकड़े (मिलकर) (दिए गए वर्ग के) तिहाई का जनक पैदा कर देंगे[5]।

संचय – तीन : दो विभिन्न वर्गों के योग के बराबर वर्ग बनाना

इस समस्या का बोधायन यह हल देते हैं :

---

1. तृतीयकरण्येतेन व्याख्याता। नबमस्तु भूमेर्भागो भवतीति। —बौ० शु० 1. 47
2. तृतीयकरण्येतेन व्याख्याता। विभागस्तु नवधा। —आप० शु० 2. 3
3. तृतीयकरण्येतेन व्याख्याता। प्रमाणविभागस्तु नवधा। —का० शु० 2. 15-16
4. त्रिकरणीक्षेत्रं नवधा विभज्य एकं भागं गृह्णीयात्। प्रमाणतृतीयं भवति। त्रिकरण्याः तृतीयं करोति। —आप० शु० 2. 3 पर कपर्दिस्वामी
5. करणी तृतीयं नवभागः। नवभागस्त्रयस्तृतीयकरणी। —का० शु० 2. 17-18
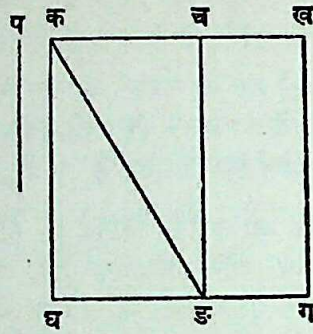
आकृति—20

दो अलग-अलग वर्गों का संचय (योग) करने के लिए बड़े में से एक (आयताकार) हिस्सा काट लो, जिसकी एक भुजा छोटे वर्ग वाली हो। इस काट का विकर्ण इच्छित वर्ग की एक भुजा होगा[1]।

ऐसी ही रचना आपस्तम्ब और कात्यायन ने भी विहित की है।

मान लो क ख ग घ बड़ा वर्ग है और प छोटे वर्ग की एक भुजा है। इसमें से क च और घ ङ काट दो, जो दोनों प के बराबर हों। आयत क च ङ घ को पूरा करो। क ङ को जोड़ दो, फिर

$$\text{क ङ}^2 = \text{क घ}^2 + \text{घ ङ}^2 = \text{क घ}^2 + \text{प}^2$$

इस तरह क ङ का वर्ग क च (प के बराबर) के वर्ग और च ङ के वर्ग (क ख के बराबर) के जोड़ के बराबर हैं।

संचय—चार : दो अलग-अलग वर्गों के अन्तर के बराबर वर्ग बनाना

बोधायन और आपस्तम्ब दोनों ने इस समस्या का यह हल दिया है :

किसी वर्ग में से एक वर्ग घटाने के लिए बड़े वर्ग में से जो वर्ग घटाना है, उसकी भुजा से एक (आयताकार) खंड काट लो। फिर इस खंड की बड़ी भुजा दूसरी बड़ी भुजा की ओर से विकर्ण के रूप में खींच

---

1. नाना चतुरस्रे समस्यन्कनीयसः करण्यावर्षीयसो वृध्रमुल्लिखेत्, वृध्रस्याक्ष्णया रज्जुः समस्तयोः पार्श्वमानी भवति। —बौ० शु० 1. 50

नाना प्रमाणयोश्चतुरश्रयोस्समासः, ह्रसीयसः करण्या वर्षीयसो वृद्ध्रमुल्लिखेत्। वृद्ध्रस्याक्ष्णयारज्जुरुभे समस्यति। —आ० शु० 2. 4

नाना प्रमाणसमासे ह्रसीयसः करण्यावर्षीयसोऽपच्छिन्द्यात्तस्याक्ष्णयारज्जुरुभे समस्यतीति समासः। —का० शु० 3. 22

लो और (दूसरी भुजा पर) यह जहां पड़ती है, उस हिस्से को काट दो। इस कटे हुए हिस्से से घटौती पूरी हो गई[1]।
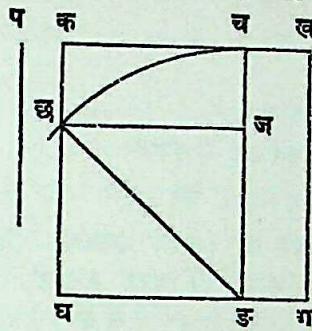
आकृति—21

मान लो क ख ग घ बड़े वाला वर्ग है और प उसमें से घटाए जाने वाले छोटे वर्ग की भुजा है। क च और घ ङ दोनों को प के बराबर काट लो। च ङ को मिला दो। च ङ को च छोर से आगे खींचो जिससे वह क घ पर छ बिन्दु पर आए। छ ङ को मिला दो, अब

$$छ\ घ^2 = छ\ ङ^2 = घ\ ङ^2 = क\ घ^2 = प^2$$

शुल्व सूत्रों में कुछ और संचय दिए गए हैं, जैसे दिए गए दो पंचभुजों के या पंचकर्णों के बराबर वर्ग बनाना। इस सिलसिले में कात्यायन कहते हैं :

> इससे पंचकर्णों के संचय का भी तरीका बता दिया गया। बराबर कोणों वाले एक पंचकर्ण को समद्विबाहु त्रिभुजों में बांट दो और असमान कोणों वाले पंचकर्ण को वर्गों में बांट दो[2]।

यह स्पष्ट नहीं है कि अनियमित पंचकर्ण को वर्गों में कैसे बांटा जायगा। शायद कात्यायन के मन में कोई विशेष तरह का पंचकर्ण रहा होगा।

---

1. चतुरस्राच्चतुरस्रं निर्जिहीर्षन्यावन्निर्जिहीर्षेत्तस्य करण्या वर्षीयसो वृद्ध्रमुल्लिखेद् वृध्रस्य पार्श्वमानीमक्ष्णयेतरत्पार्श्वमुपसंहरेत्सा यत्र निपतेत्तदपच्छिन्द्याच्छिन्नया निरस्तम्।
—बौ० शु० 1. 51; आप० शु० 2. 5
चतुरस्राच्चतुरस्रं निर्जिहीर्षन् यावन्निर्जिहीर्षेत्तावदुभयतोऽपच्छिद्य शङ्कू निखाय पार्श्वमानीं कृत्वा पार्श्वमानी सम्मितामक्ष्णयां तत्रोपसंहरति समासेऽपच्छेदः सा करण्येष निर्ह्रासः।
——का० शु० 3. 1
2. उभयत. प्रउग चेन्मध्ये तिर्यगपच्छिद्य पूर्ववत् समस्येत्।
एतेनैव त्रिकर्णसमासो व्याख्यातः पञ्चकर्णानां च प्रउगेऽपच्छिद्य ॥
—का० शु० 4. 8. 9

इस तरह की प्रस्थापनाएं ईंटों की शक्ल बनाने में मदद देती होंगी। बौधायन हंसमुखी प्रकार की ईंटों का जिक्र करते हैं, जो खास तरह की पंचभुज रही होंगी।

क्षेत्रों का रूपान्तरण

रूपान्तरण—एक : आयत को वर्ग में बदलना

बौधायन नीचे लिखा नियम देते हैं :

> अगर आप एक आयत को वर्ग में बदलना चाहते हैं, इसकी चौड़ाई को एक वर्ग की भुजा की तरह बनाओ; बाकी को दो हिस्सों में बांट दो और (उनमें से दूर वाले को) जगह बदलकर और भीतर को खींचते हुए इसे वर्ग की दूसरी भुजा में जोड़ दो फिर एक (वर्ग) अंश जोड़ कर उसे (कोने की खाली जगह को) भर दो। यह (पहले) सिखाया जा चुका है कि इसे (इस तरह बने पूरे वर्ग में से जोड़े गए वर्ग को) कैसे घटाया जाना चाहिए[1]।
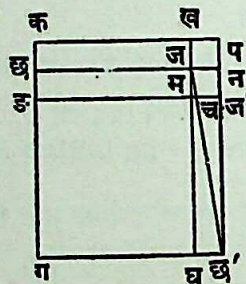
आकृति—22

आयत क ख ग घ को वर्ग में बदलना है। बड़ी भुजा क ग में ग ङ अंश काट लो जो आयत की चौड़ाई ग घ के बराबर है। वर्ग ग घ च ङ को पूरा करो। दिए गए आयत के बाकी हिस्से क ख च ङ को छ ज रेखा से दो आधे हिस्सों में बांट दो। दूर का आधा हिस्सा क ख ज छ को लो और इसे भीतर खींचकर वर्ग ग घ च ङ के दूसरी ओर घ छ' ज' च की हालत में रखो। वर्ग ग छ प छ' को हिस्सा ज प ज' च जोड़कर पूरा करो। दिया गया आयत आसानी से दो वर्गों छ प छ' ग और ज प ज' च के अन्तर के बराबर देखा जा सकता है। यह अंतर पहले बताए गए तरीके से निकाला जा सकता है अर्थात् छ' बिन्दु पर व्यासार्ध

---

1. दीर्घचतुरस्रऽसमचतुरस्रं चिकीर्षऽस्तिर्यङ्मानी करणीं कृत्वा शेषं द्वेधा विभज्य विपर्यस्येतरत्रोपदध्यात् खण्डमावापेन तत्संपूरयेत्तस्य निर्हार उक्तः।
—बौ० शु० 1: 54

छ' प से एक वृत्त खींचो जो घ ज को म पर काटे। छ' प पर म न शीर्ष लंब डालो, अब

$$छ'न^2 = छ'म^2 - मन^2 = छ'प^2 - जप^2$$

इस तरह छ न उस वर्ग की भुजा है जो दिए गए आयत क ख ग घ के बराबर है।

आपस्तम्ब और कात्यायन के शुल्ब सूत्रों में भी यही तरीका बताया गया है[1]।

रूपान्तरण—दो : वर्ग को आयत में बदलना

इस रूपान्तरण के लिए बौधायन ने नीचे लिखी रीति बताई है :
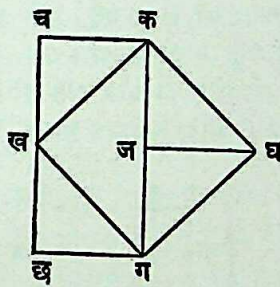
आकृति — 23

अगर आप वर्ग को आयत में बदलना चाहते है, तो इसे विकर्ण से बांट दो। एक हिस्से को फिर दो हिस्सों में बांट दो और उनको उपयुक्त रूप में जोड़ दो जिससे (बाकी आधे की) दो भुजाओं से तालमेल बैठ जाए।[2] (आकृति-23)

कात्यायन ने भी यही तरीका दिया है।[3]

रूपान्तरण—तीन : वर्ग को ऐसे आयत में बदलना जिसकी एक भुजा दी गई है।

इस सिलसिले में बौधायन कहते है :

या फिर अगर वर्ग को इस (अर्थात् बताई गई) भुजा के (आयत में) बदलना है तो (वर्ग में से) उस भुजा से एक खंड काट दो। जो ज्यादा

---

1. दीर्घचतुरश्रं समचतुरश्रं चिकीर्षन् तिर्यङ्मान्याऽपच्छिद्य शेषं विभज्योभयत उपदध्यात्। खण्डमागन्तुना संपूरयेत्। तस्य निर्ह्रास उक्तः। —आप० शु० 2. 7
दीर्घचतुरस्रꣳसमचतुरस्रं चिकीर्षन् मध्ये तिर्यगपच्छिद्यान्यतरद्विभज्येतरत्पुरस्ताद्दक्षिणतश्चोपदध्याच्छेषमागन्तुना पूरयेत्तस्योक्तो निर्ह्रासः। —का० शु० 3. 2
2. समचतुरस्रं दीर्घचतुरस्रं चिकीर्षꣳस्तदक्ष्णयापच्छिद्य भागं द्वेधा विभज्य पार्श्वयोरुपदध्याद्यथायोगम्। —बौ० शु० 1. 52
3. समचतुरस्रं दीर्घचतुरस्रं चिकीर्षन्मध्येऽक्ष्णयाऽपच्छिद्य विभज्येतरत्पुरस्तादुत्तरतश्चोपदध्याद्, विषमं चेद्यथा योगमुपसꣳहरेदिति व्यासः। —का० शु० 3. 4

बच जाए उसे दूसरी भुजा में जोड़ दो। ऐसे ही एक और रूपान्तरण के लिए आपस्तम्ब शुल्ब० भी देखें।[1]

बौधायन द्वारा (और आपस्तम्ब द्वारा भी) दिया गया नियम स्पष्ट है। सुन्दरराज और द्वारकानाथ यज्वा जैसे टीकाकारों ने इसके ब्यौरे नीचे लिखी तरह से दिए है :

उत्तरी और दक्षिणी भुजाएं पूर्व की ओर (जितनी लम्बी आप आयत की भुजा चाहते है उतनी दूर) खींच लो (आयत को पूरा करो और) इससे उत्तर-पूर्वी कोने से होकर विकर्ण को खींच लो। जहां यह आयत के भीतर बने (दिए गए) वर्ग की अनुप्रस्थ (आड़ी) भुजा को काटता है उस बिन्दु को लो। उस बिन्दु के उत्तर की ओर उस भुजा के अंश को छोड़ दो और दक्षिणी हिस्से को आयत की चौड़ाई मान लो। यह (अभीष्ट) आयत होगा।[2]
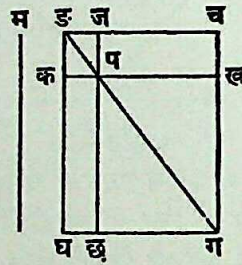
आकृति—24

मान लो दिया गया वर्ग क ख ग घ है और म दी हुई लंबाई है जो वर्ग की भुजा से ज्यादा लंबी है।

घ क और ग ख को क्रमशः ङ और च तक बनाओ जिससे घ ङ=ग च=म। ङ च को जोड़ दो और आयत ङ च ग घ को पूरा करो। विकर्ण ङ च को

---

1. अपि वैतस्मिँश्चतुरश्रँसमस्य तस्य करण्यापच्छिद्य यदतिशिष्यते तदितरत्रोपदध्यात्। —बौ० शु० 1. 53
समचतुरश्रं दीर्घचतुरश्रं चिकीर्षन् यावच्चिकीर्षेत् तावतीं पार्श्वमानीं कृत्वा यदधिकं स्याद्यथायोगमुपदध्यात्। —आप० शु० 3. 1

2. यावदिच्छं पार्श्वमान्या प्राच्यौ वर्धयित्वा उत्तरपूर्वां कर्णरज्जुमायच्छेत्, सा दीर्घचतुरश्रमध्यस्थायां समचतुरश्रतिर्यङ्मान्यां यत्र निपतति तत उत्तरं हित्वा दक्षिणांशं तिर्यङ्मानीं कुर्यात्, तद्दीर्घचतुरश्रं भवति। —आप० शु० 3. 1 पर सुन्दरराज

खींचो जो क ख को प पर काटे। प ख बदले हुए आयत की चौड़ाई होगी। प से होकर सीधी रेखा ज प छ को ङ घ या च ग के समानान्तर खींचो। पर ज च ग घ आयत ही क ख ग घ वर्ग के बराबर और उसकी भुजा ग च दी हुई लंबाई म के बराबर है।

एक स्थान पर बौधायन एक आयत तीन दिए हुए वर्गों के बराबर की बनाते है; इस आयत की एक भुजा वर्ग की भुजा की आधी है।[1]

रूपान्तरण—चार : एक वर्ग या आयत को ऐसे समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज में बदलना जिसका फलक दिया हुआ है।

इस रूपान्तरण के लिए बौधायन यह नियम देते हैं जिसे शुल्ब के शब्दों में 'चतुरस्र (वर्ग या आयत) को एक ओर से अणिमत् (छोटा करना) कहा जाता है :'

> अगर आप किसी वर्ग या आयत को एक ओर से छोटा करना चाहें तो छोटी लंबाई को एक भुजा मानकर (एक आयत काट लो)। बाकी को विकर्ण से बांट कर (कटे हुए हिस्सों की) दोनों में से किसी ओर से (दोनों हिस्सों को) पलट कर रख दो।[2]
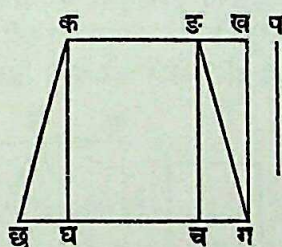
आकृति—25

मान लो दिया गया वर्ग क ख ग घ है और प दी हुई रेखा है जो क ख से छोटी है। क ख और घ ग से क्रमशः क ङ और घ च को काट लो जो दोनों प के बराबर हैं। ङ च और ङ ग को जोड़ दो। कोण ग ख ङ को लो और इसे पलटकर क घ छ की हालत में रख दो। अब क ङ ग छ समद्विबाहु सम लम्ब चतुर्भुज है जो दिए गए वर्ग क ख ग घ के बराबर है और उसका फलक क ङ दी गई लंबाई प के बराबर है।

---

1. बौ० शु० 3. 255
2. चतुरस्रमेकतोऽणिमच्चिकीर्षन्नणिमतः करणीं तिर्यङ्मानीं कृत्वा शेषमक्ष्णया विभज्य विपर्यस्येतरत्रोपदध्यात्। —बौ० शु० 1. 55

रूपान्तरण का ऐसा ही नियम शतपथ ब्राह्मण (10. 11. 1. 4) में आया है, जिसका जिक्र हम पहले ही कर चुके हैं। मान लो क ख ग घ एक आयत है। क ङ=च ख=घ ज=ग छ लो। फिर यह कहा जाएगा कि समलम्ब चतुर्भुज ङ च छ ज आयत क ख ग घ (आकृति-26) के बिलकुल बराबर है। यह तरीका आपस्तम्ब शुल्ब में भी आता है।[1]
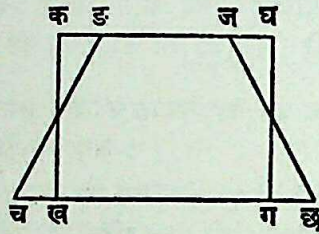
आकृति—26

रूपान्तरण—पांच : वर्ग या आयत को त्रिभुज में बदलना

बोधायन नीचे लिखा तरीका देते हैं :

अगर आप किसी वर्ग या आयत को त्रिभुज में बदलना चाहते हैं तो एक ऐसा वर्ग बनाओ जिसका क्षेत्रफल उस आकृति से (जो बदलती है) दूना हो। इसकी पूर्वी भुजा के बीच खूंटी गाड़ दो। इसमें (दो रस्सियों की) दो गांठें लगाकर रस्सी को दो पश्चिमी कोनों तक ले जाओ। इन रस्सियों से परे वाले हिस्से अलग काट दो।[2]
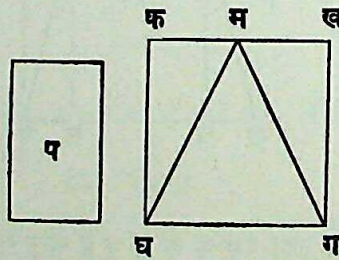
आकृति—27

1. पुच्छेऽर्धपुरुषव्यासं पुरुषं प्रतीचीनमायच्छेत्। तस्य दक्षिणतोऽन्यमुत्तरश्च।
—आप० शु० 15. 9

एवं दीर्घचतुरश्रं विहृत्य पुच्छस्थानेऽर्धपुरुषा तिर्यङ्मानी पुरुषप्रमाणा पार्श्वमानी भवति यथा तथा यच्छेत् कुर्यादित्यर्थः। तस्य चतुरश्रस्य दक्षिणपार्श्वेऽन्यं तादृग्विधं चतुरश्रमुत्तरतश्चान्यम्। एवं त्रीणिचतुरश्राणि अर्धपुरुषव्यासानि।
—आप० शु० 15. 9 पर कपर्दि

2. चतुरस्रं प्रउगं चिकीर्षन्यावच्चिकीर्षेद् द्विस्तावतीं भूमिं समचतुरस्रां कृत्वा पूर्वस्याः
[अगले पृष्ठ पर—

मान लो जो आयत बदलना है वह **प** है (आकृति 27) वर्ग **क ख ग घ** बनाओ जिसका क्षेत्रफल **प** का दूना हो। **म क ख** को मध्य बिन्दु मान लो। **प घ** और **म ग** को जोड़ दो। त्रिकोण **म ग घ** आयत **प** के बराबर है, क्योंकि हर एक वर्ग **क ख ग घ** के आधे के बराबर है।

रूपान्तरण— छः : वर्ग या आयत को समचतुर्भुज में बदलना

इस सिलसिले में बौधायन का तरीका यह है :

> अगर आप किसी आयत या वर्ग को समचतुर्भुज में बदलना चाहते हैं तो एक ऐसा आयत बनाओ, जिसका क्षेत्रफल (बदली जाने वाली आकृति के क्षेत्रफल का) दूना हो। पूर्वी भुजा के मध्य में खूंटी गाड़ दो इसमें (दो रस्सियों की) दो गांठें लगाकर रस्सियों को (आयत की) उत्तरी और दक्षिणी भुजाओं के मध्य बिन्दुओं की ओर खींचो। इन रस्सियों से परे वाले हिस्से अलग काट दो। इससे दूसरे त्रिभुज की रचना भी स्पष्ट हो जाती है।[1]
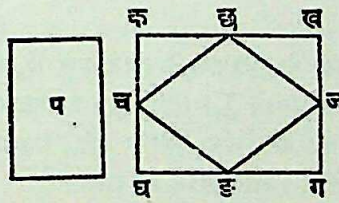
आकृति—28

मान लो **प** आयताकार आकृति है (आकृति 28)। आयत **क ख ग घ** खींचो, जिसका क्षेत्रफल **प** से दूना हो। **छ, ज, ङ, च** को क्रमशः **क ख, ख ग, ग घ** और **प क** के मध्य बिन्दु मान लो। **छ ज, ज ङ, ङ च** और **च छ** को जोड़ दो। यह समचतुर्भुज **छ ज ङ च** आयताकार आकृति **प** के बराबर है।

—पिछले पृष्ठ से]

करण्या मध्ये शङ्कुं निहन्यात्तस्मिन्पाशौ प्रतिमुच्य दक्षिणोत्तरयोः श्रोण्योर्निपातयेद् बहिःस्पन्द्यमपच्छिन्द्यात्। —बौ० शु० 1. 56

1. चतुरस्रमुभयतः प्रउगं चिकीर्षन्यावच्चिकीर्षेद् द्विस्तावतीं भूमिं दीर्घचतुरस्रां कृत्वा पूर्वस्याः करण्या मध्ये शङ्कुं निहन्यात्तस्मिन्पाशौ प्रतिमुच्य दक्षिणोत्तरयोर्मध्यदेशयोर्निपातयेद् बहिः स्पन्द्यमपच्छिन्द्यादेतेनापरं प्रउगं व्याख्यातम्। —बौ० शु० 1. 57

यह तरीका आपस्तम्ब[1] और कात्यायन[2] ने भी विहित किया है।

क्षेत्र

बौधायन क्षेत्र की इकाई की कोई परिभाषा नहीं देते। आपस्तम्ब में यह उल्लेख आता है :

प्रमाण (माप) से प्रमाण पैदा होता है।[3]

इसका मतलब है कि किसी क्षेत्र की सतह की माप की इकाई उसकी लंबाई की भुजा पर बने वर्ग के क्षेत्रफल के बराबर है।

क इकाइयों की भुजा वाले वर्ग का क्षेत्रफल क×क=क^2 होगा। आपस्तम्ब और कात्यायन में इसे इन शब्दों में दिया गया है :

> रस्सी में जो माप की इकाइयां होंगी, (उस माप के) वर्गों की उतनी ही पंक्तियां (या श्रृंखलाएं) उस रस्सी को भुजा मानकर बने वर्ग में होंगी।[4]

आपस्तम्ब महावेदी के क्षेत्रफल के सिलसिले में समलंब चतुर्भुज का क्षेत्रफल तय करने का तरीका बताते हैं। महावेदी समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज की शक्ल की होती है जिसका शीर्षलंब, फलक और आधार क्रमशः 36,24 और 30 पद (या प्रक्रम) होते हैं। आपस्तम्ब का कहना है :

> महावेदी (क्षेत्रफल में) 1000 में 28 कम (वर्ग) पदों के बराबर होती है। (वेदी के) दक्षिण पूर्वी कोने से दक्षिण-पश्चिमी कोने की ओर 12 पद लंबी सरल रेखा खींचो। वेदी के दूसरी (अर्थात् उत्तरी) ओर

---

1. यथा विमुखे शकटे। तावदेव दीर्घं चतुरश्रं विहृत्य पूर्वापरयोः करण्योरर्धात्तावति दक्षिणोत्तरयोर्निपातयेत्। नित्योभयतः प्रउगं। प्रउग चितोक्तीः।
—आप० शु० 12. 9

2. प्रउगे यावानग्निः सपक्षपुच्छविशेषस्तावद् द्विगुणं समचतुरस्रं कृत्वा यः पुरस्तात्करणीमध्ये शङ्कुर्यौ च श्रोण्योः सोऽग्निः। —का० शु० 4. 5

3. प्रमाणेन प्रमाणं विधीयते। —आ० शु० 3. 4
यावत्प्रमाणा रज्जुस्तावतस्तावतः वर्गान् करोति। —आप० शु० 3. 7

4. द्विप्रमाणा चतुःकरणी, त्रिप्रमाणा नवकरणी, चतुःप्रमाणा षोडशकरणी। (6)
यावत्प्रमाणा रज्जुर्भवति तावन्तस्तावन्तो वर्गा भवन्ति तान्समस्येत्। (7)
—का० शु० 3. 6, 7

इस तरह कटे हिस्से को पलटकर रखो। अब यह (महावेदी) आयत बन जाएगी। रचना के बाद क्षेत्रफल स्पष्ट हो जाएगा।[1]

यह नतीजा भी शतपथ ब्राह्मण में और बौधायन द्वारा वर्ग या आयत को समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज में रूपान्तरित करने के लिए बताए गए तरीके से भी निकल आता है। महावेदी का क्षेत्रफल 972 वर्गपद होता है।

रचना—एक : 108 वर्ग पद क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाना

यह विहित किया गया है कि पितृयज्ञ की वेदी वर्गाकार हो और इसका क्षेत्रफल महावेदी का नवां हिस्सा अर्थात् $972 \times \frac{1}{9} = 108$ वर्ग पद हो। इसी तरह सौत्रामणि की वेदी का क्षेत्रफल महावेदी का एक तिहाई होता है और यह वेदी आकृति में समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज जैसी होती है। इसका मतलब है कि इसका क्षेत्रफल 324 वर्ग पद होता है।

बौधायन पैतृकी वेदी बनाने का यह तरीका बताते हैं :

महावेदी के तिहाई से बने वर्ग का तिहाई जनक (अर्थात् उस वर्ग की एक भुजा जिसका क्षेत्रफल तिहाई वर्ग का तिहाई है) उसे (पैतृकी वेदी की भुजा को) बनाता है। इसका क्षेत्रफल (महावेदी के क्षेत्रफल का) तिहाई होता है।[2]

$$108 = 324/3 = 18^2/3$$

इसलिए अभीष्ट वर्ग 18 पद लंबी भुजा पर बने वर्ग का एक तिहाई होगा। रचना का वर्णन इस तरह किया जा सकता है : मान लो क ख 18 पद लंबी सरल रेखा है। इसे तीन बराबर हिस्सों में बांट दो। मान लो क ग एक ऐसा हिस्सा है। वर्ग क ग घ ङ बना लो। क घ को जोड़ दो। एक वृत्त बनाओ जिसका केन्द्र क हो और व्यासार्ध क घ जो क ख को च पर काटे। ङ च को जोड़ दो। अब ङ च उस वर्ग की एक भुजा है, जिसका क्षेत्रफल 108 वर्ग पद है। (आकृति-29)

---

1. अष्टाविंशत्यूनं पदसहस्रं महावेदिः। दक्षिणस्मादंशाद् द्वादशसु श्रोण्यां निपातयेत्। छेदं विपर्यस्योत्तरत उपदध्यात्। सो दीर्घा चतुरश्रा। तथा युक्तां संचक्षीत।
—आप० शु० 5. 7

2. महावेदेस्तृतीयेन समचतुरस्रं कृतायास्तृतीयकरणी भवतीति नवमस्तु भूमेर्भागो भवति।
—बौ० शु० 1. 82
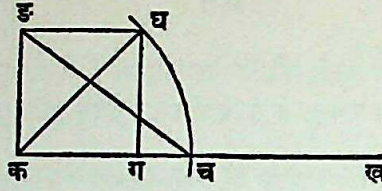
आकृति—29

$$ङच^2 = ङक^2 + कच^2 = ङक^2 + कघ^2$$
$$= ङक^2 + कग^2 + गघ^2$$
$$= 3कग^2 = \frac{1}{3} कख^2 = 108 \text{ वर्ग पद}$$

रचना—दो : 324 वर्ग पद क्षेत्रफल वाला समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज बनाना

इस सिलसिले में बौधायन कहते हैं :

> अगर महावेदी के तिहाई से कोई वर्ग बनाया जाए तो इसकी प्रत्येक भुजा 18 पद लंबी होगी। फिर इसे एक ओर बड़ा और दूसरी ओर छोटा करके भुजाओं को यथेच्छ रूप से तय कर लेना चाहिए।[1]

यह कल्पना करने पर यह रचना ज्यादा स्पष्ट हो जाएगी कि शीर्षलम्ब नहीं बदलता और केवल फलक और आधार बदल जाते हैं।
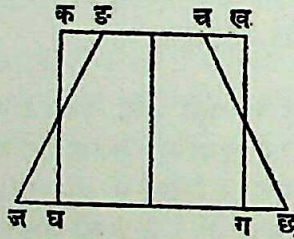
आकृति—30

मान लो क ख ग घ ऐसा वर्ग है, जिसकी भुजा क ख 18 पद लम्बी है। मान लो ङ च छ ज बदला हुआ रूप है (आकृति-30)। यह भी मान लो कि ङच=18 य और छ ज=18 र। चूंकि क्षेत्रफल वही रहना है, अतः यह होना चाहिए कि—

1. महावेदेस्तृतीयेन समचतुरस्रं कृताया अष्टादशपदा पार्श्वमानी भवति। (86) तस्यै दीर्घकरण्यामेकतोऽणिमत्करण्यां च यथाकामीति। (87) —बौ० शु० 1. 86-87

$$18\left(\frac{18\ य + 18\ र}{2}\right) = 324$$

$$\text{या}\quad य + र = 2$$

इस तरह हम कितने भी समद्विबाहु समलंब चतुर्भुज बना सकते हैं, जिनका शीर्षलंब और क्षेत्रफल एक समान हो।

पिरामिड छिन्नक का आयतन

श्मशानचित् या शवाधान जैसी अग्निवेदी वस्तुतः एक पिरामिड के छिन्नक जैसी होती है। इसके आधार में एक समद्विबाहु समचतुर्भुज होता है; इसका बौधायन द्वारा दिया गया आकार इस तरह है:

> यह उपदेश दिया गया है कि जो यह चाहता है "मैं पितृलोक में समृद्धि प्राप्त करूं" उसे श्मशान चित् बनानी चाहिए। पूर्व-पश्चिम रेखा की दूरी छः पुरुष होती है, पूर्वी दिशा की लम्बाई तीन पुरुष और पश्चिमी रेखा की दो पुरुष। यह (अग्निवेदी की) देह है।
>
> (बौ० श्रौ० 17. 30)

यहां पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस अंश में जो पुरुष इकाई आई है वह 120 अंगुलि का पुरुष नहीं है, बल्कि एक छोटी इकाई है जिसकी लंबाई सामान्य वर्ग पुरुष के आधे के बराबर वर्ग की एक भुजा के समान होती है। इस तरह समचतुर्भुज का क्षेत्रफल 15 कम किए गए वर्ग पुरुष या $7\frac{1}{2}$ सामान्य वर्ग पुरुष होता है।

इस अग्नि वेदी की ऊंचाई बौधायन ने इन शब्दों में बताई है:

> इस (श्मशान चित्) का माप इस तरह होता है, पूर्व में गरदन तक गहरी होने पर पश्चिम में नाभि तक गहरी, पूर्व में नाभि तक गहरी होने पर पश्चिम में घुटने तक गहरी; पूर्व में घुटनों तक गहरी होने पर पश्चिम में टखनों तक गहरी; पूर्व में टखनों तक गहरी होने पर पश्चिम में धरातल के बराबर होती है। (बौ० श्रौ० 17. 30)

फिर भी अग्निवेदी के दोनों ओर ऊंचाई में यह अन्तर होने पर भी इस का घनफुट क्षेत्र वैसा ही रखा जाता है। इसे व्यवहार में लाने के लिए नीचे लिखा तरीका अपनाया जाता है:

> अग्निवेदी की (सामान्य) ऊर्ध्वाधर माप उसका पांचवां हिस्सा और बढ़ा दो। अब कुल ऊंचाई को तीन हिस्सों में बांट दो। अब इन में से दो हिस्सों के चौथाई, नवें या चौदहवें हिस्से के (बराबर ऊंचाई की) ईंटें बनाओ। उनसे चार, नौ या चौदह पर्तें बनाओ।

बाकी हिस्से को (उसे कुल ऊंचाई की तिहाई ऊंचाई वाली ईंटों की एक पर्त से बनाने के बाद) पश्चिम की ओर नीचे झुके विकर्ण (समतल) से बांट दो और (ऊपरी) आधा हिस्सा अलग कर दो[1]।

यह बताया गया है कि अग्निवेदी के 'न' वें निर्माण में 'न' जानु ऊंचाई होनी चाहिए और उसमें ईंटों की 5 न पर्तें होनी चाहिए। ऊंचाई को इसके 1/5 से बढ़ा दें तो 6 न/5 जानु हो जाते हैं। उनके दो तिहाई 4 न/5 जानु होते हैं। इस ऊंचाई तक वेदी (5 न-1) पर्तों तक बनती है जिससे हर ईंट की ऊंचाई 4 न/5 जानु के (5 न/1) वें हिस्से के बराबर होती है। बढ़े हुए उन्नतांश का एक तिहाई 2न/5 जानु होता है। फिर इस पर्त का ऊपरी हिस्सा बताए गए अनुसार समतल विकर्ण से कट जाता है। इसलिए वेदी का उन्नतांश अब पूर्व में 6न/5 जानु और पश्चिम में 4न/5 जानु है, जिससे उनका औसत उन्नतांश (6न/5+4न/5) /2 या न जानु होता है। आसानी से पता चल जाएगा कि पिरामिड छिन्नक का आयतन निकालने का यह तरीका नीचे लिखे लगभग सूत्र पर आधारित है। अगर घन के आयत आधार की लम्बाई और चौड़ाई (क'ख') हो, (कख) इसके सामानान्तर फलक की संवादी भुजाएं हों और ह' ऊंचाई हो तो छिन्नक का आयतन होगा।

$$=\left(\frac{क+क'}{2}\right)\left(\frac{ख+ख'}{2}\right) ह$$

बौधायन द्वारा स्वतन्त्र रूप से पैथेगोरस के प्रमेय की खोज

ज्यामिति का एक सबसे ज्यादा प्रचलित प्रमेय 'कर्म के वर्ग का प्रमेय है', यह ग्रीक दार्शनिक पैथेगोरस (लगभग 540 ई० पू०) के नाम से भी प्रसिद्ध है। वास्तव में हमारे पास कोई संतोषप्रद साक्ष्य नहीं है कि वास्तव में इसकी खोज पैथेगोरस ने की थी। यह वास्तव में 'विकर्ण के वर्ग का प्रमेय' है। बौधायन इसका विवरण इस तरह देते हैं :

एक आयत का विकर्ण उतना ही क्षेत्र इकट्ठा बनाता है जितने उसकी लम्बाई और चौड़ाई अलग-अलग बनाती हैं।[2]

---

1. ऊर्ध्वप्रमाणमग्नेः पञ्चमेन वर्धयेत्। (266)
तत्सर्वं त्रेधा विभज्य द्वयोर्भागयोश्चतुर्थेन नवमेन वा चतुर्दशेन वेष्टकाः कारयेत्। (267)
ताभिश्चतस्रो वा नव वा चतुर्दश वा चितीरुपधाय शेषमवाञ्चमक्ष्णयापच्छिन्द्यात् अर्द्धमुद्धरेत्। (268) —बौ० शु० 3. 266-268

2. दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्णया रज्जुः पार्श्वमानी तिर्यङ्मानी च यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति। —बौ० शु० 1. 48

आपस्तम्ब[1] और कात्यायन[2] भी प्रायः इन्हीं शब्दों में इसका वर्णन करते हैं।

अब बौधायन के प्रमेय को नीचे लिखे शब्दों में बांधा जा सकता है : 'किसी आयत के विकर्ण पर बने हुए वर्ग का क्षेत्रफल इसकी दोनों भुजाओं के ऊपर बने वर्गों के क्षेत्रफल के योग क्षेत्र के बराबर होता है।' बौधायन का सामान्य प्रमेय जो आयत के बारे में है, वर्ग के ऊपर लागू होने पर विशेष रूप ले लेता है।

इस तरह हम देखते हैं कि बौधायन का कहना है :

वर्ग का विकर्ण उसका दुगुना क्षेत्रफल बनाता है।[3]

और देखिए आप० शु० और का० शु०

इसका मतलब है कि वर्ण के विकर्ण से बने वर्ग का क्षेत्रफल वर्ग के क्षेत्रफल से दुगुना होता है।

बौधायन प्रमेय की परिभाषा करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, वह इसकी जांच भी नीचे लिखे शब्दों में देते हैं :

> यह (अर्थात् प्रमेय की सच्चाई) तीन या चार (इकाइयों) वाले बारह और पांच, पन्द्रह और आठ, सात और चोबीस, बारह और पैंतीस, पन्द्रह और छत्तीस (इकाइयों) वाले आयतों में देखी जाती है।[4]

ऐसे कथनों में 'त्रिकचतुष्कयोः' आदि शब्दों का मतलब है वह आयत जिसकी भुजाएँ तीन (इकाई) और चार इकाई आदि थीं। 'शुल्बकारों ने इस

---

1. दीर्घस्याक्ष्णयारज्जुः पार्श्वमानी तिर्यङ्मानी च यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति।
—आप० शु० 1. 4

2. दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्णया रज्जुस्तिर्यङ्मानी पार्श्वमानी च यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोतीति क्षेत्रज्ञानम्।
– का० शु० 2. 11

3. समचतुरस्रस्याक्ष्णया रज्जुर्द्विस्तावतीं भूमिं करोति। —बौ० शु० 1. 45
चतुरश्रस्याक्षणया रज्जुर्द्विस्तावतीं भूमिं करोति। —आप० शु० 1. 5
समचतुरस्रस्याक्ष्णया रज्जुर्द्विकरणी। —का० शु० 2. 12

4. त्रिकचतुष्कयोर्द्वादशिक पञ्चिकयोः पञ्चदशिकाष्टिकयोः सप्तिकचतुर्विंशिकयोर्द्वादशिकपञ्चत्रिंशिकयोः पञ्चदशिकषटत्रिंशिकयोरित्येतासूपलब्धिः।
$3^2+4^2=5^2$; $12^2+5^2=13^2$; $15^2+8^2=17^2$; $7^2+24^2=25^2$;
$12^2+35^2=37^2$; $15^2+36^2=39^2$ —बौ० शु० 1. 49

प्रमेय के ज्यामितिक महत्त्व को बड़ी सीमा तक काम में भी लिया था। $3^2 + 4^2 = 5^2$ जैसे सम्बन्ध उनको केवल गणित की दृष्टि से ही विदित न थे। हम ऐसे उदाहरण भी देखते हैं कि इस प्रमेय का प्रयोग ऐसे आयतों के लिए भी किया गया है, जिनको युक्ति पूर्वक संख्याओं से व्यक्त नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए सौत्रामणि की वेदी बनाने के लिए ऐसे समकोण त्रिभुजों को काम में लिया गया है, जिनकी भुजाए यों दी गई हैं :

$(15/\sqrt{3}, 36/\sqrt{3}, 39/\sqrt{3})$ या $(5\sqrt{3}, 12\sqrt{3}, 13\sqrt{3})$ और अश्वमेधिकी वेदी के लिए ऐसे समकोण त्रिभुज जिनकी भुजाएँ यों दी गई हैं $(15\sqrt{2}, 36\sqrt{2}, 39\sqrt{2})$।

बौधायन का प्रमेय आगे यह भी बताता है कि इस विकर्ण के वर्ग की सच्चाई पहले युक्तिसंगत संख्या वाले मामलों में देखी-परखी गई थी और बाद में इसे सामान्य रूप देकर सबके लिए सत्य पाया गया था। आपस्तम्ब और कात्यायन का यह नियम इसी विचार की पुष्टि करता है :

> रस्सी में माप की जितनी इकाइयां होती हैं (उस माप के) वर्गों की उतनी ही पंक्तियां (या श्रेणियां) उस रस्सी को एक भुजा मानकर बने वर्गों की बन सकती हैं।[1]

जहां तक बौधायन के प्रमेय का प्रश्न है उनके ये कथन भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं :

> वर्ग का विकर्ण उसका दुगुना क्षेत्रफल बनाता है। (ऐसा आयत लो जिसकी) चौड़ाई (वर्ग की एक भुजा के) माप (के बराबर) हो और लंबाई इसकी द्विकरणी (के बराबर) हो; इसका विकर्ण त्रिकरणी (वर्ग का तिगुना बनाने वाला) होगा।

> इस तरह तृतीय करणी (वर्ग के तिहाई की जननी) भी स्पष्ट हो जाती है : यह क्षेत्रफल का नवमांश होती है।[2]

---

1. यावत्प्रमाणा रज्जुस्तावतस्तावतो वर्गान् करोति। —आप० शु० 3. 7
यावत्प्रमाणा रज्जुर्भवति तावन्तस्तावन्तो वर्गा भवन्ति तान्समस्येत।
—का० शु० 3. 7

2. समचतुरश्रस्याक्ष्णया रज्जुर्द्विस्तावतीं भूमिं करोति। (45)
प्रमाणं तिर्यग्द्विकरण्यायामस्तस्याक्ष्णया रज्जुस्त्रिकरणी। (46)
तृतीयकरण्येतेन व्याख्याता नवमस्तु भूमेर्भागो भवतीति। (47)
—बौ० शु० 1. 45-47, और भी बौ० श्रौ० 19. 1

विकर्ण के वर्ग वाला यह बौधायन का प्रमेय सबसे पुराने जमाने में चतुरस्र श्येन चित् के बनाने में इस्तेमाल होता हुआ दिखाई देता है। फिर भी इसका मतलब यह नहीं है कि इस प्रमेय का पूर्वानुमान कर लिया गया है। निःसन्देह आपस्तम्ब इस वेदी के बनाने के ब्यौरे देते हैं। बौधायन भी इससे परिचित थे, जो इसका बड़ा ही संक्षिप्त संकेत देते हैं और वस्तुतः उसका सुधारा हुआ रूप ही बताते हैं। अपने एक लेख (जैड्० डी० एम० जी, 55, पृष्ठ 556 एफ) में बर्क का अनुमान है कि इस प्रमेय को चतुरस्र श्येन चित् वेदी की आकृति में ही सिद्ध होता हुआ देखा गया था। इस वेदी की आत्मा (या देह) बनाने वाले चार वर्गों के क ख ग घ वर्ग के विकर्ण क ग पर बना वर्ग क ग च ङ स्पष्ट ही झ ज क घ पर बने वर्ग क घ ङ ज और भुजा घ ग पर बने वर्ग घ ग ज छ के बराबर हैं। (आकृति 31)
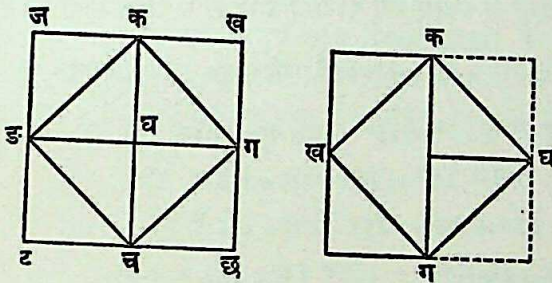
आकृति 31 और 32

वर्ग को आयत में बदलने के बौधायन के (जो नियम कात्यायन ने भी बताया है) अपूर्ण नियम के सिलसिले में भी बर्क ने अपनी इस कल्पना की पुष्टि की है।

बौधायन ने वक्रपक्षश्येनचित् के निर्माण का जो वर्णन किया है, वह भी इस प्रमेय के ज्ञान की सच्चाई का प्रमाण है (बौ० शु० 3. 62-104)। फिर बौधायन हमें ऐसा वर्ग (ईंट) बनाना सिखाते हैं जो दूसरे वर्ग के विकर्ण का आधा है। थिबौट का नीचे लिखा उद्धरण (शुल्ब सूत्र पृष्ठ 8) देकर अब मैं बौधायन के विकर्ण के वर्ग सम्बन्धी प्रमेय की यह चर्चा समाप्त करूंगा :

> सूत्रों के लेखक ऐसा कोई संकेत हमें नहीं देते कि उन्हें वर्ग के विकर्ण सम्बन्धी अपनी प्रस्थापना का पता किस तरह चला था, पर हम मानते हैं कि वे भी इस बात से परिचित थे कि विकर्ण का वर्ग भी अपने विकर्णों से चार त्रिभुजों में बंट जाता है, जिनमें से एक पहले वर्ग के आधे के बराबर होता है (आकृति 33)। यह अपने आप वर्गों या समबाहु आयतीय त्रिभुजों के बारे में पैथेगोरस की प्रस्थापना को तुरन्त सप्रमाण सिद्ध कर देता है।
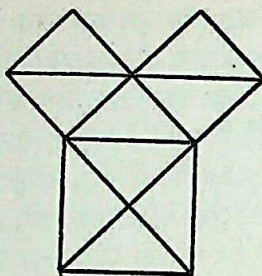
आकृति —33

परिमय आयत

शुल्ब विज्ञान सम्बन्धी अपने ग्रन्थ में विभूति भूषण दत्त ने शुल्ब संहिता में विभिन्न प्रसंगों में बताए गए परिमेय आयतों की एक सूची दी है :

कोटि-एक : $3^2+4^2=5^2$ (बौ० शु० 1. 49; आप० शु० 5. 3)

(क) $9^2+12^2=15^2$ (का० शु० श्लोक 31)

(ख) $12^2+16^2=20^2$ (आप० शु० 5. 3)

(ग) $15^2+20^2=25^2$ (आप० शु० 5. 3)

(घ) $72^2+96^2=120^2$ (मा० शु० 3. 4-6)

कोटि—दो : $5^2+12^2=13^2$ (बौ० शु० 1. 49; आप० शु० 5. 4)

(क) $15^2+36^2=39^2$ (बौ० शु० 1. 49; आप० शु० 5. 2. 4; मा० शु० 5. 2-3)

(ख) $40^2+96^2=104^2$ (मा० शु० 3. 3; मैं० शु 5. 2-3)

कोटि—तीन : $7^2+24^2=25^2$ (बौ० शु० 1. 49)

कोटि—चार : $8^2+15^2=17^2$ (बौ० शु० 1. 49; आप० शु० 5. 5)

कोटि—पांच : $12^2+35^2=37^2$ (बौ० शु० 1. 49; आप० शु० 5. 5)

परिमेय आयतों (15. 36. 39) का यह इतिहास बहुत पुराने समय तक खोजा जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता में यह अंश आता है :

> यह पूरी धरती ही वेदी है, पर वे समझते हैं कि वे कितनों का उपयोग कर पाएंगे, उतनी को ही माप लेते हैं और उतनी ही पर यज्ञ करते हैं। पीछे की आड़ी रेखा तीस फीट होती है, पूर्वी रेखा

छत्तीस फीट, सामने की आड़ी रेखा चौबीस फीट। ये दशक (अर्थात् नब्बे) बनाते हैं। (तै० सं० 6. 2. 4. 5)

यह वर्णन महावेदी के सिलसिले में है। यह काठक संहिता (का० सं० 25. 4) मैत्रायणी संहिता (मै० सं० 3. 8. 4), कपिष्ठल संहिता (कपि० 38. 6), और शतपथ ब्राह्मण (श० ब्रा० 3. 5. 1. 1 और आगे, 10. 2. 3. 4) में भी आया है। शतपथ ब्राह्मण का अंश इस तरह है :

> वेदी के (पश्चिमी) सिरे से वह वेदी को पूर्व की ओर छत्तीस कदम नापता है, पीछे तीस (कदम) चौड़ा नापता है और सामने चोबीस (कदम) चौड़ा—ये नब्वे होते हैं। यही नब्वे कदम की माप की वेदी है, इस पर वह सात तरह की वेदी बनाता है[1]।

इस मामले में समकोण त्रिभुज तीस कदम (आड़ी रेखा से) का आधा था पन्द्रह कदम (शीर्षलम्ब) है, आधार पूर्व को तीस कदम है और तीनों भुजाओं का कुल जोड़ नव्वे है जिसका मतलब हुआ कि विकर्ण 39 कदम है :

$$15^2+36^2=39^2$$
$$15+36+39=90$$

वृत्त को वर्ग में बदलना

समस्या वृत्त को वर्ग में बदलने की है जिससे क्षेत्रफल लगभग वही रहे। इसके उल्टे वर्ग को वृत्त में बदलने की समस्या भी है। कुछ प्राच्यविदों का विचार है कि ऋग्वेद के समय अर्थात् सबसे पुराने जमाने में ही विचारकों का ध्यान इन समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ था। समस्या इस भूमि के आर्यों की

---

1. (क) तद्यऽएष पूर्वार्घ्यो वर्षिष्ठ स्थूण राजो भवति। तस्माद् प्राङ् प्रक्रामति त्रीन्विक्रमांस्तच्छङ्कुं निहन्ति सोऽन्तःपातः ॥ 1 ॥
तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। दक्षिणा पञ्चदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सा दक्षिणा श्रोणिः ॥ 2 ॥
तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। उदङ् पञ्चदश विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति सोत्तरा श्रोणिः ॥ 3 ॥
तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोः। प्राङ् षट्त्रिंशतं विक्रमान्प्रक्रामति तच्छङ्कुं निहन्ति स पूर्वार्द्धः ॥ 4 ॥ —श० ब्रा० 3. 5. 1. 1-4

(ख) स वेद्यन्ताद् षट्त्रिँशतप्रक्रमाम्प्राचीं वेदिं विमिमीते त्रिँशतम्पश्चात्तिरश्चीञ्चतुर्विँशतिम्पुरस्तात्तन्नवतिः सैषा नवति प्रक्रमा वेदिस्तस्याँसप्तविषमन्निविदधाति। —श० ब्रा० 10. 2. 3. 4

तीन प्रारम्भिक और अत्यावश्यक यज्ञों— गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि-की वेदियों के बनाने के सिलसिले में उठ खड़ी हुई। ये तीनों वेदियां क्षेत्रफल में तो समान होती थीं, पर शक्ल में अलग-अलग। गार्हपत्य वर्तुल होती है, आहवनीय वर्गाकार और दक्षिणाग्नि अर्द्ध-वतुल। गार्हपत्य भी इच्छानुसार वर्गाकार हो सकती है, पर क्षेत्रफल उसी वृत्त जितना होना चाहिए (श० ब्रा० 7. 1. 1. 37[1]) दूसरी परम्परा भी ऐसी ही है। घिष्ण्या वृत्त या वर्ग हो सकती है पर क्षेत्रफल वही एक वर्ग पिशिल होना चाहिए। यही विकल्प कभी-कभी श्मशान चित् को भी दिया जाता है, जो वर्तुल या वर्गाकार हो सकती है पर उसका क्षेत्रफल वही एक वर्ग पुरुष होना चाहिए।

ऐसी समस्या कई दूसरे मामलों में भी उठ खड़ी होती है, क्योंकि तैत्तिरीय संहिता में हमें रथचक्रचित्, समूह्यचित्, परिचाय्यचित् और द्रोणचित् के निर्माण में मिलते हैं। इनमें से हर मामले में पुरानी श्येनचित् के क्षेत्रफल अर्थात् $7\frac{1}{2}$ वर्ग पुरुष के बराबर वृत्त बनाना होता है और फिर उस वर्ग का वृत्त बनाया जाता है। इन वर्णनों के लिए बौ० श्रौ० 17. 29, बौ० शु० 3. 183 और आप० शु० 12. 12 को देखा जाता है। बर्क ने (जेड डी एम जी, 55, पृ०548) ठीक ही कहा है: 'मैं केवल इस बात पर जोर देना चाहूँगा कि तैत्तिरीय संहिता के काल में ही भारतीयों ने वर्ग को वृत्त में बदलना (भले ही बड़े आदिम तरीकों से) जान लिया था।'

वृत्त का वर्ग बनाने का एक तरीका हम बौधायन शुल्ब सूत्र में बताएंगे: अगर आप वर्ग का वृत्त बनाना चाहते हैं तो इसके विकर्ण का आधा पूर्व-पश्चिम रेखा के बीच में खींचो जो (वर्ग के) बाहर पड़े उसके एक तिहाई का वृत्त खींच लो[2]।

---

1. व्याममात्री भवति। व्यामात्रो वै पुरुषः पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसम्मितां तद्योनिं करोति परिमण्डला भवति परिमण्डला हि योनिरथोऽअयं वै लोको गार्हपत्यः परिमण्डलऽउवाऽअयं लोकः। —श० ब्रा० 7. 1. 1. 37

2. चतुरश्रं मण्डलं चिकीर्षन्नक्षणयार्धं मध्यात्प्राचीमभ्यापातयेद्यदति शिष्यते तस्य सह तृतीयेन मण्डलं परिलिखेत्। —बौ० शु० 1. 58
चतुरश्रं मण्डलं चिकीर्षन् मध्यात्कोट्यां निपातयेत्।
पार्श्वतः परिकृष्यातिशयतृतीयेन सह मण्डलं परिलिखेत्। —आप० शु० 3. 2
चतुरस्रं मण्डलं चिकीर्षन्मध्यादंसे निपात्य पार्श्वतः परिलिख्य तत्र यदतिरिक्तं भवति तस्य तृतीयेन सह मण्डलं परिलिखेत्स समाधिः। —का० शु० 3. 13
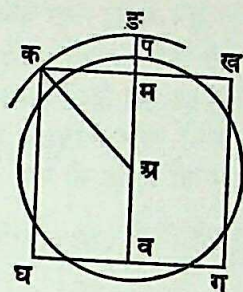
आकृति—34

मान लो क ख ग घ एक वर्ग हैं और अ उसका केन्द्र बिन्दु। अ क को जोड़ दो। अ केन्द्र और अ क अर्द्धव्यास से एक वृत्त खींचो जो पूर्व-पश्चिम रेखा ङ व को व पर काटे। ङ म लो प पर इस तरह बांटो कि प म=ङ म (3) फिर केन्द्र अ और अर्द्धव्यास अ प से एक वृत्त खींचो। यह वृत्त दिए गए वर्ग क ख ग घ के क्षेत्रफल में लगभग बराबर होगा।

मान लो 2 क दिए गए वर्ग की भुजा है और र इसके बराबर के वृत्त का अर्द्धव्यास। क ख=2 क, अ प=र। अब अ क=क $\sqrt{2}$, और मङ = $(\sqrt{2}-1)$ क।

$$\text{इसलिए } र=क+\frac{क}{3}(\sqrt{2}-1)$$

$$=\frac{क}{3}(2+\sqrt{2})$$

शुल्व में 2 का मूल्य 1. 4142156 बताया गया है।

$$\sqrt{2}1=+\tfrac{1}{3}+\frac{1}{3.4}-\frac{1}{3.434}$$

इसलिए र=क×1. 1380718⋯

अब यदि π को 3.14159 के बराबर माना जाए तो, बदल कर बने वृत्त का क्षेत्रफल 4.068987×क^2 होगा। इसलिए यह 4क^2 से कुछ ज्यादा है अर्थात् वह वर्ग के क्षेत्रफल के बस लगभग बराबर ही है। लगभग या बिलकुल ठीक न होने वाले मूल्य के लिए अनित्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए आपस्तम्ब शुल्व सूत्र में हमें यह मिलता है: (आप० शु० सू०.3. 2) सा नित्या मण्डलं यावद्धीयते (तावदागन्तु; सा नित्या=स+अनित्या)।

वृत्त को वर्ग में बदलना

इस बारे में बौधायन शुल्ब सूत्र में यह कहा गया है :

अगर आप किसी वृत्त को वर्ग बनाना चाहते हैं, तो इसके व्यास को हिस्सों में बांट दो, फिर एक हिस्से को 29 हिस्सों में बांट दो और इनमें से 28 को छोड़ दो और (पिछले उपभाग के) छठे हिस्से को (भी आखिरी के) आठवें हिस्से को कम करके छोड़ दो[1] ।

मान लो वृत्त व्यास घ का है और समान क्षेत्रफल वाले वर्ग की भुजा 2 क है, अब

$$2\text{क}=\frac{7\text{घ}}{8}+\left[\frac{\text{घ}}{8}-\left\{\frac{28\text{घ}}{8.\ 29}+\left(\frac{\text{घ}}{8.29.6}-\frac{\text{घ}}{8.29.6.8}\right)\right\}\right]$$

$$\text{या } 2\text{क}=\text{घ}-\frac{\text{घ}}{8}+\frac{\text{घ}}{8.29}-\frac{\text{घ}}{8.29}\left(\frac{1}{6}-\frac{1}{6.8}\right)$$

चूंकि घ=2 र; जहां र का मतलब अर्द्धव्यास है,

$$\text{क}=\text{र}-\frac{\text{र}}{8}+\frac{\text{र}}{8.29}-\frac{\text{र}}{8.29.6}+\frac{\text{र}}{8.29.6.8}$$

यह परिणाम शायद पहली पलट से निकला था

$$\text{र}=\frac{\text{क}}{3}(2+\sqrt{2})$$

$$\text{इसलिए } 2\text{ क}=\frac{3}{2+\sqrt{2}}\text{घ}$$

$\sqrt{2}$ का मूल्य (अर्थात् 577/408) इस जगह रख कर हम पाते है,

$$2\text{ क}=\frac{1224}{1393}\text{ घ}$$

थिबोट की कल्पना है कि इसके बाद बौधायन नीचे लिखी प्रक्रिया करते हैं :

1393 का आठवां हिस्सा $=174\frac{1}{8}$, यह 7 का गुणा करने से $=1218\frac{7}{8}$ हुआ। $1218\frac{7}{8}$ और 1224 का अन्तर $=5\frac{1}{8}$ है। 174 में (बौधायन $174\frac{1}{8}$ की

---

1. मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन्विष्कम्भमष्टौ भागान्कृत्वा भागमेकोनत्रिंशधा विभज्याष्टाविंशतिभागानुद्धरेद् भागस्य च षष्ठमष्टमभागोनम् । —बौ० शु० 1. 59

जगह 174 को लेते हैं और भिन्न को महत्वहीन मान या ज्यादा संभव है असुविभाजनक मान छोड़ देते हैं) 29 का भाग करके 6 आते हैं। 6 में इसका छठवां हिस्सा घटाकर 5 आते हैं और इसमें 6 के छठे हिस्से का आठवां हिस्सा जोड़कर $5\frac{1}{8}$ आता है। दूसरे शब्दों में $1274 = \frac{7}{8} + \frac{1}{8.29} - \frac{1}{8.29.6} + \frac{1}{8.29.6.8}$ का 1393 (छोड़े गए $\frac{1}{8}$ की ओर उचित ध्यान देकर) (थिबोट, शुल्वसूत्र, पृष्ठ 28):

बौधायन, आपस्तम्ब और कात्यायन ने भी वृत्त का वर्ग बनाने का एक और वैकल्पिक तरीका दिया है। निश्चय ही यह तरीका भी स्थूल या अनित्य मूल्य बताता है। तरीका इस तरह है:

> अथवा व्यास को पन्द्रह हिस्सों में बांटकर उनमें से दो को अलग कर दो। यह बराबर वर्ग की एक भुजा का लगभग (मूल्य) है[1]।

अर्थात् $2\ \text{क} = \text{घ} - \frac{2}{15}\text{घ}$; या $\text{क} = \text{र}\frac{2}{15}\text{र} = \frac{13}{15}\text{र}$

बौधायन द्वारा दिया गया $\sqrt{2}$ का मूल्य

बहुत पहले ही यह समझ लिया गया था कि 2 के वर्गमूल का मूल्य ठीक-ठीक नहीं तय किया जा सकता। इस बारे में बौधायन (और आपस्तम्ब भी) कहते हैं:

> माप को (जिसको द्विकरणी का पता चलाना है) एक तिहाई और बढ़ा दो और फिर (इस तिहाई के) चौथाई हिस्से में इसी (चौथाई हिस्से) के चोंतीसवें हिस्से को कम करके और जोड़ दो। (इस तरह प्राप्त मूल्य) सविशेष है। (बौ० शु० 1. 61-62, आप० शु० 1. 6)

कात्यायन भी यही बात प्राय: ऐसे ही शब्दों में कहते हैं (का० शु० 2. 13):

इस तरह अगर क की द्विकरणी घ है, अर्थात् अगर घ किसी ऐसे वर्ग की भुजा है जिसका क्षेत्रफल क पर बने वर्ग का दुगुना है, तो इस नियम के अनुसार

$$\text{घ} = \text{क} + \frac{\text{क}}{3} + \frac{\text{क}}{3.4} - \frac{\text{क}}{3.4.34}$$

---

1. अपि वा पञ्चदशभागान्कृत्वा द्वावुद्धरेत्सैषानित्या चतुरश्रकरणी। —बौ० शु० 1. 60
मण्डलं चतुरश्रं चिकीर्षन् विष्कम्भं पञ्चदशभागान् कृत्वा द्वावुद्धरेत्। त्रयोदशावशिष्यन्ते। सानित्या चतुरश्रं। —आप० शु० 3. 3
मण्डलं चतुरश्रं चिकीर्षन् विष्कम्भं पञ्चदश भागान् कृत्वा द्वावुद्धरेच्छेषः करणी।
—का० शु० 3. 14

अब यह पहले बताया जा चुका है कि वर्ग का विकर्ण इसकी द्विकरणी होता है। इसलिए यह मूल्य वर्ग की भुजा और विकर्ण के बीच का संबंध बताता है। वस्तुतः यह ऊपर का नियम खास तौर पर उस संबंध की परिभाषा करने के लिए है। इस तरह हम पाते हैं :

$$\sqrt{2}=1+\frac{1}{3}+\frac{1}{3.4}-\frac{1}{3.4.34}$$

दशमलव भिन्न के रूप में यह $\sqrt{2}$ का मूल्य 6=1. 4142156···बताता है। इस संख्या का इतना यथातथ्य मूल्य निकालने के लिए शुल्ब के गणनाकार प्रशंसा के पात्र हैं।

शुल्ब सूत्रों के गणित के बारे में मूलर के जर्मन प्रकाशन को भी देखें। बौधायन ने इसी तरह की गणना द्वारा $\sqrt{3}$ का भी मूल्य बताया है :

$$\sqrt{3}=1+\frac{2}{3}+\frac{1}{3.5}=\frac{1}{3.5.52}$$

विशेष और सविशेष

शुल्ब के प्राचीन लेखकों ने दो के वर्गमूल ($\sqrt{2}$) की निरर्थकता को समझा था। थिबोट के शब्दों में शुल्वकारों ने 'एक ऐसा वर्ग खोज निकालने की कोशिश की जिसकी भुजा और विकर्ण को पूर्ण संख्या में बताया जा सके।' वह फिर आगे कहते हैं कि 'उनको निःसन्देह यह पता चल गया कि वह जो चाहते हैं वह कभी मिल नहीं सकता और उनको लगभग चीज से संतोष करना होगा। वान श्रोडर ने कई लेखों में और बर्क ने भी यह श्रेय प्राचीन भारतीयों को दिया है कि अपरिमेयों की खोज सबसे पहले उन्होंने की थी। इन विचारों की आलोचना भी हुई है (इसके लिए एच० जी० जेन्थेन, एम० कैंटोर और एच० वोग के लेख देखने चाहिए।)

शुल्ब साहित्य में दो शब्द आते हैं, जो इस विवाद पर प्रकाश डालते हैं, वे हैं : विशेष और सविशेष। विभूति भूषण दत्त का कहना है कि इस विवाद पर कलम चलाने वाले लेखकों ने इन शब्दों का महत्व ठीक से नहीं समझा था। थिबोट का कहना बस यही है कि सविशेष बढ़े हुए माप के लिए पारिभाषिक शब्द है (शुल्ब सूत्र पृष्ठ 13); बर्क का कहना है, कुल बढ़ोत्तरी विशेष है क्योंकि यह प्रमाण अर्थात् दिए गए वृत्त की भुजा और इसकी द्विकरणी के बीच का 'अन्तर' है। इसलिए यह पिछला 'सविशेष' (अन्तर सहित) है। (जेड डी एम जी, 56, पृ० 330, 55 पृ० 548 और 557)।

शुल्ब में वर्ग के विकर्ण का जोड़ा गया मूल्य पारिभाषिक शब्दों में इसकी भुजा का सविशेष बताया जाता है :

$$\text{क का सविशेष} = \text{क} + \frac{\text{क}}{3} + \frac{\text{क}}{3 \cdot 4} + \frac{\text{क}}{3 \cdot 4 . 34}$$

अर्थात् क का सविशेष क $\sqrt{2}$ के बराबर है।

फिर आपस्तम्ब शुल्व में एक जगह हम यह प्रयोग देखते हैं[1] :

$$\text{क का विशेष} = \frac{\text{क}}{3} + \frac{\text{क}}{3 \cdot 4} - \frac{\text{क}}{3 \cdot 4 . 34}$$

फिर भी हम देखते हैं कि कई अवसरों पर खासकर यौगिक शब्दों में विशेष शब्द का प्रयोग समकोण त्रिभुज के कर्ण के लिए किया गया हैं। फिर वहां इसे सविशेष के बराबर भी माना गया है[2]।

श्येनचित्

अब हम उदाहरण के रूप में बौधायन सूत्रों से सुप्रसिद्ध चतुरस्र श्येनचित् (टेढ़े पंख फैली पूंछ वाले बाज की शक्ल की) वेदी के निर्माण के विवरण उद्धृत

1. पृष्ठ्यान्तयोर्मध्ये च शङ्कुन्निहत्याऽर्धे तद्विशेषमभ्यस्य लक्षणं कृत्वार्धमागमयेत्। अन्त्ययोः पाशौ कृत्वा मध्यमे सविशेषं प्रतिमुच्य···। —आप॰ शु॰ 2. 1
2. उदाहरण के लिए वक्रपक्ष व्यस्तपुच्छ श्येनचित् (टेढ़े पंख फैली पूँछ वाले बाज जैसी) अग्निवेदी के निर्माण में प्रयुक्त एक तरह की ईंटों को षोडशी कहते थे। इसका आकार इस तरह बताया गया है :

   षोडशीं चतुर्भिः परिगृह्णीयात्। अष्टमेन त्रिभिरष्टमैश्चतुर्थेन चतुर्थसविशेषेणेति।
   —आप॰ शु॰ 19. 2

   'षोडशी को चार (भुजाओं) से बनाओ अर्थात् आठवें, तीन बटा आठवें, चौथाई (पुरुष) और चौथाई (पुरुष) के सविशेष से बनाओ। इन ईंटों के लगाने का तरीका इस तरह बताया गया है :

   अवशिष्टं षोडशीभिः प्राच्छादयेत्। अन्त्या बाह्यविशेषा अन्यत्र शिरसः।
   —आप॰ शु॰ 20. 5

   (वेदी के) बाकी हिस्से को षोडशी ईंटों से इस तरह ढंक दो कि (वेदी के) आखिर पर आने वाली ईंटों का विशेष बाहर की ओर पर सिर वाली ईंटों का भीतर की ओर होगा।

   अपरस्मिन् प्रस्तारे पुरस्ताच्छिरसि द्वे षोडश्यौ बाह्यविशेषे उपदध्यात्।
   — आप॰ शु॰ 20. 6

   'दूसरे रद्दे में सिर पर पूर्व की ओर दो षोडशी ईंटें रखो, जिनका विशेष भीतर को हो और दोनों जगहों मे हो (विषय अर्थात् अंशतः सिर में और अंशतः वेदी की देह में)।'

करेंगे। थिबोट ने बौधायन शुल्ब सूत्रों के अपने अनुवाद में जरूरी ब्यौरे दिए हैं, जो पण्डित नामक पत्र, (1876) में निकले थे, (बौ० शु० 3. 62-104)। उन्होंने दो तरह के वक्रपक्ष श्येनचित् के खाके दिए हैं (2 खाके पहली तरह के प्रस्तार 1 और 2 के और दो खाके दूसरी तरह के प्रस्तार 1 और 2 के)। इनमें से एक खाका (पहली तरह का प्रस्तार 1) नीचे उद्धृत किया जाता है। चित् में कुल 200 ईंटें लगती हैं, जिनमें से कुछ चतुर्थी (वर्ग) होती हैं, कुछ अर्ध्या (आधी ईंट या चतुर्थी को विकर्ण से दो हिस्सों में बांटकर) और कुछ पाद्या (चौथाई) ईंटें अर्थात् चतुर्थी को दोनों विकर्णों से चार हिस्सों में बांटकर)। कुछ मामलों में पंचभुजी ईंटें भी, जिनको हंसमुखी भी कहते हैं, प्रयुक्त की गई है। इन ईंटों के आकार नीचे लिखे विवरण में दिए गए हैं :

> अब वक्रपक्ष व्यस्तपुच्छ (टेढ़े पंख फैली पूंछ वाली) वेदी का निर्माण बताया जाता है[1]। (62)।

> इसके निर्माण के लिए पुरुष के चौथे के बराबर की ईंटें (30 अंगुलियों का वर्ग) बनवानी चाहिए[2]। (63)

> फिर चतुर्थी की आधी और चौथाई ईंटें भी[3]। (64)

अगले सूत्र में बताया गया है कि ये दो तरह की ईंटें चतुर्थी में विकर्ण खींचकर बनवानी चाहिए। फलतः अर्ध्या ईंटें आयतीय त्रिभुज होती हैं, जिनकी दो भुजाएं 30 अंगुलियों के बराबर होती हैं और तीसरी $=\sqrt{1800}$ अंगुलि। पाद्या भी आयतीय त्रिभुज होती है, जिनकी एक भुजा 30 अंगुलियों के बराबर होती है और दो भुजाएं

$$=\sqrt{\frac{1800}{2}}$$

> (अगर अर्ध्या या पाद्या अर्थात् आधी या चौथाई ईंटें बताई जाएं तो) दूसरी विशेष हिदायत न होने पर विभाजन विकर्णों से हमेशा किया जाता है[4] (65)।

---

1. अथ वक्रपक्षो व्यस्तपुच्छः ॥62॥
2. तस्येष्टकाः कारयेत्पुरुषस्य चतुर्थ्यः ॥63॥
3. तासामर्ध्याः पाद्याश्च ॥64॥
4. नित्यमक्ष्णयापच्छेदनमनादेशे ॥65॥

फिर पाद्या ईंटों को चारों ओर से घेर दो (अर्थात् ईंटें ऐसी बनवानी हैं, जिनमें चार भुजाएं हों और साथ ही जिनका क्षेत्रफल चतुर्थी के चौथाई के बराबर हों[1]) (66)

आधे पद=$7\frac{1}{2}$ अंगुलि से, पद=15 अंगुलि से, $1\frac{1}{2}$ पद=$22\frac{1}{2}$ अंगुलि से और पद के सविशेष से। पहले अध्याय में दिए गए नियम के अनुसार सविशेष=$15+5+\frac{5}{4}-\frac{5}{4.34}$ अंगुलियाँ

या लगभग 21 अंगुलि 7 तिल। इसके मूल्य को ठीक-ठीक रूप में इस तरह बताया जाएगा=$\sqrt{450}$[2]। (67)

स्पष्ट है कि बताए गए आकार की ईंट चतुर्थी के चौथाई के बराबर होती है। इसकी शक्ल एक समलम्ब चतुर्भुज होती है, जिसको $15 \times 7\frac{1}{2}$ के (=चतुर्थी का आठवां हिस्सा) एक आयतरूप में और 15, 15, $\sqrt{450}$ के आयतीय त्रिभुज (=चतुर्थी का आठवां हिस्सा) में बांटा जा सकता है।

फिर चार कोनों वाली इन पाद्या ईंटों में से दो को लेकर उनके लम्बे सिर अर्थात् $22\frac{1}{2}$ अंगुलि वाली भुजाओं के साथ रखकर अर्ध्या ईंट बनाई जानी चाहिए[3] (68)।

इस तरह एक अनियमित पंचभुज बनता है, जिसका क्षेत्रफल आधी चतुर्थी के बराबर होगा। इस तरह की ईंटों को हंसमुखी कहते हैं।

फिर अग्नि को मापते हैं। (बाज की) आत्मा दो पुरुष=240 अंगुलि लंबी और दस पद—150 अंगुलि चौड़ी होती है[4] : (69)

टीकाकार द्वारा प्रयुक्त शब्द षोडशी का भी मतलब वही है जो चतुर्थी का। पुरुष के चौथाई के बराबर भुजा वाली ईंट का क्षेत्रफल वर्ग पुरुष के सोलहवें हिस्से के बराबर होता है।

आत्मा (के आयतरूप के) दक्षिण पूर्व कोने से उत्तर की ओर $1\frac{1}{2}$ प्रक्रम=45 अंगुलि की दूरी पर एक चिह्न लगा दिया जाता है[5]। (70)

---

1. पादेष्टकाश्चतुर्भिः परिगृह्णीयात् ।।66।।
2. अर्धपदेन पदेनाध्यर्धपदेन पदसविशेषेणेति ।।67।।
3. ते द्वे यथा दीर्घसंश्लिष्टे स्यातां तथार्द्धेष्टकां कारयेत् ।।68।।
4. अथाग्निं विमिमीते। आत्मा द्विपुरुषायामो दशपद व्यासः ।।69।।
5. तस्य दक्षिणादंसादुत्तरतोऽध्यर्धप्रक्रमे लक्षणं करोति ।।70।।

ऐसा ही पश्चिम की ओर भी किया जाता है (दक्षिणपूर्व कोने से पश्चिम की ओर 45 अंगुलि की दूरी पर एक चिह्न लगा दिया जाता है[1] (। (71)

इन दो चिह्नों के ऊपर रस्सी फैलाकर कोना अलग कर देना होता है[2] । (72)

चिह्नों के ऊपर दो खम्भे लगाकर उनके बीच एक रस्सी फैलाई जाती है और इस रस्सी के दक्षिणपूर्व बनने वाले त्रिभुज को अग्नि से काटकर अलग कर देते हैं।

इसी तरह दूसरे कोनों को काटा जाना भी स्पष्ट हो जाता है[3] । (73)
आत्मा के तीन अन्य कोनों से भी उतने ही आकार का त्रिभुज काट देते हैं। यह आत्मन् है[4] । (74)

इस तरह आत्मा का क्षेत्रफल 40 चतुर्थी से कम करके 35$\frac{7}{8}$ चतुर्थी कर दिया जाता है।

फिर साढ़े पांच पद=82$\frac{1}{2}$ अंगुलि और आधा पुरुष चौड़ा होता है। दो पूर्वी कोनों से एक प्रक्रम=30 अंगुलि प्रत्येक काट देना है[5] । (75)

दोनों पूर्वी कोनों से 30 अंगुलि की दूरी पर चिह्न लगाने हैं, चिह्नों और रस्सियों से बने त्रिभुजों को मिलाने के लिए रस्सियां फैलानी हैं और फिर कोने काट देने हैं।

पूर्वी रेखा अर्थात् पूर्व से पूंछ के पश्चिम की लम्बाई छः पद=90 अंगुलि है, उत्तरी रेखा अर्थात् उत्तर से दक्षिण की चौड़ाई दो पुरुष=240 अंगुलि है[6] । (76)

आत्मा के पश्चिम में बताए गए आकार का एक आयतसम बनाया जाता है।

---

1. एवमपरतः ॥71॥
2. तयोरुपरिष्टात्स्पन्द्यां नियम्यांऽसमपच्छिन्द्यात् ॥72॥
3. एतेनेतरासांऽस्रक्तीनामपच्छेदा व्याख्याताः ॥73॥
4. स आत्मा ॥74॥
5. शिरोऽर्धषष्ठपदायाममर्धपुरुष व्यासं तस्यांऽसौ प्रक्रमेण प्रक्रमेणापच्छिन्द्यात् ॥75॥
6. पुच्छस्य षट्पदा प्राची द्विपुरुषोदीची ॥76॥

इस (आयतसम) के दोनों कोने तीन प्रक्रमों=90 अंगुलि प्रत्येक के बाद काट देने हैं[1] । (77)

आयतसम के दक्षिण पूर्वी कोने से 90 अंगुलि उत्तर की दूरी पर चिह्न बनाया जाता है और एक दूसरा चिह्न उत्तर पूर्वी कोने से 90 अंगुलि दक्षिण की दूरी पर। पहले चिह्न से एक रस्सी दक्षिण पश्चिम कोने की ओर फैलाई जाती है और दूसरे से उत्तर पश्चिम कोने की ओर और रस्सियां से बने त्रिभुज काट दिए जाते हैं।

(दक्षिण) पक्ष की लम्बाई बारह पद=180 अंगुलि (उत्तर से दक्षिण को) होती हैं और चौड़ाई दस पद=150 अंगुलि (पूर्व से पश्चिम को[2]) । (78)

बताए गए आकार का एक आयतसम आत्मा की दक्षिण भुजा को छूता हुआ बनाया जाता है; आत्मा की ही तरह सिर और पूंछ रहते हैं और यह पक्ष की अंतिम शक्ल की तैयारी ही है।

फिर इसके मध्य (पक्ष वाले आयतसम की पश्चिमी भुजा के मध्य) से पूर्व की ओर एक कदम छः पद पर खम्भा लगाते हैं[3] । (79)

फिर आयतसम के दोनों में से प्रत्येक पश्चिमी कोने पर एक-एक खम्भा लगाते हैं[4] । (80)

फिर वह इसे (अर्थात् तीनों खम्भों से कोने अंकित होने वाले त्रिभुज के क्षेत्र को) रस्सी से घेरता है[5] । (81)

जो (त्रिभुज) रस्सियों से घिरा है उसे काटकर इसे आयतसम के पूर्व की ओर पलटकर रखते हैं[6] । (82)

आयतसम से जो काटा गया है उसी आकार का एक त्रिभुज इसके पूर्व में जोड़ देते हैं। यह पंख का झुकाव है[7] । (83)

1. तस्य पूर्वे स्रक्ती त्रिभिस्त्रिभिः प्रक्रमैरपच्छिन्द्यात् ॥77॥
2. पक्षो द्वादशपदायामो दशपदव्यासः ॥78॥
3. तस्य मध्यात् प्राञ्चि षट्पदानि प्रक्रम्य शङ्कुं निहन्यात् ॥79॥
4. श्रोण्योरेकैकम् ॥80॥
5. अथैनाऽस्पन्द्यया परिचिनुयात् ॥81॥
6. अन्तः स्पन्द्यमपच्छिद्य तत्पुरस्तात्प्राञ्चं दध्यात् ॥82॥
7. स निर्णामः ॥83॥

इससे उत्तर वाले पंख का झुकाव स्पष्ट हो गया[1]। (84)

फिर हर पंख के आखिर में 1 प्रक्रम = 30 अंगुलि के माप के पांच वर्ग परस्पर छूते हुए बनाये जाते हैं; ये सभी वर्ग नीचे की दिशा में विकर्ण से काटे जाते हैं। और हर एक का आधा अलग कर दिया जाता है[2]। (85)

दक्षिणी पंख के दक्षिण के किनारे पर 150 गुणे 30 अंगुलियों का एक आयतसम बनाया जाता हैं और उसे 30 अंगुलियों के पांच वर्गों में बांट देते हैं।

हर एक वर्ग में उत्तर पूर्वी कोने और दक्षिण पश्चिमी कोने के बीच का विकर्ण खींच दिया जाता है। इस तरह बने त्रिभुजों में विकर्ण की दाईं ओर बने त्रिभुज हटा दिए जाते हैं। पांच बाकी त्रिभुज पंखों के पत्र होते हैं।

इस तरह सप्तविध अग्नि दो अरत्नियों और प्रादेश से बनती है[3]। (86)

पिछले पृष्ठों में बताई गई श्येनचित् (बाज जैसी वेदी) का क्षेत्रफल $7\frac{1}{2}$ वर्ग पुरुष होता है। सभी मामलों में उन कदमो का पता लगाना मुश्किल है जिनसे अध्वर्यु अपने नतीजों पर पहुँचे थे और ज्यादा संभव है कि वे ज्यादातर गणना की जगह बार-बार कोशिश करके ही मिले हों। इस मामले में टीकाकार अग्नि का पूरा क्षेत्रफल चतुर्थी ईंटों से बताता है और यह संभव है कि अध्वर्यु ओं ने चतुरस्र श्येनचिति में लगने वाली ईंट को लेकर उनसे नई आकृतियां बनाने की कोशिश की हो।

ईंटें रखते समय एक चतुर्थी वहां रखते हैं जहां सिर आत्मा से जुड़ा है[4]। (87)

एक बर्गाकार ईंट जिसकी भुजा = 30 अंगुलि है सिर के पश्चिमी हिस्से के केन्द्र में इस तरह रखी जाती है कि पश्चिमी किनारे से वह उस रेखा को छूए जहां सिर और आत्मा जुड़ी होती हैं।

(चतुर्थी के) पूर्व में एक हंसमुखी रखते हैं[5]। (88)

---

1. एतेनोत्तरस्य पक्षस्य निर्माणो व्याख्यात: ॥84॥
2. पक्षाग्रयो: प्रक्रमप्रमाणानि पञ्च पञ्च चतुरस्राण्यनूचीनानि कृत्वा सर्वाण्यवाञ्चक्ष्णया-पच्छिन्द्यादर्धान्युद्धरेत् ॥85॥
3. एवँसारत्निप्रादेश: सप्तविध: संपद्यते ॥86॥
4. उपधाने शिरसोऽप्यये चतुर्थीमुपदध्यात् ॥87॥
5. हँसमुखीं पुरस्तात् ॥88॥

यह (बौ० शु० 3. 68 में) बताई गई पांच कोने वाली ईंट है।

हंसमुखी के दोनों ओर पाद्या ईंटें रखी जाती हैं[1]। (89)

हंसमुखी ईंटों के उन दो किनारों पर जो दक्षिण पूर्व और उत्तर पूर्व की ओर पलटे होते हैं, बौ० शु० 1. 64 में बताई गई एक तिकोनी ईंट रखी जाती है।

इन दो (तिकोनी पाद) ईंटों के पश्चिम में (चतुर्थी और हंसमुखी के) दोनों ओर रखी जाती हैं[2]। (90)

(सिर के) बाकी हिस्से में पाद ईंटें रखी जाती हैं[3]। (91)

अब तक सिर के ऊपर का त्रिभुज अछूता छोड़ दिया जाता था, इसे ढांकने के लिए चार तिकोनी पाद ईंटें चाहिए।

अथवा सिर के ऊपर एक हंसमुखी ईंट रखी जाती है, एक चतुर्थी इसके पश्चिम में, एक (तिकोनी) पाद ईंट इन (तिकोनी पाद ईंटों के) दोनों ओर पश्चिम में; चार चौकोनी पाद ईंटें; बाकी को (तिकोनी) पाद ईंटों से ढांकते हैं[4]। (92)

इस मामले में बाकी चतुर्थी के पश्चिम में 30 अंगुलि का वर्ग है जिसे चार तिकोनी ईंटों से ढांकते हैं। आयतीय त्रिभुजों के 'अग्र' का मतलब समकोण होता है।

सिर के पश्चिम में पांच तिकोनी पाद ईंटें एक दूसरे से सटाकर रखते हैं[5]। (93)

इनमें से तीन पूर्व को और दो पश्चिम को पलटी जाती हैं:

यही पूंछ के पूर्व की ओर भी किया जाता है (वहां भी पांच तिकोनी पाद ईंटें रखते हैं)[6]। (94)

---

1. पादेष्टके अभित. ।।89।।
2. तयोरवस्तादभितस्तिस्रश्चतुरस्रपाद्या: ।।90।।
3. शेषे पादेष्टका: ।।91।।
4. अपि वा शिरसोऽग्रे हंसमुखीमुपदध्यात्तस्या अवस्ताच्चतुर्थीमुपदध्यात्पादेष्टके अभितस्तयोरवस्तादभिवस्तिस्रस्तिस्रश्चतुरस्रपाद्या: शेषे पादेष्टका: ।।92।।
5. शिरसोऽवस्तात्पञ्चपादेष्टका व्यतिषक्ता उपदध्यात् ।।93।।
6. तथा पुच्छस्य पुरस्तात् ।।94।।

जहां-कहीं भी कुछ कटा हुआ है, वहां भी आधी या चौथाई ईंट रखते हैं[1] । (95)

यह नियम अग्निक्षेत्र की उन भुजाओं से सम्बन्धित है, जो आयतसम (आत्मा और पूंछ) के कोने को या टुकड़ें (पंख और पंखों के पत्र) काट कर बनी हैं । इस तरह वस्तुतः चिति की पूरी रूपरेखा का पश्चिम की पूंछ और सिर के उत्तरी और दक्षिणीं किनारों को छोड़कर उल्लेख करता है । टीका और चिति के खाके से स्पष्ट हो जाता है कि आधी इंटें कहां रखते हैं और चौथाई ईंटें कहां रखते हैं ।

शेष अग्नि को चतुर्थी ईंटों से ढांकते हैं[2] । (96)

आखिर में चौथाई और आधी ईंटों से दो सौ ईंटों की संख्या को पूरा करते हैं[3] । (97)

जब हम बौ० शु० 3. 95 तक बताई गई ईंटें रख चुकते हैं, जिनकी संख्या 68 है, (14 सिर में, आत्मा के पूर्वी किनारे पर 5 और पश्चिमी किनारे पर
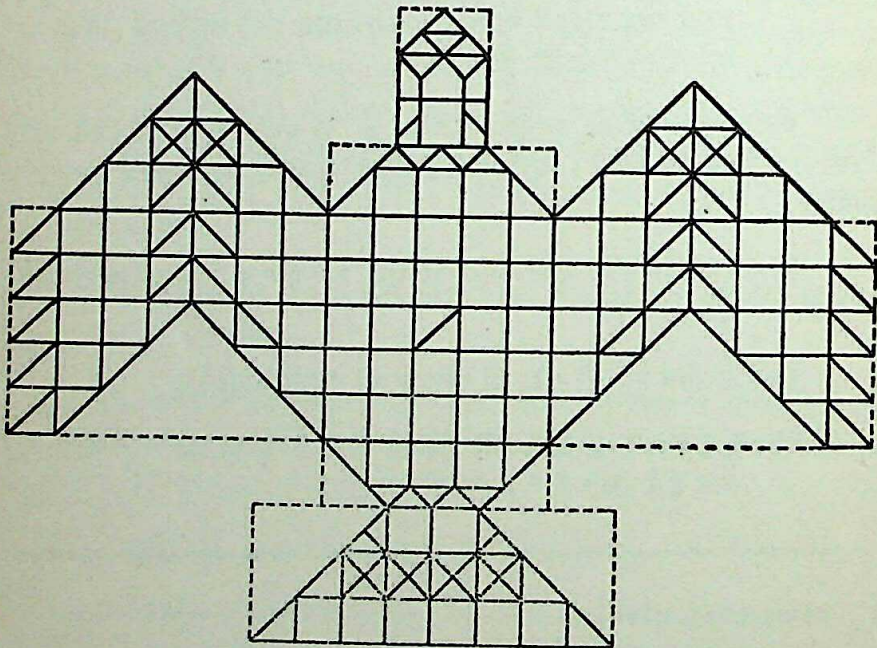
आकृति—35

चतुरस्र श्येनचित्

1. यद्यदपच्छिन्नं तस्मिन्नर्धेष्टकाः पादेष्टकाश्चोपदध्यात् ।।95।।
2. शेषमग्निं चतुर्भागीयाभिः प्रच्छादयेत् ।।96।।
3. पाद्याभिः सार्ध्याभिः संख्यां पूरयेत् ।।97।।

5 और 44 अग्नि के चारों ओर तो फ़िर बाकी जगह बचती है। 68 और 91 मिलाकर तो 159 ही होते हैं और ईंटों की संख्या 200 होनी चाहिए, इसलिए कुछ चतुर्थी ईंटों की जगह आधी या चौथाई ईंटें ही लगाई जाती हैं। इस तरह पूंछ की चार चतुर्थी के स्थान पर 16 पाद्या ली जाती हैं, हर पंख की सात-सात चतुर्थी की जगह 28 आधी रखी जाती हैं, चार चतुर्थी की जगह 16 पाद्या, पूंछ की दो आधी की जगह चार पाद्या, और फिर चिति के मध्य की चतुर्थी की जगह दो अर्ध्या ईंटें रखी जाती हैं। इस तरह ईंटों की संख्या बढ़ाकर 200 कर दी जाती हैं। ये परिवर्तन जहां करने हैं वे जगहें टीका में बताई गई हैं, और चिति के खाके में देखी जा सकती हैं।

अगर केवल चतुर्थी (अर्थात् वर्गाकार) ईंटों का ही चिति को ढांकने के लिए इस्तेमाल किया जाए तो 200 की संख्या पूरी नहीं होगी। ईंटों की कुल संख्या दो सौ होनी चाहिए। इस संख्या की पूर्ति कुछ अर्ध्या (आधी) ईंटें और कुछ पाद्या (चौथाई) ईंटें इस्तेमाल करके की जाती हैं। यह इस तरह किया जाता है : सिर को बाहर छोड़कर (सिर से पूंछ की ओर चलने पर) पूंछ समेत 12 पंक्तियां होती हैं। पूंछ की पहली पंक्ति में 6 चतुर्थी ईंटें और दोनों किनारों पर दो अर्ध्या अर्थात् इस पंक्ति में कुल मिलाकर=8 ईंटें होती हैं। दूसरी पंक्ति में दो अर्ध्या (दोनों किनारों पर एक-एक होती हैं और 16 पाद्याएं या चौथाई ईंटें अर्थात् दूसरी पंक्ति में कुल अठारह ईंटें होती हैं।

तीसरी पंक्ति में दो चतुर्थी बीच में और चार पाद्याएं कोनों में (हर कोनों में दो-दो अर्थात् इस पंक्ति में कुल छः ईंटें होती हैं। चौथी पंक्ति में 5 पाद्या अर्थात् कुल पांच ईंटें होती हैं। पांचवीं पंक्ति में कोनों में दो अर्ध्या और बीच में तीन चतुर्थी अर्थात् कुल पांच ईंटें होती हैं।

फिर पांच पंक्तियों में पांच-पांच चतुर्थी ईंटें होती हैं। हां, आठवीं पंक्ति की बीच की पंक्ति में दो अर्ध्या होती हैं अर्थात् इन पांच पंक्तियों में कुल मिलाकर 26 ईंटें होती हैं। इससे पूंछ और आत्मा दसवीं पंक्ति तक पूरी हो जाती हैं। ग्यारहवीं पंक्ति पांचवीं की तरह होती है (दो अर्ध्या और तीन चतुर्थी ईंटें) अर्थात् कुल पांच ईंटें। फिर पांच पाद्या या चौथाई ईंटें होती हैं। जैसी कि चौथी पंक्ति में सिर में चौदह ईंटें होती हैं।

इस तरह जोड़ आता है

$8+18+6+5+5+26+5+5+14=92$

फिर दोनों पंखों में पत्र पांच-पांच अर्ध्या ईंटों के होते हैं अर्थात् पत्रों के दोनों गुच्छों के लिए 10 अर्ध्या ईंटें। पंखों में 6 पंक्तियां होती हैं। दाएं पंख में (पत्रों की पंक्ति के पास) पहले स्तम्भ में चार चतुर्थी और दो अर्ध्या ईंटें

होती हैं। फिर दूसरे स्तंभ में भी 4 चतुर्थी और 2 अर्ध्या ईंटें होती हैं। तीसरे स्तंभ में 8 अर्ध्या और 4 पाद्या अर्थात् कुल 12 ईंटें होती हैं। चौथे स्तंभ में फिर 8 अर्ध्या और 4 पाद्या अर्थात् कुल 12 ईंटें होती हैं। पांचवें स्तंभ में 3 चतुर्थी और 4 अर्ध्या अर्थात् कुल 7 ईंटें होती हैं। छठे स्तंभ में 4 चतुर्थी और 2 अर्ध्या होती हैं। इस तरह दाएं पंख के पूरे छः स्तंभों में (5 पत्रों को जोड़) कुल 5+6+6+12+12+7+6=54 ईंटें होती हैं।

इसी तरह बाएं पंख में भी ईंटें होती हैं।

इस तरह कुल मिलाकर 92+54+54=200 ईंटें हो जाती है।)

दूसरे रद्दे में 4 हंसमुखी ईंटें 4 तिकोनी पाद्या ईंटों के साथ इस तरह मिलानी चाहिए कि एक आयतसम (दीर्घचतुरस्र) बन जाए। इस आयतसम को तिरछा स्वयमातृण्ण स्थल पर रखना चाहिए[1]। (98)

दो हंसमुखी ईंटों पश्चिम को पलटकर वहां पर रखनी चाहिए जहां आत्मा और पूंछ इस तरह मिले होते हैं कि आधा पद आत्मा में स्थित होता है[2]। (99)

हंस ईंटों को दो हिस्सों में विभाजित मानना चाहिए एक त्रिकोण और एक 30 अंगुलि (अर्थात् $\frac{1}{2}$ पद) का आयतसम। सूत्रों में बताया गया हंसमुखी का त्रिकोण हिस्सा पूंछ में रहता है और आयतसम भाग आत्मा में।

इन हंसमुखी ईंटों के पश्चिम में और दोनों ओर तीन तिकोनी पाद्या ईंटें रखनी चाहिए और उनके सिरे (समकोण) पूर्व की ओर रखने चाहिए[3] (100)

पंछ के पश्चिम की ओर 15 तिकोनी पाद्या ईंटें एक दूसरे से जोड़कर रखनी चाहिए[4] (101)

इनमें से आठ के सिर पूर्व की ओर पलटे होते हैं और सात के पश्चिम की ओर।

---

1. अपरस्मिन् प्रस्तारे हँसमुखींश्चतस्रश्चतसृभिः पादेष्टकाभिः संयोजयेद्यथा दीर्घचतुरस्रँ-संपद्यते तत्तिर्यक् स्वयमातृण्णावकाश उपदध्यात् ॥98॥
2. हंसमुख्यौ प्रतीच्यौ पुच्छाप्ययेऽर्धपदेनात्मनि विशये ॥99॥
3. तयोरवस्तादभितस्तिस्रः पादेष्टकाः प्राङ्मुखीरुपदध्यात् ॥100॥
4. पुच्छस्यावस्तात्पञ्चदश पादेष्टका व्यतिषक्ता उपदध्यात् ॥101॥

पंखों के पत्रों में अदल-बदल कर दो तिकोनी पाद्या ईंटें और एक आधी आधी ईंट पश्चिम से पूर्व की ओर रखनी चाहिए[1] (102)

जिन जगहों पर आत्मा पंखों से जुड़ी होती है और जिन जगहों से कुछ काटा गया है, वहां आधी और चौथाई ईंटें रखी जाती हैं[2] (103)

बाकी अग्नि को चतुर्थी से ढांकते हैं और फिर संख्या को आधी और चौथाई ईंटों से पूरा करते हैं[3] (104)

सूत्र 98-107 में 58 ईंटें रखने की विधि बताई गई, सूत्र 103 हमें अग्नि की बाहरी परिधि में आधी और चौथाई ईंटें रखने को कहता है, जहां से कुछ काट दिया गया है। इस तरह सिर के ऊपर के लिए दो अर्ध्या, पूंछ के उत्तरी और दक्षिणी सिरे के लिए चार अर्ध्या, पंखों और आत्मा के लिए 26 अर्ध्या और 6 पाद्या ईंटों को मिलाकर (पाद्या जहां नितांत जरूरी हों वहीं रखकर), इसके बाद 84 चतुर्थी ईंटों के लिए जगह बच जाती है। पर चूंकि पहले बताई गई 96 ईंटों के साथ अब कुल 180 ईंटें ही होती हैं, 16 चतुर्थी ईंटों को 32 आर्ध्या ईंटों में बदल देते हैं, (180—16+32=166) और फिर संख्या को आखीर में चार आर्ध्या ईंटों को आठ पाद्या ईंटों में बदलकर (196—4+8) =200) पूरा किया जाता है।

ये पाद्या ईंटें दो पक्ष निर्णाम रीति के पश्चिम सिरे में और दो आत्म पक्षसन्धि रीति के पूर्वी सिरे में होती हैं। थिबौट ने बौधायन शुल्ब सूत्र के अपने अनुवाद में इस प्रस्तार का खाका भी दिया है, जिसे हमने यहां उद्धृत नहीं किया (दि पं०, पुरानी माला, जिल्द दस, 1875 पृ० 213)।

इस अध्याय में हमने ज्यामिति विज्ञान में बौधायन के योगदान का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। ज्यामिति की विभिन्न अभिधारणाओं का श्रेय हम उनको देते हैं। वही पहले आचार्य थे जिन्होंने पैथेगोरस से भी बहुत पहले विकर्ण के वर्ग के प्रमेय को समझा था और जिन्होंने पहली बार इसके विभिन्न उपयोग बताए थे। उन्होंने पहली बार $\sqrt{2}$ जैसी संख्याओं की अपरिमेयता को बताया था और इसका बहुत ही परिशुद्ध (हालांकि फिर भी लगभग) मूल्य बताया था। उन्होंने वृत्त को वर्ग बनाने और वर्ग को वृत्त बनाने की समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न किया था। त्रिभुज, आयत और समलंब चतुर्भुज

---

1. पादेष्टके अर्धेष्टकेति पक्षपात्राणां प्राचीर्व्यत्यासं चिनुयात ॥102॥
2. विशये यदपच्छिन्नं तस्मिन्नर्धेष्टकाः पादेष्टकाश्चोपदध्यात् ॥103॥
3. शेषमग्निं चतुर्भागीयाभिः प्रच्छादयेत्पाद्याभिः सार्ध्याभिः संख्यां पूरयेत् ॥104॥

जैसी ज्यामितिक आकृतियों की समानता का उनको अपूर्व ज्ञान था। फिर भी सभी ज्यामितिक संकल्पनाओं की खोज पहले-पहले बौधायन ने ही अपने शुल्व सूत्रों में नहीं की थी, उनको पहले से ही उस युग में प्रचलित परिपाटियों से प्रेरणा मिली थी और उन्होंने ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में बताए गए विधि-निषेध का लाभ उठाया था। बौधायन को ज्यामिति के बारे में अपने गुरुकुल से पूरी मदद मिली होगी। उनके लेखन ने इस देश के शुल्व साहित्य को सदियों तक प्रभावित किया। उनके बाद आपस्तम्ब, कात्यायन, मनु और मैत्रायणी आए, जिन्होंने कई सुधार किए और नई ज्यामितिक रचनाएं सुझाईं। यह सारा ज्यामिति विज्ञान यज्ञ और उसकी वेदी के निर्माण को लेकर ही विकसित हुआ। किसी भी देश में ज्यामिति का विकास ऐसे उद्देश्य से नहीं किया गया और इसीलिए हमारा कहना है कि इस देश में ज्यामिति का विकास सर्वथा यहीं पर हुआ, उसे कहीं बाहर से उधार नहीं लिया गया और उसका एक निश्चित धार्मिक उद्देश्य था। शुल्ब साहित्य की शृंखला के धुरन्धर लेखकों का काल-निर्धारण सफलता पूर्वक नहीं किया जा सकता। शुल्ब ज्यामिति के विधिवत् अध्ययन का श्रेय हम विभूतिभूषण दत्त को देते हैं : उन्होंने ये तिथियां निश्चित की है : बौधायन, आपस्तम्ब और कात्यायन की संहिताएं : ये जैन धर्म के उदय (500-300 ई० पू०) से पहले लिखी गईं; ऋग्वेदसंहिता--3000 ई० पू० से बहुत पहले; तैत्तिरीय संहिता लगभग 3000 ई० पू०; शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण लगभग 2000 ई० पू०।

इस अध्याय में प्रयुक्त संक्षेप

आप० शु०	आपस्तम्ब शुल्बसूत्र
बौ० शु०	बौधायन शुल्बसूत्र
बौ० श्रौ०	बौधायन श्रौतसूत्र
कपि० सं०	कपिष्ठल संहिता
काठ० सं०	काठक संहिता
का० शु०	कात्यायन शुल्बसूत्र
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
ऋ०	ऋग्वेद
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता

अनुसंधानिका

अनुसंधानिका

अंशु 47
अक्ष 50
अग्नि 5
अग्नि और सभ्यता 35
अग्नि के द्वारा यन्त्रसाधन 35
अग्नि के पहले आविष्कारक 3
—अथर्वा
अग्नि के लिए यन्त्र-उपकरण 28
अग्निखनन 22
अग्निचित् 45
अग्निचिति 37, 38, 42
अग्निजिह्वा 45
अग्निपरिक्रिया 45
अग्निमन्थक 21
अग्निरहस्य 37
अग्निवेदी 37
अग्निवेश 144, 182, 188
अग्निष्टोम 46, 50
अग्निसंस्कार 37
अग्नि से अनभिज्ञ जातियां 5
अग्नीध्र 27
अग्न्याधान 25
अंकों का क्रमस्थापन 324
अंकों की व्युत्पत्ति 331
अंगिरस 17, 19, 21, 23
अता उल्ला रशूदी 405
अतिकाल 171
अत्रि 30
अथर्वन् 2, 16, 17, 23
अथर्वन् और उनका परिवार 16
अथर्वन् द्वारा चार से बीस तक के अंक 325
अथर्ववेद 16, 48, 49, 90, 91, 117, 118, 119, 121, 126, 130, 210, 211, 316, 317, 326, 371, 417
अथर्ववेद में मेधातिथि 316
अथर्वा 3, 17
अथर्वांगिरस 17
अदृष्ट 282, 291, 292, 299, 301, 302
अधिक मास 457
अधिकरण सिद्धांत 166
अधिकाल 477
अधिमन्थन 31
अधिमास 477
अधिवृत्त 497, 498
अधिषवण 48
अध्वर्यु 26
अनस् (गाड़ी) 53
अनुमान 167
अनुयोग (प्रश्न) 167
अनुयोज्य (अपूर्ण कथन) 169
अनुष्टुप् 82
अनुशास्त्र या उपयन्त्र 228
अन्नम् भट्ट 282
अन्वाहार्य पचन 27
अबुलकासिम (मृत्यु 1122 ई०) 203
अबुलफजल 403
अभाव 280
अभिधारणाएँ 560
—एक 561
—दो 561
—तीन 562
—चार 562

—पांच 564
—छः 565
—सात 565
—आठ 565
—नौ 566
—दस 566
—ग्यारह 566
—बारह 568
अभिषवणी 49
अभ्यनुज्ञा 172
अभ्युपगम सिद्धांत 167
अभ्रि 50
अमावस्या 414, 416
अयन 413
अयन की तिथियां 426
अयन के दिनों और रातों में वृद्धि 425
अरस्तू 487
अर्थांतर 172
अर्थापत्ति 168
अर्धगर्भ 109
अर्धमास 413
अलगोरित्सस 344
अलगोरिद्म 346
अलबाटेगनी 487
अलबेरुनी 491, 406
अलेक्जेंड्रिया का काल 200
अवन्ती 527
अवभृथ 48
अवाघू 99
अविचेन्नो—अरबवासी शल्य चिकित्सक 203
अवेरोज—अरब शल्य चिकित्सक 203
असि 50
असुर अर्भ 96
अस्य वामस्य सूक्तम् 93
अहः, अहस् 108
अहर्गण में आई हुई तिथियां 494
अहर्गण में आए हुए व्यतिपात 494
आकाश 270
आग और राज्य 94
आग की पहली धारणा 6
आंख का शल्यकर्म 215
आंगिरस 17
आठ और नौ क्षण लगानेवाली प्रक्रिया 304
आत्मा 272
आत्रेय 142
आत्रेय का निर्णय 181, 184
आत्रेय द्वारा परिहार 178
आत्रेय पुनर्वसु और उनका चिकित्सापीठ 157
आथर्वण नक्षत्र कल्प 129
आधिदैविक निर्वचन 105
आधिदैविक पक्ष (मन्त्रार्थ का) 96
आध्यात्मिक निर्वचन 105
आध्यात्मिक पक्ष (मन्त्रार्थ का) 96
आपस्तम्ब 545
—शुल्ब 569, 572, 573, 575, 576, 577, 578, 579, 581, 582, 584, 586, 587, 591, 592, 596, 599, 601
—श्रौतसूत्र 85, 158
आयुर्वेद का इतिहास और उदय 210
आयुर्वेद की सर्वोच्चता 149
आयुर्वेद क्या है 145
आयुर्वेदिक शल्य का उद्भव 211
आयोनियन धारा—
(ग्रीक ज्योतिष सम्प्रदाय) 474
आर्कीमीडीस 477
आर्यभट अंक प्रणाली 378
आर्यभट द्वारा पैथोगोरस के प्रमेय का निरूपण 301
आर्यभट द्वारा बीजगणित का शिलारोपण 353

आर्यभट द्वारा वर्गसमीकरण 382, 383
आर्यभट प्रथम 372, 505, 506, 539
आर्यभट प्रथम की मध्यरात्र दिनगणना 505
आर्यभट से पूर्व 371
आर्यभटीय 373, 375, 376, 377, 379, 381, 383, 385, 387, 387, 395, 397, 539,
आर्यभटीय—गणितपाद 338
आर्यभटीय में ज्यामिति और त्रिकोणमिति 380
आसन्दी 50
आस्पात्र 50
आहरणम् 246
आहवनीय 27
आहवनीय महावेदी के लिए स्थली तैयार करना 555
इध्म 50
इन्द्र 23, 24
इब्नजूनिस 487
इरोकुई जाति 13
ईंट रखने में अंकों का प्रयोग 528
ईंटें—
—आधी 608
—चतुर्थी 609, 610, 606, 611, 612
—तिकोनी पाद्या 610
—हंसमुखी 609, 607, 610, 611, 612
—पाद्या 612
ईंटों का आकार 41
ईंटों के निर्माता (मेधातिथि) 39
उख 50
उचथ्य 113
उज्जयिनी 528
उणादि सूत्र 333, 334, 335, 336, 337
उत्कीर्ण लेखों के काल 349
उत्तरायण 99
उत्तरी गोलार्द्ध 96
उदयन—पाकप्रक्रिया के विषय में 307
उपनय 165
उपयन्त्र 224
उपवेश (बेलचा) 68
उपालम्भ 171
उलुघ बेग 488
उलूखल 48, 51
उव्वट 40
उष्णिक् 82
ऊर्णसूत्र 51
ऋक्ष: 123
ऋग् ज्योतिष 436, 437, 439, 441, 445, 446, 447, 449, 453, 457, 458, 459, 460
ऋग्वेद 3, 16, 17, 19, 20, 23, 24, 29, 69, 70, 79, 80, 90, 117, 122, 123, 124, 125, 126, 127, 128, 210, 211, 212, 217, 315, 318, 319, 325, 331, 334, 334, 347, 410, 417, 541, 552
ऋग्वेद और ज्यामिति 552
ऋग्वेद की वर्णसंख्या 81
ऋग्वेद ज्योतिष 424, 425, 426
ऋग्वेद में आए अंक 320
ऋग्वेद में मेधातिथि 315
ऋत्विज् 28, 29
एकफांटस—पैथोगोरस का शिष्य 475
एकविंश पलेली का स्वरूप 92
एगरिप्पा और मेनेलौस 484
एगलिंग जे० 28, 53; 57, 58, 59, 62
एच० टी० कोलब्रुक 400
एजटेक 12
एंटाइलस 202
एथीन पोलिग्रास 13

एनजेनेइस 15
एनेक्सागोरस 475
एनेक्सीमीन्स 475
एनेक्सीमेंडर 475
एपिग्राफिका इंडिका 402
एपीमेथ्यूज 4
एपोलोनियस 481, 485
एफ० सी० टिटजेल 214
ए० बी० कीथ 258, 281
'एलीमेंटस'—यूक्लिड टौलेमी 481
एण्टोस्थनीज 480, 482
एरिस्टार्कस 479, 480, 482
एरिस्टिलस 479, 484
एरिस्टोफेंस 9
एलेक्जेंड्रिया की धारा में ज्योतिष 479
एस्क्लेपिम्राइड्स 201
एस्थोनिया का देवता 10
ऐजिना का पौलस 203
ऐतरेय ब्राह्मण 37, 81, 86, 89, 132, 213, 217, 218, 415
ऐतिह्य 167
ग्रोखली 57
ग्रोविड 13
ग्रौपम्य 167
कणाद 257
—कारणवाद 257
—परमाणु सिद्धांत 257
—यथार्थवाद 257
कणाद ग्रौर कार्यकारणवाद 281
कणाद ग्रौर उनके पूर्वज 258
कणाद का काल 264
कणाद द्वारा बताये गये पदार्थ 264
कणाद रहस्य 303, 304
कण्वसंहिता 36
कन्दली 286
कन्दली के ग्रनुसार पाकक्रिया 305
कन्फ्यूसियस 472
कपर्दि स्वामी—शुल्ब व्याख्या 545
कपाल 59
कपिल 261
कफ के परिणाम 178
करविन्द स्वामी—शुल्ब प्रदीपिका 545
कर्म 276
कलश 54
कवलिका 242
कश्यप 30
कांकायन 181, 183
काठक संहिता 130, 159
कात्यायन 545
—शुल्बसूत्र 544, 576, 577, 578, 579, 581, 586, 591, 592, 596, 598, 599
—श्रौतसूत्र 58, 60, 61, 62, 65
कान की शल्य चिकित्सा 233
काप्य 190
कारण में कार्य का पूर्व सद्भाव 283
कार्य के साधन 173
काल 271
—चक्र 98
—पुरुष 95
कालिदास 129
कालीमेकस 474
काशिराज वामक 181
काश्यपसंहिता 159
किरणावली पर भट्टवादीन्द्र 295
कुट्टक 369
कुट्टकार 387
कुट्टकार की धारणा 386
कुदाई—ग्रलताई के तारतारों के महान् देवता 10
कुमारशिरा भरद्वाज 183, 188
कृत्तिका का सूची में पहला स्थान 133

कृष्ण आत्रेय 157
कृष्णदैवज्ञ—नवांकुर 401
कृष्णमृगचर्म 49
कृष्ण यजुर्वेद 85, 545
कृष्णाजिन 56, 57
केपलर 489
केलिप्पस 479
कैलसस 201
कोपर्निकस 475, 489
कोलब्रुक, एच० टी० 369, 515
क्षारपाणि 144
खण्डखाद्यक 378
गंगाधर तिलक 71, 113
गंगाधर—गणितामृतसागरी 401
गणित श्रेढि की संख्या प्राप्ति के लिए वर्ग समीकरण का हल 385
गणेश दैवज्ञ—बुद्धि विलासिनी 401
गरुड पुराण 204
गर्बर्ट—सिलवेस्टर-द्वितीय 346
गर्भ के अंगों का विकास 187
गवां अयन 71, 83
गाड़ी और चावल 54
गायत्री 82, 91
गार्ग्य द्वारा नक्षत्रसंख्यान 117
गार्हपत्याग्नि 27
गिनने की कुश प्रणाली 78
गुण 274
गुवामानसुरी 10
गृत्समद—तारों का प्रेक्षक 125
गैलिलिओ 489
गैलेन 202
गोपथ द्वारा संख्याओं का दहाइयों से संबंध 326
गोपथ ब्राह्मण 86
गोभिल गृह्य सूत्र 127
गोरखप्रसाद—जरनल आफ़ दि एशियाटिक सोसायटी 371
गौ (गाय) 89
गौतम 30, 190
ग्यारह क्षण लगाने वाली प्रक्रिया 302
ग्रहण का प्रक्षेप 505
ग्रहणों की गणना 502
ग्रहों का सच्चा देशान्तर 500
ग्रहों के माध्य देशान्तर 499
ग्रिफ़िथ 17, 120
ग्रीक ज्योतिष 474
ग्रीक ज्योतिष का भारतीय ज्योतिष में आत्मसात् 536
घर्म कटाह 63
घावों पर पट्टी बांधना 238
चक्की के पाट 58
चक्रपाणि संहिता 158
चतुरस्र श्येनचित् 608
चतुष्प्राश्य 28
चन्द्रगुप्त 464
चन्द्रमा का अधिकतम अक्षांश 513
चन्द्रमा का केन्द्रसमीकरण 512
चन्द्रमा की सच्ची दैनिक गति 502
चन्द्रमा के पात की लम्बाई 513
चरक संहिता 142, 143, 144
—सूत्र० 145, 157, 158
चर्चा की प्रशंसा 161
चर्चा में प्रयुक्त होने वाले शब्द 164
चलनियाँ 56
चान्द्र और सावन दिनों का अन्तर 457
चान्द्र परिक्रान्ति=नक्षत्रों का उदय 455
चान्द्रमास 73
चान्द्र वर्ष 73
चार और उसके गुणन 329
चिकित्सकों की जांच 174
चिकित्सकों के भेद 211
चिकित्सागत उपचार 197
चीन में शल्यक्रिया 198

चैम्बर्स विश्वकोश 4
छः क्षण लगाने वाली प्रक्रिया 303
छन्दों में वर्णगणना 75
छान्दस्या 40
जगती 82
जतूकर्ण 144
जमदग्नि 30
जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी 133
जर्मनी और स्लाव देशों में 15
जल 268
जलौकावचारण 229, ?30, 231, 232
जार्ज टर्नर 5. 6
जिज्ञासा 168
जी० आर० काये 394
जीवन का पर्याय 145
जीवन नाथ झा दैवज्ञ—सुबोधिनी 401
जूलियस सीज़र 484
जे० टेलर—लीलावती 401
जेमिनस और क्लीओमीडीस 484
जेम्सफिलिप मराल्डी 490
जैकोबी—'इण्डियन एंटीक्वेरी, 372
जनैथलोई 15
जोकें, उनका उपयोग 229
जौनमूलर 488
ज्या के मूल्य बताने का तरीका 528
ज्यामितिक रचनाएँ—576, 577, 578
—संक्रियाएं 558
ज्येष्ठाग्नि 130
ज्योतिष का उद्भव 467
ज्योतिष—अरबवासियों का 487
ज्योतिष का उद्भव—
—चाल्डियन 469
—मिस्रवासी 470
—फिनीशियन 470
— चीनवासी 470
टाइकों ब्राहे 489
टाइलर 8
टांगा द्वीपसमूह 9
टिमोचेरिस 479, 484
टी० आर० 218
टेशियस 462
टौलेमी 465, 479, 484, 485, 486
ट्रेटाटि द अरितमेटिका 344
ठाकुर साहेब गोंडल 209
डकोटा 10
डब्ल्यू० आर० स्मिथ 347
डब्ल्यू० ई० क्लार्क 378
डब्ल्यू० ब्रेनांड-'हिन्दू एस्ट्रानोमी' 393
डल्हण 207
डा० उमेश मिश्र 259, 258
डा० एच० कर्न 375
डा० के० एस० शुक्ल 387, 496, 505, 506, 507
डा० चार्ल्स 214
डा० दुर्गादास 214
डा० बर्डवुड 462
डा० बालिश 366
डायोजीनस लाएरटियस 475
डायोफेंटस 344
डा० वाइज 216
डा० विभूतिभूषणदत्त —
(दि साइंस आफ दि शुल्ब) 560
डा० विलियम हंटर 369, 516
डा० शामशास्त्री 436, 452
डिलैम्बरे—'हिस्टोरी देल एस्ट्रोनोमी एन्शीन' 370
डेरे मेडिका 201
डेलाम्बर 482, 490
डेलिजले 490
डैमोक्रिटोस 545
डोमिनिक कासिनी 489
तन्तु 51

तन्त्र 51
तर्कसंग्रह 282
तांड्य ब्राह्मण 413
तारानाथ का वाचस्पत्यम् 536
तालयंत्र 223
तिलक —ओरियन 372
तिथ्य 127
तीनचक्र 94
तीन पिता 102
तीन माताएं 102
तीसवीं पुनर्व्यवस्था 82
तुरकावषेय 37
तेज 269
तैतिरीय ब्राह्मण 64, 65, 127, 130, 131, 415, 416, 417, 418, 419
तैत्तिरीय संहिता 41, 70, 74, 75, 85, 121, 330, 331, 412, 414, 551
—में अंक 330
त्वेउकांग 472
त्रिनाभिचक्र 98
त्रिष्टुप् 82
त्रुटियों का निराकरण 200
त्रैराशिक नियम 381
थिबोट 126, 133, 134, 466, 515
थेल्स—ग्रीक ज्योतिर्विद् 474
थ्योई पैत्रोई 15
थ्योर्फस्टस 475
दक्षिण आरोह सारणी 97
दक्षिणाग्नि 27
दक्षिणायन 99
दक्षिणी गोलार्द्ध 96, 102
दत्त—दि साइंस आफ दि शुल्ब 552
दत्ता और सिंह—
(हिस्ट्री आफ हिंदू मैथेमेटिक्स) 404
दध्यञ्च् 24
दयानन्द-उणादि 337
दर्श पर्व 431
दर्शपूर्णमास 53
दवाओं के प्रलेप 239
दस क्षण लगाने वाली प्रक्रिया 301
दिक् 271
दिन की लंबाई निकालने का नियम 495
दि पीरियड आफ दि सरकमफिरेंस आफ दि अर्थ—(आर्डीमीडीस) 477
दि फेनोमेना—(आर्की०) 477
दि मिरर—(आर्की०) 477
दि मैडिकल एडवांस 214
दिव्यदिन 108
दिव्यरात्रि 108, 110
दीर्घतमस्-वैदिक संवत् का आविष्कर्ता 69
दीर्घतमा 93
दृष्टान्त 165, 166
देव-अर्ध 96
देव अहोरात्र 95
देह में प्रकुपित वात के कार्य 176
देह में सामान्यवात के कार्य 176
देह में से शल्यों को खोजना 250
दो अयनों में दिन की लंबाई 458
दो तीन और चार क्षण लगाने वाली प्रक्रिया 304
दो नागार्जुन 207
दो प्रकार की परीक्षाएँ 174
दोषपूर्ण शल्यक्रियाएँ 248
द्रव्य आदि की परिभाषाएँ 165
द्रव्य के स्वादानुसार त्रेसठ भेद 186
द्रव्यों का विभाजन 185
द्वादशार 103
द्वारकानाथ यज्वा—शुल्बदीपिका 545
धन्वन्तरि 188
धात्री विद्या 215

नक्षत्र और उसके अर्थ 122
नक्षत्रगणना—दूसरे देशों में 133
नक्षत्रेष्टि 132
नक्षत्रों के देवता 456
नाइकतास 475
नाक की प्लास्टिक शल्यक्रिया 238
नाक्षत्र वर्ष 73
नागार्जुन 204
नागार्जुन प्रथम 205, 206
नाडिका का माप 448
नाडी यंत्र 223
नानाघाट शिलालेखा 346
नारायण—गणित कौमुदी 396
निकोलौस रेब्द 339
निगमन 165
निग्रहस्थान 172
निघण्टुक 26
निरर्थक (वाक्य) 169
निरुक्त 26, 333, 334, 335, 417
नीलकंठ—आ० भ० का टीकाकार 378
नौ क्षण लगाने वाली प्रक्रिया 300
नौरमन लोकयर—
(दि डान आफ एस्ट्रोनौमी) 132
न्यायकन्दली 259
न्यायमुक्तावली 288
न्यायलीलावती 287
न्यायवार्तिक 287
न्यायसूत्र 286
न्यायसूत्र पर वात्स्यायन 262
न्यूटन 490
पंक्ति 82, 106
पंचसिद्धांत 490
—पैतामह
—वशिष्ठ
—रोमक
—पौलिश
—सौरसिद्धांत
पंचसिद्धांतिका 374, 491, 492, 493, 494, 496, 501
पंचसिद्धांतिका 505, 508, 509, 510, 511, 512, 513, 514, 516, 5.7, 518, 520, 521, 524, 525, 526, 527, 528, 529, 532, 533, 534, 535, 537, 538, 539
पट्टी बांधने का सामान 240
पणियों द्वारा गायों की चोरी 23
पतंजलि 261
पथरी का आपरेशन 214
पम्प-बरमा 8
परमाणु और अवयवी 309
परमाणु और गति 290
परमाणु का भागहीन स्वरूप 288
परमाणु के चार प्रकार 292
परमाणु 284
परमाणु लक्षण 285
परमादीश्वर 376
पराधू 99
पराशर 144, 536
—(तारों का प्रेक्षक) 125
परिचर्या का सारांश 179
—एक 175
—दो 179
—तीन 103
—चार 187
—पांच 189
परिभाषाएँ 173
परिमाण और परमाणु 287
परिमेय आयत 595
परिहार 171
पर्वदिन का नक्षत्र 44

पर्व नक्षत्र और तिथि नक्षत्र का भेद 445
पर्व भशेष व तत्समान कलाएँ 453
पर्वराशि 429
पर्व-सम्मत और असम्मत 436
पलास 15
पवित्र अग्नि की वेदी 36
पवित्र अग्नि संबंधी कृत्य 44
पाइथिग्रास 479
पाक की प्रक्रिया 294
पाकयज्ञ (सात) 86
—सान्ध्यहोम,
— प्रातःहोम,
—बलियज्ञ,
—पितृयज्ञ
—अष्टकं
—पशुयज्ञ
पांच मिनट लगाने वाली प्रक्रिया 303
पाटीगणित और बीजगणित का संबंध 393
पाटीगणित मिश्रक 398
पाणिनि 129, 130, 259, 285, 337, 348, 414
पादरी गोबीन 5
पारिप्लवोपाख्यान 76
पारीक्षित मौद्गल्य 180
पिग्राजी 490
पित्त के परिणाम 178
पिरामिड छिन्न का आयतन 589
पिसे चावल को पात्री में गूँथना 62
पीकोक 208
पी० वी० काणे —
(हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र) 124, 129
पी० सी० सेनगुप्त 378, 506
पुनरुक्ति 167
पुराण कल्पनाएँ और कथाएँ 9
पुरुष 104
पुरोडाश 48, 65
पुशमान 209
पूर्णमास पर्व 431
पूर्वमीमांसा-जैमिनी 262
पृथूदक स्वामी 382, 515
पृथिवी 267
पेरु की सूर्यकुमारियां 9
पैतामह सिद्धांन 492
पैथागोरस 475
पौलिश सिद्धांत 518, 531
प्रकरणसम (अहेतु) 171
प्रकृति में असामान्य वात के कार्य 177
प्रकृति में सामान्य वात के कार्य 177
'प्रतिज्ञा' आदि शब्दों की परिभाषा 165
प्रतिज्ञाहानि 172
प्रतितन्त्र सिद्धांत 166
प्रतीकों द्वारा अंक 338
प्रत्यक्ष (प्रमाण) 167
प्रत्यनुयोग 169
प्रमन्थ 4
प्रयोजन 168
प्राइटेनियन 11
प्राचीन अंकों के प्रतीक 340
प्राचीन ज्योतिष 467
प्राजापत्य अहोरात्र 95
प्राणभृता 40
प्राशित्र 65
प्रेस्कोट—'हिस्ट्री आफ मैक्सिको' 78
प्रो० कोसिन 488
प्रो० जैकोबी 421
प्रो० प्लेफेयर—'एस्ट्रोनामी इंडीन' 370
प्रोमेथ्यूज 4
प्रो० लेजली —
'फिलोसफी आफ अरिथमेटिक' 370
प्रो० हरमान जैकोबी 264
प्रो० ह्विटनी 465
प्लास्टिक सर्जरी 213
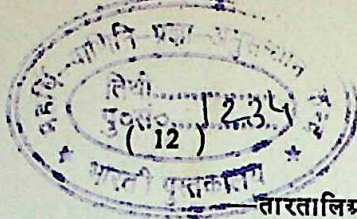
प्लिनी 475
प्लेटो 478
फकाफो द्वीप 5
फर्मेंत—फ्रांसीसी गणितज्ञ 356
फारुही 472
फावरेती—पैलेज्योगराफिश स्टडीन 343
फिनलैंड 10
फिलोलोस—पैथोगारस का शिष्य 475
फेब्रीसियस—बिब्लोथेका ग्राएका 478
फेस्टस—ग्रीक अग्निदेवता 11
फ्रेडरिक बोयल 7
फ्लेमस्टीड 490
फ्लेमस्टीड और कासनी 482
बखशाली पांडुलिपि 394
बड़े केटो 201
बरतन और उपसाधन 53
बर्क—जैड़ डी एम जी 593
बर्नर 488
बल्लाल पंडित—भोजप्रबन्ध 215
बाइबिल 44
बाउडिच टापू 5
बाणों के भेद 250
बाघुल 546
बारह के गुणनफल में अंश 437
बियट—फ्रांसीसी ज्योतिर्विज्ञ 133
बियटा और बीजगणित का ज्यामिति
  में प्रयोग 361
बीजगणित—भास्कर 402
बीजगणित के पाश्चात्य लेखक 366, 367,
बीजगणित 353
  —अरब लेखक 356
  —आर्यभट प्रथम 372
  —इंग्लैंड में 362
  —कारडान 360
  —गिरार्ड 363
  —डेस्कार्टेस 364
  —तारतालिग्रा 359, 360 361,
  —फेरारी 361
  —फेरिग्रस 359
  —भास्कर द्वितीय 400
  —यूरोप में 354
  —लुकस द बर्गो 358
  —ल्योनार्डो 357
  —हैरियट 364
बुध के लिए विशेष शुद्धि 501
बूर्थलिंग 72
बृहती 82
बृहत्संहिता 44, 129
बृहस्पति 24
बृहस्पतिग्रह 126
बेबीलोन 134
बौधायन 545
बौधायन—सबसे पहला महान् ज्यामितिज्ञ
  543
बौधायन के पूर्व की ज्यामिति 551
बौधायन—क्षेत्रफल—रचना एक, 545
  108 वर्गपद क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाना
  587
  —दो, 324 वर्गपद क्षेत्रफल वाला सम-
  लम्ब चतुर्भुज बनाना 588
बौधायन—क्षेत्रों का मिलाया जाना 576
बौधायन की कुछ ज्यामितिक रचनाएँ 569
बौधायन—ज्यामितिक रचनाएँ, क्षेत्रों का
  रूपान्तरण 579
बौधायन—रचना—एक,
  दी हुई भुजा पर वर्ग बनाना 569
  दी हुई भुजाओं का आयत बनाना 574
बौधायन—रचना तीन
  दिये हुए आधार, फलक, शीर्षलम्ब पर
  चतुर्भुज बनाना 572
बौधायन—रूपान्तरण
  —एक, आयत को वर्ग में बदलना 576

—दो, वर्ग को आयत में बदलना 581
—तीन, आयत को वर्ग में बदलना 581
—चार, एक वर्ग या आयत को समलम्ब चतुर्भुज में बदलना 583
—पांच, वर्ग या आयत को त्रिभुज में बदलना 584
—छः, वर्ग या आयत को समचतुर्भुज में बदलना 585
बौधायन विशेष और सविशेष 600
—शुल्बसूत्र, 41, 546, 551, 552, 561, 562, 563, 564, 570, 572, 573, 574, 576, 577, 578, 579, 580, 581, 582, 583, 585, 587, 588, 590, 591, 592, 596, 599,
—श्रौतसूत्र 43, 132, 3:1, 389, 551, 592
बौधायन द्वारा दिया गया $\sqrt{2}$ का मूल्य 599
बौधायन द्वारा पैथेगोरस के प्रमेय की खोज 590
बोनकौम्पेगनी 344
ब्रह्मगुप्त 369, 403, 505, 515, 539
ब्रह्मा 26
ब्रह्मा के अहोरात्र 94
ब्राह्मण साहित्य 36
ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त 374, 393, 508, 515
ब्रेडल 490
भट्टोत्पल 507, 508
भद्रकाप्य 180, 183, 188
भद्रशौनक 188
भरद्वाज 30, 141, 143
भारत में अंकों के प्रतीक 347
भारतीय बीजगणित और पश्चिम 368
भाषा की कथा 81
भास्कर द्वितीय—लीलावती 396, 399
भास्करद्वितीय द्वारा बीजगणित का विस्तार 400
भास्करप्रथम 394, 505, 506, 539
भास्वती 507
भेद्य 245
भेल—144
—संहिता 158
भेषजों के प्रयोजन से 63 भेद 187
भोजन के वर्गीकरण 182
भ्रामक वाक्य 170
मन 272
मनु 546
मनुष्य और रोग का उद्भव 179
मरीची द्वारा किया गया प्रश्न 177
मल्लिकार्जुन सूरि 506, 508
महाभारत 20, 204, 206, 372, 374
महाभारत—शांति 157, 338,
महाभास्करीय 387, 388, 391, 505, 506, 539, 540
महावीर—गणितसारसंग्रह 396
महीधर 40
महीध्र 25
माऊई 9
माधवाचार्य—कालमाधव 412
मानवदिन 96
मानवरात्रि 96
मानसार वास्तुशास्त्र 44
मासकेलित 490
मीटन—एथेंस का ज्योतिर्विद् 508
मीटन 477
मीटनिकचक्र 477
मुनीश्वर—(निःसृष्ट दूती) 401, 506
मुहम्मद अबुलवफ़ा 356
मुस्मद बिन मूसा 356
मुहम्मद बेन गेबर अलबतनी 487
मेगस्थनीज 464
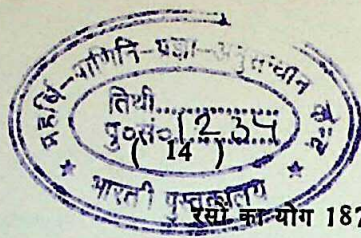
मेधातिथि 315
मेधातिथि — ईंटों के निर्माता 39
मैकडानल 72
मैक्समूलर 36, 71, 133
मैक्सिमस 344
मैत्रायण 545
मैत्रायणी संहिता 130
मौ० दे उजफालवी 13
यजमान 28
यजुर्वेद 1, 16, 17, 21, 22, 39, 47, 57, 86, 116, 316, 317, 320, 328, 329, 348, 412
यजुर्वेद ज्योतिष 410, 420, 422
यजुः वेदांग ज्योतिष का मूल पाठ 423
यजुर्वेद में आए अंक 327
यजुर्वेद में मेधातिथि 316
यजुर्वेद में विषम अंक 329
यज्ञ जमीन का नक़शा 557
यज्ञक्रिया में उपसाधन 47
यज्ञपुरुष 95
यवनपुर 527
यवनपुर, उज्जयिनी वाराणसी का उल्लेख 527
याज्ञवल्क्य 36, 37, 159
यास्क—निरूक्तकार 24, 25
युग— कलि, द्वापर, त्रेता और कृत 89, 114, 410
युगपत् वर्गसमीकरण 386
युधिष्ठिर 20
यूडोक्सस 477
योग और उसका नक्षत्र 451
रसायनक्रिया—पाक 293
रस और उनकी संख्या 183
रसों और परवर्ती रसों का स्वरूप 187
रसों और उनके परवर्ती रसों के योग से अनेक भेद 187
रसों का योग 187
रामकृष्ण
—गणितामृतलहरी 401
—बीजप्रबोध 401
—मनोरंजन 401
राजतरंगिणी 205
रेगिया—रोम का पवित्र केन्द्र 11
रोमक सिद्धान्त 508, 509, 510
रौथ 72
लकड़ी से आग 7
लक्ष्मीदास—चिन्तामणि 401
लगध — उनका निवासस्थल काश्मीर 521
लगध — ज्योतिष को युक्ति संगत बनाने वाला प्रथम ऋषि 409
लघुभास्करीय 507, 539
लघुवशिष्ठ 535
लंका, रोमक, सिद्धपुर और यमकोटि काल्पनिक स्थान हैं 539
लल्ल—शिष्यधीवृद्धिद, 506
लम्बन का नियम 514
ललितविस्तरम् 209
लाकेल 490
लाटदेव और श्रीषेण द्वारा भारत में ग्रीक ज्योतिष का सूत्रपात 462
लाटदेव 463, 506,
लाटदेव या लाटाचार्य 537, 538, 539
लार्ड नेपियर 489
लास ज़ार्डिन्स टापू 5
लेख्य 246
लैपटियरमेस 10
लौकिक वर्ष 73
ल्योनाइड्स 202
वनस्पति गोष्ठी का सभापतित्व, ऋषियों की सभा 141
वमनकारी औषध का प्रयोग 189
वराहमिहिर 44, 490, 493, 496, 497

—पञ्चसिद्धान्तिका 461, 464
—सूर्यसिद्धान्त 505
वर्ण्यसम (अहेतु) 171
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त 508
वर्ष 72
वर्ष गिनने की दूसरी प्रणाली 96
वर्ष गिनने की पहली प्रणाली 96
वशिष्ठ 30
वशिष्ठ सिद्धान्त 532
वाक्यदूषण 169
वाचस्पति मिश्र 289
वाजसनेयी संहिता 36
वात की प्रशंसा 177
वात के उत्तेजक कारण 175
वात के लिए हितकर, अहितकर 175
वामदेव 126
वायु 269
वायु पुराण 259
वायोर्विद् का स्पष्टीकरण 178
वारजेनटिन 490
वाराणसी 527
वाराह 546
विकेन्द्रिका 242
विक्टर हेनरी 50
विक्रमादित्य 464
विचृतो 130
विच्छेदन 215
विल्सन, एच० एच०, 19
विवाद का स्वरूप 165
विश्वामित्र 31
विष्णुधर्मोत्तर पुराण 129, 491, 493
विष्णु पुराण 259
वुड 'ओक्सस के उद्गम की यात्रा' 13
वृत्त को वर्ग में बदलना 595, 598
वृत्र 23, 24
वृषभ 127
वेंकटेश्वर दीक्षित—शुल्व मीमांसा 545
वेडरो 209
वेद और ज्योतिष 424
वेदपुरुष 95
वेदांग ज्योतिष के अनुमान 422
वेदांग ज्योतिष—लगध 421, 427
वेदांतसूत्र 261
वेदी—वक्रपक्ष व्यस्तपुच्छ 602
वेदी में प्रयुक्त ईंटें 41
वेदों की प्राचीनता 70
वेधनम् - व्यधनम् 246
वेन 128
वेन भार्गव द्वारा शुक्र की खोज 128
वेबर—'दाइ वेदिशिन नचरिचतेन वान देन नक्षत्र' 120
वेस्ट फेलिया 14
वेस्टा के रोमक मन्दिर 12
वैदिक इण्डैक्स—हिल ब्रांट 50
वैदिक युग के यन्त्र 50
वैदिक शब्दावली 410
वैद्य आर० पी० 94, 97, 113
वैशेषिक सूत्र 263, 264, 265, 268, 269, 2 0, 272, 271, 273, 274, 276, 277, 278, 279, 280, 281, 282, 283, 293
वैशेषिक पर उदयनाचार्य 295 296, 297
व्यावहारिक शल्य का अध्ययन 216
शंकरनारायण—सुमति टीकाकार 507
शंकर बालकृष्ण दीक्षित 537
शंकरमिश्र—न्यायलीलावती कण्ठाभरण 295, 298
शतपथ ब्राह्मण 25, 28, 33, 37, 57, 61, 64, 72, 76, 81, 82, 92, 93, 132, 321, 371, 417
शतपथ ब्राह्मण 554, 556, 558, 567, 568, 571, 595, 597
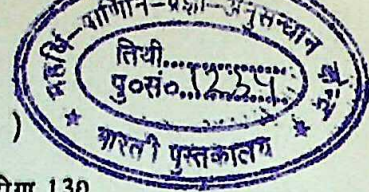
शतपथ ब्राह्मण की यन्त्र क्रिया 53
शब्द—प्रमाण 167
शरीर का व्यावहारिक अध्ययन 217
शलाकायन्त्र 223
शल्य के पिता 195
—यन्त्र 222
शल्यक्रिया और यन्त्र 225
शल्यक्रियाओं के भेद 245
शल्यक्रिया ग्रीस 198
—मिस्र में 198
शल्यचिकित्सा 157
शल्य में व्यावहारिक छिद्रयनें 228
शल्ययन्त्र की प्रशंसनीय बातें 227
शवच्छेदन 216
शाकुन्तेय 183
शामशास्त्री 72, 78, 79, 91
शास्त्रार्थ का मैत्रीपूर्ण तरीका 159
शास्त्रार्थ का शत्रुतापूर्ण तरीका 160
शास्त्रार्थ की सभाएँ 162
शिष्यधीवृद्धिद 506
शुक्र के लिए विशेष शुद्धि 501
शुनः शेप—तारों का प्रेक्षक 123
शुल्ब और रज्जु 544
शुल्बसूत्र 545
शुल्वसूत्रों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली 547
शौनक 190
श्येनचित् 559, 601
श्रविष्ठा 131
श्रीधर और आर्यभट द्वारा वर्गसमीकरण का हल 369
श्रीधराचार्य 393, 396, 399
श्रीपति—गणित तिलक 396
श्रीषेण 462
श्रीषेण—रोमकसिद्धांत का संकलयिता 515, 516
श्रोण 130
संत्सर 108
संशयसम—अहेतु 171
संहिता में शारीरवाद 218
संगोष्ठी 160
सनैमोई 15
सप्त पुत्र 99
सभी द्रव्य औषधात्मक 185
समवाय 279
समिधाएँ 28
सम्मत पर्व 441
सरमा 23, 24,
सर्वतन्त्र सिद्धांत 166
सव्यभिचार कथन 168
सांख्यसूत्र 261
सात क्षण लगाने वाली प्रक्रिया 304
सामवेद 31
सामान्य और विशेष 278
सारलोग 180
सायण—भाष्यकार 20, 65, 71
सायनवर्ष 73
सावन 412
सावन दिन के भाग 458
साहित्य में नक्षत्र 129
सिकन्दर 463, 464,
सिगियाँ, उनका उपयोग 229
सिद्धान्त शिरोमणि 369, 401
सिद्धांतशेखर—श्रीपति 396
सिद्धान्त – सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, अभ्युपगम 166
सिनेनौगों—यहूदियों के धार्मिक केन्द्र 11
सिसरो 475
सीव्यम् 247
सुधाकर द्विवेदी 404
सुश्रुत 159, 195
सुश्रुत और दिवोदास --एक ही व्यक्ति 042

सुश्रुत और हिप्पोक्रेट्स 208
सुश्रुत के शल्य का क्षेत्र 212
सुश्रुत—शारीर 221
सुश्रुत संहिता का रचनाकाल 204
सुश्रुत सरजन के रूप में 209
सूत्रस्थान 225, 228, 333, 238, 245, 249
सूप 58
सूरज से आग 9
सूर्य और चन्द्रमा के माध्यस्थान 510
सूर्य के नक्षत्र 449
सूर्यदास—गणितामृत कूपिका 401
सूर्य देव यज्वन्—आयभटीय का टीकाकार 375
सूर्यप्रज्ञप्ति 373, 427, 428
सूर्यसिद्धांत 94, 491, 496
सेतु 291
सेल्यूकस 464
सैकण्डबुट आफ दि ईस्ट 36
सोम संस्कार 5
सोसीगनीज और पोसी डोनियस 484
सौर चान्द्र तारीखों का सम्बन्ध 446
सौरवर्ष 454
स्कैंडेनेविया 10
स्कोरेस्टीन 14
स्कोलियास्ट 24
स्थाली 52
स्राव्यम् 246
स्रुक् 63
स्लेवोनियन देवता 10
हड्डियों की संख्या 129
हर द्रव्य पांच तत्वों से 185
हरशेल 490
हाइपेटिया—थ्योन की पुत्री 355
हारीत 144
हार्नले 129
हासर 202
हिप्पार्कस और टौलेमी 466, 483
हिप्पोक्रेट 155, 198, 199
हियरेडिटि एण्ड सम आफ इट्स सर्जिकल एस्पेक्ट्स—डा० एफ० सी० टिटजेल 214
हिरण्याक्ष 180
हिर्शबर्ग 213
हिस्ट्री आफदि एर्यन मेडिकल साइंस 209
हिस्ट्री आफ मेडिसिन अमंग दी एशियाटिक्स 195
हिलब्रांट की—'वैदिशे माइथोलोजी' 49
हुर्शेक 10
हेकाटियस 462
हेतु 165
हेरोडोटस 462
हेलियाडोरस 202
हेलेनिक 12
हेस्टिया की वेदी 12
हैरोडियन—वैयाकरण 341
हैरोडोरस 474
हैरोफिलस 200
हैली 490
होता 26

—:o:—
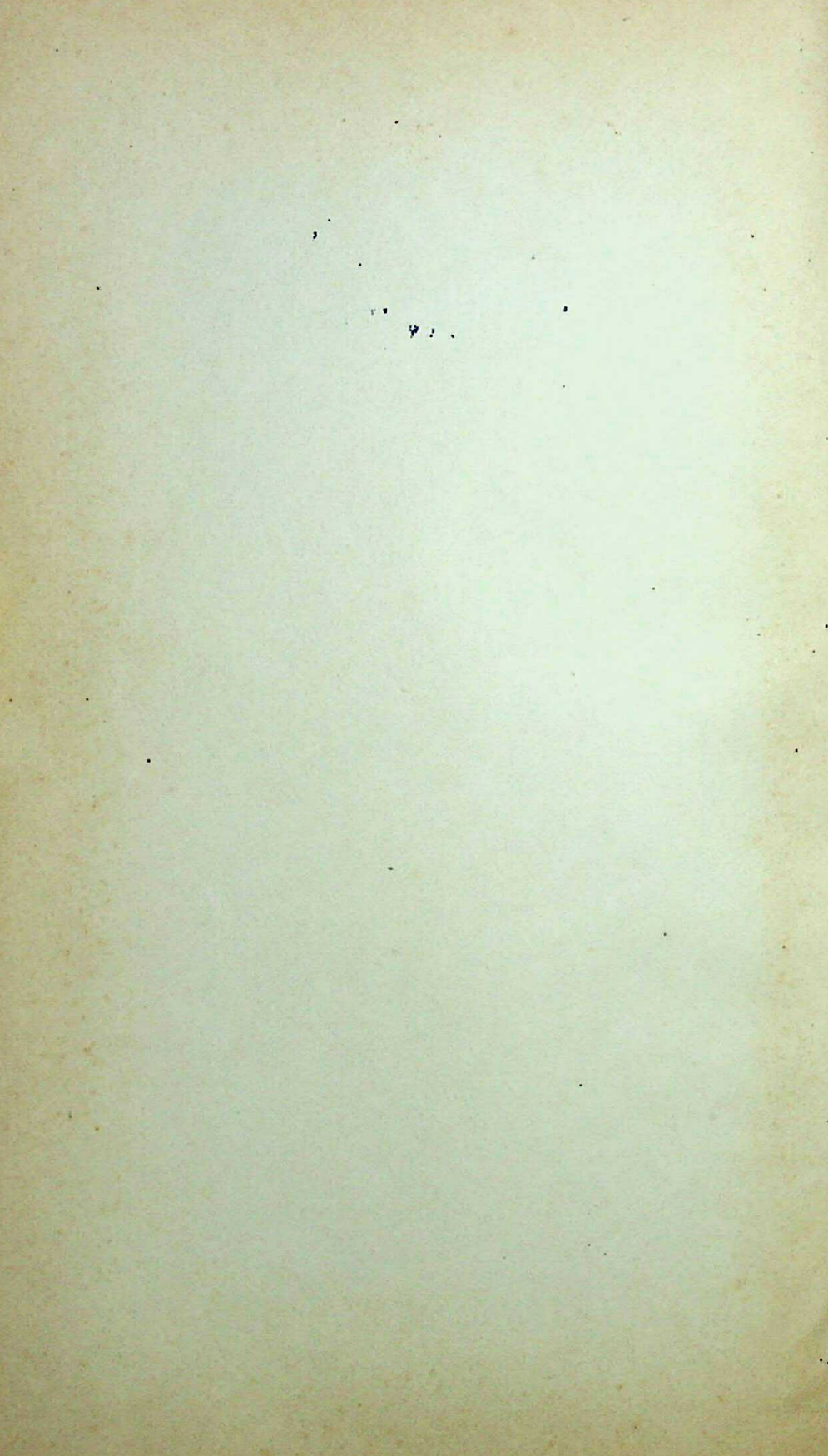
स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

जन्म, अगस्त 24, 1905ई., उत्तर प्रदेश के जिला बिजनौर में, प्रयाग विश्वविद्यालय से 1927ई. में एम.एस,सी, 1932 में डी.एस.सी. की उपाधियाँ। 1932 से 1967 ई. तक प्रयाग विश्वविद्यालय के रसायन विभाग में प्राचार्य। 1967ई. में प्रयाग विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के उच्चतम प्रधानाचार्य एवं अध्यक्ष पद से सेवा निवृत।

1971 ई. में संन्यास की दीक्षा ली। हिन्दीभाषा में वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण में जो सेवायें की, उनके उपलक्ष्य में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, केन्द्रीय शासन, विज्ञान परिषद, नागरी प्रचारिणी सभा, उत्तर प्रदेश शासन, बिहार शासन, एवं विश्व हिन्दी सम्मेलनों द्वारा उच्चतम पुरस्कारों और सम्मानों द्वारा अलंकृत।

हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के अधिकारी यशस्वी लेखक। ऋग्वेद संहिता का अंग्रेजी अनुवाद 13 खण्डों में प्रकाशित। प्राचीन मुद्रा शास्त्र पर अंग्रेजी में 2 खण्डों में प्रकाशित ग्रन्थ। ब्रह्मगुप्त के गणित और ज्योतिष पर ग्रन्थ। वैदिक साहित्य पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन।

स्वामी जी ने अपने विश्वविद्यालयीय अध्यापन काल में रसायनशास्त्र संबंधी अनेक उच्चस्तरीय पाठ्य ग्रन्थ लिखे थे, जो अब भी महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। शिक्षा का माध्यम वैकल्पिक रूप से अब अंग्रेजी और हिन्दी होते चल रहा है। वैज्ञानिक तकनीकी आयोग द्वारा पिछले लगभग 25 वर्षों में जो भी कार्य पारिभाषिक शब्दों के संबंध में हुआ है, उसका प्रचुर श्रेय स्वामी जी को है। 'भारत की सम्पदा' (ग्रन्थमाला) के भी प्रधान सम्पादक स्वामी जी रहे और हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'अंग्रेजी हिन्दी मानक कोश' स्वामी जी की अभूतपूर्व रचना है।

स्वामी जी ने अफ्रीका, यूरोप, केनेडा, अमरीका, वेस्ट-इण्डीज, बर्मा, थाइलैंड, इण्डोनीशिया, मॉरिशस आदि अनेक देशों का भ्रमण किया है, और उनके द्वारा विदेशों में दिए गए प्रवचनों और व्याख्यानों के संग्रह भी कई खण्डों में उपलब्ध हैं।